रामचरित मानस में भक्ति

[बिहार विश्व विद्यालय से पी-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत शोध प्रबन्ध]

लेखक

डॉ० सत्यनारायण शर्मा

एम० ए० (हिन्दी एवं संस्कृत) पी-एच० डी०,
साहित्याचार्य, सा० रत्न०

प्रकाशक

सरस्वती पुस्तक सदन, आगरा-३

मूल्य २५.००

प्रकाशक
प्रतापचन्द जैसवाल
संचालक
सरस्वती पुस्तक सदन, आगरा–३

प्रथम संस्करण
१००० प्रतियां
१९७०

अधिकृत विक्रेता
पुस्तक बिक्री केन्द्र
मोती कटरा, आगरा– ३
६/१४९

समर्पण

नीलाम्बुज श्यामल कोमलाङ्ग सीतासमारोपित वामभागम् ।
पाणौ महासायकचारुचाप नमामि राम रघुवंश नाथम् ॥

"श्री रामदरबार"

में

सादर-सभक्ति एवं सभय समर्पित

—सत्यनारायण

"पुण्यं पापहरं सदा शिवकरं विज्ञानभक्तिप्रदं
मायामोहमलापहं सुविमलं प्रेमाम्बुपूरं शुभम्।
श्रीमद्रामचरित्रमानसमिदं भक्त्यावगाहन्ति ये
ते संसारपतंगघोरकिरणैर्दह्यन्ति नो मानवाः॥"

—मानस, उत्तरकाण्ड (अंतिम श्लोक)

मंगल-मूरति मारुत-नंदन। सकल-अमंगल-मूल-निकंदन॥
पवनतनय संतन हितकारी। हृदय बिराजत अवध-बिहारी॥
मातु-पिता, गुरु, गनपति, सारद। सिवा-समेत संभु, सुक, नारद॥
चरन बंदि बिनवौं सब काहू। देहु रामपद-नेह-निबाहू॥
बंदौं राम-लखन-बैदेही। जे तुलसी के परम सनेही॥

—विनय-पत्रिका, पद—३६

कहु खगेस हरि भगति बिहाई। जे सुख चाहहिं आन उपाई॥
ते सठ महासिंधु बिनु तरनी। पैरि पार चाहहिं जड़ करनी॥

—मा० ७।११५.३-४

प्राक्कथन

मैंने श्रीसत्यनारायण शर्मा के शोध-प्रबन्ध "रामचरितमानस में भक्ति" को आदि से अन्त तक विचार पूर्वक पढ़ा है। इसमें भक्ति का सैद्धान्तिक विवेचन तुलसी के पूर्ववर्ती साहित्य में भक्ति का उद्भव एवं विकास, रामचरितमानस में प्रतिपादित भक्ति का स्वरूप, मानस में भक्ति के उद्गार, मानस वर्णित भक्त तथा हिंदी भक्तिकाव्य एवं भारतीय जीवन पर तुलसी साहित्य का प्रभाव आदि विषयों पर पूरा पूरा प्रकाश डाला गया है। भाषा अतीव सरल और शुद्ध है। प्रबन्ध का चौथा और छठा अध्याय हिन्दी-साहित्य की नवीन उपलब्धि है। तीसरे अध्याय में राम-विष्णु सम्बन्धी जनमानस में प्रचलित भ्रान्तियों के निराकरण का प्रयत्न भी सर्वथा मौलिक, प्रशंसनीय एवं स्तुत्य है। पाँचवें अध्याय में मानस-वर्णित भक्तों के चरित्रों के कौशलपूर्ण विवेचन से ग्रन्थ की रोचकता बहुत बढ़ गयी है। विद्वान लेखक ने अन्यत्र भी अपने विषय की सामग्री के संकलन उपयोग एवं परीक्षण में पर्याप्त मौलिकता प्रदर्शित की है। यथार्थतः यह शोध प्रबन्ध तुलसी साहित्य का एक अभिनव अलङ्कार है। आशा है विद्वत्समाज इसका समुचित समादर कर शर्मा जी का उत्साहवर्द्धन करेगा जिससे वे आगे चलकर भक्तिमान हृदय से हिंदी संसार की सेवा कर सकेंगे।

१ २ ६८

प्रो॰ जगन्नाथ राय शर्मा
भूतपूर्व अध्यक्ष हिन्दी विभाग
पटना विश्वविद्यालय।

उपक्रम

प्रस्तुत शोध प्रबंध का विषय है—"रामचरितमानस में भक्ति"। मेरे मानस में 'रामचरितमानस' के प्रति अनुरक्ति के संस्कारों का बीजारोपण मेरे परम रामभक्त माता-पिता (श्रीमती भागमनी देवी एवं श्री जनक शर्मा) के द्वारा ही किया गया है। वैष्णव परिवार में जन्म-ग्रहण करने के कारण बचपन से ही विशेषत: 'रामचरितमानस' के अध्ययन की ओर मेरी विशेष अभिरुचि रही है और अभी भी श्रद्धा भक्तिपूर्वक इसका अनुशीलन मेरे दैनिक जीवन का एक अभिन्न अंग है। गोस्वामीजी की "राम उपासक जे जग माहीं। एहि सम प्रिय तिन्ह कें कछु नाहीं।" पंक्ति मेरे जीवन में बहुत अंश तक सत्य सिद्ध हुई है। फिर भी 'रामचरितमानस में भक्ति' पर लिखने के लिए जिस आत्मसमर्पण, प्रखर प्रतिभा, अगाध अध्ययन एवं विषयानुरूप व्यक्तित्व की आवश्यकता है उसका मुझ में बहुत अभाव है। वस्तुत: भगवत्कृपा, विद्वत्सत्संग एवं गुरु प्रसाद का संबल लेकर ही मैं इस अतिगहन किन्तु क्षण-क्षण में आह्लादप्रदायक विषय की ओर सभक्ति एवं सभीत भाव से अग्रसर हुआ हूँ। प्रबंध सात अध्यायों में विभक्त है। पहले अध्याय में भक्ति का सैद्धान्तिक विवेचन है। दूसरे अध्याय में तुलसी के पूर्ववर्ती साहित्य में भक्ति-भावना के उद्भव और विकास का स्पष्टीकरण किया गया है। तीसरे अध्याय में 'रामचरितमानस' में प्रतिपादित भक्ति के स्वरूप की मीमांसा की गयी है। चौथे अध्याय में 'मानस' के उन भक्त्यात्मक उद्गारों का विस्तृत विवेचन हुआ है जिनमें तुलसी के हृदय से उनकी राम-भक्ति भावना बार-बार सरस स्रोतस्विनी के समान फूट पड़ी है। पाँचवें अध्याय में 'मानस' के प्राय: सभी प्रमुख भक्त-पात्रों के चरित्रों का रामभक्ति की दृष्टि से आलोचन एवं मूल्यांकन किया गया है। छठे अध्याय में तुलसी परवर्ती प्रमुख हिंदी रामभक्ति काव्यों एवं भारतीय जनजीवन पर 'मानस' की भक्ति के प्रभाव का दिग्दर्शन कराया गया है। सातवें अध्याय में प्रबंध का उपसंहार है। इसमें पूरे प्रबंध का निष्कर्ष, इसकी रचना का प्रयोजन, 'मानस' की भक्ति से संबंधित अन्य अनुसंधानों से इस शोध प्रबंध की भिन्नता, इसकी नवीनता, मौलिकता एवं उपलब्धि आदि विषयों पर अत्यंत संक्षेप में प्रकाश डाला गया है। अपने प्रयत्न में मैं कहाँ तक सफल हो सका हूँ इसका निर्णय तो मेरे विद्वान पाठक ही कर सकते हैं। 'आपरितोषाद्विदुषां न साधु मन्ये प्रयोग-विज्ञानम्। बलवदपि शिक्षितानामात्मन्यप्रत्ययं चेतः॥' की बात चाहे कवि-कुल-गुरु कालिदास के लिए सत्य न रही हो पर मेरे लिए तो सर्वथा सत्य है।

वैदुष्य तथा साधुत्व की सजीव प्रतिमा परमपूज्य गुरुदेव पं० जगन्नाथ राय शर्मा, भूतपूर्व हिन्दी-विभागाध्यक्ष पटना विश्वविद्यालय के चरणों पर मेरा मस्तक है जिनकी असीम कृपा के अभाव में इस शोध कार्य को संपन्न कर सकना मेरे जैसे सुकुमारमति साधनहीन एवं अकिंचन व्यक्ति के लिए सर्वथा असंभव था। मेरी अभिरुचि के अनुरूप विषय के निर्वाचन, प्रस्तावित रूपरेखा का निर्माण आदि से लेकर प्रबंध की पूर्णाहुति तक

आपने इस दीनजन पर अविरल एवं अहेतुकी कृपावृष्टि की है। अपने पूज्य निर्देशक डा०
देवन झा, युनिवर्सिटी प्रोफेसर तथा अध्यक्ष संस्कृत विभाग पटना विश्वविद्यालय के समक्ष
श्रद्धावनत एवं नत मस्तक हूँ जिनके विद्वतापूर्ण निर्देशन एवं सहज स्नेह के अभाव में प्रबंध
को इस रूप में प्रस्तुत कर सकना मेरे लिए संभव नहीं था। आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद
मिश्र, डा० मुंशीराम शर्मा डा० माताप्रसाद गुप्त डा० धीरेन्द्र श्रीवास्तव डा० भुवनेश्वर
नाथ मिश्र "माधव" और श्रीमती डा० कणिका तोमर से मिलकर उनकी विद्वता, विस्तृत
तथा विचारों से लाभान्वित होने के जो सुअवसर प्राप्त हुए हैं, वे अविस्मरणीय हैं। इनके
अतिरिक्त डा० रामसिंह तोमर, डा० बलदेव प्रसाद मिश्र डा० रामदत्त भारद्वाज, डा०
रामनिरंजन पाण्डेय और डा० कामिल बुल्के के पत्र से प्राप्त बहुमूल्य प्रेरणा प्रकाश एवं
प्रोत्साहन से भी मैं अत्यधिक लाभान्वित हुआ हूँ। इसी तरह डा० सतकौरी मुकर्जी, डा० बी०
बी० मजुमदार तथा उनके सुपुत्र डा० बी० पी० मजुमदार से भी समय-समय पर निर्देश
एवं प्रोत्साहन प्राप्त होते रहे हैं। अस्तु आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भी प्रबंध की
रूपरेखा का आद्यंत अवलोकन करने की अनुकम्पा कर जो सत्परामर्श दिये हैं, उससे भी
प्रस्तुत प्रबंध को एक नयी दिशा मिली है। अत मैं समवेत रूप से इन सबों के प्रति हार्दिक
कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। अयोध्या के मानस तत्त्वान्वेषी पं० रामकुमार दास जी महाराज
के समक्ष नतमस्तक हूँ जिन्होंने अपने "श्रीराम ग्रन्थागार" से मुझे बहुत सी अलभ्य पुस्तकें
प्रदानकर तथा उपयोगी निर्देश देकर मेरे कार्य में बहुत बड़ी सहायता पहुँचायी है। अयोध्या
के महात्मा श्री कौशलशरण जी महाराज से भी समय-समय पर सहायता मिलती रही है और
इसके लिए मैं इनका भी आभारी हूँ। तुलसी-साहित्य के अधिकारी विद्वान एवं यशस्वी
शोधकर्ता अभिन्न-हृदय डा० रामतपस्या शर्मा जी के अनुपम सहयोग एवं बहुमूल्य
परामर्श के लिये उन्हें धन्यवाद देने या उनके प्रति आभार स्वीकार करने की आवश्यकता
नहीं समझता। अपने वयोवृद्ध कर्मठ एवं पूज्य श्वसुर श्री जगलाल तिवारी जी का कृतज्ञ
एवं अनुगृहीत हूँ जिन्हें मेरी सफलता पर मुझ से भी अधिक प्रसन्नता होती है और जिन्होंने
जहाँ-तहाँ से बहुत सी पुस्तकें तथा पत्र-पत्रिकाएँ जुटाकर मेरी बहुत बड़ी सहायता की है।
परमादरणीय भाई गोकुलसिंह एवं राजेश्वरनारायण सिंह 'कविजी' के प्यार पूर्ण प्रोत्सा
हन तथा विविध प्रकार की सक्रिय सहायताओं के लिये धन्यवाद देकर उनके सहज-स्नेह एवं
सौहार्द का अवमूल्यन उचित प्रतीत नहीं होता। इस कार्य के संपादन की दिशा में मुझे किसी
न किसी रूप में दीपेन्द्र पाठक एवं देवप्रसाद सिंह कृष्णमुरारी पाण्डेय, रामनरेश तिवारी,
श्री नारायण शर्मा और रामस्नेही प्रताप सिंह से भी सहायता मिली है। अतः मेरे ये
शिष्य या सम्बन्धी भी करोड़ों धन्यवाद के पात्र हैं। भागलपुर विश्वविद्यालय तथा श्रीकृष्ण
रामरुचि कालेज, बरबीघा के अधिकारियों का भी आभारी हूँ जिनसे इस शोध प्रबंध को
पूर्ण करने के लिये मुझे समय-समय पर अध्ययन विषयक सुविधाएँ प्राप्त होती रही हैं। इस
प्रसंग में बरबीघा कालेज के सहृदय एवं भावुक सचिव तथा बिहार के विख्यात लोकसेवक
श्रीमान् बाबू श्रीकृष्ण मोहन प्यारे सिंह जी जिन्हें लोग प्यार से 'लाला बाबू' कहते हैं,
का सर्वाधिक ऋणी हूँ जिनके स्नेहाशय एवं वरदहस्त के अभाव में शायद मैं शोध का
स्वप्न भी नहीं देख पाता। बिहार विश्वविद्यालय मुजफ्फरपुर का भी मैं अनुगृहीत हूँ जिसने
प्रबंध को प्रकाशित करने की अनुमति प्रदान की है। प्रस्तुत प्रबंध को प्रकाश में लाकर

सरस्वती पुस्तक सदन, आगरा के संचालक श्री प्रतापचन्द जी जैसवाल ने जिस तत्परता एवं सहृदयता का परिचय दिया है उसके लिये मैं उनका अत्यंत कृतज्ञ हूँ। इस अवसर पर गुरुवर डा० राजाराम रस्तोगी का भी मैं सादर स्मरण करता हूँ जिन्होंने प्रस्तुत प्रबंध के प्रकाशन के प्रसङ्ग में मुझे सरस्वती पुस्तक सदन, आगरा से पत्राचार करने का परामर्श दिया था। इस समय सहज ही उन महात्माओं तथा गुरुजनों का भी स्मरण हो रहा है। जिन्होंने बचपन से लेकर आजतक मुझे माता-पिता की तरह सम्हाला संवारा और हर तरह से मुझ आगे बढ़ाने का प्रयत्न किया। इनमें पूज्यपाद गुरुदेव श्री रमाकांत शरण पुजारी जी महाराज श्री रामकिशोरदास जी ब्रह्मचारी बाबा श्री सीतावल्लभशरण जी महाराज, स्वर्गीय श्री वैदेहीशरण" शर्माजी महाराज, बाबू राम एकबाल सिंह एडवोकेट प्रो० एस० के० बोस प्रो० रामवेलावन राय श्री सेकमसिंह और बाबू उदय प्रकाशनारायण सिंह "लालबाबू के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। वस्तुत कृतज्ञता ज्ञापन जैसी वस्तु से इनके वात्सल्य एवं स्नेह का प्रतिदान सम्भव नहीं है। सहधर्मिणी श्रीमती कमला कमारी देवी ने पाँच छः वर्षों तक मुझे समस्त पारिवारिक झंझटों से मुक्त कर स्वतंत्रतापूर्वक पढ़ने लिखने की सुविधा देकर जिस रूप में अपना धर्म निभाया है वह हमारे लिये हार्दिक प्रसन्नता का विषय है। इस मौके पर हिमांशु, शशि सुधांशु और प्रभा को भी भला मैं कैसे भूल सकता हूँ जिन्होंने गंभीर अध्ययन तथा चिंतन से श्रांत-क्लांत होने पर अपनी पुष्प पुलकित देह तथा मुस्कान भरी तुतली वाणी से मेरी श्रांति-क्लांति का निवारण किया है। इनके अतिरिक्त और भी बहुत से लोगों की लम्बी सूची है जिनसे ज्ञात अथवा अज्ञात रूप में प्राप्त अनुकूल या प्रतिकूल प्रेरणाओं के परिणाम स्वरूप मेरा प्रस्तुत प्रयास पूर्ण एवं सफल हो सका है। अलग-अलग कृतज्ञता ज्ञापन करना सम्भव नहीं समझ कर मैं सम्मिलित रूप से उन सबों के प्रति भी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ। वस्तुत उन सभी लेखकों का हार्दिक आभार स्वीकार करता हूँ जिनके ग्रन्थों के अध्ययन से मुझे प्रस्तुत प्रबन्ध को लिखने में सहायता मिली है।

मुझे इस बात की परम प्रसन्नता है कि मेरा इतना समय विद्वानों एवं संत-महात्माओं के सत्संग, भक्तिपरक ग्रंथों के अनुशीलन तीर्थाटन एवं भगवद्भजन में व्यतीत हुआ। विद्वान् संतो एवं संत-विद्वानों ने मुझे जिस स्नेह एवं वात्सल्य से सिञ्चित किया है, वह मेरे जीवन में एक मधुर एवं सुखद अनुभूति के रूप में चिरस्मरणीय रहेगा। महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज के 'आशीर्वाद डा० रामधारीसिंह दिनकर की बधाई, प्रोफेसर देवेन्द्रनाथ शर्मा के 'साधुवाद तथा अन्यान्य स्वनामधन्य विद्वानों की संस्तुतिपूर्ण सम्मति से इस ग्रन्थ का गौरव ही नहीं बढ़ा है बल्कि मुझे अपने घोर श्रम की सार्थकता एवं सफलता का भी भान हुआ है। ग्रन्थ के सामग्री-संकलन के क्रम में अयोध्या में निवासकर सरयू स्नान तथा हनुमान गढ़ी एवं कनक भवन में दर्शन के समय मैं मन ही मन यही पंक्ति गुन गुनाया करता था— राउर बदि भल भव दुख दाहू। प्रभु बिनु बादि परम पद लाहू॥ भगवान् की कृपा विद्वानों एवं संत-महात्माओं के शुभाशीर्वाद और मेरे अथक परिश्रम से यह ग्रन्थ पूरा हो सका है पर अपनी ओर से सर्वत्र सावधान रहने तथा बहुत से महानुभावों के पर्याप्त सहयोग के बावजूद संभव है मेरी अल्पज्ञता के कारण इसमें यत्र-तत्र कुछ त्रुटियाँ रह गयी हों। आशा है, सुधी सहृदय-गण मुझे उनसे अवगत कराने की कृपा करेंगे ताकि

प्रबंध के दूसरे संस्करण में मैं उनका निराकरण कर सकूं । मात्र निवेदन के इस प्रसंग को पूर्णता प्रदान करने के लिए अब गोस्वामीजी की निम्नांकित पंक्तियों का ही अवलम्ब है—

''मति अति नीच ऊँचि रुचि आछी ।
चहिअ अमिअ जग जुरइ न छाछी ॥'

छमिहहिं सज्जन मोरि ढिठाई ।
सुनिहहिं बालबचन मन लाई ॥

विनयावनत—

सत्यनारायण शर्मा,
ग्राम—बमनगामा बंयसा
पो०—गंगहारा (पटना)

चैत्र शुक्ल ९
श्री रामनवमी, वि० सं० २०२९

संकेत-सूची एवं विवरण

अ०	—	अध्याय
अनु०	—	अनुवादक
आ० शुक्ल	—	आचार्य पं० रामचंद्र शुक्ल
उ०	—	उत्तरार्द्ध
उ० का	—	उत्तर काण्ड
उ० प्र० रा०	—	उभय प्रबोधक रामायण
ऋ०	—	ऋग्वेद
गीता	—	श्रीमद्भगवद् गीता
चौ०	—	चौपाई
तिलक	—	बाल गंगाधर तिलक
दो०	—	दोहा
ध्या० मं०	—	ध्यान मंजरी
ना० भ० सू०	—	नारद भक्ति सूत्र
नृ० रा० मि०	—	नृत्य राघव मिलन
प०	—	पद
प० सं०	—	पद संख्या
पं०	—	पंक्ति पंडित
पं० राम शर्मा	—	पंडित जयनाथ राम शर्मा
पं० वि० प्र० मिश्र	—	पंडित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र
पू०	—	पूर्वार्द्ध
पृ०	—	पृष्ठ
प्र०	—	प्रथम प्रकाश प्रकाशक
प्रो०	—	प्रोफेसर
वि० सा०	—	विश्राम सागर
मं०	—	मंगल मंत्र
मा०	—	रामचरितमानस
रा० च०	—	रामचन्द्रिका
रा० मं०	—	राम मंगल
रा० र०	—	राम रसायन
रा० स्व०	—	राम स्वयंवर
श्लो०	—	श्लोक

सं॰ — सम्पादक सम्मत

सू॰ — सूरा

सो॰ — सोरठा

इस प्रबंध में 'रामचरितमानस' से उद्धरण गीता प्रेस गोरखपुर से छपी हुई प्रति से दिये गये हैं। पाद टिप्पणी में 'रामचरितमानस' की जगह ''मा॰' और काण्डों की जगह अंक १ से अंक ७ तक प्रयोग किया गया है। अंक १ से बालकाण्ड, २ से अयोध्या-काण्ड ३ से अरण्य-काण्ड ४ से किष्किन्धा काण्ड ५ से सुन्दर काण्ड ६ से लंका काण्ड और अंक ७ से उत्तर-काण्ड का संकेत किया गया है। दोहा और सोरठा प्रत्येक काण्ड में एक साथ क्रमिक संख्या में मानस में आये हुये हैं। अतः उनके लिये उसी संख्या का प्रयोग कर दिया गया है। चौपाई के लिये जिस दोहे अथवा सोरठे के पूर्व की चौपाई है उसकी पंक्ति-संख्या दे दी गयी है। उदाहरणार्थ —

मंगल भवन अमंगल हारी। द्रवउ सो दशरथ अजिर बिहारी।

के लिये निम्नांकित संकेत मिलेगा—

मा॰ १ ११२ ४

इस संकेत का अर्थ है कि यह रामचरितमानस के बालकाण्ड के एक सौ बारहवें दोहे के पूर्व की चौथी पंक्ति है।

विषय सूची

पहला अध्याय

भक्ति : एक सैद्धान्तिक विवेचन

पहला अध्याय

भक्ति एक सैद्धान्तिक विवेचन

भक्ति : परिभाषा एवं स्वरूप —

"भक्ति" शब्द संस्कृत के "भज सेवायाम्"[1] धातु से "स्त्रियां क्तिन्"[2] इस सूत्र के अनुसार भावार्थक "क्तिन्" प्रत्यय लगाने से निष्पन्न हुआ है। अतः इसका व्युत्पत्तिजन्य अर्थ है—सेवा करना किन्तु अल्पज्ञ एवं असमर्थ मानव में इतनी क्षमता कहाँ कि वह अखिल ब्रह्माण्डव्यापी परमात्मा की सेवा कर सके ? इसीलिए महर्षि शाण्डिल्य ईश्वर में परानुरक्ति अर्थात् अपूर्व एवं प्रकृष्ट अनुराग रखने को ही भक्ति कहते हैं।[3] वस्तुतः भगवान के प्रति परम प्रेम ही भक्ति है।[4] यह अमृत स्वरूपा भी है।[5] भक्त शिरोमणि नारद के मत में अपने समस्त कर्मों को भगवान् को समर्पित करना और उनका थोड़ा-सा भी विस्मरण होने पर परम व्याकुल होना ही भक्ति है।[6]

उनकी दृष्टि में भक्ति के लिए अन्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं है क्योंकि वह स्वयं प्रमाणरूपा है। वह शान्तिरूपा है और परमानन्द रूपा है।[7]

'आवृत्तिरसकृदुपदेशात्'[9] सूत्र की व्याख्या करते हुए शंकराचार्य कहते हैं कि 'परमेश्वर की निरन्तर उत्कण्ठा युक्त स्मृति ही भक्ति है।'[10] 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा'[11] सूत्र की व्याख्या करते हुए रामानुजाचार्य भी परमात्मा की निरन्तर स्मृति को ही भक्ति मानते हैं।[12]

---

१ पाणिनि धातु पाठ भ्वादिगण पृ० ११ प० ६
२ पाणिनि अष्टाध्यायी अ० ३ पाद ३ सूत्र ९४
३ 'सा परानुरक्तिरीश्वरे"—शाण्डिल्य भक्ति सूत्र–२
४ "सा त्वस्मिन् परम प्रेम रूपा"—ना भ सू०–२
५ "अमृत स्वरूपा च"—ना भ सू०—३
६ "नारदस्तु तदर्पिताखिलाचारिता तद्विस्मरणे परम व्याकुलतेति"—ना० भ० सू० १९
७ 'प्रमाणान्तरस्यानपेक्षत्वात् स्वयं प्रमाणत्वात्' —ना० भ० सू ५९
८ 'शान्ति रूपात्परमानन्द रूपाच्च' —ना० भ० सू० ६
९ ब्रह्म सूत्र अ ४ पाद १ सूत्र १
१० ब्रह्मसूत्र अ० ४ पाद १ सूत्र १ का शांकर भाष्य— 'तथा हि लोके'
'या निरन्तर स्मरणा पति प्रति सोत्कण्ठा सेवमभिधीयते।
११ ब्रह्मसूत्र अ० १ पाद १ सूत्र १
१२ ब्रह्मसूत्र अ १ पाद १ सूत्र १ का रामानुजभाष्य—
'एवं रूपा ध्रुवानुस्मृतिरेव भक्ति शब्देनाभिधीयते'

श्री मधुसूदन सरस्वती के मतानुसार भागवत-धर्म सेवन से द्रवीभूत चित्त की सर्वेश्वर के प्रति जो अविच्छिन्न वृत्ति है, वही भक्ति है।[1]

उत्तम भक्ति का स्वरूप स्पष्ट करते हुए श्री रूपगोस्वामी कहते हैं —

"अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम् ॥
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा ॥"[2]

अर्थात् जिस भक्ति में आराध्य के अतिरिक्त किसी अन्य की अभिलाषा न हो, जो ज्ञान तथा कर्म से आवृत न हो और जिसमें कृष्ण की अनुकूलता प्राप्त करते हुए उनका चिन्तन-मनन किया जाय, वही भक्ति उत्तम है।

स्वामी विवेकानन्द अनेकानेक आचार्यों एवं भक्तों की भक्ति सम्बन्धी परिभाषाएँ उद्धृत करने के पश्चात् अपना मत प्रस्तुत करते हैं

" — ———आध्यात्मिक अनुभूति के लिए किये जाने वाले मानसिक प्रयत्नों की परम्परा ही भक्ति है, जिसका प्रारम्भ साधारण पूजा-पाठ से होता है और अन्त ईश्वर के प्रति प्रगाढ़ एवं अनन्य प्रेम में।"[1]

आचार्य प० रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में "श्रद्धा और प्रेम के योग का नाम भक्ति है।

इन परिभाषाओं से स्पष्ट है कि भक्ति में सर्वप्रथम पवित्र प्रेम की प्रगाढ़ता अपेक्षित है। साथ ही निश्छल भाव से उस पवित्र प्रगाढ़ प्रेम का पूर्ण समर्पण प्रभु के चरणों में होना चाहिए। परिवार के प्रति, समाज के प्रति और विभिन्न विषयों के प्रति प्रगाढ़ प्रेम सम्भव है परन्तु हम इसे भक्ति नहीं कह सकते। वस्तुतः ऐहिक आसक्तियों से परे भगवच्चरणों से परम पवित्र एवं निश्छल प्रेम की सहानुभूति को ही भक्ति कहते हैं।

महाराज प्रह्लाद नृसिंह भगवान् से ऐसी ही भक्ति की याचना करते हैं

"या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु ॥"[3]

भक्त शिरोमणि तुलसी अपने काव्य में न केवल ऐसी भक्ति का अंकन करते हैं[1] अपितु स्वयं उसकी स्पृहा भी करते हैं।[2]

मनुष्य जो भी कार्य करता है वह सुख पाने के उद्देश्य से ही। पर उसे सदा सुख नहीं मिलता। वस्तुतः मानव-जीवन में सुख की अपेक्षा दुःख का ही आधिक्य है। दुःख इस लिए होता है कि मनुष्य चाहता कुछ है और हो जाता है कुछ और। मानव जीवन में इच्छाओं का कोई अन्त नहीं है। समुद्र की लहरों के समान एक इच्छा की पीठ पर अनवरत दूसरी इच्छा उठती चली आ रही है। मनुष्य इच्छाओं की पूर्ति से मनोनुकूल फल की प्राप्ति से सुख और इच्छाओं की अपूर्ति से मनोनुकूल फल की अप्राप्ति से दुःख प्राप्त करता रहता है। मनुष्य को अपनी आकांक्षाओं की पूर्ति के निमित्त साधन-सकलन करने में ही संलग्न रहना पड़ता है। सच पूछिये तो जीवन का सच्चा सुख उसे क्षण भर के लिए भी प्राप्त नहीं हो पाता।[3]

मानव को जो कुछ सुख की सामग्री उपलब्ध है उसी से सन्तोष करके यदि वह अपनी प्रसुप्त आन्तरिक शक्तियों का उद्बुद्ध एवं विकसित करे तो वह सांसारिक कष्टों से बहुत हद तक मुक्त हो सकता है। पर ऐसा प्रशंसनीय प्रयास आधिभौतिक सुख की मृग-मरीचिका में दौड़ने वाले आये दिन के मानव से नहीं हो पाता। वह अपनी आन्तरिक समृद्धि एवं ऐश्वर्य वैभव का परित्याग कर बाह्य चकाचौंध उत्पन्न करने वाली नश्वर वस्तुओं की उपलब्धि में निरन्तर लीन रहकर अथक परिश्रम करते हुए कभी सुख एवं कभी दुःख प्राप्त किया करता है। अनुकूल उपलब्धि सुख एवं प्रतिकूल उपलब्धि दुःख है। वस्तुतः आनन्द की स्थिति सुख एवं दुःख दोनों से ही परे है। मनुष्य का अन्तःकरण उसी आनन्द की उपलब्धि के निमित्त आकुल-व्याकुल रहता है। मनुष्य आत्मतोष चाहता है जो बाहरी वस्तुओं में कदापि नहीं मिल सकता। जब वह बाह्य वस्तुओं से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर आन्तरिक वस्तुओं की ओर मुड़ता है तो उसे अनायास ही चरम सन्तुष्टि की मधुरतम अनुभूति होने लगती है पर पूर्ण आत्म सन्तुष्टि वहाँ भी सम्भव नहीं है। भक्तों की मनोकामना जब तक अपने अभीष्ट तत्त्व को अधिगत नहीं कर लेती तबतक उनमें पूर्ण आत्म सन्तुष्टि सम्भव नहीं है। भक्तों की वह मनोकामना है अपने निकटस्थ परमपिता परमेश्वर से निकटतम सम्बन्ध संस्थापित करना। जीव सांसारिक प्रपंचों में आबद्ध है। वह अपने निकट में विद्यमान परमपिता परमेश्वर की मंगलमयी अनुभूति से वंचित है और यही उसके दुःख का मूल कारण भी है।

---

१ मा २।१४२।२

'सेवहिं लखन सीय रघुबीरहि। जिमि अविवेकी पुरुष सरीरहि॥

२ मा० ७।१३० (ख)

कामिहि नारि पिआरि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरन्तर प्रिय लागहु मोहि राम।

मा० ५ श्लो० २ + विनय पत्रिका पद—२१८ २११ इत्यादि।

३ विनय पत्रिका पद २४५ की अन्तिम पंक्ति

'जागत ही गई बीति निसा सब कबहुँ न नाथ नींद भरि सोयो।

परमपिता परमेश्वर साक्षात् आनन्द स्वरूप है।[1] उनकी अनुभूति से वंचित होना, आनन्द की अनुभूति से ही वंचित होना है। जहाँ आनन्द का लेश भी नहीं है वहीं जीव आनन्द का अन्वेषण कर रहा है।[2] अतः वास्तविक एवं चिरन्तन आत्मानुभूति के निमित्त जीव को जगती के कोलाहल से पुत्र धन यश आदि के लोभ से चित्तवृत्ति को हटाकर साक्षात् आनन्द स्वरूप आनन्द के परमधाम परमपिता परमेश्वर में लगाना होगा।

परमात्मा की ओर जीव की यह शुभ प्रवृत्ति कैसे हो इसके लिए स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ने ज्ञान कर्म एवं भक्ति इन तीन प्रकार के योगों का निर्देश किया है।[3] इन तीनों में भी भक्ति की महिमा अपरम्पार है।[4] सारा संसार जीव को धोखा देवे तो देवे पर शान्ति एवं आनन्द का धाम सच्चिदानन्दघन परमपिता परमेश्वर उसे धोखा नहीं दे सकता। एकमात्र वही सभी जीवों की कामनाओं को पूर्ण करता है। वस्तुतः वह नित्यों में भी नित्य और चेतनों में भी चेतन है।[5] जीव की एकमात्र हार्दिक कामना माया-मोह के सांसारिक बन्धनों से मुक्त होकर उसी की प्राप्ति करने की है। परमेश्वर की प्राप्ति की यह प्रवृत्ति परमेश्वर की कृपा से ही संभव है और उसकी कृपा की प्राप्ति के निमित्त जीव को मन वचन एवं कर्म से उसके चरणों की शरण लेनी पड़ेगी अपने आपको उसे अर्पित करना पड़ेगा। यही अवस्था भक्ति का सर्वस्व है। इस भक्ति की उपलब्धि के पश्चात् हृदय अपनी आराध्य वस्तु के अतिरिक्त अन्य किसी भी वस्तु की आकांक्षा नहीं करता।[6] सच्ची भक्ति वैराग्य एवं विवेक की नींव पर स्थित होती है। उसमें सकामता अर्थात् सांसारिक कामनाओं की पूर्ति की प्रवृत्ति नहीं पायी जाती है। सच्चा भक्त ईश्वर से सांसारिक ऐश्वर्य-वैभव एवं सुख-समृद्धि

---

१ तैत्तिरीयोपनिषद् वल्ली ३ मन्त्र ६
'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्।
मा० १ १९७ । १

२ विनय पत्रिका पद १३६ (२)।

३ श्रीमद्भागवत स्कंध ११ अ० २० श्लो ६—
योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयो विधित्सया।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित्॥

४ ना० भ० सू०—२५—'सा तु कर्मज्ञानयोगेभ्योऽप्यधिकतरा।
मा० १ ३७ १४ ७ ११५ १—४ ७ १२० ६—१ ७ १२० ७ १२२

५ कठोपनिषद् अ २ वल्ली २ मन्त्र १३—
'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्॥

६ मा २ २ ४ ५ श्लो २ ७ ४६ ३ ७ ११६ ७

७ मा १ ४४ (ख)—
'कहहिं भगति भगवंत कै संजुत ग्यान बिराग।"
मा० ७ १ क (पू०) —
श्रुति संमत हरि भक्ति पथ संजुत बिरति बिबेक।
श्रीमद्भागवत् स्कंध १ अ २ श्लो ७—
"वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः।
जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं च यदहैतुकम्॥

की भावना नहीं करता। वह तो केवल भक्ति के आनन्द के लिए ही भक्ति करता है। सांसारिक एवं क्षणभंगुर वस्तुएं उसे अपनी ओर आकृष्ट नहीं कर पातीं। वस्तुतः जब तक जीव अज्ञान ग्रस्त रहता है, तभी तक वह सांसारिक सुखों की उपलब्धि के निमित्त प्रयास करता रहता है। परन्तु जब वह परमेश्वर के प्रेम में पूर्णतया निमग्न हो जाता है और उस शाश्वत प्रेमानन्द का रसास्वादन करने लगता है तब वह सांसारिक सुख-समृद्धि की उपलब्धि से उपरत हो जाता है। वह परम वैराग्यशील एवं विवेक सम्पन्न बनकर उस चिरन्तन एवं शाश्वत सत्य तथा सार्वभौम सत्ता के ही चिन्तन-मनन में लीन रहता है। अधिक क्या कहा जाय मानवजीवन के धर्म अर्थ काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों की प्राप्ति को भी वह तुच्छातितुच्छ समझता है।[1] ऐसे महाभाग को ईश्वर एवं उसकी अविरल भक्ति की प्राप्ति की ही इच्छा रहती है। वह ईश्वर से यही आकांक्षा करता है कि उसकी अन्तरात्मा निरन्तर उन्हीं में निरत रहे।[2] उनके अतिरिक्त अन्य की आकांक्षा एवं आशा उसकी प्रकृति के सर्वथा प्रतिकूल है।[3] श्रीमद्भागवत में यही बात विशेष प्रभविष्णुता के साथ प्रतिपादित है। भगवान् श्रीकृष्ण का स्पष्ट कथन है कि जिसने मुझे अपनी आत्मा अर्पित कर दी है उसे न ब्रह्मासन की आकांक्षा रहती है न इन्द्रासन की न वह सार्वभौम साम्राज्य चाहता है न पाताल का स्वामित्व। यहाँ तक कि वह न तो योग-सिद्धियों की आकांक्षा करता है और न मोक्ष की ही। उसे तो मेरे सिवा अन्य किसी भी वस्तु की इच्छा नहीं होती।[4] परन्तु भगवान् अपने भक्त को स्वतः इस लोक का सुख-वैभव एवं परलोक का कल्याण अर्थात् अभ्युदय और निःश्रेयस् दोनों प्रदान करते हैं। उनकी कृपा से सकाम भक्तों की भी समस्त अभिलाषाएँ पूर्ण हो जाती हैं। जिस प्रकार भक्त को भगवान् के ही आदेश एवं संकेत पर चलना उनकी अभिरुचि के अनुकूल अपना कार्य-सम्पादन करना तथा उनके चरणों पर अपना सर्वस्व समर्पण कर देना अभीष्ट होता है ठीक उसी प्रकार भगवान् को भी भक्तों को अपनी शरण में रखना उनकी रक्षा करना और उन्हें प्रसन्न रखना सदा अभीष्ट है। इस भक्ति-मार्ग में पदार्पण करने पर भक्त को संसार के समस्त कार्य-कलाप उसी परमपिता परमेश्वर की परमानुकम्पा से परिचालित होते हुए प्रतीत होने लगते हैं। अतः सुख-दुःख के द्वन्द्व से वह तटस्थ होकर दोनों में समभाव से स्थित रहता है। वह संसार के समस्त पदार्थों में अपने आराध्यदेव को ही देखता है और सभी प्राणियों को ईश्वरमय समझता है।[5] उसके अन्तःकरण में सबों के प्रति प्रेम और सद्भाव होते हैं। वह किसी से घृणा विरोध एवं वैमनस्य नहीं करता।[6] उसका अन्तःकरण भीतर-बाहर सदा-सर्वदा सात्विक प्रसन्नता से ओत प्रोत रहता है।

---

१ भा० ९ २०४
२ भा० ५ श्लो० २
३ भा० ७ ४६ १
४ श्री मद्भागवत स्कंध ११ अ० १४ श्लो० १४ —
"न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनान्यत्॥
५ भा० १ ८ २
६ भा० ७ ११२ (क)

ऐसे ही भक्तों को नारद ने एकान्त (अनन्य) भक्त कहा है और उन्हें श्रेष्ठ माना है।[१] ऐसे अनन्य भक्त कण्ठावरोध रोमाञ्च और अश्रुयुक्त तन्मय होकर परस्पर सम्भाषण करते हुए अपने कुलों को और पृथ्वी को पवित्र करते हैं।[२] ऐसे भक्त तीर्थों को सुतीर्थ, कर्मों को सुकर्म और शास्त्रों को सच्छास्त्र करते हैं[३] क्योंकि वे तन्मय हैं। ऐसे भक्तों का आविर्भाव देखकर पितरगण प्रमुदित होते हैं, देवता नाचने लगते हैं और यह पृथ्वी सनाथ हो जाती है।[५] ऐसे ही महान् भक्तों से विशाल जन-जीवन का वास्तविक कल्याण सम्भव होता है। वे संसार सागर से स्वयं पार होकर दूसरों को भी पार उतार सकते हैं। वे साक्षात् भगवत्स्वरूप हो हैं।[६] यही क्यों? समस्त संसार में भगवान् के गुणों को प्रचारित-प्रसारित करने तथा अनेक अन्य कारणों से उन्हें भगवान् से भी महत्तर माना गया है।

भक्ति का लक्ष्य

एक ऐसा अज्ञात अदृष्ट एवं अपूर्व शक्ति सम्पन्न तत्त्व है जिसकी प्रेरणा से संसार की समस्त क्रियाएँ संचालित एवं अनुप्राणित होती रहती हैं। उसकी प्रच्छन्न अनुभूति हमें यदा-कदा मिलती रहती है। यही तत्त्व ईश्वर है और उसका स्वरूप भक्तों की अपनी भावना के अनुसार है। वह चेतन-अचेतन जगत एवं काल से भी ऊपर तथा पाप और पुण्य से भी परे है। वह सब कुछ करने में समर्थ है।[७] वह न केवल अपूर्व शक्ति सम्पन्न है प्रत्युत अनन्त सौन्दर्य की राशि भी है। वस्तुतः प्रफुल्लवदना प्रकृति के प्रांगण में तथा सृष्टि के विभिन्न रूपों में विकीर्ण सुन्दरता उसी अनन्त सौन्दर्य सम्पन्न परमेश्वर की सुन्दरता का प्रतिबिम्ब है। उस ईश्वर के चरणों में परम प्रेम की प्राप्ति ही भक्ति का लक्ष्य है।

भक्ति का साधन या साध्य

वस्तुतः भक्ति साधन और साध्य दोनों ही है। यद्यपि नारद ने भक्ति को कर्म, ज्ञान और योग इन तीनों से श्रेष्ठ माना है[०] और कुछ आचार्यों के द्वारा ये तीनों ही भक्ति के साधन के रूप में स्वीकृत हैं। कर्म, ज्ञान, योग आदि के साधन से भक्ति की प्राप्ति सम्भव है। कुछ आचार्यों का मत है कि भक्ति का साधक ज्ञान ही है।[११] कुछ दूसरे आचार्यों के मतानुसार भक्ति और ज्ञान एक दूसरे के आश्रित हैं।[१२] अर्थात् भक्ति से ज्ञान और ज्ञान से

---

१ ना० भ० सू० ६७ 'भक्ता एकान्तिनो मुख्या'।
२ ना० भ० सू० ६८
३ ना० भ० सू० ६९
४ ना० भ० सू० ७०
५ ना० भ० सू० ७१
६ भक्तमाल की प्रथम पृ० १ श्रीमद्भागवत् स्कंध १० अ० १० श्लो० ३८
७ मा ७।१००।११
८ मा १।२४।४
९ मा० १ श्लो० ६, १।७।४, ७।१२२ (ख)
० ना० भ० सू० २५— 'सा तु कर्मज्ञानयोगेभ्योऽप्यधिकतरा'
१ ना० भ० सू० २८— 'तस्या ज्ञानमेव साधनमित्येके'
२ ना० भ० सू० २९— "अन्योन्याश्रयत्वमित्यन्ये"

नारद मुनि ने सत्संग से ही भक्ति की प्राप्ति की है। वे दासीपुत्र थे और अपने स्वामी के द्वारा साधु सेवा के लिए नियुक्त किये गये थे। सत्संग के प्रभाव के सम्बन्ध में महर्षि व्यासदेव से उनका कथन है कि—

'मैं उन साधुओं की आज्ञा लेकर उनका जूठा भोजन खाता था जिससे मेरे सब पाप नष्ट हो गये। इस प्रकार मेरा हृदय पवित्र हो जाने पर मुझे प्रभु भक्ति करने की इच्छा हुई। उनकी कृपा से मुझे श्री कृष्ण के गुणगान श्रवण करने का सौभाग्य हुआ। मेरे हृदय में प्रभु के प्रति भक्ति भाव उत्पन्न हो गया। इस प्रकार शरद् ग्रीष्म और वर्षा सब ऋतुओं में और प्रातः सायं सदा महात्माओं के मुख से मैं हरि का भजन कीर्तन सुनता रहा जिससे मेरे चित्त में भक्ति उत्पन्न हो गयी।'[1]

अब प्रश्न यह उठता है कि उन सन्तो की परीक्षा कैसे हो? श्रीमद्भागवत् में भगवान् ने स्वयं ही उनके लक्षण बतलाये हैं कि 'जो मनुष्य सब प्रकार से निश्चिन्त सदा मग्न और निष्पक्षपात रहते हैं जिनका मन मुझ पर ही आसक्त रहता है जिनका ध्यान किसी भी वस्तु की ओर आकर्षित न होता हो जिनके हृदय में अहंभाव न हो जो सुख-दुःख में भेद भाव न गिने और जो दूसरे के पास से कुछ भी ग्रहण करने की इच्छा न रखे वही सच्चा सन्त है।'[2]

श्री मद्भागवत के ही तृतीय अध्याय में कहा गया है कि 'जो दुःख सहन करने में शक्तिमान सब प्राणियों पर समान भाव रखने वाला शान्त और चरित्रवान् है वही सच्चा सन्त है।'[3]

जहाँ सन्त नहीं मिल सकें वहाँ स्वयं या अपने मित्रों सहित भगवद्विषयक चर्चा करनी चाहिए। ऐसा करने से सत्संग के समान ही लाभ सम्भव है। धार्मिक एवं भक्ति शास्त्रीय ग्रन्थों के अध्ययन मनन एवं श्रवण से भी भक्ति के साधन सम्पन्न होते हैं। ऐसे ग्रन्थों में भगवान् के गुणों एवं उनके भक्तों के जीवन चरित्रों के वर्णन रहते हैं। अतः उनके अध्ययन से मनुष्य को भक्ति-मार्ग पर अग्रसर होने में पर्याप्त सहायता मिलती है।[4] सत्संग की कमी शास्त्राभ्यास से पूरी की जा सकती है।

महर्षि नारद ने विषयों के त्याग और विषयों की आसक्ति के त्याग को भक्ति का साधन माना है। अतः जब शरीर विषय भोगों में लगा रहेगा और मन विषयों में आसक्त रहेगा तो फिर तन-मन से भगवान् की भक्ति सम्भव है? बाह्य भोगों की तो बात ही क्या मन से भी विषयों के चिन्तन का त्याग आवश्यक है क्योंकि विषयों का चिन्तन करने से मन विषयों में आसक्त होता है और बारम्बार भगवान् का स्मरण करने से वह भगवान् में ही

---

१ श्रीमद्भागवत स्कन्ध १ अ० ५ श्लो २५–२८
२ " स्कन्ध ११ अ २६ श्लो २७
३ " स्कन्ध ३ अ० ५, श्लो० २१
४ शाण्डिल्य भक्ति सूत्र ७-८ भा ७।१२ ११।१५
५ तत्तु विषयत्यागात् सङ्गत्यागाच्च—ना भ सू० ३५

क्षीण हो जाता है। यहाँ विषय त्याग से उन विषयों के त्याग का तात्पर्य है जो साधकों के मन को भगवान् से विमुख कर सांसारिक प्रपंचों एवं भोगों में संलग्न कर देते हैं। ध्यान चिन्तन मनन कीर्तन साधु-सेवा आदि जो भगवदनुकूल विषय हैं उनमें तो स्वयं सर्वदा तन-मन धन से संलग्न रहना चाहिए, केवल बाहर से किसी विषय का त्याग करके यदि अन्तस् से उसका चिन्तन किया जाय तो वह वास्तविक त्याग नहीं है।

महर्षि नारद के मतानुसार भगवान् का अखण्ड भजन भक्ति की प्राप्ति का एक महान् साधन है।[1] भगवान के नाम रूप प्रभाव रहस्य गुण लीला आदि का निरन्तर तैलधारावत् चिन्तन ही अखण्ड भजन है। जो भक्ति-तत्त्व को प्राप्त कर चुके हैं उनका स्वाभाविक अखण्ड भजन बराबर चलता रहता है और इसकी प्राप्ति के लिए उत्कण्ठित साधकों को इसका अभ्यास डालना चाहिए। योग दर्शन[2] 'श्रीमद्भगवद्गीता'[3] 'रामचरितमानस'[4] आदि ग्रन्थों से भी इस कथन की पुष्टि होती है।

श्रीमद्भागवत में भगवान् के नाम गुण लीला कथा आदि के कथन श्रवण एवं अनुमोदन को भक्ति की प्राप्ति का साधन कहा गया है।[5] वस्तुत भगवान् के नाम का जप कीर्तन स्मरण एवं श्रवण भक्ति की प्राप्ति के महत्वपूर्ण साधन हैं। इस नाम-जप पर सभी आचार्यों एवं भक्तों ने विशेष बल दिया है। कलियुग में तो आत्मोद्धार एवं भगवत्प्राप्ति का इससे अधिक सरल एवं सुगम अन्य कोई साधन नहीं है[6] क्योंकि इस समय योग यज्ञ ज्ञान आदि की सिद्धि सर्वथा असम्भव है।[7]

श्रीमद्भागवत मे जनक के प्रति ऋषभ के पुत्र योगेश्वर कवि का कथन है—

"जो मनुष्य हरि के नामोच्चारण को ही अपने सम्पूर्ण जीवन का प्रधान उद्देश्य बना लेता है उसके हृदय में अनुराग उत्पन्न होता है और वही हृदय द्रवीभूत हो जाता है। वह मनुष्य कभी हँसता है और कभी रोता है कभी चिल्लाता है और कभी नाचता है। वह प्रभु के प्रेम में पागल हो जाता है। नाम कीर्तन करते-करते प्रेम का संचार हो जाता है और पाप का नाश हो जाता है।"[8]

---

1 'अव्यावृतभजनात्' —ना० भ० सू—३६
2 पतञ्जलि योगदर्शन पा० १ सूत्र १४
3 गीता अ० ८ श्लो० १४
4 मा० ७-१२२ (क)
5 श्रीमद्भागवत स्कंध ११ अ० २६ श्लो० २९
6 नारदपुराण पूर्वभाग अ० ४१ श्लो० ११५
मा० १ २७ ७ (७ १ ३ ७)
विनयपत्रिका पद २२१ की अन्तिम दो पंक्तियाँ।
7 मा० ७ १०२ ५ (पू०)
8 श्रीमद्भागवत स्कंध ११ अ० २ श्लो० ४

गौरांग महाप्रभु चैतन्य का कथन है कि

"तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना ।
अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः ॥"[१]

अर्थात् 'तिनके से भी अधिक नम्र होकर वृक्ष से भी अधिक सहनशील होकर अपना मान त्याग और दूसरे का आदर कर सदा हरि का स्मरण करना चाहिए ।

भगवान् का स्मरण करने से उनका नाम जप करने से भक्त की ऐसी स्थिति हो जाती है कि उसे संसार में भगवान् के अतिरिक्त अन्य कोई पदार्थ दृष्टिगोचर ही नहीं होता । उस बड़भागी के लिए ब्रह्माण्ड ही भगवान् के विराट रूप में परिलक्षित होता है ।

पवित्र तीर्थ स्थानों एवं भगवान् के धाम में रहने से भी भक्ति उत्पन्न होती है । पवित्र तीर्थ स्थानों में साधु-सन्त एवं महापुरुष सन्त निवास करते हैं । अतः महापुरुषों एवं सन्तों का संग जो अगम्य और दुर्लभ कहा गया है[२] वहाँ सरलता से सम्भव है । भला ऐसा कौन व्यक्ति होगा जिसका हृदय वृन्दावन में पदार्पण करने पर भगवान् श्रीकृष्ण की भक्ति से और अयोध्या में जाने पर भगवान् श्रीराम की भक्ति से भर नहीं जाय ? भक्ति की प्राप्ति के लिए ईश्वर सेवा अर्थात् श्रद्धा और विश्वासपूर्वक अपने आराध्य देव की प्रतिमा का पूजन भी एक महत्वपूर्ण साधन है । ऐसा करते-करते साधक भक्ति की प्राप्ति कर सदा के लिए प्रभु की सेवा में लीन हो जाता है । इस कथन की पुष्टि में श्रीमद्भागवत में वर्णित राजा अम्बरीष का उदाहरण उपस्थित किया जा सकता है ।

'उसने अपनी आत्मा को श्रीकृष्ण के चरण कमल में ध्यान करने के लिए, जिह्वा को प्रभु के गुण गाने के लिए, हाथों को हरि मन्दिर को साफ सुथरा रखने के लिए और कानों को श्रीहरि गुणों को सुनाने के लिए लगा दिया था और उसने अपने नेत्रों को श्रीहरि के दर्शन करने के लिए अपने शरीर को श्रीकृष्ण के भक्तों की सेवा करने के लिए और अपनी नाक को श्रीकृष्ण पर चढ़ी हुई तुलसी की सुवास लेने के लिए और जिह्वा को भोग में लगे अन्नादि के आस्वादन में लगा दिया । वह अपने चरणों को मन्दिर के आसपास प्रदक्षिणा करने में और मस्तक को प्रभु के आगे झुकाने में लगाता था । वह जो कुछ सुख का उपभोग करता वह सुख पाने के लिए नहीं अपनी इन्द्रियों की तृप्ति के लिए नहीं बल्कि प्रभु की सेवा करने के लिए और अपने को प्रभु का दास अनुभव करने के लिए ही करता । उसको भक्ति की अनुमति सहज ही जाती थी । ऐसा ही करते-करते उसका घरबार, स्त्री पुत्र मित्र हाथी घोड़े रथ रत्न जवाहिरात खजाना आदि किसी भी वस्तु में आसक्ति न रही ।'[३]

इस प्रकार से नियमित सेवा एवं आचरण करने में निकृष्ट व्यक्ति को भी भक्ति साधन से भगवान मिल सकते हैं ।

---

१ चैतन्य [illegible] ३ तथा [illegible]
२ मा० भ० सू० ३९ [illegible] १८ [illegible]
३ श्रीमद्भागवत स्कन्ध ९ अ० ४ श्लो० [illegible]

प्रेमी महापुरुषों एवं साधु-सन्तों की कृपा अथवा भगवान् की लेशमात्र कृपा भक्ति की प्राप्ति के सर्वोत्कृष्ट साधन हैं।[1] भगवान् के चरणों में पूर्णतया आत्म-समर्पण कर देना भी भक्ति की प्राप्ति का एक प्रमुख साधन है।[2] भक्त को भगवान् को अर्पण किये बिना किसी भी काम का सम्पादन नहीं करना चाहिए। उसका चिन्तन-मनन, कर्म, वाणी सब का उपयोग भगवान् के लिए ही होना चाहिए। जो जन तन, मन, वचन के समस्त संकल्पों को भगवान् के चरणों में अर्पित कर देगा, उसका हृदय निश्चय ही पवित्र होकर भक्ति से परिपूर्ण हो जायगा।

भक्ति के साधनों में मन की एकाग्रता भी एक अत्यन्त आवश्यक साधन है। चंचल मन भक्ति के मार्ग में बहुत सा व्यवधान उपस्थित करता रहता है। अतः हमारे ऋषियों ने मन को एकाग्र करने के अनेक उपाय बतलाये हैं।[3] वस्तुतः मन ही मनुष्यों के बन्धन एवं मोक्ष का कारण है :

'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ॥'[4]

जब कभी हम किसी आध्यात्मिक विषय का चिन्तन करते रहते हैं, उस समय भी हमारा मन सांसारिक चिन्ता धारा में प्रवाहित रहता है। अतः सांसारिक विषयों से इसे मोड़कर भगवान् के चरणों में एकाग्र एवं केन्द्रित करना अत्यन्त आवश्यक है।

गोस्वामी तुलसीदास जी के समकालीन सन्त प्रतिष्ठित वेदान्ती आचार्य मधुसूदन सरस्वती ने भगवत्प्रेमाप्ति[5] की ग्यारह भूमिकाएं बतलायी हैं।

---

१ ना० भ० सू० — ३८

२ श्रीमद्भागवत स्कन्ध ११ अ० २ श्लो० ३६

> 'कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा बुद्ध्याऽऽत्मना वानुसृतस्वभावात् ।
> करोति यद् यद् सकलं परस्मै नारायणायेति समर्पयेत्तत् ॥'

श्रीमद्भगवद्गीता अ० ९ श्लो० २७

> 'यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
> यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥'

३ पातंजल योग सूत्र पाद १ सूत्र १२-१६

गीता अ० ६ श्लो० २६ तथा ३५

४ शाट्यायनीयोपनिषद् मन्त्र १ (पू०)

विष्णु पुराण अंश ६ अ० ७ श्लो० २८ (पू०)

५ भक्ति रसायन प्रथम उल्लास कारिका ३२-३४

> प्रथमं महतां सेवा तद्दयापात्रता ततः ।
> श्रद्धाऽथ तेषां धर्मेषु ततो हरिगुणश्रुतिः ॥
> ततो रत्यङ्कुरोत्पत्तिः स्वरूपाधिगतिस्ततः ।
> प्रेमवृद्धिः परानन्दे तस्याथ स्फुरणं ततः ॥
> भगवद्धर्मनिष्ठाऽतः स्वस्मिंस्तद्गुणशालिता ।
> प्रेम्णोऽथ परमा काष्ठेत्युदिता भक्तिभूमिका ॥

१ महत्सङ्ग
२ तद्दयापात्रता
३ तद्धर्म में श्रद्धा
४ हरिगुण श्रुति
५ रत्यंकुरोत्पत्ति
६ स्वरूपाधिगति
७ प्रेम वृद्धि
८ परमानन्द स्फूर्ति
९ स्वत भगवद्धर्मनिष्ठा
१० तद्गुणशालिता और
११ प्रेम की पराकाष्ठा ।

निश्चय ही महापुरुषो की सेवा उनकी दया पात्रता धर्म में श्रद्धा भगवान् क गुणों का श्रवण कीर्तन आदि साधनों स अन्त करण में भगवत्प्रेम हो जाता है ।

वस्तुत मनुष्य अपनी परिमित शक्ति तपश्चर्या एव भक्ति से ही भगवान् को नहीं प्राप्त कर सकता । भक्ति के उपयु क्त साधनों को सफलतापूर्वक जीवन में उतार लेने से ही भगवान् वश में हो जायेंगे ऐसा निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता । वे किसी की आज्ञा पालन करने को बाध्य नहीं है । उनकी प्राप्ति के लिए उनकी कृपा दृष्टि की ही सर्वाधिक आवश्यकता है ।[1] माता यशोदा लाख प्रयत्न करके सारे घर की रस्सियाँ लाकर भी बाल कृष्ण को नहीं बाँध सकीं पर भगवान् स्वय माता के मस्तक पर बाध हुए डोरे को जिसका कर बंध गये ।[2]

भक्ति के अंग

परमपिता परमेश्वर के शरणापन्न होकर ससार के समस्त समुचित कर्तव्यों का परिपालन भक्त का परम धर्म है । भक्त एक सामाजिक प्राणी होता है । वह अपने बन्धु बान्धवों के बीच निवास करता है । माता पिता गुरु पुत्र कलत्र आदि के साथ निर्ममता पूर्वक सम्बन्ध विच्छेद करके किसी गहन वन या पर्वत की कन्दरा म जाकर भगवद् भजन करना किसी किसी विरले बड़ भागी से ही सम्भव हो पाता है । कभी-कभी तो हठपूर्वक ऐसा करने पर भी मन भगवत् चिन्तन म विमुख होकर इन्ही परित्यक्त वस्तुओं के चिन्तन में संलग्न रहता है और ऐसी स्थिति म साधक का पतन अवश्यम्भावी है ।[3] अत भक्त के

---

१ मा २ १२७ ४
२ श्रीमद्भागवत् स्कन्ध १ अ० ९ श्लो० १५ १९
३ गीता अ ३ श्लो ६—

"कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचार स उच्यते ॥

लिए अपने कर्त्तव्य-पथ पर अग्रसर होते हुए भगवान् की ओर उन्मुख होना ही ज्यादा अच्छा और खतरे से खाली है। भक्ति शास्त्र कभी भी भक्तों को कर्त्तव्य-पालन से परामुख नहीं करता है। भक्तों के दैनिक जीवन के ये सारे उचित कर्त्तव्य ही भक्ति के अंग हैं।

भक्ति का प्रमुख अंग श्रद्धा है जिसके सर्वाधिक पात्र क्रमश: माता पिता एवं गुरु हैं। भक्ति एवं धर्म का आचरण शरीर से ही सम्भव है[1] और यह शरीर माता-पिता के ही प्रसाद का परिणाम है। गुरु हमें ज्ञान प्रदान करते हैं। वे हमें करणीय अकरणीय के विवेक से अवगत कराते हैं। अत: शास्त्रों में माता पिता एवं गुरु की महिमा का जोरदार शब्दों में प्रतिपादन हुआ है। मानव जीवन का प्रारम्भिक काल क्रमश: उक्त तीनों के सम्पर्क में ही बीतता है।

भक्ति का दूसरा अंग त्याग है। हमारे समक्ष संसार के अपार ऐश्वर्य-वैभव एवं भोग विलास की सामग्रियां विद्यमान हैं जिनका सम्पूर्णरूपेण उपलब्धि एवं उपभोग इस सीमित एवं क्षणिक जीवन में क्वापि सम्भव नहीं है। सांसारिक भोग-विलास हमारी इन्द्रियों को निस्तेज बना देते हैं और इनसे वासनाओं की शान्ति भी नहीं होती प्रत्युत वासनाएँ और भी भी तीव्र गति से उसी तरह प्रज्वलित हो जाती हैं जिस तरह आग में घी डालने से आग भभक उठती है।[2] सांसारिक भोगों से तृप्ति क्वापि नहीं हो पाती उससे तृष्णा उत्पन्न होती रहती है जो कभी भी जीर्ण होने का नाम नहीं लेती।[3] अत: इन भावों का उपयोग त्याग भाव से करना चाहिए। त्याग की परिधि में ही व्रत तप संयम ब्रह्मचर्य आदि का स्थान सुरक्षित है। अत: ये सब भक्ति के अंग माने गये हैं।

भक्ति का तीसरा अंग याज्ञिक अनुष्ठान है। यज्ञ के माध्यम से भक्त सामग्री की क्षति-पूर्ति होती है। वस्तुत: यज्ञ से पर्जन्य से वृष्टि और वृष्टि से अन्न उत्पन्न होता है। इसी अन्न से प्राणिमात्र का पोषण होता है। इसीलिए अन्न को ब्रह्म भी कहा गया है।[5]

भक्ति का चतुर्थ अंग 'यम' और पंचम अंग 'नियम' का पालन करना है जिनमें प्रथम समाज-सापेक्ष और द्वितीय व्यक्ति-सापेक्ष है। यम के अन्तर्गत अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह[6] तथा नियम के अन्तर्गत शौच सन्तोष तप स्वाध्याय और ईश्वर

---

१ शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्।
कुमार सम्भव पंचम सर्ग श्लो० ३३ का अन्तिम चरण।

२ मनुस्मृति २ ९४ महाभारत आदिपर्व ७५ ५०

३ तृष्णान जीर्णा वयमेव जीर्णा
शतकत्रयम् भर्तृहरिकृत 'वैराग्यशतक' श्लो० ७ का अन्तिम चरण।

४ श्रीमद्भगवद्गीता अ ३ श्लो १४
मनुस्मृति अ ३ श्लो ७६

५ तैत्तिरीयोपनिषद्, वल्ली ३ मन्त्र २ —
'अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्।

६ 'अहिंसा सत्यास्तेय ब्रह्मचर्या परिग्रहा यमा:।
पातञ्जल योगदर्शन साधन पाद २ सूत्र ३०

प्रणिधान'[1] का स्थान सुरक्षित है। सामाजिक अभ्युदय के लिए यम और व्यक्तिगत अभ्युदय के लिए नियम के परिपालन की आत्यन्तिक आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त सामाजिक जीवन में समाज के समस्त सदस्यों के प्रति सहानुभूति पूर्ण व्यवहार, गुरुजनों की प्रतिष्ठा एवं लघुजनों का प्यार भी वांछित है। इसी तरह व्यक्तिगत जीवन के विकास में शुभ एवं पवित्र कर्मों के अनुष्ठान एवं सम्पादन का महत्त्वपूर्ण स्थान है। अशुभ एवं अपवित्र कर्मों के अनुष्ठान से मलिन एवं कलुषित आत्मा परमात्मा का साक्षात्कार कदापि नहीं कर सकती। अतः आसुरी वृत्तियों और विषयवासनाओं की ओर उन्मुख होने वाली इन्द्रियों एवं मन को विवेक के अंकुश से संयमित एवं नियन्त्रित करके तथा दैवी वृत्ति के मार्ग पर अग्रसर करते हुए अक्षय विभूतियों का उपार्जन करना चाहिए। भक्ति के उपर्युक्त अंग भक्ति भावना की दृढ़ता प्रदान करते हैं और भक्त को जड़ता, प्रमाद एवं प्रपंच से अलग कर अलौकिक आनन्द के धरातल पर प्रतिष्ठित करने में परम सहायक सिद्ध होते हैं।

भक्ति-मार्ग के कण्टक और उनसे मुक्ति के उपाय—

जब साधक अपनी साधना में संलग्न होता है तो उसका साधना-पथ अनेकानेक विघ्न-बाधाओं से आच्छन्न दृष्टिगोचर होने लगता है। परमानन्द धाम परमेश्वर की ओर बढ़ते समय सांसारिक विषय-वासनाएँ उसे अपनी ओर बड़ी दृढ़ता के साथ आकृष्ट करती हैं और कभी-कभी सुकुमार साधक अपने मार्ग से भ्रष्ट भी हो जाता है।

वस्तुतः भक्ति-मार्ग अनेकानेक कण्टकों से आकीर्ण है। भक्त को उन्हें उन्मूलित करने की नितान्त आवश्यकता होती है। भक्ति-मार्ग का सबसे बड़ा कण्टक दुःसंग है। इसका सर्वथा त्याग करना चाहिए।[2] इन्द्रियों का कोई भी विषय जो हमें भगवत्प्राप्ति के पथ से पराङ्मुख करके हमारे अन्तःकरण में अपवित्र विचार और विषय-वासना के प्रति आकर्षण उत्पन्न करे, वह दुःसंग है। दुःसंग से उच्छृंखलता, विषय लोलुपता, अपवित्रता, असहिष्णुता, अविवेकिता, निर्दयता, हिंसा, क्रोध, मान, दम्भ, अभिमान, अशान्ति आदि दुर्गुणों में प्रवृत्त होकर मनुष्य पथ भ्रष्ट एवं पापपरायण हो जाता है। संक्षेपतः जिन कारणों से मलिन एवं दूषित विचारों की उत्पत्ति होती है वे सब कारण दुःसंग के अन्तर्गत आ जाते हैं। इससे मनुष्य का सर्वनाश अवश्यम्भावी है। महर्षि नारद के शब्दों में "दुःसंग से काम, क्रोध, मोह, विस्मृति आदि दुर्गुणों का आविर्भाव होता है, बुद्धि का नाश हो जाता है और अन्तिम परिणाम सर्वनाश होता है।"[3]

---

१ शौच सन्तोषतपः स्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि नियमाः।

वही सूत्र ३२

२ 'दुःसंगः सर्वथैव त्याज्यः।" ना० भ० सू० ४३
श्रीमद्भागवत् स्कंध ३ अ० ३१ श्लो० ३३–३४ स्कंध ११ अ० २६ श्लो० ३
गी० २।६२ व ५।४१७

३ "काम क्रोध मोहस्मृति भ्रंश बुद्धिनाश सर्वनाश कारणत्वात्" —ना० भ० सू० ४४

न चाहता हुआ भी मनुष्य जबरदस्ती किस की प्रेरणा से पाप करता है। [1] अर्जुन के इस प्रश्न का उत्तर देते हुए श्रीकृष्ण भगवान् कहते हैं— इस विषय में यह समझो कि रजोगुण से उत्पन्न होने वाला बड़ा पेटू और बड़ा पापी यह काम एवं क्रोध ही शत्रु है।[2]

काम से लोभ और क्रोध दोनों ही उत्पन्न होते हैं। अतः भक्त को न तो ऐहिक भोगों की कामना करनी चाहिए और न उन भोगों में आसक्त मनुष्यों से ही सम्पर्क स्थापित करना चाहिए। वस्तुतः 'कामनाएँ विषयों के भोग करने से कभी शान्त एवं तृप्त नहीं होती परन्तु अग्नि में घृत डालने से जिस प्रकार वह प्रज्वलित होती है उसी प्रकार ये भी भोग से बार बार अधिकाधिक बढ़ती ही जाती है।' [3] और हमारी कामनाओं की कोई सीमा भी तो नहीं है ? संसार में मनमाने ढंग से कामनाओं की पूर्ति कदापि संभव नहीं है। अधिकांश में तो हमें असफलता ही हाथ लगती है। असफलता के कारण क्रोध की उत्पत्ति होती है। क्रोध की उत्पत्ति होने पर मनुष्य करणीय-अकरणीय के विवेक से रहित हो जाता है। उसे हित-अहित कुछ भी दृष्टिगोचर नहीं होता। इस अविवेक से उसकी स्मृति भ्रमित हो जाती है और स्मृति भ्रमित होने पर उसकी बुद्धि नष्ट हो जाती है। बुद्धि के नष्ट होने पर वह इस लोक और परलोक के कल्याण-पथ से भ्रष्ट हो जाता है और इस तरह वह सर्वनाश को प्राप्त करता है।[4] अतः मनुष्य को अपने अन्तःकरण में काम क्रोधादि पापजनित भयंकर एवं घातक परिणामों पर निरन्तर विचार करते रहना चाहिए, ताकि वह कुमार्ग पर नहीं जा सके। उसे दुराचार जनित हानियों एवं सदाचारजनित लाभों का तुलनात्मक अध्ययन करते रहना चाहिए। शबरी एवं केवट जैसे सदाचारी के प्रभाव से समक्ष बड़े-बड़े मुकुटधारी राजा नतमस्तक हुए हैं और हिरण्यकश्यप शिशुपाल आदि बड़े-बड़े राजा अपने दुराचारों के कारण निन्दा एवं उपहास के भाजन बने हैं। अपवित्र कर्मों से विमुख होने के लिए परमेश्वर से प्रार्थना असार संसार की नश्वरता मानव जीवन की क्षणभंगुरता मृत्यु की निरन्तर स्मृति तथा परमेश्वर के गुणों का चिन्तन भी नितान्त अपेक्षित है। जिसका मन मृत्यु के भय से त्रस्त है उसके अन्तःकरण में अपवित्र भावों का आविर्भाव नहीं होता। जिस व्यक्ति ने इस तथ्य को हृदयंगम कर लिया है कि अपवित्र जीवन का दुष्परिणाम मानसिक एवं शारीरिक निर्बलता स्मरण शक्ति की

---

१ गीता अ० ३ श्लो० ३६

२ काम एष क्रोध एष रजोगुण समुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्धयेनमिह वैरिणम् ॥ —वही श्लो० ३७

३ महाभारत शान्तिपर्व अ० ७५, श्लो० ५०—

"न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥
—मनुस्मृति अ० २ श्लो० ६४

विनयपत्रिका, पद ११८ में ८—"बुझै न काम अगिनि तुलसी कहुँ विषय भोग बहु घी ते।

४ श्रीमद्भगवद्गीता अ० २ श्लो ६२-६३

क्षीणता, मानव सौन्दर्य एवं तेजस्विता की हीनता और अन्त में असामयिक निधन अवश्यम्भावी है वह इस प्रकार प्रायश्चित्त से बचने के लिए निश्चय ही सदैव प्रयत्नशील रहेगा। वह अपने अतुल बल[1] का स्मरण कर उन महापुरुषों के चरित्रों एवं आदर्शों का अनुकरण करेगा जिन्होंने मन और इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर अपने पवित्र जीवन के आलोक से संसार के इतिहास को आलोकित कर दिया है।

मानव स्वभाव से ही निर्बल होता है। उसके हृदय में काम क्रोध आदि पाप वृत्तियाँ प्रारम्भ में जल-तरंग की तरह मधु रूप में आती हैं पर कुसंग के प्रभाव के कालान्तर में समुद्र के समान विशाल रूप धारण कर लेती हैं।[2] महाभारत में युधिष्ठिर से भीष्म पितामह का कथन है कि अमुक वस्तु कैसी है उस वस्तु की तकलीफ (इच्छा) नहीं हो सकती जब तक उसे देख सुन या स्पर्श न कर लें। इसलिए सर्वप्रथम मार्ग यही है कि कल्पना को दूषित करने वाली किसी वस्तु को देखना सुनना और स्पर्श करना नहीं चाहिए।[3] प्राचीनकाल में भारतीय ऋषि शुभ कार्यों के सम्पादन के पूर्व अपने शिष्यों सहित भगवान् की प्रार्थना करता था—

'भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरंगै स्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥'[4]

अर्थात् 'हे पूज्य देवगण! हम स्तोता कानों से मंगलमय वाणी सुनें और नेत्रों से मंगलमय उत्तम वस्तु देखें। ऐसा करने से हमारी इन्द्रियाँ स्थिर रहेंगी और हम ईश्वर का गुणगान करते हुए देवताओं के समान दीर्घायु एवं सुखी होंगे। वस्तुतः मन की पवित्रता से ही सभी धर्मों का साधनभूत शरीर स्वस्थ एवं दीर्घायु होता है और तभी भगवान् की भली-भाँति भक्ति की जा सकती है। अतः ऐसे तत्त्व जिनके अवलोकन श्रवण एवं स्पर्श से अन्तःकरण में थोड़ा-सा भी काम क्रोध लोभ मोह, ईर्ष्या आदि विकार उत्पन्न होने का अवकाश हो उनसे कोसों दूर रहना चाहिए। उनका विचार तक मन में नहीं लाना चाहिए। इसीलिए बुरी पुस्तकों को पढ़ने की बीभत्स नाटकों एवं खराब चित्रों को देखने की तथा अश्लील गीतों को सुनने की शास्त्रों ने मनाही की है।

महर्षि नारद का निर्देश है कि 'स्त्री धन नास्तिक और वैरी सम्बन्धी बातों को कभी मत सुनो।'[5] वस्तुतः स्त्री के चिन्तन से काम धन के चिन्तन से लोभ ईश्वर और

---

१ मा० ७ ११७ २
२ तरंगायिता अपीमे संगात्समुद्रायन्ति।
—ना० भ० सू० ४५
३ महाभारत शान्तिपर्व अ० १८ श्लो० १० एवं ११
४ ऋग्वेद मं० १ सू० ८९ मं० ८
सामवेद उत्तरार्चिक अ० १९ मंत्र २१
शुक्लयजुर्वेद अ० २५ मंत्र २१
५ "स्त्रीधन नास्तिक वैरिचरित्रं न श्रवणीयम्।"
—ना० भ० सू०—६३

शास्त्र पर विश्वास नहीं करने वाले नास्तिकों की बातों को सुनने से ईश्वर में अश्रद्धा एवं अविश्वास और वैरी सम्बन्धी बातों के सुनने से शत्रुता, ईर्ष्या द्वेष क्रोध और वैर-शोधन की भावना उत्पन्न होती है। ऐसा करने से चंचल चित्त भक्ति मार्ग से विमुख हो जाता है। अतः इन चारों के चरित्रों को सुनना ही नहीं चाहिए। स्त्री-सम्बन्धी चर्चा को निषिद्ध घोषित करते हुए श्रीमद्भागवतकार कहते हैं—

'न तथास्य भवेन्मोहो बन्धश्चान्य प्रसंगतः।
योषित संगात्यथा पुंसो यथा तत्संगिसंगतः॥"[1]

अर्थात् "स्त्रियों के संग से और स्त्रियों का संग करने वालों के संग से मनुष्य को जैसा मोह और बन्धन प्राप्त होता है वैसा अन्य किसी के भी संग से नहीं होता। श्री शंकराचार्य जी ने भी नरक का प्रधान द्वार नारी को ही कहा है।[2] यहाँ यह स्मरणीय है कि जिस तरह साधक पुरुषों के लिए स्त्री का संग त्याज्य है ठीक उसी तरह साधिका स्त्रियों के लिए भी पुरुषों का संग सर्वथा त्याज्य है।

व्यर्थ का वाद-विवाद या तर्क-कुतर्क भी भक्ति का एक बहुत बड़ा कण्टक है। इससे सुकुमार बुद्धि भ्रम में पड़ जाती है और तरह-तरह के संशय और सन्देह उत्पन्न हो जाते हैं। अतः भक्त को वाद-विवाद नहीं करना चाहिए।[3]

यह भी ध्रुव सत्य है कि तर्क या वाद-विवाद से उस तत्व की उपलब्धि नहीं होती। उपनिषद् का यह निर्घोष है।[4] ब्रह्मसूत्रकार[5] एवं महाभारतकार[6] के मतों में भी तर्क की प्रतिष्ठा नहीं है। हाँ जहाँ कोई जिज्ञासु एवं श्रद्धालु शिष्य सही अर्थ में अपनी शंकाओं के निराकरण के लिए अपने आचार्य के समक्ष तर्क उपस्थित करता है और आचार्य भी अपने प्रवर — स्य तर्कों द्वारा उसके तर्कों का खण्डन कर उसे मूलभूत सिद्धान्त हृदयंगम कराता है वहाँ पर उत्पन्न वाद-विवाद को हेय या दूषित नहीं कहा जा सकता। कदाचित् इसी अर्थ में "वादे-वादे जायते तत्व बोध" वाली उक्ति चरितार्थ है। फिर भी भक्ति के साधकों को इससे यथासाध्य बचना ही चाहिए। वाद-विवाद से कभी यथार्थ तत्व का बोध हो गया तो

---

१ श्रीमद्भागवत् स्कन्ध ३ अ० ३१ श्लो ३५
२ द्वार किमेक नरकस्य नारी।
—मणिरत्न माला (प्रश्नोत्तरी) श्लो ३ का तृतीय चरण।
३ "वादो नावलम्ब्य।"
—ना भ० सू ७४
४ नैषा तर्केण मतिरापनेया ....
—कठोपनिषद्, अ० १ वल्ली २ मन्त्र ९
५ तर्काप्रतिष्ठानात् ....
—ब्रह्मसूत्र अ २ पाद १ सूत्र ११
६ तर्कोऽप्रतिष्ठः ....
—महाभारत वन पर्व अ ३१३ श्लो ११७

हो गया अन्यथा इससे अधिकतर घर की आग हो भड़कती है। तभी तो यह गोस्वामी भी
प्रचलित है— वाद-वाद बढ़त बैर बढ़हिं। रामचरितमानस में काकभुशुण्डि और लोमश
के बाद विवाद का प्रकरण बैर-विरोध और तर्क-वाद बातों का सुन्दरतम उदाहरण है।
तुलसी ने भी भक्तों को वाद विवाद से सदा अलग रहने का ही आदेश दिया है।[1]

भक्ति-मार्ग के उपर्युक्त कण्टकों में कुछ तो बहिरंग कण्टक हैं और कुछ अन्तरंग
दुःसंग या कुसंगति स्त्री धन वैरी आदि बहिरंग और काम क्रोध लोभ मोह मत्सर
वासना कपट कुतर्क धर्मान्धता आदि अन्तरंग कण्टक हैं। इन अन्तरंग कण्टकों को उन्मू
लित करने के पश्चात् बहिरंग कण्टकों का उन्मूलन सरल हो जाता है।

भक्ति के अधिकारी

भक्ति की प्राप्ति के लिए ईश्वर में प्रेम और आकर्षण का होना नितान्त आवश्यक
है। एतदर्थ मनुष्य को संशय एवं अज्ञान के बन्धन से भी मुक्त होना चाहिए। भक्ति की
प्राप्ति के लिए जाति विद्या रूप कुल धन अवस्था आदि का कोई भी बन्धन नहीं है।[2]
ब्राह्मण हो या शूद्र शिक्षित हो या अशिक्षित सुन्दर हो या असुन्दर राजा हो या रंक
पुरुष हो या स्त्री भक्ति का मार्ग सब के लिए सुगम एवं उन्मुक्त है। प्रभु के चरणों में
अपना सर्वस्व समर्पण कर सतत तन्मय होकर जो उनका प्रेमपूर्वक स्मरण चिन्तन-मनन
किया करते हैं उन्हीं को भक्ति की प्राप्ति होती है। विदुर और निषाद का आविर्भाव निकृष्ट
जाति में हुआ था शबरी अशिक्षिता स्त्री थी ध्रुव अबोध शिशु थे विभीषण अकुलीन राक्षस
थे हनुमान कुरूप वानर थे सुदामा परम रंक थे फिर भी उन सबों को भक्ति की प्राप्ति
हुई। इस सम्बन्ध में निम्नांकित सुप्रसिद्ध श्लोक स्मरणीय है—

> व्याधस्य आचरणं ध्रुवस्य च वयो विद्या गजेन्द्रस्य का
> का जातिर्विदुरस्य यादवपतेरुग्रस्य किं पौरुषम् ।
> कुब्जायाः कमनीयरूपमधिकं किं तत्सुदाम्नो धनं
> भक्त्या तुष्यति केवलं न च गुणैर्भक्तिप्रियो माधवः ।

व्याध के आचरण की क्या विशेषता थी ध्रुव की क्या अवस्था थी गजेन्द्र ने कितना
विद्यार्जन किया था कुब्जा कितनी सुन्दर थी सुदामा कितना समृद्ध था विदुर का कुल
कितना उच्च था उग्रसेन कितना पौरुष-सम्पन्न था ?

फिर भी उनकी भक्ति एवं प्रेम के कारण भगवान् उन्हें प्राप्त हुए। वे भक्ति तथा प्रेम
से ही सन्तुष्ट होते हैं। आचरण वय विद्या सौन्दर्य धन कुल एवं पराक्रम की ओर नहीं

---

१ मा० १७४ ७६ (ख।

२ नास्ति तेषु जातिविद्यारूपकुलधनक्रियादि भेदः।
—ना० भ० सू० ७२

"आनिन्द्ययोन्यधिक्रियते पारम्पर्यात् सामान्यवत्
—शाण्डिल्य भक्ति सूत्र—७८

देखते । तुलसीदास भी इस बात के कायल थे ।[1] वस्तुत भक्ति में उच्चाति उच्च जाति से लेकर नीचाति-नीच जाति तक के मनुष्यों का समान अधिकार वैसे ही है, जैसे अहिंसा सत्य अस्तेय आदि सामान्य धर्मों के पालन में ।

भगवान् श्रीकृष्ण का कथन है कि शुद्ध अन्त करण से निरन्तर भगवान का भजन करने से महापापी दुष्ट से दुष्ट मनुष्य का भी उद्धार सम्भव है ।[2]

श्रीमद्भागवत में उद्धव जी से श्रीकृष्ण भगवान् कहते हैं— जो मनुष्य सांसारिक पदार्थों से न तो अत्यन्त विरक्त हैं और न अत्यधिक आसक्त हों तथा जिसके हृदय में मेरी कथादि में प्रेम भाव उत्पन्न हुआ है वह भक्त होने योग्य है । [3]

कुछ लोगों का ऐसा विचार है कि भक्ति करने का उपयुक्त अवसर वृद्धावस्था ही है पर यह भारी भूल है क्योंकि मानव असमय भी काल-कवलित हो सकता है । अत बाल्यावस्था ही भक्ति प्राप्त करने की सर्वोत्तम अवस्था है । इस समय हमारी वृत्तियाँ बड़ी ही सुकुमार एवं स्निग्ध होती है और बाद में संसार के सम्पर्क से वे निष्ठुर, अपवित्र एवं दूषित हो जाती हैं । अत उनमें इसी समय भक्ति का बीजारोपण कर देना चाहिए ।

'महाभारत' के शब्द हैं— 'युवावस्था से ही धर्मशील हो जाओ क्योंकि काल किस समय आकर धर दबायेगा यह किसी को मालूम नहीं है । [4] जो बाल्यावस्था से भक्ति नहीं करते उनका जीवन वृद्धावस्था में पश्चात्ताप एवं ग्लानि से परिपूर्ण रहता है । लोग बाल्यकाल को विद्याध्ययन का काल और युवाकाल को धनोपार्जन का काल स्वीकार करते हैं । लेकिन सच पूछिये तो विद्या और धन ईश्वर की भक्ति के साथ उपार्जन करने की वस्तुएँ हैं । धर्म या भक्ति से रहित विद्या और धन का कोई प्रयोजन नहीं है ।

भक्ति के लिए न तो कर्मकाण्डीय बाह्याडम्बर की आवश्यकता है और न समृद्धि

---

१ विनयपत्रिका पद—१०६

२ श्रीमद्भगवद्गीता ६ ३ ९ ३०–

'अपि चेत्सुदुराचारः भजते मामनन्यभाक्
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यक् व्यवसितो हि स ।
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वत् शान्तिं निगच्छति ।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्त प्रणश्यति ।
मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्यु पापयोनय
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥

३ श्रीमद्भागवत ११ २० ८

'यदृच्छया मत्कथादौ जातश्रद्धस्तु य पुमान् ।
न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोऽस्य सिद्धिद ॥"

४ महाभारत शान्तिपर्व अ० १७५ श्लो १६

'को हि जानाति कस्याद्य मृत्युकालो भविष्यति ।
युवैव धर्मशील स्यादनित्यं खलु
कृते धर्मे भवेत् कीर्तिरिह प्रेत्य च

की हो। उसके लिए नम्रता एवं दीनता की अपेक्षा है।[1] वे अपने भक्तों के प्रेमपाश में परिबद्ध हैं। भक्ति एवं प्रेम से हीन पूजा क्रियाओं के द्वारा उन्हें उपलब्ध नहीं किया जा सकता।

विद्याजन करने से भक्ति का पथ थोड़ा प्रशस्त तो अवश्य हो जाता है किन्तु भक्ति की प्राप्ति के लिए विद्याजन की कोई आत्यंतिक अपेक्षा नहीं है। जड़ भरत, नरेन्द्र स्वामी रामकृष्ण आदि इसके सुन्दर उदाहरण हैं।

स्वामी रामकृष्ण परमहंस का कथन है कि ईश्वर चुम्बक है और मनुष्य लोहे का एक रेणु, जो हमेशा चुम्बक की ओर आकर्षित होता रहता है। पर उस पर पाप रूपी काठ चढ़ा हुआ है। उसको चीरकर दूर फेंक दो। तब तुम्हारी निर्मल आत्मा स्वतः उस परमात्मा की ओर आकृष्ट हो जायगी। पाप रूपी धूल को प्रायश्चित्त एवं प्रार्थना के जल से धोना चाहिए। आत्मा रूपी दर्पण जो मैल जम गयी है उसे साफकर परमात्मा के प्रतिबिम्ब का साक्षात्कार एवम् उसके दया-दाक्षिण्यादि गुणों का अनुभव किया जा सकता है। एतदर्थ विद्या ऐश्वर्य सौन्दर्य सौम्य आदि किसी भी वस्तु की अपेक्षा नहीं है।[2]

भक्ति की प्राप्ति के लिए तीव्र वैराग्य एवं अटल श्रद्धा की भी आवश्यकता है। साथ ही हममें ईश्वर के लिए अनुरक्ता होनी चाहिए। एतदर्थ संसार के परित्याग की कोई आवश्यकता नहीं है। संसार में रहते हुए सांसारिक कार्यों में संलग्न रहने पर भी संसार से तीव्र वैराग्य एवं भगवान् के चरणों में अनन्य श्रद्धा एवं प्रेम संभव है। राजा जनक इसके सुन्दर उदाहरण हैं।[3] वस्तुतः सच्चा एवं वास्तविक भक्त तो वही है जो सांसारिक कार्यों में संलग्न रहने पर भी अपनी चित्तवृत्ति को उनके चरणों में केन्द्रित किये रहता है।

भक्ति के भेदोपभेद

भक्ति में तीन पक्ष रहते हैं—आराध्य आराधक और आराधना-विधि। अतः इनके कारण भक्ति के भी अनेक भेदोपभेद हैं। सामान्यतः भक्ति के दो भेद हैं—

वैधी अथवा गौणी भक्ति और रागात्मिका अथवा अहैतुकी भक्ति।

विधि विधानमयी शास्त्र मर्यादा पूर्ण भक्ति पद्धति को वैधी भक्ति कहते हैं। इसमें भक्त शास्त्रोक्त कर्मों का विधिपूर्वक सम्पादन करते हुए भगवद् उपासना करता है। उपासक उपास्य पूजा-द्रव्य पूजा-विधि और मंत्र जप ये वैधी भक्ति के पाँच अंग हैं।[4]

भगवान् के चरणों में स्वाभाविक प्रेम से जो भक्त की भजन में प्रवृत्ति होती है उसे रागात्मिका या अहैतुकी भक्ति कहते हैं। वस्तुतः भाव प्रधानपूर्ण सच्ची भक्ति ही रागात्मिका

---

१ यहि दरबार दीन को आदर रीति सदा चलि आई।
विनयपत्रिका पद १६२ पंक्ति ६

२ भक्तियोग मूल लेखक—श्री अश्विनी कुमार दत्त
अनुवादक—नगराज अग्रवाल पृ० २३

३ श्रीमद्भगवद्गीता अ० ३ श्लो० १६ (उ०) २० (पू०)।

४ तुलसी-दर्शन पृ० ६०–६७।

या अहेतुकी भक्ति है। इस भक्ति की प्राप्ति के निमित्त साधक के अन्तःकरण में पर्याप्त विश्वास एवं तीव्र श्रद्धा अपेक्षित है। इस कोटि के भक्त बाह्य-विधि विधानों का अत्यंत अल्प परिमाण में अवलंबन ग्रहण किया करते हैं और प्रायः परमपिता परमेश्वर के प्रेमोन्माद में विधि-निषेध की परिधि एवं मर्यादाओं का अतिक्रमण करते रहते हैं।

यथार्थ में वैधी अथवा गौणी भक्ति निम्न कोटि की भक्ति है किन्तु मन्द एवं अल्प श्रद्धा वाले प्रारम्भिक साधकों के लिए यह सर्वथा समीचीन एवं समुपयुक्त है। इससे साधकों के अन्तःकरण में विश्वास की दृढ़ता उत्पन्न होती है और आस्तिक्य भावों की अभिवृद्धि होती है। साधक अपनी सांसारिक कामनाओं की पूर्ति के अभिप्राय से तीर्थ-यात्रा व्रत उपवास आदि बाह्य विधानों में संलग्न रहता है। यह गौणी भक्ति सकारण सहेतुक एवं स्वार्थमय होती है। परमात्मा दयालु है कृपालु है, दीनबन्धु है। उसने मुझे ऐश्वर्य-वैभव एवं अनेकानेक सुख भोग की सामग्रियों से सम्पन्न बनाया है और बनायेगा। उसने असंख्य विपत्तियों से मेरी रक्षा की है और करेगा इत्यादि भावनाओं पर जो भक्ति आधारित है वह गौणी भक्ति है। परन्तु इस भक्ति का वास्तविक उद्देश्य रागात्मिका भक्ति की प्राप्ति है। गौणी भक्ति का अभ्यास करते-करते अन्ततः मनुष्य रागात्मिका भक्ति को प्राप्त कर लेता है। वस्तुतः यह गौणी भक्ति रागात्मिका या अहेतुकी भक्ति की पराकाष्ठा पर प्रतिष्ठित करने के निमित्त एक माध्यम है। यह उस उत्कृष्ट भक्ति तक पहुँचाने के लिए सीढ़ियों के सदृश सहारा का काम करती है। 'कौन आसन निषिद्ध है कौन प्रशस्त है, कौन पुष्प किस देवता के लिए उपादेय अथवा हेय है किस मुहूर्त में कौन-सा वैध कर्म किस प्रकार से करना चाहिए आदि आदि बातें इतनी जटिल हैं कि साधक को इन सब बातों पर ध्यान रखते हुए निर्दोष वैधी भक्ति पूरी कर ले जाना असम्भव ही सा रहता है। परिणाम यह होता है कि या तो वह अपनी वैधी भक्ति की शुद्धता की ओर अधिकाधिक प्रयत्न करता जाता है जिसके कारण उसकी भगवल्लिप्सा और संकल्प-शक्ति दिन-दिन प्रबल होती जाती है या फिर वह अपने विधान की अपूर्णता अथवा सदोषता के लिए ईश्वरेच्छा से क्षमायाचना में अधिक ध्यान देने लगता है जिसके कारण रागात्मिकता भक्ति उसके अधिकाधिक समीप होती जाती है।"[1]

ध्रुव ने पिता से अपमानित होकर अपने राज्याधिकार की प्राप्ति के लिए ईश्वर की भक्ति प्रारम्भ की थी परन्तु भगवद्दर्शन के पश्चात् उसने राज्य प्राप्ति के वरदान की याचना नहीं की। उसका हृदय भगवत्प्रेम में इतना तल्लीन हो गया कि उसकी सभी सांसारिक वासनाएँ तिरोहित हो गयीं। वह पूर्ण काम हो गया। गौणी भक्ति की रागात्मिका भक्ति में परिणति का यह सुन्दरतम उदाहरण है।

भक्तों के गुण और भाव के आधार पर गौणी भक्ति के तीन के तीन भेद हैं।[2]

---

१ तुलसी-दर्शन पृ० ९९

२ शा भ सू०—५६
'गौणी त्रिधा गुणभेदादार्तादि भेदाद्वा ॥

प्रकृति से उत्पन्न सत्व रज और तम ये तीन गुण हैं।[1] इस तरह गौणी भक्ति के निम्नांकित तीन भेद हुए—

१ सात्विकी
२ राजसी और
३ तामसी।

इनमे सात्विकी भक्ति परम पवित्र है। राजसी अहंमात्विक है और तामसी मोह रूप है। गीताकार ने सत्व के तीन तत्व बतलाये हैं—निर्मल निर्विकार और प्रकाश करने वाला।[2] इन गुणों से सम्पन्न सात्विकी भक्ति वह है जिसमें भक्त सांसारिक ऐश्वर्य-वैभव एवं सुख-समृद्धि की अभिलाषा से शून्य होकर सिर्फ परमानन्द की प्राप्ति के लिए भक्ति करता है।

श्रीमद्भागवतकार के मतानुसार जो भक्ति पाप नाश के उद्देश्य से सब कर्म फलों को भगवान् म समर्पण करने के रूप में अथवा जिसमे पूजन करना कर्तव्य है यह समझकर भेद दृष्टि स पूजा की जाती है वह सात्विकी है।[3]

गीता के विचार से रजोगुण की प्रकृति रागरूप है और इसकी उत्पत्ति कामना एवं आसक्ति से होती है।[4]

राजसी भक्ति में लोग सांसारिक समृद्धि एवं शत्रुओं पर विजय की प्राप्ति के लिए ईश्वर की भक्ति करते हैं। जो भक्ति विषय यश और ऐश्वर्य की कामना से भेद दृष्टि पूर्वक केवल प्रतिमादि के पूजन के रूप में ही की जाती है वह राजसी है।[5]

तमोगुण अज्ञान से उत्पन्न है और यह सभी देहाभिमानियों को मोहने वाला है।[6]

तामसी भक्ति में दुर्जन अपने जघन्य कार्यों की सफलता के लिए ईश्वर की भक्ति करते हैं। जो भक्ति क्रोध से हिंसा दम्भ और मत्सरतादि को लेकर भेद दृष्टि से की जाती है वह तामसी है।[7]

दस्यु की अपनी वृत्ति की सफलता के लिए परमेश्वर से प्रार्थना करते हैं। उनकी यह तामसी भक्ति है।

---

१ गीता अ० १४ श्लो ५ (पू०)
२ तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्। —गीता अ १४ श्लो ६ (पू०)
३ श्रीमद्भागवत् स्कन्ध ३ अ २९ श्लो १०
४ रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम्। —गीता० १४ ७ (पू०)
५ श्रीमद्भागवत् स्कन्ध ३ अ २९ श्लो ९
६ तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्। गीता १४ ८
 स्कन्ध ३ अ २९ श्लो ८
७ श्री

जीव तामसी भक्ति से राजसी भक्ति को और राजसी भक्ति से सात्त्विकी भक्ति को क्रमिक रूप से प्राप्त करता है और अन्तत: वह अहैतुकी या निष्काम भक्ति पाता है।

उपर्युक्त सात्त्विकी, राजसी एवं तामसी—तीनों श्रेणियों की भक्ति में अत्याधिक स्वार्थ समाहित है। पर निष्काम भक्ति सर्वथा स्वार्थ-शून्य होती है। उसमें धर्म अर्थ एवं कामजनित आनन्द की तो बात ही क्या, मोक्ष के आनन्द को भी कोई स्थान नहीं है।

पुन: भक्तों के भाव भेद से गोपी भक्ति के तीन भेद हैं—

१ आर्त्त
२ जिज्ञासु और
३ अर्थार्थी।

१ आर्त्त—जो व्यक्ति विपत्तियों के त्रास एवं प्रतिकूल परिस्थितियों के बिबन से मुक्त होने के लिए भक्ति करता है, वह आर्त्त भक्त कहलाता है।

२ जिज्ञासु—जिज्ञासु भक्त के अन्त:करण में परमेश्वर के गुणों कार्यों एवं प्रभावों से अवगत होने के लिए जिज्ञासा एवं आतुरता विद्यमान रहती है और एतदर्थ वह कुछ साधनाओं का सतत् अभ्यास करता रहता है। उसके हृदय में परमेश्वर के प्रति स्वाभाविक प्रेम का अंकुर नहीं होता। जैसे-जैसे गम्भीरता के साथ ईश्वर के गुणों से अवगत होने के लिए वह अपनी साधनाओं में संलग्न होता जाता है वैसे-वैसे ही उसके हृदय में परमेश्वर के प्रति प्रेम अंकुरित एवं पल्लवित होने लगता है। और इसी तरह जिज्ञासु भक्त भक्तिमूलक ग्रन्थों के अध्ययन एवं सतत् ईश्वराभ्यास करते-करते ईश्वर पर अटल विश्वास एवं उससे अगाध प्रेम करने लगता है।

३ अर्थार्थी—जो व्यक्ति किसी निश्चित सांसारिक पदार्थ जैसे ऐश्वर्य-वैभव यश कीर्ति पुत्र-पौत्रादि की प्राप्ति के लिए ईश्वर की भक्ति करता है वह अर्थार्थी भक्त है।

यद्यपि भक्तों के उपर्युक्त भेद उत्कृष्ट कोटि के नहीं कहे जा सकते फिर भी भक्ति का निरन्तर अभ्यास करते-करते ऐसे भक्त भी अन्ततोगत्वा निष्काम भक्ति के अधिकारी बन जाते हैं। अर्थार्थी भक्त ध्रुव निष्काम भक्ति को प्राप्त करके इसका सुन्दरतम उदाहरण उपस्थित कर चुके हैं।

आराधना-विधि के भेद से भक्ति के नौ प्रमुख भेद हैं—

श्रवण कीर्तन स्मरण पाद सेवन अर्चन वन्दन दास्य सख्य और आत्मनिवेदन।[१]

भगवान् के गुणों एवं यश का उत्सुकता एवं आह्लाद के साथ श्रवण करना श्रवण भक्ति है। भगवद्यश का प्रेम और आनन्द के साथ वर्णन या गायन करना कीर्तन भक्ति है। भगवान् के गुणों का बार-बार स्मरण करना और उनकी महत्ता से पुलकित होना स्मरण

---

१ श्रीमद्भागवत स्कंध ७ अ० ५, श्लो० २३

लिया था[1] और उनमें उक्त सभी ग्यारहों प्रकार की आसक्तियाँ विद्यमान थीं पर अपनी अपनी अभिरुचि के अनुसार भक्त इनमें से केवल एक या एकाधिक भावों से भगवान् के साथ प्रेम किया करते हैं। कोई उनके रूप पर आकृष्ट होता है तो कोई उनके गुणों एवं माहात्म्य पर अपना सर्वस्व समर्पण कर देता है। कोई उनका दास या सेवक बनना चाहता है तो कोई उनका मित्र या सखा बनना ज्यादा अच्छा समझता है। कोई उनकी पूजा में कोई उनके स्मरण में और कोई उनके विरहानुभव में अपने को कृतकृत्य मानता है। इस तरह भिन्न-भिन्न प्रकार के भक्त अपनी भिन्न-भिन्न प्रकार की अभिरुचियों के अनुरूप प्रेम-पथ के पथिक बना करते हैं। इस पावन भारत भूमि में भिन्न-भिन्न आसक्तियों से भगवान् से प्रेम करने वाले असंख्य भक्त अवतीर्ण हो चुके हैं। उनमें से कुछ प्रातःस्मरणीय स्वनामधन्य प्रमुख भक्तों की क्रमिक नामावली प्रस्तुत की जा रही है—

१ गुणमाहात्म्यासक्त भक्त—
देवर्षि नारद
महर्षि वेदव्यास
शुकदेव
याज्ञवल्क्य
काक-भुशुण्डि
शाण्डिल्य
परीक्षित्
पृथु[2] आदि

२ रूपासक्त भक्त—
राजा जनक[3]
मिथिला के नरनारी
व्रज नारियाँ

३ पूजासक्त भक्त—
भरत[4]
अम्बरीष आदि

४ स्मरणासक्त भक्त—
प्रह्लाद
ध्रुव
सनकादि

---

१ ना० भ० सू०—२१—"यथा व्रज गोपिकानाम् ।"
२ भा १ ४-९
३ भा० १ २१९ ५
४ भा० २ ३२५

५ दास्यासक्त भक्त—

हनुमान्

विदुर

तुलसी

६ सख्यासक्त भक्त—

अर्जुन

उद्धव

सुदामा

ग्वाल-बाल

७ कान्तासक्त भक्त—

अष्ट पटरानियाँ

८ वात्सल्यासक्त भक्त—

कश्यप—अदिति

दशरथ—कौशल्या

नन्द—यशोदा

वसुदेव—देवकी।

९ आत्म निवेदनासक्त भक्त—

राजा बलि

हनुमान्

विभीषण

शिबि आदि

१० तन्मयतासक्त भक्त

शुक

सनकादि ज्ञानी गण

सुतीक्ष्ण[1] आदि प्रेमीजन

११ परम विरहासक्त भक्त—

ब्रज के नर-नारी

उद्धव अर्जुन आदि

उपर्युक्त भक्तों में एक-एक प्रकार के ही प्रेम का विकास था ऐसी बात नहीं है। उनमें जिस भाव या आसक्ति की प्रधानता थी उसी में उनका नामोल्लेख किया गया है।

लोक-मर्यादा को स्वीकार करते हुए परमात्मा में प्रेम करना मर्यादा भक्ति है। परमात्मा के अनुग्रह से ही उनके प्रति अपने हृदय में प्रेम उत्पन्न होना सम्भव मानकर उनके

---

१ मा० ३ १२१ १-७

२ मा ३ १०-१ १२

चरणों में प्रेम करना पुष्टि भक्ति के नाम से प्रसिद्ध है। इस प्रकार भक्तों ने अपनी-अपनी रुचि के अनुकूल भिन्न-भिन्न प्रतिमान मान कर भिन्न-भिन्न प्रकार की भक्ति का निरूपण एवं नामकरण किया है।

भक्ति-मार्ग की विशेषताएँ

भक्ति-मार्ग जन-साधारण के लिए सर्वथा सरल एवं सुखद है। इसका बिलकुल सीधा-सादा होना ही इसकी सबसे बड़ी विशेषता है। जन-साधारण मध्यम मार्ग का अवलम्बन ग्रहण करता है। वह न सर्वथा विरक्त और न सर्वथा आसक्त ही होता है। ऐसे मध्यम मार्गी जन साधारण के लिये भक्ति मार्ग ही समुपयुक्त है।[1] इसमें न ज्ञान-मार्ग के शुष्क एवं गम्भीर चिन्तन की और न कर्म तथा योग-मार्ग की ही आवश्यकता रहती है। इसमें ज्ञान कर्म एवं योग सभी के अपेक्षित तत्व सम्मिलित रहते हैं पर प्रधानता प्रेम की ही रहती है।[2]

भक्ति-मार्ग पर अग्रसर होकर इह लोक एवं परलोक दोनों को सुधार सकते हैं।[3] भक्त को संसार का समग्र सुख उस असीम शक्ति सम्पन्न प्रभु की रंचमात्र कृपा से अनायास ही उपलब्ध हो जाता है और उसका परलोक-पथ भी निष्कंटक उज्ज्वल एवं मंगलमय बन जाता है। भक्त का जीवन भुक्ति मुक्ति एवं भक्ति के अद्वितीय आनन्द को एक ही साथ प्राप्त कर कृतकृत्य हो जाता है। कभी-कभी के पूर्व जन्म के संचित दूषित संस्कार, उसका अपूर्ण एवं अपरिपक्व भगवत्प्रेम तथा इसी तरह के अनेकानेक अन्यान्य कारण भक्ति की उपर्युक्त अक्षय सम्पत्ति एवं अमूल्य निधि की उपलब्धि में विशेष विलम्ब कर दिया करते हैं। पर यदि भक्त अपनी साधना के मार्ग में अप्रतिहत गति से अग्रसर होता है तो कालान्तर में या जन्म जन्मान्तर के पश्चात् ही सही उसकी सफलता एवं उपलब्धि अवश्यं भावी है।[4]

भक्ति-मार्ग पर अग्रसर होने से भक्त का अन्तःकरण निर्मल स्वच्छ, स्निग्ध एवं शक्ति-सम्पन्न बन जाता है। एकान्त स्थान में भगवान् का स्मरण, चिन्तन एवं मनन करने से भक्त का चंचल चित्त जगती के कल-कोलाहल से विश्राम पाकर अपूर्व शान्ति का अनुभव करता रहता है। भगवान् अपने भक्तों के हृदय में अहंकार काम, क्रोध लोभ मोह आदि दुर्गुणों को फटकने नहीं देते।[5] भक्त के लिए तो अहंकार का विषय नहीं हो सकता है कि

---

१ श्रीमद्भागवत स्कन्ध ११ अ० २० श्लो० ५–८

२ "वास्तव में तो कर्म, भक्ति और ज्ञान इन तीनों के समन्वय के बिना कोई मार्ग शुद्ध हो ही नहीं सकता। इसलिए विशुद्ध भक्ति मार्ग भी असल में समन्वय मार्ग ही है जिसमें कर्म का अंश विरति (अनासक्ति) के रूप से और ज्ञान का अंश विवेक (तत्त्वसाक्षात्कार) के रूप से समाया हुआ है।"

—डा० बलदेव प्रसाद मिश्र तुलसी-दर्शन पृ० ७९

३ मा० १२०२ ७।१२४

४ "प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः ।
अनेक जन्म संसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥"

—श्रीमद्भगवद्गीता अ० ६ श्लो० ४५

५ मा० ११२६४५

भगवान् मेरे स्वामी हैं और मैं उनका सेवक हूँ।[1] अपने आराध्य देव के प्रति भक्ति से अनुप्राणित होकर उन उदात्त गुणों अपने जीवन में उतारते हुए उन्हीं की तरह वह निःस्वार्थ जन-जीवन के कल्याण में रत रहा करता है तथा उनके अनुपम सौन्दर्य एवं शक्ति-शील का सदैव रसास्वादन करते रहने से उसकी अन्तरात्मा अलौकिक आनन्द से ओत प्रोत रहती है। परमपिता परमेश्वर के अस्तित्व पर अटल श्रद्धा एवं अगाध विश्वास होने के कारण वह महान् आस्तिक एवं पक्का आशावादी बन जाता है तथा अनुकूल एवं प्रतिकूल प्रत्येक परिस्थिति में उसे भगवान् का भरोसा और उनके नाम का बल बना रहता है।[2]

भक्ति-मार्ग की त्रुटियाँ

भक्ति-मार्ग में पंथ एवं सम्प्रदाय भेद के कारण भक्तों के आराध्य देवों की संख्या अपरिमित है। भिन्न-भिन्न अभिरुचि के अनुरूप भक्त भिन्न भिन्न आराध्य देवों की आराधना किया करते हैं। सभी आराधक अपने अपने आराध्यदेव को ही सर्वश्रेष्ठ मानते हैं और कभी कभी साम्प्रदायिक संकीर्णता में आबद्ध होकर वे दूसरों के आराध्य देवों को हेय दृष्टि से भी देखा करते हैं। जो साधक अपने सम्प्रदाय के लोगों के प्रति अपार सहानुभूति रखता है वही दूसरे सम्प्रदाय वालों के प्रति जघन्य कृत्य करने में भी संकोच नहीं करता। इस तरह के संकीर्ण आराधकों के पारस्परिक वैमनस्य एवं कलह समाज के समक्ष प्रायः भयावह एवं वीभत्स दृश्य उपस्थित करते हैं। पर भक्ति की परिपक्व स्थिति की प्राप्ति के पश्चात् इस प्रकार की संकुचित मतान्धता एवं कट्टरता के लिए अवकाश नहीं रह जाता। ऐसी संकीर्णता भक्ति की प्रारम्भिक स्थिति के उन्हीं नवजात साधकों में उपलब्ध होती है जो सद्गुरु के प्रसाद से वंचित एवं सद्ग्रन्थों के चिन्तन मनन से रहित होते हैं। उन्हें न अच्छा सत्संग मिला होता है और न हृदय में सद्विवेक का ही आविर्भाव हुआ रहता है। कभी-कभी ऐसे आराधकों में अन्ध-विश्वास एवं अन्ध श्रद्धा का इतना आधिक्य हो जाता है कि वे परावलम्बी निस्तेज एवं अकर्मण्य हो जाते हैं। ऐसी भक्ति में बाह्य विधि विधानों पर अत्यधिक बल देने से आडम्बर का भी प्राबल्य हो जाता है। भगवद्भक्ति में दम्भ एवं क्रोध शून्यता की भावना को अनुचित प्रश्रय प्रदान करने से वासना की हीन वृत्ति का बाहुल्य व्यक्ति एवं समाज दोनों के अस्तित्व के लिए ही घातक प्रमाणित होता है। साधु वेष में कितने ही प्रवंचक समाज के सुकुमारमति एवं भोले भाले लोगों को प्रवंचित किया करते हैं। ऐसे वेषधारी साधुओं से सावधान रहने की आवश्यकता है।[3] पर भक्तिमार्ग की इन त्रुटियों का अवलोकन कर हम उसे हेय नहीं कह सकते क्योंकि यह समस्त संसार गुण-दोषमय है। कोई भी मार्ग एकान्त रमणीय एवं सर्वथा दोष रहित नहीं होता है।[4]

— • —

१ मा ३ ११ २१
२ मा ३ ३६ २ (उ) १ २६ ८ कवितावली उ का० प १६ का अन्तिम चरण।
३ मा १ १२ ३ १ १५१ (क)
४ मा १ ६ (पू)

दूसरा अध्याय

तुलसी के पूर्ववर्ती साहित्य में भक्ति-भावना का उद्भव और विकास

तुलसी के पूर्ववर्ती साहित्य में भक्ति-भावना का उद्भव और विकास

हमारी पुण्य भूमि भारत में सदा-सर्वदा से भगवद् भक्ति की सरिता अप्रतिहत गति से प्रवाहित होती रहती है। वेद[1] उपनिषद्,[2] पुराण[3] आगम-ग्रन्थ[4] सूत्र-ग्रन्थ[5] आदि प्राचीन भारतीय साहित्य भक्ति की महिमा से मुखरित हैं।

---

१ तस्य ते भक्तिवामो भूयास्म।

यजुर्वेद मैत्रायणी संहिता काण्ड १, प्रपाठक ५ मंत्र १४ ऋग्वेद मण्डल १ सूक्त १८ मंत्र ३ और ४।

... ...उपर्युक्त बातों पर विचार करते हुए कहा जा सकता है कि वेदों में भक्ति की *आरम्भिक तथा मूलवर्ती रूपरेखा उपलब्ध होती है।*

—महाकवि सूरदास नन्ददुलारे वाजपेयी पृ० ४

'अतएव भक्ति का बीज ऋग्वेद के मंत्रों में अवश्यमेव सन्निहित था जो अनुकूल अवसर पर वर्धित पुष्पित और फलित हुआ।

—सूर-साहित्य-दर्पण प० जगन्नाथ राय शर्मा पृ० २२।

२ "उपनिषद् में हमें मिलता है कि ब्रह्म की उपासना "अन्न प्राण मन ज्ञान और आनन्द इन रूपों में करनी चाहिए।

—सूरदास आचार्य शुक्ल संपादक—पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र पृ० ६

... ...उपनिषदों में भी प्रेम या भक्ति के द्वारा ईश्वर को प्राप्त करने की भावना मिलती है। —सूर-साहित्य-दर्पण पृ० २६

३ द्रष्टव्य सूर-साहित्य-दर्पण पृ ३ ११

४ पञ्चरात्र आदि

५ नारद भक्ति सूत्र शाण्डिल्य भक्ति सूत्र आदि।

'इस सूत्र में (ब्रह्म सूत्र में) भक्ति का यदि प्रधानतया नहीं तो गौण रूप में मोक्ष की योग्यता के लिए आवश्यक निर्देश किया गया है।

—सूर-साहित्य-दर्पण पृ २७

महाभारत के शान्ति पर्व [1] श्रीमद्भागवद्गीता [2] आदि ग्रन्थों में भी भक्ति की पर्याप्त चर्चा है।

वैदिक संहिताएं

वेद सर्वाधिक प्राचीन भारतीय ग्रन्थ हैं। यहाँ हमें सर्वप्रथम भारतीय भक्ति-धारा के उद्भव का स्रोत दृष्टिगोचर होता है। वेदों की ऋचाओं में हमें देवताओं के प्रति प्रेम की बातें मिलती हैं। उन भक्ति एवं प्रेमपूर्ण ऋचाओं में ऋषि देवताओं से अपने पुत्र कलत्र ऐश्वर्य आदि की रक्षा एवं अभिवृद्धि तथा शत्रुओं के समूल संहार और अपनी अभिलाषाओं की पूर्ति की कामना करता है। [3] वह अनेकानेक लक्षित अलक्षित देवताओं के पराक्रम पौरुष शौर्य एवं यश का वर्णन करते हुए उनके प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रेम श्रद्धा एवं विश्वास प्रदर्शित करता है। [4] इस तरह वैदिक ऋचाओं में अपनी अभीष्ट लक्षित अलक्षित शक्तियों या आराध्य देवों के प्रति भक्ति भावना का उद्रेक प्रचुर परिमाण में उपलब्ध होता है।

जब लक्षित-अलक्षित प्राकृतिक-अप्राकृतिक शक्तियों से मनुष्य आतंकित होकर उनसे कुछ अनुनय-विनय कर रहा था तथा उनसे प्रेम नहीं करके उनके भय से ग्रस्त होकर उनकी स्तुति कर रहा था वहाँ वास्तविक भक्ति का सर्वथा अभाव ही समझना चाहिए पर इन्हीं ज्ञात-अज्ञात शक्तियों के आतंक से ही सही भक्ति के बीज वपन का सूत्रपात भी हो चुका था मानव को जब भली-भाँति अपनी सीमित शक्तियों की अनुभूति हो चुकी थी और वह एक अज्ञात अदृष्ट एवं अलक्षित तत्त्व की भी सम्भावना करने लगा था जिसकी शक्ति अपरिमित एवं असीम है। उसे ऐसा भान अवश्य होने लगा था कि सृष्टि के मूल में एक ऐसा सर्वशक्तिमान् विराजमान है जिसकी प्रेरणा से संसार एवं प्रकृति की सारी क्रियाएँ अबाध रूप से संचालित हो रही हैं।

यह सत्य है कि वैदिक युग कर्मकाण्ड-प्रधान था और प्रायः यज्ञ सम्पादन के लिए ही वैदिक मन्त्रों की रचना हुई थी पर ऋग्वेद के नासदीय सूक्त पुरुष सूक्त आदि में कुछ ऐसे

---

१ 'भक्ति-मार्ग के प्रवर्त्तन की परम्परा का उल्लेख महाभारत शान्तिपर्व के अन्तर्गत नारायणी-योपाख्यान में मिलता है।

—सूरदास आचार्य शुक्ल सम्पादक प० वि प्र मिश्र पृ १८

२ 'वासुदेव-भक्ति के तात्त्विक निरूपण का सबसे प्राचीन और प्रामाणिक ग्रन्थ भगवद्गीता है।'

—वही पृ २४

'भक्ति का सबसे बड़ा स्रोत श्रीमद्भागवतगीता है।''''' '' इसका बारहवाँ अध्याय भक्ति भावना से ओत-प्रोत है।

— सूर-साहित्य-दर्शन पं जगन्नाथ राम शर्मा पृ० २७

३ ऋग्वेद मण्डल १ सूक्त १ • मन्त्र १५ म २ सू ९२ म ६।
म १० सू ४२ म ११।

४ वही मं १ सू० २१ म ११ १६

मन्त्र है जिनमें देवताओं का आह्वान नहीं है और यज्ञों के अनुष्ठान से उनका कोई सम्बन्ध नहीं है। इससे स्पष्ट है कि वैदिक युग में भी उस स्वतन्त्र चिन्तन का पुट अवश्य ही विद्यमान था जिससे आगे चलकर दर्शन एवं उपासना का जन्म हुआ।

'ऋग्वेद की इन ऋचाओं से यह स्पष्ट है कि ऋषियों को अपने आराध्यदेव की शक्तिमत्ता दयालुता और पराक्रम पर विश्वास था। उन्होंने केवल कर्मकाण्ड में भाग लेने के लिए ही उन्हें नहीं बुलाया था। उन्हें उनके प्रति श्रद्धा थी। अतएव उनमें भक्ति होना भी अनिवार्य ही था। यह बात विवादग्रस्त है कि ये सभी ऋषि ईश्वर के सर्वव्यापी रूप से परिचित थे या नहीं। कुछ लोगों का कहना है कि इन ऋषियों के देवता भिन्न-भिन्न प्राकृतिक शक्तियों के प्रतीक मात्र थे। इनमें से अधिकांश को ईश्वर की एकता पीछे चलकर मालूम हुई। किन्तु मेरा विचार है कि ये ऋषि ईश्वर की व्यापक शक्ति से परिचित थे और उन्हें उसकी एकता का भी पूरा-पूरा ज्ञान था। यही कारण है कि उन्होंने भिन्न-भिन्न नामों से उसका आह्वान करते हुए भी उसकी सर्वव्यापकता एवं शक्तिमत्ता का ध्यान रखा था।[1]

ऋग्वेद में एक देववाद का स्पष्ट कथन हमें मिलता है। भारतीय ऋषियों का एकेश्वरवाद में अनन्य विश्वास था। एक मंत्र में सभी देवताओं को एक ही ब्रह्म का भिन्न भिन्न रूप कहा गया है।[2] एक ऋचा में समस्त संसार को ब्रह्म का ही रूप (शरीर) माना गया है।[3] इसी प्रकार एक सूक्त में प्रजापति की सर्वव्यापक महिमा का वर्णन है।[4] ऋषियों ने स्थल-स्थल पर कभी वरुण कभी इन्द्र कभी रुद्र कभी विष्णु की सर्वव्यापकता एवं सर्व शक्तिमत्ता का इसी तरह वर्णन किया है। नासदीय सूक्त[5] में सर्वव्यापक एवं सर्वशक्तिमान् ब्रह्म की जगत्-कारणता का भी साँगोपाँग विवेचन-विश्लेषण किया गया है।

यजुर्वेद सामवेद और अथर्ववेद के मंत्र भी उपर्युक्त कथन का समर्थन करते हैं।[6]

यों तो देवताओं में विष्णु सबसे महान् देवता के रूप में पूजित हैं[7] पर अग्नि इन्द्र

---

१ प्रो० धर्मभाल राम शर्मा—सूर-साहित्य दर्पण पृ० २३ २४

२ ऋ० १ १६४ ४६

३ ऋ० १० ६० २

४ ऋ० के दशम मण्डल के २१ वें सूक्त के पूरे आठों मंत्रों में।

५ ऋ० १ १२६

६ यजुर्वेद और सामवेद में तो प्रायः ऋग्वेद के ही मन्त्र हैं।
अथर्ववेद—चतुर्थ काण्ड सूक्त २६
सप्तम काण्ड सूक्त १५, २६ ८१
अष्टम काण्ड सूक्त ६
१० वाँ काण्ड सूक्त ६ ४२ इत्यादि

७ ---------विष्णु परम ---------
—ऐतरेय ब्राह्मण प्रथम पंचिका प्रथम अध्याय मन्त्र १।

और सूर्य का भी विशिष्ट स्थान है। अग्नि सर्वभक्षी है। वे अदृष्ट देवताओं को प्रदान किये गये अर्घ्य को क्षण भर में भस्मीभूत कर उसका सार तत्त्व उनके पास पहुँचा दिया करते हैं। अतः यज्ञों में उनकी जोरदार पूजा प्रारम्भ हुई।

विष्णु की पूजा पहले इन्द्र की पूजा के साथ ही साथ चलती रही और उन्हें इन्द्र का अनुज भी माना गया। प्रत्यक्ष प्राकृतिक महिमामय पदार्थों मे सूर्य का ही अग्रगण्य स्थान था। इसलिए सूर्य की पूजा भी बहुत जोर-शोर से चली यद्यपि महिमामय प्रत्यक्ष पदार्थों में चन्द्र की भी प्रधानता थी और उनकी भी पूजा चल रही थी।

वैदिक देवताओं में जहाँ अग्नि वरुण कुबेर इन्द्र इत्यादि अनेकानेक अन्यान्य देवताओं का अस्तित्व काल की गति के साथ मद एवं धूमिल पड़ता गया वहाँ रुद्र और विष्णु ही ऐसे देवता रहे जो अपने विशिष्ट गुणों के कारण उत्तरोत्तर सम्मानित होते गए। यज्ञ से रुद्र का और सूर्य से विष्णु का सम्बन्ध संस्थापित हो गया।[1] इस तरह रुद्र और विष्णु की अत्यधिक पूजा ने अन्यान्य देवताओं की पूजा को दबाकर कमजोर कर दिया।

यह नहीं हमारा आधुनिक भारतीय समाज भी धर्म और भक्ति के मामले में इन्हीं दो देवताओं पर सर्वाधिक आश्रित है। इनमें भी विष्णु का स्थान सामाजिक और धार्मिक दोनों दृष्टियों से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। महाभारत या पुराणों के शिव प्रायः वैदिक युग के रुद्र के ही एक नवीन संस्कार हैं। उनकी भयंकर मुद्रा विस्फोटक-स्वरूप और भयावनी आकृति वैदिक-काल की तरह ही है।

वस्तुतः समस्त संसार मे सृष्टि पालन एवं संहार का ही क्रम चलता है। इसीलिए उसके अधिष्ठाता त्रिदेव ब्रह्मा विष्णु एवं शिव का भी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान रहता आया है और ये प्रारम्भ से ही सर्वशक्तिमत्ता से सम्पन्न समझे जाते हैं।

उपनिषदें

वैदिक संहिताओं के पश्चात् हमारे भारतीय साहित्य मे औपनिषदिक ग्रन्थों का आविर्भाव हुआ है। इन उपनिषदों में ज्ञान की प्रधानता है। अतः यहाँ भक्ति-भावना की सकामता एवं स्थूलता का अभाव है। उपनिषदों में भक्त ऐश्वर्य-वभव बल विजय एवं पुत्र धन की कामना नहीं कर रहा है प्रत्युत वह परमेश्वर में समाविष्ट होकर उसके साथ तादात्म्य स्थापित करके उसके प्रगाढ़ आलिंगन के परम आनंद की अनुभूति करने को व्याकुल हो रहा है। इसी परमानन्दानुभूति से भक्त का जीवन सफल एवं कृतार्थ हो जाता है और इसी की आशा से वह दुःख एवं कोलाहलपूर्ण जगती की जीवन-यात्रा मे सतत अग्रसर होता रहता है। वस्तुतः यही भक्ति का वास्तविक स्वरूप है।

उपनिषत्कालीन भारतीय ऋषि अपनी आत्मा के स्वरूप[2] ईश्वर के निर्गुण स्वरूप[3]

---

१ तुलसी-दर्शन डा० बलदेव प्रसाद मिश्र पृ ४१
२ कठोपनिषद् प्रथम अध्याय द्वितीय वल्ली मंत्र १८ १९
३ केनोपनिषद् प्रथम खण्ड मंत्र २–८

उसकी सर्वभूतात्मकता[१] एवं सांसारिक भोगों की क्षण भंगुरता[२] आदि से पूर्णतया परिचित हैं। अतः वे ज्ञान योग के द्वारा आत्मज्ञान की उपलब्धि के निमित्त व्यग्र प्रतीत हो रहे हैं परन्तु उनमें प्रेम या भक्ति के द्वारा भगवान् को प्राप्त करने की भावना का नितान्त अभाव हो ऐसी बात भी नहीं है। उदाहरणार्थ बृहदारण्यक[३] मुण्डक[४] प्रश्न[५] श्वेताश्वर[६] आदि उपनिषदों के कुछ मंत्रों में परमात्मा के आगमन का सुख तथा उसकी प्राप्ति के साधन तपस्या श्रद्धा ब्रह्मचर्य विद्या भक्ति आदि भी स्पष्टतया वर्णित हैं।

सूत्र-ग्रन्थ

उपनिषदों के अतिरिक्त ब्रह्म सूत्र में भी गौण रूप में भक्ति का निर्देश मोक्ष की प्राप्ति के लिए किया गया है। व्यास ने वहाँ— तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात्[७] का उद्घोष किया है। ब्रह्म में जीव की यह निश्चल रूप से स्थिति ज्ञान मात्र से ही सम्भव नहीं है। अतः प्रकारान्तर से यहाँ भक्ति की भी ध्वनि निकल रही है। इसके अतिरिक्त 'शाण्डिल्य भक्ति सूत्र' 'नारद भक्ति सूत्र' आदि अनेक भक्ति मूलक सूत्र ग्रन्थ तो भक्ति की ही चर्चा से ओतप्रोत हैं।

आगम या तन्त्र-साहित्य

आगम या तन्त्र साहित्य से भी भक्तिमार्ग प्रचुर परिमाण में प्रभावित हुआ है। तंत्र साहित्य में अधिकांशतः शक्ति की महत्ता का कथन है। वहाँ आराध्य को नारी के रूप में देखते हुए मातृ-भाव से भक्ति करने पर बल दिया गया है तथा उपासना की बहुत-सी विधि निषेध-मूलक प्रणालियों की भी अवतारणा की गयी है। पुरुष रूप में मात्र शिव के सर्व शक्तिमान् स्वरूप की चर्चा है। शैव-सम्प्रदाय बहुत अंशों में तंत्र-साहित्य पर अवलम्बित है।

वाल्मीकीय रामायण

आदिकवि वाल्मीकि की रामायण में भगवान् रामचन्द्र का मर्यादा पुरुषोत्तम रूप ही प्रधानतः अंकित है। वे प्रायः आदर्श पुरुष के रूप में ही हमारे सामने आते हैं किन्तु वाल्मीकीय रामायण में कहीं-कहीं वे नारायण भी माने गये हैं।[८] लंका काण्ड के अंत और उत्तर काण्ड में राम विष्णु तथा परमब्रह्म दोनों रूपों में चित्रित हैं।

---

१ ईशावास्योपनिषद् मंत्र ६–७
२ कठोपनिषद् प्रथम अध्याय प्रथमा वल्ली मंत्र २६–२८
३ बृहदारण्यकोपनिषद् अ० ४ ब्राह्मण ३
४ मुण्डकोपनिषद्, मुण्डक ३ खण्ड १–२
५ प्रश्नोपनिषद् प्रश्न १ मंत्र १०
६ श्वेताश्वतरोपनिषद्, अ ६ अंतिम मंत्र
७ ब्रह्म सूत्र अ० १ पाद १ सूत्र ७
८ वाल्मीकीय रामायण युद्ध काण्ड अ ११७ श्लो ११

रावण का वध करने के पश्चात् ब्रह्मादि देवता राम की स्तुति करने आते रहे हैं।[1] स्वर्गारोहण काल में भी हनुमान जी राम से तीन आकांक्षाओं की पूर्ति की कामना प्रकट करते हैं और वे उनकी पूर्ति के लिए उन्हें शुभाशीर्वाद भी प्रदान करते हैं।[2] वाल्मीकीय रामायण में विभीषण की रामभक्ति का भी उल्लेख है। वहाँ युद्धकाण्ड में विभीषण की शरणागति के समय राम द्वारा कथित श्लोक—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्व भूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम॥[3]

तो परवर्ती ग्रन्थों में शरणागति के प्रामाणिक मंत्र के रूप में मान्य है। वाल्मीकि रामायण में स्पष्ट शब्दों में यहाँ तक कहा गया है कि राम की भक्ति एवं स्तुति करने से मनुष्यों की सभी अभिलाषायें पूर्ण हो जाती हैं।[4]

महाभारत

भक्ति का विवेचन वाल्मीकीय रामायण से अधिक विकसित रूप में महाभारत में प्राप्त होता है। महाभारत के रामोपाख्यान में राम की कथा प्राप्त होती है। महाभारत में राम के साक्षात् विष्णु के अवतार होने के संकेत भी उपलब्ध होते हैं।[5] गन्धमादन पर्वत पर जब भीम से हनुमान की भेंट होती है तो हनुमान राम के द्वारा प्राप्त आशीर्वचनों की चर्चा करते हैं।[6] हनुमान राम का नाम श्रवण करते ही भक्ति के उद्रेक से विह्वल हो उठते हैं।[7] वे भीम के अनुनय-विनय पर महाभारत में अर्जुन की ध्वजा पर विराजमान होना स्वीकार करते हैं।[8] वस्तुतः पाण्डवों द्वारा हनुमान पूजा रामभक्ति का ही अंग है।

वैदिक भक्ति के विकसित स्वरूप को सर्वसाधारण में प्रचारित प्रसारित करने का श्रेय श्रीमद्भगवद्गीता को है। गीता भक्ति का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें वैष्णव धर्म के जन्मदाता एवं प्रथम सार्वभौम आचार्य भगवान् श्रीकृष्ण ने वैदिक धर्म में अनेकानेक अपेक्षित सुधार करके भक्ति कर्म ज्ञान आदि का नवीनतम विवेचन-विश्लेषण एवं स्पष्टीकरण करते हुए एक नूतन धार्मिक-सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया। यों मरीचि अत्रि अंगिरा वशिष्ठ इत्यादि कृष्ण के पूर्ववर्ती वैष्णव आचार्यों का उल्लेख महाभारत में मिलता है पर इस समय उनका भक्ति शास्त्र सम्बन्धी कोई ग्रन्थ या सिद्धान्त अप्राप्य है।

---

१ वाल्मीकीय रामायण युद्ध काण्ड अ० १२ श्लो २ ८ ६
२ वही उत्तर काण्ड अ० ४० श्लो १८–१७ श्लो० १६–
३ वही युद्धकाण्ड अ० १८ श्लो० ३३
४ वही युद्धकाण्ड अ० १२ श्लो ३–११
५ महाभारत वनपर्व अ० १५१ श्लो ६–७
६ वही अ० १४८ श्लो० १७
७ महाभारत वनपर्व अ० १५१ श्लो ६–७
८ वही श्लो १५–१७

अवतारवाद[1] का सर्वप्रथम उल्लेख गीता में ही हुआ है। इसमें भगवान् के सगुण और निर्गुण दोनों रूपों का वर्णन है पर गीताकार न ब्रह्म के सगुण रूप की उपासना की सरलता एवं सुगमता[2] तथा निर्गुण रूप की उपासना की अत्यधिक क्लिष्टता एवं कष्ट साध्यता[3] का प्रतिपादन किया है।

गीता के बारहवें अध्याय में केवल भक्ति का ही विवेचन किया गया है। इसमें प्रेम से परिपूर्ण निष्काम कर्म की भूरि-भूरि प्रशंसा की गयी है[4] और अनासक्ति आदि गुणों एवं दैवी विभूतियों के उपार्जन पर विशेष बल दिया गया है जिसकी दुन्दुभि आज भी यहाँ बज रही है। वस्तुतः गीता का सिद्धान्त यही है कि जीवों को भगवान् के चरणों में ही अपने चंचल चित्त को केन्द्रित करना चाहिए, उसे भगवान् का ही भजन पूजन एवं मनन करना चाहिए। ऐसा करने से ही वह भगवान् को प्राप्त करेगा।[5] गीता में भक्ति, मुक्ति एवं भगवान् की शरणागति का पूर्ण अधिकार स्त्रियों वैश्यों तथा शूद्रों आदि तक को प्रदान किया गया है।[6] श्रीकृष्ण के सिद्धान्तों उनकी विचारधाराओं एवं उनके सफल नेतृत्व से अनुप्राणित एवं प्रभावित होकर भीष्म व्यास युधिष्ठिर ऐसे महामानवों ने एक स्वर से उनके शिष्यत्व को अंगीकार किया और उनके जीवन-दर्शन के व्यापक प्रचार प्रसार से जन-जन के जीवन को आलोकित कर दिया।

सबसे महत्त्वपूर्ण तथ्य तो यह है कि भगवान् श्रीकृष्ण ने कहीं भी वेदों एवं उनके देवताओं तथा उनकी उपासना-पद्धति पर प्रहार नहीं किया जैसा कि परवर्ती बौद्ध एवं जैन धर्म के प्रवर्तकों के द्वारा किया गया। अतः किसी को भी बौद्ध एवं जैन धर्मों की तरह वैष्णव धर्म को भी अवैदिक एवं निरय घोषित करने का अवकाश नहीं मिल सका। यह वैष्णव धर्म के लिए सौभाग्य हर्ष एवं गौरव का विषय था कि उसे श्रीकृष्ण जैसा नेता मिला। जिसके कुशल नेतृत्व ने वैदिक धर्म को वैष्णव धर्म के संधि में बाँध दिया। वस्तुतः गीता में प्राचीन भक्ति-मार्ग के परिष्कृत रूप—भागवत धर्म—का ही विवेचन हुआ है। यह भागवत धर्म जिसे गीता में समझाया गया है गीता से भी प्राचीनतर है।

भागवत-धर्म में जिस देवता की पूजा होती थी वे पहले वासुदेव कहे जाते थे। यही वासुदेव नाम महाभारत में श्रीकृष्ण के लिए भी प्रयोग किया गया है। लेकिन ऐसा लगता है कि भागवत धर्म का प्राचीन नाम 'पांचरात्र धर्म' था जिसकी चर्चा महाभारत के नारायणीय-आख्यान में हुई है। इसमें वासुदेव के स्थान पर नारायण का प्रयोग किया गया है। नारायण का अर्थ नरों की शरण या नर-समष्टि का आश्रय है। भगवान् का "नारायण" नाम सर्वप्रथम शतपथ ब्राह्मण में दृष्टिगोचर होता है।

---

१ गीता ४ ७-८
२ गीता १२ २
३ गीता १२ ५
४ गीता १२ १७
५ गीता ९ १४
६ गीता ९ ३२

'उसमें एक स्थल (१२/३–४) पर कहा है कि 'पुरुष नारायण' ने यज्ञ करके वसुओं रुद्रों और आदित्यों को इधर-उधर सब दिशाओं में भेजा और आप जहाँ के तहाँ स्थिर रहे। इसके आगे एक दूसरे स्थान पर (१३/६–१) यह भी आता है। कि 'पुरुष नारायण' ने ऐश्वर्य और सर्वस्व की प्राप्ति कराने वाला पाञ्चरात्र सत्र (पाँच दिनों का एक यज्ञ) की विधि बताई। इससे स्पष्ट है कि सगुण परमेश्वर का 'नारायण' (नर-समष्टि का आश्रय) नाम ब्राह्मण काल में ही प्रसिद्ध हो गया था। नारायण सगुण ब्रह्म का वह रूप है जिसकी अभिव्यक्ति जगत् में नर या मनुष्य के रूप में हुई।[1]

परमात्मा का यही नारायण नाम जो शतपथ ब्राह्मण में मिलता है,[2] मैत्रायणी संहिता में केशव एवं विष्णु का पर्यायवाची माना गया था।[3]

पौराणिक-साहित्य

यहाँ उन ग्रन्थों का उल्लेख करना अप्रासंगिक नहीं होगा जिनमें भागवत धर्म या पाञ्चरात्र धर्म या विष्णु भक्ति का विवेचन-विश्लेषण किया गया है। ऐसे ग्रन्थों में सम्भवतः विष्णु पुराण सर्वाधिक प्राचीन ग्रन्थ है। इसमे भगवान् विष्णु की सर्वशक्तिमत्ता एवं सर्वव्यापकत्व का सक्षम चित्राङ्कन हुआ है। साथ ही स्थल-स्थल पर भगवान् विष्णु की भक्ति का सांगोपांग विवेचन-विश्लेषण किया गया है।[4]

इसके बाद बड़े ही मार्मिक ढंग से विष्णु भक्ति का विवेचन पद्मपुराण में किया गया है। इसमें वैष्णव धर्म के चार सम्प्रदायों की भी चर्चा है जो रामानुज निम्बार्क मध्व और वल्लभाचार्य जैसे महान् आचार्यों द्वारा प्रवर्तित हुए और जिनके सिद्धान्तों को आज भी वैष्णव धर्म में सर्वाधिक मान्यता प्राप्त है।[5]

वैष्णव पुराणों में श्रीमद्भागवत पुराण का भी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है। भक्ति एवं साहित्य दोनों दृष्टियों से यह ग्रन्थ सर्वांग सुन्दर है। इसमें विष्णु के सभी अवतारों की स्तुति की गई है।[6] श्रीमद्भागवत का सम्पूर्ण नवम एवं दशम स्कन्ध क्रमशः भगवान् राम एवं कृष्ण की विविध लीलाओं के वर्णन से परिपूर्ण है। इसके पंचम स्कंध के १९ वें अध्याय मे राम को नाम-रूप-हीन निर्गुण ब्रह्म का मत्यवितार माना गया है।[7] किंपुरुष वर्ष में हनुमान के द्वारा राम की अविरल भक्ति एवं उपासना की चर्चा की गयी है। वहाँ हनुमान् जी गन्धर्वों के साथ अपने स्वामी रामचन्द्र की परम कल्याणी कथा को सुनते और गाते रहते

---

१ पं० रामचन्द्र शुक्ल सूरदास पृ० ६ (सम्पादक—पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र)
२ पुरुषोह नारायणोऽकामयत
—शतपथ ब्राह्मण काण्ड १३ अ० ६ खण्ड १ मन्त्र १
३ तन् केशवाय विद्महे नारायणाय धीमहि। तन्नो विष्णु प्रचोदयात् ॥
—मैत्रायणी-संहिता काण्ड २ प्रपाठक ९ मन्त्र ८
४ विष्णु पुराण प्रथम अंश अ० २२ तृतीय अंश अ० ८ श्लो० १–८
५ पद्मपुराण उत्तर खण्ड अ० २२१ २११
६ श्रीमद्भागवत पंचम स्कन्ध अ० १८ और १९
७ वही अ० १९ श्लो० ४–५

है।[1] भागवतकार का कथन है कि सुर, असुर वानर अथवा नर इनमें से जो कोई भी भगवान् राम की उपासना करते हैं वे स्वर्ग प्राप्त करते हैं।[2] यह पुराण हिन्दी के भक्त कवियों के लिए महान् स्रोत का काम करता है। पुष्टिमार्गीय वैष्णवों के लिए तो यह पुराण असाधारण महत्त्व रखता है।

नारद पुराण में भी विष्णु-भक्ति की चर्चा एवं प्रशंसा हुई है।[3] यह वैष्णव सम्प्रदाय का एक बहुत ही सुन्दर ग्रन्थ है।

वैष्णव पुराणों में गरुड़ पुराण का विशिष्ट स्थान है। यह पुराण विष्णु भक्ति की चर्चा से परिपूर्ण है।[4]

ब्रह्माण्ड पुराण भी एक महत्त्वपूर्ण पुराण है। इसमें समस्त ब्रह्माण्ड का वर्णन हुआ है।[5] कहा जाता है कि इसी में अध्यात्म रामायण की कथा वर्णित है। यही अध्यात्म रामायण गोस्वामी तुलसीदास के "रामचरितमानस" का प्रमुख स्रोत है।[6]

ब्रह्म वैवर्त पुराण में भी अनेक स्थलों पर विष्णु-भक्ति का उल्लेख है।[7] इसमें प्रमुख रूप से कृष्ण की आह्लादिनी शक्ति राधा का सविस्तार वर्णन किया गया है।[8]

पौराणिक साहित्य में वैदिक देवताओं का ही संस्कार करके उन्हें नवीन रूप प्रदान किया गया। पुराणकारों ने तन्त्र-साहित्य का आश्रय ग्रहण कर वैदिक देवताओं के गुणों कार्यों एवं व्यापारों के अनुरूप उनके व्यक्तित्व स्वभाव चरित्र आकार-प्रकार अस्त्र-शस्त्र आयुध वाहन नाम रूप लीला धाम आदि का प्रभावोत्पादक वर्णन किया है। इस तरह पुराणों में भगवान् को एक विशेष सरस भावात्मक व्यक्तित्व प्रदान किया गया और वे अब सहज में ही सर्वसाधारण भक्तों के लिए बोधगम्य से हो गये हैं। पुराणों में ईश्वर के पाँच

---

१ वही अ० १६ श्लो० १–२
२ वही, अ० ११ श्लो० ८
३ नारद पुराण पूर्व भाग प्रथम पाद अ० १५ श्लो० १४१ १४६–१५० अ० १७ श्लो० ४७ (उ०) ४८ (पू०) ६७ ७२ ७७ इत्यादि।
४ गरुड़ पुराण अ० ६ श्लो० १६–२१
५ बलदेव उपाध्याय तथा गौरी शंकर उपाध्याय
—संस्कृत साहित्य का इतिहास पृ० १०५
६ प्रो० जगन्नाथ राय शर्मा सूर-साहित्य-दर्पण पृ० ३१
" " " —हमारा सांस्कृतिक साहित्य पृ० ६५
७ ब्रह्मवैवर्त पुराण ब्रह्मखण्ड अ० १ श्लो० ३–४ श्लो० १२–१४
—अ० २७ श्लो० ११ प्रकृति खण्ड अ० ११ श्लो० ११४
गणपति खण्ड अ० ११ श्लो० ७–२७ अ० १२ श्लो० ७१
इस पुराण का चौथा श्रीकृष्ण जन्म खण्ड तो एकान्त विष्णुभक्ति-परक ही है।
८ वही श्रीकृष्ण जन्म खण्ड अ० ६ श्लो० २१४–२१६ अ० १२४ श्लो० ८–९, श्लो० ८१–९५

रूपों—सूर्य, गणेश, देवी, शिव और विष्णु—का विकास प्रारंभ किया गया है। आगे चलकर सूर्य की पूजा नवग्रहों की पूजा के साथ सम्मिलित हो गयी। गणेश को सभी मांगलिक कार्यों में प्रथम पूज्य स्थान प्रदान किया गया। देवी पूजा शाक्तों के द्वारा ही विकास रूप में प्राप्त की गयी। शिव और विष्णु की पूजा शताब्दियों तक जोरदार रूप से समानान्तर भाव से चलती रही पर आगे चलकर विष्णु की पूजा के महान् प्रवर्तक के रूप में भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी के आविर्भाव से भक्तों का वैष्णव-सम्प्रदाय के प्रति जितना लगाव आकर्षण हुआ उतना शैव सम्प्रदाय के प्रति न हो सका। शैव-सम्प्रदाय का यह भी दुर्भाग्य रहा कि श्रीकृष्ण के व्यक्तित्व के टक्कर का कोई भी शिव की पूजा का महान् प्रवर्तक आचार्य उसे उपलब्ध नहीं हो सका। यही कारण है कि अन्ततः वैष्णव-सम्प्रदाय निर्विवाद रूप से भारतीय भक्ति मार्ग के प्रतिनिधि सम्प्रदाय के रूप में प्रतिष्ठित हो गया। आज भी शैवों की अपेक्षा वैष्णवों की प्रधानता यहाँ स्पष्टतया दृष्टिगोचर हो रही है।

लौकिक संस्कृत-साहित्य

इसके अतिरिक्त लौकिक संस्कृत-साहित्य के महाकाव्यों, नाटकों एवं गीति काव्यों में भी विष्णु भक्ति की पर्याप्त चर्चा की गयी है। कवि-कुलगुरु कालिदास के "रघुवंश" महाकाव्य में विष्णु के अवतार के रूप में ही भगवान् राम का चित्रांकन किया गया है।[1] महाकवि कालिदास ने "मेघदूत" में भगवान् कृष्ण का भी उल्लेख विष्णु के अवतार के रूप में ही किया है।[2] यहीं वे राम[3] और सीता[4] के प्रति भी अपनी भक्ति का संकेत करते हैं। बौद्ध धर्मानुयायी कविवर अश्वघोष ने भी बड़ी ही श्रद्धा एवं भक्ति के साथ राम का उल्लेख किया है।[5]

भट्टि काव्य में तो विष्णु के अवतार भगवान् राम का ही सांगोपांग चित्रण हुआ है।[6]

महाकवि माघ के 'शिशुपालवध' महाकाव्य में नायक भगवान् कृष्ण भी विष्णु के अवतार के रूप में ही चित्रित हैं।[7] कविवर कुमारदास ने भी अपने 'जानकीहरण' में विष्णु को राम के रूप में ही अवतरित बताया है।[8]

जहाँ तक संस्कृत नाटकों का प्रश्न है संस्कृत साहित्य के प्रथम नाटककार भास के

---

१ रघुवंश सर्ग १ श्लो ५-१२ ५८ ६५
२ मेघदूत पूर्व मेघ श्लो १५ (उ॰)
३ मेघदूत पूर्व मेघ श्लो १२ (पू॰)
४ मेघदूत पूर्व मेघ श्लो १ (उ)
५ सौन्दरनन्द सर्ग ७ श्लो ५१
६ भट्टिकाव्य सर्ग २ श्लो ३६ सर्ग २१ श्लो १६
७ शिशुपालवध सर्ग १ श्लो १ सर्ग २० श्लो ७
८ जानकीहरण सर्ग २ श्लो ७४-७७

ही "प्रतिमा और "अभिषेक' नाटकों म भगवान् राम की कथा का वर्णन हुआ है। भास के बालचरित नाटक में कृष्ण की कथा वर्णित है। नाटककार भास ने राम और कृष्ण को भगवान् विष्णु के अवतार के रूप मे स्वीकार करते हुए उनके प्रति अपनी प्रगाढ़ भक्ति का प्रदर्शन किया है।[1]

महान् भक्त एवं पवित्र प्रेम के उपासक नाटककार भवभूति ने भी अपने दो नाटकों में भगवान् राम के प्रति अपनी श्रद्धा भक्ति की मार्मिक अभिव्यंजना की है। महाकवि भवभूति ने महावीर चरित में भगवान् राम के जीवन के पूर्वार्द्ध का[2] और उत्तर रामचरित में उत्तरार्द्ध का[3] चित्र अंकित किया है।

मुरारि मिश्र ने 'अनघराघव' नाटक में भगवान् राम की ही कथा का वर्णन है।[4]

महाकवि राजशेखर ने भी विष्णु भक्ति से सम्बन्धित 'बालरामायण" और 'बाल भारत" नामक दो नाटकों का प्रणयन किया है। 'बालरामायण" में विष्णु के अवतार भगवान् राम का और 'बालभारत' में कृष्ण का चरित्र वर्णित है।[5]

संस्कृत के सुप्रसिद्ध नाटककार जयदेव ने भी अपने 'प्रसन्न राघव" नाटक में राम कथा का सांगोपांग वर्णन करके अपनी रामभक्ति का परिचय प्रदान किया है। इस नाट्यकृति में नाटककार ने रामकथा का विवेचन इतने सुन्दर एवं कलात्मक ढंग से किया है कि हिन्दी के महाकवि गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी इससे सामग्री संकलित करके अपनी वाणी का शृंगार किया है।

उपर्युक्त महाकाव्यों एवं नाटकों के अतिरिक्त संस्कृत के एक सुप्रसिद्ध गीतिकाव्य 'गीतगोविन्द' में भी विष्णुभक्ति का विशद विवेचन हुआ है। इस गीतिकाव्य के प्रणेता महाकवि जयदेव हैं जो 'प्रसन्नराघव' नाटक के प्रणेता जयदेव से सर्वथा भिन्न हैं। गीत गोविन्दकार जयदेव का यह ग्रन्थ भगवान् विष्णु के अवतार कृष्ण की भक्ति से परिपूर्ण है। इस ग्रन्थ में भक्ति शृंगार एवं काव्यकला की अद्भुत त्रिवेणी प्रवाहित हो रही है। ग्रन्थ कार ने ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही दशावतारों के चरित्रों की ओर संकेत करते हुए उनकी वन्दना की है।[6] महाकवि जयदेव के 'गीतगोविन्द" के भावपक्ष एवं कलापक्ष से अनुप्राणित होकर महाकवि विद्यापति ने अपनी कृष्ण भक्ति विषयक पदावली की रचना की जो अभी भी मिथिला की अमराइयों में लोककण्ठ से निनादित एवं मुखरित होकर जन-जीवन को

---

१ सूर-साहित्य-दर्पण पृ० १२
२ महावीर चरित प्रथम अंक श्लो ७
३ उत्तर रामचरित द्वितीय अंक श्लो ७
४ अनघराघव प्रथम अंक श्लो २१
५ सूर-साहित्य-दर्पण पृ० १२
६ गीतगोविन्द प्रथम प्रबन्ध।

रसाप्लावित करती रहती है। हिन्दी के सुप्रसिद्ध कृष्ण भक्त महाकवि सूरदास भी इसी परम्परा की एक कड़ी हैं।[1]

मीरा ने भी अपने आराध्य देव गिरधर गोपाल से सम्बन्धित जो भक्तिपूर्ण मर्मस्पर्शी पदों का प्रणयन किया है उनमें से निश्चय ही महाकवि जयदेव और विद्यापति की पदावली से प्रभावित प्रतीत हो रही है।[2]

वैष्णव आचार्य और भक्ति

इस भागवत धर्म का सर्वाधिक प्रचार दक्षिण भारत में हुआ। स्वामी यामुनाचार्य इस धर्म के अद्वितीय एवं अग्रगण्य आचार्य थे जिनका देहान्त १०४० ई० में हुआ है। भारत के उत्कृष्ट प्रतिभा सम्पन्न दार्शनिक एवं प्रकाण्ड पंडित आचार्य शंकर उनके पूर्ववर्ती थे। आचार्य शंकर ने वैदिक धर्म का उपहास करने वाले अनगिनत बौद्ध धर्मावलम्बी विद्वानों को अपने अकाट्य तर्क से परास्त कर सम्पूर्ण भारतवर्ष में वैदिक धर्म का पुनर्संस्थापन किया। एक बार फिर आचार्य शंकर जैसे प्रतिभाशाली व्यक्तित्व को पाकर समग्र भारत में वैदिक धर्म की विजय वैजयन्ती फहरा उठी। शंकराचार्य का सिद्धान्त अद्वैतवाद कहा जाता है। वे ब्रह्म मात्र को ही सत्य और समस्त संसार को मिथ्या मानते हैं। उनके मतानुसार जीव और ईश्वर में कोई विशेष भेद नहीं है। यदि जीव माया के बन्धन से मुक्त होकर अपने वास्तविक स्वरूप से अवगत हो जाय तो वह सहज में ही ब्रह्म के स्वरूप का भी साक्षात्कार कर सकता है। यह माया ही ब्रह्म की सबसे बड़ी शक्ति है जो जीव के आध्यात्मिक विकास में बाधक है। इसी माया के द्वारा समस्त संसार की सृष्टि का विकास सम्पन्न हो जाता है। यही जीव और ईश्वर के बीच व्यवधान के रूप में खड़ी है। शंकराचार्य का सर्वविदित सारभूत सिद्धांत निम्नांकित है—

'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः।'[3]

उन्होंने 'प्रस्थानत्रयी'[4] के ऊपर भाष्य लिखकर अपने सिद्धांतों का समर्थन किया है। लेकिन स्वामी शंकराचार्य के गहन एवं क्लिष्ट सिद्धान्तों से अवगत होने के लिए प्रकाण्ड पाण्डित्य एवं विलक्षण प्रतिभा की नितान्त अपेक्षा थी जिसका सर्वसाधारण में प्रायः सर्वथा अभाव ही पाया जाता है। अतः उनका प्रतिपादित सिद्धान्त लोकव्यापी न बनकर कुछ मुट्ठीभर

---

१ "जयदेव की देववाणी की स्निग्ध पीयूष-धारा जो काल की कठोरता में दब गयी थी अवकाश पाते ही लोकभाषा की सरसता में परिणत होकर मिथिला की अमराइयों में विद्यापति के कोकिल कण्ठ से प्रकट हुई और आगे चलकर व्रज के करील कुंजों के बीच फैल मुरझाये मनों को सींचने लगी। आचार्यों की छाप लगी हुई आठ वीणाएँ श्रीकृष्ण की प्रेम-लीला का कीर्तन करने उठीं जिनमें सबसे ऊँची सुरीली और मधुर झनकार अंधे कवि सूरदास की वीणा की थी।" — सूरदास के सुमन संपादक पं० वि० प्र० मिश्र पृ० १४६–१५१

२ प्रो० जगन्नाथ राय शर्मा सूर-साहित्य-दर्पण पृ० १२ ११

३ कल्याण वर्ष ४ संख्या ५ पूर्ण संख्या ४०४ पृ० १११ से उद्धृत।

४ ब्रह्मसूत्र उपनिषद् और गीता।

विद्वानों के लिए ही ग्राह्य बन सका। साथ ही उसमें गहन दार्शनिक चिन्तन-मनन की जटिलता एवं क्लिष्टता होने के कारण भावुक एवं प्रेमी भक्तों के लिए कोई विशेष आकर्षण का अवकाश नहीं था और ईश्वर-जीव के पृथक्-पृथक् अस्तित्व के अभाव में न वह भक्ति की ही मर्यादा एवं गरिमा के अनुरूप था। अतः शंकर प्रतिपादित धर्म से असंतुष्ट प्रेमी भक्त एवं जनसाधारण अपने तोष के लिए एक सर्वमान्य लोकव्यापी धर्म की प्रतीक्षा कर रहा था। शंकर परवर्ती भागवतधर्मानुयायी आचार्यों ने भी उनके प्रतिपादित धर्म पर कठोर प्रहार करते हुए बड़े क्षोभ के साथ उनके सिद्धान्तों का खण्डन किया है। ऐसे आचार्यों में रामानुजाचार्य का अग्रगण्य स्थान है। उन्होंने शंकर के प्रतिपादित सिद्धान्तों में भक्ति के बाधक तत्त्वों का अवलोकन कर उनका विरोध किया। स्वामी रामानुजाचार्य स्वामी यामुनाचार्य के शिष्य थे। ये अपने समय के उद्भट दार्शनिक एवं विद्वान थे। इनका समय ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी है। उन्होंने भागवत धर्म को सुसम्बद्ध एवं नूतन रूप प्रदान करने में अपना समस्त जीवन लगा दिया।

रामानुजाचार्य का सिद्धान्त विशिष्टाद्वैत कहलाता है। उन्होंने "प्रस्थानत्रयी' पर अपना भाष्य लिखकर अपने साम्प्रदायिक सिद्धान्तों का समर्थन एवं प्रचार-प्रसार किया है। अपने ब्रह्मसूत्र के "श्री भाष्य' में उन्होंने शंकराचार्य के अद्वैतवाद का जोरदार खण्डन एवं अपने विशिष्टाद्वैतवाद का समर्थन किया है।

यों तो शंकराचार्य की लेखनी की मौलिकता एवं पटुता रामानुजाचार्य की लेखनी में नहीं पायी जाती है फिर भी शास्त्रीय दृष्टि से उनके सिद्धान्त सर्वाधिक मान्य एवं समुपयुक्त प्रतीत होते हैं। यह सत्य है कि रामानुजाचार्य ने शंकराचार्य के सिद्धान्तों में संशोधन किया है पर इसमें भी कोई संदेह नहीं है कि शंकराचार्य के द्वारा बौद्ध मत का समूल उन्मूलन किये जाने के कारण रामानुजाचार्य का पथ काफी प्रशस्त हो चुका था जिससे वे पूर्ण लाभान्वित हुए। इसके अतिरिक्त शंकराचार्यकृत जो भक्ति परक छोटे-छोटे स्तोत्र ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं उनमें भक्ति की सुन्दरतम अभिव्यक्ति हुई है।[१] वे जीवनपर्यन्त मानव को ईश्वर और गुरु का भक्त बने रहने का परामर्श प्रदान करते हैं। वे क्रियाद्वैतता पर कदापि बल नहीं देते प्रत्युत भावाद्वैतता पर ही बल देते हैं।[२]

शंकराचार्य आत्मचिंतन एवं भगवान की भक्ति में कोई भेद नहीं मानते हैं।[3] अपने कृष्णभक्ति के अनुपम ग्रन्थ "प्रबोध सुधाकर' में वे अन्तःकरण की पवित्रता के लिए भक्ति की आत्यंतिक आवश्यकता प्रमाणित करते हैं।[४] उनकी दृष्टि में मानव-जीवन में प्रार्थना और भक्ति का प्रथम स्थान है। एक उदार वैष्णव की तरह शंकराचार्य ने विष्णु और शिव दोनों की पूजा पर समानान्तर भाव से जोर दिया है। रामानुजाचार्य अपने पूर्ववर्ती

---

१ बृहत् स्तोत्र रत्नाकर में संकलित स्तोत्र संख्या ५ ५७ ५८ ६० ६१ इत्यादि।
२ तत्त्वोपदेश श्लो ८१_८७
३ सर्ववेदान्त सिद्धान्तसार संग्रह श्लो० १८२
४ प्रबोध सुधाकर, श्लो० १६७

आचार्य शंकर की इन सारी मान्यताओं में से बहुत कुछ से प्रभावित हैं और उन्होंने उनसे पूरा-पूरा लाभ उठाया है। इस तरह रामानुजाचार्य शंकराचार्य के बहुत बड़े ऋणी हैं। यह कहना अनुचित नहीं होगा कि शंकर के द्वारा जो कार्य अधूरा छूटा पड़ा हुआ था वह रामानुज के द्वारा ही पूरा किया गया।

यहाँ पर उस भक्ति का उल्लेख करना अप्रासंगिक नहीं होगा जो द्राविड़ देश में स्वाभाविक रूप में भक्ति की धारा प्रवाहित हुई थी और वहाँ स्वतः धर्म विकसित हुआ था। द्राविड़ लोगों में पांचरात्र धर्म का व्यापक प्रसार था। वहाँ के द्राविड़ सन्तों को 'आलवार' शब्द से अभिहित किया जाता है। इन्हीं आलवार सन्तों ने तामिल भाषा में अपने विशुद्ध भक्त्यात्मक गीतों का प्रणयन किया है जिनका संकलन "तामिल प्रबंधनामा" के नाम से विख्यात है। इस ग्रन्थ को द्राविड़ देश में तामिल वेद कहा जाता है और वहाँ पर वेद के समान ही मान्य एवं पूज्य है। आलवारों में जाति-पाँति एवं स्त्री-पुरुष का कोई बंधन नहीं था। यही कारण है कि उनमें विभिन्न जातियों के संत थे और कुछ एक स्त्रियाँ भी थीं।

रामानुजाचार्य ने द्राविड़ देश में प्रचलित भक्ति के तत्त्वों को हृदयंगम कर उनका पांचरात्र धर्म के साथ समन्वय एवं संतुलन संस्थापित करके उसे राष्ट्र धर्म का सुन्दरतम रूप प्रदान कर दिया। इस तरह उन्होंने भारतीय भक्तिधारा को व्यापकता एवं प्रवाहपूर्णता प्रदान की। स्वामी रामानुजाचार्य के परवर्ती आचार्य निम्बार्क मध्व और वल्लभ ने भी यत्र-तत्र थोड़ा परिवर्तन करके उनके ही सिद्धान्तों को अंगीकार किया है।

आगे चलकर रामानुजाचार्य का सम्प्रदाय अनेक शाखाओं में विभक्त हो गया। इसकी एक प्रमुख शाखा रामानन्दी सम्प्रदाय के नाम से आज भी प्रसिद्ध है जिसके प्रवर्तक स्वामी रामानंद जी रामानुजाचार्य की शिष्य-परम्परा में १४वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुए थे। इसी शाखा से ही कबीर नानक आदि सन्तों के सम्प्रदायों का भी आविर्भाव हुआ है।

आचार्य रामानुज अभेद और भेद का प्रतिपादन करने वाली श्रुतियों में पारस्परिक विरोध नहीं मानते हैं। वे अभेद प्रतिपादक तथा निर्गुण ब्रह्म एवं सगुण ब्रह्म की प्रतिपादिका दोनों ही प्रकार की श्रुतियों को प्रामाणिक मानते हैं। अभेद प्रतिपादक वाक्य एक ही के अन्दर ईश्वर जीव और प्रकृति तीनों का वर्णन करते हैं और भेद प्रतिपादक वाक्य उन तीनों का पृथक्-पृथक् कथन करते हैं।

रामानुजाचार्य की दृष्टि में ब्रह्म स्थूल-सूक्ष्म-चेतना विशिष्ट पुरुषोत्तम हैं वे सगुण सविशेष स्वयंभू और पर हैं। उनकी शक्ति माया है। वे अनन्त कल्याणकारी शुभ गुणों का भण्डार हैं। वे सृष्टिकर्ता कर्मफलविधाता सर्वान्तर्यामी औदार्य शारण्य वात्सल्य-सौन्दर्य आदि अनेकानेक सद्गुणों के महान् सागर सर्वाधीश्वर सच्चिदानन्द स्वरूप भगवान् नारायण हैं। वे प्रकृति और जीवों के नियन्ता हैं किन्तु उनके दोषों से वे सर्वथा असम्पृक्त हैं। वे संसार के निमित्त एवं उपादान दोनों ही कारण हैं। जीव और जगत् उनके शरीर हैं।

भगवान् आत्मा हैं। रामानुजाचार्य के मतानुसार ब्रह्म शरीरी है और समस्त जीवात्माएँ उसके शरीर हैं। इसी प्रकार वे जीवात्माओं को शरीरी और प्रकृति को स्वीकार करते हैं। जीव और प्रकृति भिन्न-भिन्न शरीर धारण करते हैं परब्रह्म पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। वे प्रकृति और जीव को ईश्वर के समान ही सत्य मानते हैं। "जगत जड़ है। जगत ब्रह्म का शरीर है। ब्रह्म जगत् के रूप में परिणत है तथापि वे निर्विकार हैं। जगत सत्य है मिथ्या नहीं है। जीव भी ब्रह्म का शरीर है ब्रह्म और जीव दोनों ही चेतन हैं। ब्रह्म विभु है जीव अणु है ब्रह्म पूर्ण है, जीव खण्डित है ब्रह्म ईश्वर है जीव दास है ईश्वर कारण है जीव कार्य है। जीव देह इन्द्रिय-मन प्राण आदि से भिन्न है जीव नित्य है उसका स्वरूप भी नित्य है। प्रत्येक शरीर में जीव भिन्न भिन्न हैं। उपाधियुक्त ही जीव संसार भोग को प्राप्त होता है। जीव ही कर्त्ता भोक्ता है जीव के पाँच भेद हैं—नित्य मुक्त केवल मुमुक्षु और बद्ध[1]।"

रामानुजाचार्य के अनुसार ब्रह्म में ज्ञान शक्ति एवं प्रेम तथा अनेकानेक सत्याय गुणों की स्थिति विद्यमान है जिनके माध्यम से वे सृष्टि का विकास एवं अवतार धारण कर जीवों का उद्धार करते हैं। वे नारायण ब्रह्म शंख-चक्र-गदा-पद्मधारी चतुर्भुज हैं तथा समस्त दिव्याभूषणों से विभूषित हैं। दिव्यधाम में उन्हीं का दासत्व की प्राप्ति ही 'परम पुरुषार्थ एवं "मुक्ति' है। ईश्वर के साथ अभिन्नता कभी भी संभव नहीं है क्योंकि जीव स्वरूपतः नित्य दास एवं नित्य अणु है। वह विभु कदापि नहीं हो सकता। दिव्य धाम में भगवान् नारायण के नित्य दासत्व को प्राप्त कर मुक्त जीव दिव्यानंद का रसास्वादन करते हैं। रामानुजाचार्य के मतानुसार ब्रह्म एक स्वतंत्र अनुपम एवं अद्वितीय है। फिर भी वह प्रकृति एवं जीव से सर्वथा विशिष्ट है। यही कारण है कि उनके सिद्धांत का नाम विशिष्टाद्वैत है। इस सम्प्रदाय की आचार्य-परम्परा में सर्वप्रथम आचार्य भगवान् श्री नारायण माने जाते हैं। उन्होंने निज स्वरूपा शक्ति श्री महालक्ष्मीजी को श्री नारायण मंत्र का उपदेश दिया। करुणामयी स्नेहमयी माता से भगवान् के पार्षद प्रवर श्री विष्वक्सेन जी को उपदेश मिला। उन्होंने श्री शठकोप स्वामी को उपदेश दिया। तत्पश्चात् वही उपदेश परम्परा से श्रीनाथमुनि पुण्डरीकाक्षस्वामी श्रीराम मिश्र जी तथा श्री यामुनाचार्य जी को प्राप्त हुआ[2]।

बहुत से विद्वानों का विचार है कि रामानुज ने भक्ति का बहुत-सा तत्त्व ईसाइयों और मुस्लिम सन्तों से ग्रहण किया है।[3] पर इतना तो निर्विवाद है कि एक कट्टर वैष्णव की भाँति उन्होंने लक्ष्मी-नारायण की पूजा पर ही विशेष बल दिया और अपने सिद्धान्तों को श्रुतिसम्मत बनाकर सर्वथा भारतीय रूप प्रदान करके ही जन-जीवन के समक्ष उपस्थित किया।

---

१ कल्याण भक्ति अंक श्री रामानुजार्य की भक्ति नामक निबंध पृ० १८३

२ कल्याण भक्ति अंक ३२वाँ श्री रामानुजाचार्य की भक्ति पृ० १८१

३ तुलसी दर्शन पृ० ४५

स्वामी रामानुज के पश्चात् द्वैताद्वैतवाद सिद्धान्त एवं निम्बार्क सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक आचार्य निम्बार्क का शुभागमन होता है। निम्बार्क सम्प्रदाय में 'श्रीकृष्ण और श्री राधिका' का युगल मूर्ति की उपासना होती है। स्वामी निम्बार्काचार्य ने ब्रह्म के स्वरूप का निरूपण 'चतुष्पाद विशिष्ट रूप में किया है। अनन्त जगत प्रथम पाद है। इस आपातिक पदार्थों को विभिन्न रूपों में अवलोकन करने वाला जीव द्वितीय पाद है। जगत के अनन्त पदार्थों का पूज्य एवं नित्य द्रष्टा ईश्वर तृतीय पाद है। इन तीनों रूपों से विवर्जित नित्य एकरस आनन्द मात्र का अनुभव करने वाला चतुर्थ पाद है जिसका एकान्त अक्षर पद के नाम से श्रुति ने वर्णन किया है।[1]

स्वामी निम्बार्काचार्य के सिद्धान्त के अनुसार इसप्रकार जगत् और जीव दोनों ही ब्रह्म के ही अंश हैं। अंश के साथ अंशी का जो भेदाभेद सम्बन्ध है इसप्रकार जगत् और जीव के साथ ब्रह्म का भी वैसा ही सम्बन्ध है। अतः सम्पूर्ण अवयव में अंशी का अंश है अतएव अभिन्न है और अंशी अंश को अतिक्रम करके भी स्थिति है। अवसान में ही अंशी की सत्ता समाप्त नहीं होती अतएव अंशी अंश से भिन्न भी है। इसलिए दोनों के सम्बन्ध, के सम्बन्ध को भेदाभेद सम्बन्ध अथवा अंशांशि-सम्बन्ध या द्वैताद्वैत सम्बन्ध के नाम से ही निर्देश किया जा सकता है।[2]

आचार्य निम्बार्क की दृष्टि में भगवदवतार की समस्त मूर्तियाँ जनसाधारण के लिए उपास्य हैं परन्तु विशिष्ट रूपों से अभिव्यक्त ब्रह्म की समस्त मूर्तियों में गोलोकाधिपति श्रीकृष्ण की ही मूर्ति सर्वश्रेष्ठ प्रधान कल्याणप्रद एवं मुक्तिदायक है। गोलोकाधिपति भगवान् श्रीकृष्ण मनुष्य-लोक के कल्याण के लिए यदुकुल में आविर्भूत हुए थे। अतएव निम्बार्कीय वैष्णव-गण जगत् को सत्य और ब्रह्ममय मानते हैं तथा विशेष रूप से श्रीकृष्ण की उपासना में प्रवृत्त होते हैं। स्वामी निम्बार्काचार्य का कथन है कि 'भक्तों की इच्छा से त्रिमूर्ति मनोहर विग्रह धारण किया जिसकी शक्ति की न्यूनता नहीं उस अचिन्त्य जगत् के त्राता श्री कृष्ण के ब्रह्मा शिव आदि के द्वारा वन्दित चरण कमल के सिवा जीव की अन्य कोई गति दृष्टिगोचर नहीं होती।[3]

मध्व के मत में हरि ही सर्वोत्तम हैं। उनसे बड़ा कोई नहीं है। वे ही वेदों के द्वारा वेद्य हैं विष्णु हैं। वेद निरन्तर उन्हीं की कीर्ति का गायन करते हैं। वस्तुतः वेदों के विविध देव उन्हीं के विविध रूपों में विद्यमान हैं। वे ही समस्त संसार की सृष्टि के कारण हैं। जीव उन्हीं का सेवक है। अतः उसे श्रीहरि के चरण कमलों की सेवा एवं भक्ति करनी चाहिए। अपने 'द्वादशस्तोत्र' में स्वामी मध्वाचार्य जी का कथन है कि 'अरे जीव! सदा श्रीहरि के चरण कमलों में नम्रतायुक्त बुद्धि (भक्ति) रखकर अपना जाति विहित कर्म किया कर। हरि ही सर्वोत्तम हैं। हरि ही गुरु हैं। वे ही सारी सृष्टि के पिता-माता तथा गति हैं?[1]

जीव की शक्ति एवं ज्ञान सीमित हैं। वे अपने भिन्न-भिन्न कर्म फलों के परिणाम स्वरूप अपने सुख-दुःख की भिन्न-भिन्न स्थितियों में विद्यमान रहते हैं। मोक्ष की प्राप्ति के पश्चात् भी सभी मुक्त जीवों को एक तरह का आनन्द नहीं मिल पाता है। सत्य के साक्षात् स्वरूप परमेश्वर की कोई भी सृष्टि कदापि असत्य नहीं हो सकती है। अतः यह संसार भी सत्य ही है। संक्षेपतः स्वामी मध्वाचार्य के प्रतिपादित सिद्धान्त का सार यों कहा जाता है—

श्रीमन्मध्वमते हरिः परतरः सत्यं जगत्तत्त्वतो
भेदो जीवगणा हरेरनुचरा नीचोच्चभावंगताः।
मुक्तिर्नैजसुखानुभूतिरमला भक्तिश्च तत्साधनं
ह्यक्षादि त्रितयं प्रमाणमखिलाम्नायैकवेद्यो हरिः॥

'मध्व मत में श्रीहरि ही सर्वोत्तम हैं, जगत् सत्य है पाँच तरह के भेद सत्य हैं ब्रह्मादि जीव हरि के सेवक हैं उनमें परस्पर तारतम्य का क्रम है। जीव का स्वरूपगत सुखानुभव ही मोक्ष है हरि की निर्मल भक्ति ही उस मोक्ष का साधन है। प्रत्यक्ष अनुमान आगम—ये तीन प्रमाण हैं। श्री हरि का स्वरूप वेदादि सर्वशास्त्रों से जाना जा सकता है।[2]

"श्री वैष्णव सम्प्रदाय की भाँति शंख चक्रादि की तप्त मुद्रा धारण करने का नियम माध्वमतावलम्बियों के भी अन्तर्गत है। आचार्य मध्व अपने ग्रन्थों में न वासुदेव का नाम लेते हैं और न उनके चार व्यूहों का। वे भगवान् को विष्णु कहकर पुकारते हैं। राम और कृष्ण अवतारों के नाम आते हैं परन्तु राधा गोपियों तथा गोपालकृष्ण की लीलाएँ इनके ग्रन्थों में स्थान नहीं पाती।[3]

वस्तुतः मध्व ने कृष्ण की पूजा की अपेक्षा राम की पूजा पर ही अपनी विशेष आस्था एवं अभिरुचि प्रदर्शित की है। उनका यह भी कथन है कि भगवान् के बाद उनकी आह्लादिनी शक्ति लक्ष्मी देवी के प्रति तथा उनके बाद ब्रह्मा वायु आदि देवताओं के प्रति भी उनके

---

१ कुरु भुङ्क्ष्व च कर्म निजं नियतं
हरिपादविनम्रधिया सततम्।
हरिरेव परो हरिरेव गुरु हरिरेव जगत्पितृ मातृ गतिः।
—द्वादश स्तोत्र १ १
(कल्याण भक्ति अंक पृ १६१ में उद्धृत)

२ कल्याण भक्ति अंक पृ १८६ से उद्धृत।

३ डा० मुन्शीराम शर्मा भक्ति का विकास पृ ३६२

योग्यतानुसार भक्ति रखनी चाहिए। तत्पश्चात् अपने गुरु एवं वयोवृद्ध पुरुषों के प्रति भी सादर भक्ति अपेक्षित है। सम्पूर्ण जीव मात्र मे परमात्मा श्रीहरि को अन्तर्यामी के रूप में विद्यमान समझकर उनके परिवार स्वरूप समस्त प्राणी मात्र पर दया और प्रेम रखना चाहिए। ऐसा करने से हम भगवान् के कृपा पात्र बन सकते हैं।"[1]

आचार्य विष्णु स्वामी भी वैष्णवाचार्य में एक प्रमुख स्थान के अधिकारी हैं। उनके समय के सम्बन्ध में कुछ निश्चित रूप से पता नहीं चलता है। पर इतना तो निर्विवाद है कि श्रीमद्भागवत पुराण के सुप्रसिद्ध टीकाकार श्रीधर स्वामी के वे पूर्ववर्ती हैं। श्रीधर स्वामी का समय ११वीं शताब्दी है और उन्होंने आचार्य विष्णु स्वामी की एक कृति 'सर्वज्ञ सूक्त' का उपयोग अपनी उक्त टीका में किया है।[2] ऐसी किंवदन्ती है कि विष्णु स्वामी ने भी प्रस्थानत्रयी के ऊपर अपना भाष्य लिखा था जो आज अप्राप्य है। वस्तुतः भक्ति के उद्धार के लिए ही इनका अवतार हुआ था। इन्होंने भक्ति को मुक्ति से भी अधिक महत्त्व प्रदान किया है। इनका सिद्धान्त है कि नन्दनन्दन श्री कृष्ण ही जीवों के परम प्रेमास्पद एवं गम्य हैं। उनकी सेवा ही जीवों का परम पुनीत एवं सर्वश्रेष्ठ कर्त्तव्य है। भक्ति ही श्रुति स्मृति-पुराण-समर्पित सर्वोपरि श्रेयस्कर साधना है।

उनकी दृष्टि में वर्णाश्रम धर्म की मर्यादाओं का सफल निर्वाह, अष्टांगयोग की साधना का सम्यक परिपालन एवं वेदादि धार्मिक शास्त्रों का अध्ययन एवं स्वाध्याय भक्ति के साधन हैं। इनका सिद्धान्त स्वामी मध्वाचार्य के सिद्धान्तों से बहुत कुछ साम्य रखता है। इन्होंने ही वैष्णव आचार्यों में सर्वप्रथम राधा को भी आराध्या माना है। महाराष्ट्र का वारकरी सम्प्रदाय जिसमें ज्ञानदेव एवं नामदेव जैसे महान् भक्त अवतीर्ण हुए हैं इनके ही सिद्धान्त की एक रूपान्तरित कड़ी है। कहा जाता है कि महाराष्ट्रीय सन्त ज्ञानेश्वर के ऊपर विष्णु स्वामी का बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा था। इनके द्वारा प्रवर्तित सम्प्रदाय रुद्र या रौद्र सम्प्रदाय कहा जाता है। स्वामी वल्लभाचार्य जी किसी न किसी रूप में सम्प्रदाय से सम्बद्ध बतलाये जाते हैं।[3] पर वल्लभाचार्य के ग्रन्थों से इस तथ्य की पुष्टि नहीं होती है।[4]

गोस्वामी वल्लभाचार्य जी का प्रादुर्भाव विक्रम की सोलहवीं सदी के प्रारम्भ में हुआ था। इन्होंने पुष्टिमार्ग का विधान किया है। यह मार्ग पूर्वोक्त प्राचीन आचार्यों के मार्गों से थोड़ा भिन्न है। पुष्टि भक्ति में भगवान् के अनुग्रह की ही प्रधानता रहती है। इसमें भगवान् की कृपा से ही जीव भगवान् के आनन्दधाम में पदार्पण करता है।

पुष्टि भक्ति में भक्त को भगवान् के सुख का भी विचार करना पड़ता है। वह अपनी प्राथमिक अवस्था में अपने शरीर इन्द्रिय, एवं द्रव्य का उनमें विनियोग करता है।

---

१ कल्याण भक्ति अंक पृ १६१
२ डा० मुन्शीराम शर्मा भक्ति का विकास पृ०१६६
३ डा मुन्शीराम शर्मा भक्ति का विकास पृ० १७०
४ सूर साहित्य दर्पण पृ ३६

इस तरह उसे अपनी ममता एवं अहंता के त्याग में आंशिक सफलता मिलती है। ज्यों ज्यों उसका प्रेम भाव भगवान के प्रति दृढ़ होता जाता है त्यों-त्यों उसका मन उनके स्वरूप उनकी परिचर्या एवं उनकी लीला में ही तल्लीन होता जाता है और अन्ततः उसको बाह्य वस्तुओं का विस्मरण-सा हो जाता है। यह पुष्टि भक्ति साधन-साध्य नहीं है। इसमें भगवान की कृपा ही नियामक है। अतः इसमें भगवत्कृपा के अतिरिक्त अन्य कोई साधन का उपयोग सम्भव नहीं है। भगवान् जिसको स्वीकार कर लेते हैं उसी के द्वारा यह सम्भव है। श्रुति का भी कथन है कि 'भगवान् जिसको वरण करते हैं वही उनको प्राप्त कर सकता है।'[1] इस पुष्टि भक्ति में भाव ही प्रमुख साधन है। भगवान् का चिन्तन एवं भावना करने से भक्त को उनके साथ वार्तालाप आदि करने की उत्कट आकांक्षा होती है और उसका अन्तःकरण भगवान् के अतिरिक्त अन्य किसी भी सांसारिक पदार्थ पर आकृष्ट नहीं होता। उसे संसार में सर्वत्र दुःख ही दुःख दृष्टिगोचर होता है। ऐसा भक्त बाहर से सांसारिक दृष्टिगोचर होने पर भी भीतर से वस्तुतः महान् विरक्त होता है। उसकी इस स्थिति को देखकर अन्तःकरण में अवस्थित भगवान् बाहर प्रकट हो जाते हैं।[2] पुष्टि भक्ति के प्रवर्तक गोस्वामी वल्लभाचार्य जी के विचार में इस भक्ति का अधिकारी वही है जिसने निस्पृही भगवद् भक्तों में भी ईश्वर की इच्छा से अन्तिम जन्म प्राप्त किया है।[3] इस भक्ति के परिणाम स्वरूप भक्त को अलौकिक सामर्थ्य एवं भगवान् के साथ सम्भाषण रमण एवं गायनादि की योग्यता की प्राप्ति होती है। इस भक्ति में भगवान् के अधरामृत का पान सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। पुष्टि भक्ति का यह सिद्धांत सम्भवतः विष्णु स्वामी के रुद्र सम्प्रदाय से ही गृहीत है। पुष्टि भक्त मोक्ष को हेय दृष्टि से देखता है।

वल्लभाचार्य के अनुसार श्रीकृष्ण ही परब्रह्म हैं। वे पूर्ण स्वतन्त्र और पुरुषोत्तम हैं तथा सत् चित् एवं आनन्द के साक्षात् स्वरूप हैं। वे सर्वज्ञ सर्वव्यापी शाश्वत अनन्त एवं सर्वशक्ति सम्पन्न हैं। उनमें ऐश्वर्य वीर्य यश श्री ज्ञान एवं वैराग्य आदि असंख्य शुभ गुण विद्यमान हैं। वे ही जीव और जगत् के मूल कारण हैं। वस्तुतः वे अचिन्त्य एवम् अवर्णनीय हैं। भक्त उनके विषय में जो कुछ चिन्तन एवम् वर्णन करता है, वह अपूर्ण एवम् अपर्याप्त है। परब्रह्म श्रीकृष्ण ही एकमात्र सत्य हैं। वे ही इस संसार के निमित्त एवम् उपादान कारण हैं। ज्ञानशून्य एवम् अचेतन प्रकृति उन्हीं का एक अंश है। उनमें परस्पर

---

1. नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
   यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्॥
   —मुण्डकोपनिषद् तीसरा मुण्डक दूसरा खण्ड मन्त्र ३

2. विलापयमानात् प्रनाग्दृष्टया कृपायुक्तो यदा भवेत
   तदा सर्व सदानन्द हृदिस्थं निर्गतं बहिः॥
   —कल्याण भक्ति अंक, पृ. ११३ में उद्धृत

3. न लिखिता भगवद्भक्ता ये मुक्तावधिकारिणः।
   भवान्तसम्भवाद् दैवात् तेषामर्थे निरूप्यते॥
   —वही पृ. ११४ में उद्धृत।

विरोधी गुण भी हैं जिसके कारण उन्हें विरुद्ध धर्माश्रय कहा जाता है। वे कुर्त अकुर्त अन्यथा कर्तु समर्थ हैं। वे अपने अन्तर्गत विद्यमान आनन्द रस का प्रेषण एवम् विस्तार दूसरे जीवों में किया करते हैं। यही उनकी लीला है। वे अपने पुष्टि भक्तों को कृतार्थ करने के लिए कभी दास भाव कभी पुत्र-भाव कभी सखा भाव आदि की लीला करते हैं। इस लीला-सम्पादन के लिए उन्हें मनुष्य का शरीर धारण करना पड़ता है। परन्तु उनका यह शरीर देखे सुने जाने के बावजूद अलौकिक एवम् अप्राकृत ही रहता है। श्रीकृष्ण का सम्पूर्ण वातावरण क्या वृन्दावन क्या वहाँ की लता गुल्मादिक, वृक्ष-पशु पक्षी नर-नारी नदी-पर्वत आदि सब कुछ अलौकिक, दिव्य एवम् अप्राकृत हैं। भगवान् अपनी इन्हीं दिव्य एवम् अलौकिक लीलाओं के माध्यम से अपने में पूर्ण विश्वास अखण्ड श्रद्धा एवम् अटूट भक्ति रखने वाले जीवों को अपनी ओर आकृष्ट करते हैं। अपनी इस लीला के विस्तार में उन्हें किसी प्रकार की पीड़ा नहीं होती। वृन्दावन विहारी भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र का अवतार सच्चिदानन्दात्मक है। गोस्वामी वल्लभाचार्य के मतानुसार अनेकानेक अन्यान्य अवतार आंशिक अवतार हैं पर श्रीकृष्ण का अवतार पूर्णावतार है। उनकी दृष्टि में जहाँ सभी अवतार अवतार हैं वहाँ कृष्ण अवतारी हैं। वल्लभाचार्य का यह सिद्धान्त शुद्धाद्वैत कहा जाता है।

स्वामी रामानुजाचार्य संसार की सृष्टि एवम् संहार को स्वीकार करते हैं। किन्तु वल्लभाचार्य के विचार में संसार का संहार नहीं होता। उसका ब्रह्म से आविर्भाव एवम् तिरोभाव मात्र होता है। जैसे कोई स्वर्ण का कुण्डल पिघल कर फिर स्वर्ण के रूप में परिणत हो जाता है, ठीक वैसे ही संसार तिरोहित होकर ब्रह्म के रूप में परिणत हो जाता है। यह संसार ब्रह्म का ही एक अंश है। संसार की सृष्टि करने के उपरान्त ब्रह्म अपने सत् एवम् चित् अंशों से जीवों की सृष्टि करता है। ये जीव भी ब्रह्म के ही अंश हैं उसके कार्य नहीं हैं। जिस प्रकार अग्नि से अग्नि-कण निःसृत होते हैं ठीक उसी प्रकार ब्रह्म से जीवों की उत्पत्ति होती है। ब्रह्म का अंशभूत यह जीव शरीर के एक ही भाग में स्थित रहकर कोठरी के दीपक की तरह समस्त शरीर को प्रकाशित एवम् अभिव्याप्त किये रहता है। ब्रह्म और जीव में केवल आनन्द का ही अन्तर है। जब ब्रह्म की कृपा से जीव में आनन्द आविर्भाव होता है तब वह अपने अणुत्व का त्याग कर सर्वव्यापकत्व को प्राप्त करता है। अपने वास्तविक स्वरूप को विस्मृत करके और ब्रह्म के आनन्द अंश से रहित होकर जीव इस संसार के माया जाल में आबद्ध हो जाता है। उसमें अहंता एवं ममता का प्राबल्य हो जाता है। वस्तुतः जीवों के स्वार्थ से उत्पन्न होने वाली वस्तु ही माया है जो सर्वथा असत्य मिथ्या एवम् भ्रामक है। इस भ्रमात्मक माया का स्वयं सृजन करके जीव सांसारिक प्रपंचों में बुरी तरह जकड़ जाता है और वह अपने (जीव के) ब्रह्म के जगत् के यथार्थ स्वरूप ज्ञान से वंचित होकर अनेकानेक दुस्सह दैहिक दैविक एवम् भौतिक तापों को सैलता रहता है। ब्रह्म जीव की इस कारुणिक दुःस्थिति से द्रवीभूत होकर उस पर कृपा करके अपने श्वासों से शास्त्रों का सृजन करता है। जीव इन शास्त्रों का अवलम्बन ग्रहण कर पहले सकाम कर्म का अनुष्ठान करता है पर उसमें वास्तविक आनन्दोपलब्धि नहीं करके पुनः निष्काम कर्म के

महाप्रभु चैतन्य ने रामानन्द के द्वारा प्रवर्तित भगवद्विग्रह की सेवा और उपासना के पाँच उत्कृष्ट तत्वों को जो प्रेमाभक्ति के अंग हैं स्वीकार किया है। वे हैं—

(१) वर्णाश्रम धर्म का पालन
(२) भगवान् के लिए समस्त स्वार्थों का त्याग
(३) भगवत्प्रेम के द्वारा सर्वधर्म त्याग
(४) ज्ञानात्मिका भक्ति और
(५) स्वाभाविक एवं असत्य रूप से मनका श्रीकृष्ण में समाना।[१]

महाप्रभु ने सारे जन समाज के लिए निष्ठा, प्रेम एवं भक्तिपूर्वक श्रीकृष्ण का नाम जप करने का सन्देश दिया है। कलिकाल में भगवन्नाम ही सर्वोच्च आश्वासन है।[२] श्रीकृष्ण का नाम-जप करने से समस्त पाप ध्वस्त हो जाते हैं और आध्यात्मिक एवं दैवी गुणों का पर्याप्त विकास भी होता है। महाप्रभु चैतन्य तो नाम मंत्र के प्रभाव से स्वयं इतने विह्वल एवं आह्लादित हो जाते थे कि वे कभी उन्मत्त होकर हँसने लगते कभी रोने लगते कभी नाचने लगते और कभी संकीर्तन करते-करते भावावेश में मूर्छित भी हो जाते थे। वे बृहन्नारदीय पुराण के एक श्लोक

"हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥"

की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि 'कलिकाल में नाम के रूप में ही श्रीकृष्ण का अवतार है। नाम से सम्पूर्ण चराचर का निस्तार होता है। दृढ़ता के लिए 'हरेर्नाम' की तीन बार आवृत्ति की गयी है। जड़ लोगों को समझाने के लिए पुनः 'एव' शब्द का प्रयोग किया है और फिर केवल" शब्द का और भी निश्चय कराने के लिए प्रयोग हुआ है। उसके ज्ञान-योग्य तप-कर्मों आदि का निवारण किया गया है। जिसकी ऐसी मान्यता नहीं है उसका निस्तार नहीं है। "एव" के साथ 'नास्ति नास्ति नास्ति' तीन बार कहकर इसी का पुष्ट समर्थन किया गया है।"[३] इसी से उनका उपदेश है कि 'तर्क बुद्धि का त्याग कर श्रवण-कीर्तन करो। इनके करने से शीघ्र ही कृष्ण-प्रेम धन प्राप्त हो जायगा। नीच वर्ण में पैदा होने से ही कोई भजन के अयोग्य नहीं होता। इसके विपरीत सत्कुल में उत्पन्न ब्राह्मण ही भजन के योग्य हो—ऐसी बात भी नहीं है। जो भजन में लगा रहता है वही श्रेष्ठ है और जो अभक्त है वही हीन-कुल के समान है। भगवान दीनों पर अधिक दया करते हैं। कुलीन पण्डित और धनी लोग बड़े अभिमानी होते हैं। भजन में नवधा भक्ति श्रेष्ठ है। वह कृष्ण प्रेम तथा स्वयं श्रीकृष्ण को प्रदान करने में शक्तिशालिनी होती है।

---

१ कल्याण मानवता अंक (तैंतीसवें वर्ष का विशेषांक)—पृ१२२
२ नारदपुराण पूर्वभाग अ ४१ श्लो० ११५
३ चैतन्य चरितामृत आदिलीला परिच्छेद १७ पद १९ २२

उनमें भी नाम संकीर्तन सर्वश्रेष्ठ है। साधु निन्दा आदि दस अपराधों का त्याग करके नाम लेने पर प्रेमधन प्राप्त होता है।[1]

महाप्रभु की दृष्टि में तृण से भी अधिक नम्र होकर वृक्ष से भी अधिक सहिष्णु बनकर स्वयं मान की अभिलाषा से रहित होकर तथा दूसरों को मान देते हुए सदा श्रीहरि के कीर्तन में निरत रहना चाहिए।[2]

चैतन्य का दार्शनिक सिद्धान्त 'अचिन्त्य भेदाभेदवाद' के नाम से प्रख्यात है। यह प्रस्थानत्रय के द्वारा समर्थित पूर्णतया आप्त प्रमाण पर आधारित है। उन्होंने पूर्ववर्ती आचार्यों के सिद्धान्तों को भी स्वीकार किया है। अतः उनका भक्ति एवं प्रेम-मूलक धार्मिक उत्कर्ष से शिक्षित-अशिक्षित सभी को समान रूप से आकृष्ट किया है। उन्होंने बहुत दूर-दूर तक भारत में भ्रमण करके अपने निर्भ्रान्त तत्त्व ज्ञान के प्रति असंख्य लोगों का विश्वास उत्पन्न किया था। उनके समन्वयात्मक तत्त्व सार्वभौम एवं सार्वकालिक सिद्धान्तों के ऊपर अवलम्बित हैं। वे जाति-पाँति से परे भगवन्निष्ठा को महत्त्व देते हैं। उनके आविर्भाव से सारे बंगाल में प्रेम की एक ऐसी बाढ़ आ गयी जिसमें सारे भेद-विभेद प्रवाहित हो गये। शूद्रों और ब्राह्मणों का पारस्परिक आलिंगन प्रारम्भ हो गया। सब को प्रवाहित कर एवं मग्न कर देने वाला ऐसा विलक्षण प्रेम पता नहीं कहाँ से आकर समाज के जाह्नवी-तट को पवित्रता को और भी विभूषित कर दिया।

इस तरह उपर्युक्त भिन्न-भिन्न प्रतिभासम्पन्न आचार्यों के दार्शनिक सिद्धान्तों एवं व्यावहारिक स्वरूपों के प्रचार प्रसार से भागवत धर्म पूर्णतया पल्लवित-पुष्पित हुआ और आज भी इसके अनुयायियों की संख्या अपरिमित है जबकि इसके समकालीन बौद्ध एवं जैन धर्मों की संख्या नगण्य है। इन आचार्यों के अतिरिक्त भिन्न-भिन्न भाषाओं के कवियों ने भी अपनी साहित्यिक एवं धार्मिक कृतियों के माध्यम से इस धर्म के प्रचार-प्रसार में पर्याप्त योगदान प्रदान किया है। इस धर्म का द्वार सभी जातियों के लिए सर्वदा उन्मुक्त रहा। उच्च से उच्च एवं निम्न से निम्न जातियों की स्त्रियाँ भी इस धर्म में दीक्षित होकर इसके प्रचार प्रसार में संलग्न हुईं जिनमें ज्ञानेश्वर नामदेव तुकाराम रामदास नरसी मेहता मीराबाई कबीर दादू रविदास और नानक आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। अधिक क्या कहा जाय इस धर्म की उदारता एवं सहिष्णुता से अनुप्राणित होकर बहुत से मुसलमान लोग भी इसमें दीक्षित हुए। इस धर्म में सगुणोपासक एवं निर्गुणोपासक दोनों ही

---

१ अन्त्य लीला चतुर्थ परिच्छेद —
"कुबुद्धि छाड़िया कर श्रवण कीर्तन।
....
....
... ...
निरपराधे नाम लैले पाय प्रेमधन॥
(कल्याण भक्ति अंक पृ० २ १ में उद्धृत)

२ शिक्षाष्टक— श्लो [illegible] तथा शिक्षामृत श्लो [illegible]

प्रकार स मक्त हुए हैं। सगुणोपासना में राम एवं कृष्ण की उपासना पर विशेष बल दिया गया। पर राम के चरित्र की अपेक्षा कृष्ण के चरित्र में अत्यधिक अलौकिकता एवं अतिमानवी तत्वों की प्रधानता होने के कारण वह जन-जीवन के लिए जटिल एवं दुरूह था। जनसामान्य को तो मर्यादा पुरुषोत्तम राम के चरित्र के आदर्शों का ही अनुकरण अधिक सरल एवं आसान प्रतीत हुआ। यही कारण है कि भावुक भक्तों के द्वारा बड़ी ही श्रद्धा एवं प्रगाढ़ प्रेम के साथ रामोपासना को प्रश्रय प्रदान किया गया। यहाँ तक कि कबीर, दादू आदि संत मतावलम्बी महात्माओं ने भी अपने निर्गुण ब्रह्म को राम ही मानकर भजा है। मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् राम के विलक्षण व्यक्तित्व में हमें भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति के सम्पूर्ण रूपों का समाहार स्पष्टतया परिलक्षित होता है। इसीलिए भारत के हिन्दू, बौद्ध एवं जैन तीनों प्रमुख धर्मों तथा सगुण एवं निर्गुण दोनों भक्ति धाराओं म समान रूप से समादृत एवं पूजित हैं। राम के कमनीय एवं अनुकरणीय चारित्रिक उत्कर्ष से भारतीय जनजीवन का रागात्मक सम्बन्ध सस्थापित हो गया है। यही कारण है कि विष्णु के दशावतारों म रामावतार सर्वाधिक प्रतिष्ठित एवं ग्राह्य है। पर रामभक्ति को जन-जन के जीवन में सन्निविष्ट कर उसे पूर्णतया प्रचारित प्रसारित करने का श्रेय वैष्णव धर्म के महान् सुधारक महात्मा रामानन्द जी को है। इन्होंने भक्ति के क्षेत्र में जातिपाँति के भेद भाव को दूरकर जनता की भाषा में ही जनता को उपदेश देकर लोक-मर्यादा के सर्वथा अनुरूप सदाचार मूलक रामभक्ति का भरपूर समर्थन किया।

"स्वामी रामानन्द के साथ रामभक्ति की गंगा देश के एक कोने स दूसरे कोने तक प्रवाहित होने लगी और पूर्णावतार का जो पद भगवान् कृष्ण को प्राप्त था वही पद मर्यादा पुरुषोत्तम राम को भी प्राप्त हो गया। जनता की अभिरुचि तथा आचार्यों की विलक्षण बुद्धि में कितना अन्तर है। वासुदेव कृष्ण जिन्हें साक्षात् भगवान् घोषित किया गया था एक प्रदेश तक सीमित रह गये परन्तु राम जो केवल एकांशावतार अवतार की अपेक्षाकृत हीन कोटि में रखे गये थे जन-जन के मानस में प्रतिष्ठित हो गये।"[1]

आगे चलकर स्वामी रामानंद के द्वारा प्रसारित रामोपासना निराकार राम एवं साकार अवतारीदाशरथिराम के भेद से दो धाराओं में विभाजित हो गयी जिनका प्रतिनिधित्व क्रमश कबीर एवं तुलसी के द्वारा किया गया। रामोपासना को निराकारोपासना की धारा में प्रवाहित करने का श्रेय नाथ सम्प्रदाय एवं सूफी सम्प्रदाय इन दोनों ही ज्ञानाश्रयी सम्प्रदायों को भी है।[2] कबीर दादू इत्यादि संत मतावलम्बियों ने निर्गुण ब्रह्म को राम मानकर भजन किया पर गोस्वामी तुलसीदास जी ने सगुण साकार, अवतारी दाशरथि राम को ही परात्पर ब्रह्म मानकर भजन किया है।

---

१ भक्ति का विकास—
डॉ मुंशीराम शर्मा पृ० १२२

२ तुलसी दर्शन पृ० ५७

कृष्णोपासना में निराकारोपासना का समावेश सम्भव नहीं हो सका। वह उसी सगुण धारा से अबाध गति से प्रवाहित होती रही। इसके प्रतिनिधि कवि महामान्य महात्मा सूरदास जी हैं। यों अष्टछाप के अन्य कवियों ने भी भगवान् श्रीकृष्ण चन्द्र की मधुर लीलाओं का सुन्दर गायन किया है पर महाकवि सूरदास के गायन के समक्ष वह सब सर्वथा फीका है। महाकवि जायसी प्रेमाश्रयी निर्गुण भक्ति धारा का प्रतिनिधित्व कर रहे हैं। अतः हिन्दी काव्यों में भक्ति के विकास की स्थितियों से अवगत होने के लिए उपर्युक्त कवियों की भक्ति का संक्षिप्त अध्ययन नितान्त अपेक्षित है। तुलसी प्रतिपादित भक्ति का सांगोपांग विवेचन विश्लेषण तो हम अगले अध्याय में करेंगे। अतः यहाँ कबीर जायसी और सूर की भक्ति का क्रमिक विवेचन किया जा रहा है।

हिन्दी काव्यों में भक्ति का विकास

कबीर और भक्ति

कबीर ने न तो 'मसि कागद' छुआ था और न हाथ में 'कलम' ही गही थी।[1] वे 'प्रेम का ढाई अक्षर' पढ़कर 'पण्डित' हुए थे। पर उनमें अभूतपूर्व जन्मजात प्रतिभा थी और उन्होंने आँखों देखा अपूर्व सांसारिक अनुभव अर्जित किया था। अनुभूति की सत्यता एवं तीव्रता के कारण ही उनकी वाणी में अवर्णनीय प्रभावोत्पादकता एवं शक्ति है। समस्त उत्तरी भारत में वे सबसे प्रथम एवं निर्भीक [illegible] लेकर जन्म लेने वाले युग पुरुष थे। उनका जन्म ऐसे युग में हुआ था जब देश में अनेकानेक सम्प्रदाय एवं उपसम्प्रदाय बन चुके थे। हिन्दुओं और मुसलमानों का पारस्परिक विरोध पराकाष्ठा पर पहुँच गया था। समाज में अनुचित धर्मान्धता एवं बाह्याडम्बरों का आधिक्य हो गया था। उन्होंने निर्भीकता के साथ हिन्दू और मुसलमान दोनों की बुराइयों का पर्दाफाश किया एवं उनकी अच्छाइयों का हार्दिक स्वागत किया।

उन्होंने अपने उदार दृष्टिकोण से भक्ति के मूल रूप को जन-जीवन के समक्ष उपस्थित किया। उनकी भक्ति में जाति भेद या वर्ण भेद का अवकाश नहीं है। वह विश्वजनीन है। कबीर की भक्ति में हिन्दू एवं मुसलमान ब्राह्मण एवं शूद्र सभी का साधना एवं सिद्धि का समान रूप से अधिकार है। उनकी दृष्टि में भक्ति का पथ सांसारिक कृत्रिम भेदभावों से सर्वथा रहित है। इसीलिए साम्प्रदायिक संकीर्णताओं बाह्य दिखावों एवं पाखण्डों का जबरदस्त विरोध करते हुए कबीर ने उन पर कठोर प्रहार किया है[2] और आडम्बर रहित सदाचार पूर्ण सात्त्विक जीवन को ही भक्ति के मूल तत्त्व के रूप में स्वीकार किया है। उनका व्यक्तित्व [illegible]

१ बीजक पृ० १११–१२८, पद १०–११

२ (क) मेरे संगी दोइ जणा एक वैष्णौं एक राम।
वो है दाता मुकति का वो सुमिरावै नाम॥
—कबीर-ग्रन्थावली पृ० ४१

(ख) साईं मेरा बाणियाँ सहजि करै ब्यौपार।
बिन डाँडी बिन पालड़ै तोलै सब संसार।
—वही पृ० १२ दो० ४

(शेष अगले पृष्ठ पर)

सूफी[1] तथा नाथपंथ के हठयोग[2] की साधना पद्धति से भी प्रभावित हैं। उन्होंने निर्गुण ब्रह्म को निगुण राम कहकर अपनी भक्ति का विषय बनाया है। उसी के स्मरण और जप की बात वे कहते हैं[3]। ऐसे केशव[4] कृष्ण[5] गोविंद[6] माधव[7] दामोदर[8] हरि[9] विष्णु[10] नारायण[11] साहिब[12] आदि विभिन्न नामों से वे अपने ईश्वर को संबोधित करते हैं पर राम उनका सर्वाधिक प्रिय नाम है। इस नाम का वे बारम्बार

पिछले पृष्ठ का शेष

(ग) जो जस करिहै सो तस पइहै राजा राम नियाई।
—वही पृ० १५६ पद २००

(घ) हरिजस सुनहि न हरिगुन गावहि। बातन ही असमान गिरावहि॥
ऐसे लोगन सों क्या कहिये। जो प्रभु किये भगति ते बाहर तिनते सदा डराते रहिये॥ —वही पृ० १६१ पद २१६

(ङ) वही पृ० १३१ पद २१८

१ (क) कबीरा हसणां दूरि करि करि रोवण सौं चित्त।
बिन रोयाँ क्यों पाइए प्रेम पियारा मित्त॥
—कबीर-ग्रन्थावली पृ० ६. पद २७

(ख) अकथ कहाणी प्रेम की कछु कही न जाई।
गूँगे केरी सरकरा बैठे मुसकाई॥
—वही पृ० १९६ पद १५६

द्रष्टव्य वही पृ० ११ पद १७
पृ १०४, ११

२ सोलह कला संपूरण छाजा अनहद के घरि बाजें बाजा॥
सुषमन के घरि भया अनंदा उलटि कवल भेटे गो० पदा।
—वही पृ० १२७

द्रष्टव्य वही पृ० १६८ पद १२५
पृ २११ पद १७०

३ जिहि घट प्रेम न प्रीतिरस पुनि रसना नहीं राम।
ते नर इस संसार में उपजि भये बेकाम॥
—वही पृ ९ दो० १७

४ वही पृ० ८६ दो० ४ पृ० १४८ पद १७८

५ वही पृ० ५७ छंद १ पृ० १६६ पद १२७

६ वही पृ० ७ दो० २ पृ ७९ दो० ९

७ वही पृ० १६२ पद १०८ पृ २१४ पद १८४

८ कबीर-ग्रन्थावली पृ ११ पद १६१

९ वही पृ० ७ दो २७—३०

१० वही पृ २१८ पद ११७

११ वही पृ १७२ पद २४८

१२ वही पृ ६ दो० १ पृ० ६६ दो० ११

उपयोग करते हैं। इस नाम के अनुराग में उन्होंने दूसरे किसी भी नाम का उपयोग नहीं किया। उन्हें अपने गुरु स्वामी रामानंद से इसी नाम का मंत्र भी मिला था। अवतार और मूर्तिपूजा में उनका विश्वास नहीं है। उनका साहब एक है।[1] वह साहब न तो दशरथ के घर में अवतार लिया और न लंका के राजा रावण का वध किया। न तो वह देवकी की कोख से पैदा हुआ और न यशोदा की गोद में गया। न तो उसने ब्रज के कौर करने पर गोवर्धन को धारण किया और न साथ बराते हुए ग्वालों के साथ इधर उधर जंगल में घूमा। न तो उसने वामन का अवतार ग्रहण कर बलि को छला और न वाराह रूप धारण कर वेदोद्धार के लिए पृथ्वी को अपने दाँतों पर स्थित किया। न तो उसने नरसिंहावतार धारण कर हिरण्यकशिपु के वक्षस्थल को विदीर्ण किया और न परशुराम अवतार ग्रहण कर क्षत्रियों का ही संहार किया। न वह मण्डक और मामवाम बना और न मत्स्य और कच्छप।[2]

कबीर के ईश्वर या राम का कोई रूप और आकार नहीं है। उसके न मुख है न सिर। वह ऐसा अद्वितीय तत्त्व है जो पुष्प की गंध से भी सूक्ष्म है।[3] वस्तुतः वह अविगत निर्गुण एवम् सगुण सबसे परे है।[4] वह गंभीर है अनंत है सभी गुणों का आधार है। उसकी अनन्तता की परिधि में हमारी दृष्टि में विरोधी दीख पड़ने वाली सभी वस्तुएँ समाहित हो जाती हैं। वह समस्त ब्रह्माण्ड में संसार के प्रत्येक कण में और प्रत्येक मनुष्य की साँस में विद्यमान है। उसका वर्णन कदापि संभव नहीं है। वह अनुभूति एवम् साक्षात्कार का विषय है।[5] उसके विषय में जैसा कहा जाता है वह वैसा नहीं है। वस्तुतः उसका ज्ञान गूँगे के गुड़ के समान है। वह अनंत शक्ति-सम्पन्न एवम् सर्वसमर्थ है। वह बिना मुख

---

१ मेरा साहब एक है दूजा कहा न जाय।
साहिब दूजा जो कहूँ साहब खरा रिसाय॥
—कबीर वचनावली पृ० १ दो० २

२ कबीर-ग्रन्थावली बारह पदी रमैणी पृ० २४१
वही पृ० १२२ पद १८१

३ जाके मुख माथा नाहीं नाहीं रूप कुरूप।
पुहुप बास तें पातरा ऐसा तत्त अनूप॥
—कबीर वचनावली दो० ३ पृ० १

४ सर्गुन की सेवा करौ निर्गुन का करु ज्ञान।
निर्गुन सर्गुन के परे तहीं हमारा ध्यान॥
—वही पृ० २, दो० १०

५ (क) संपटि माहि समाइया सो साहिब नहि होइ।
सकल मांड में रमि रह्या साहिब कहिये सोइ॥
—कबीर ग्रन्थावली पृ० ६० दो० १

(ख) पार ब्रह्म के तेज का कैसा है उनमान।
कहिबे कूँ सोभा नहीं देख्या ही परवान॥
—कबीर वचनावली पृ० ६ दो० ५७

के ही खाता है और जिह्वा के बिना ही बोलता है। यद्यपि वह अपनी जगह नहीं छोड़ता फिर भी दसों-दिशाओं में घूम आता है।[1] इसीसे कबीर ने एक स्थल पर अपना उद्‌गार व्यक्त किया है कि चार भुजा वाले देवता की उपासना में ही सभी संत भूल पड़े हैं लेकिन मैं उस देवता की उपासना करता हूँ जिसकी भुजाएँ अनन्त हैं।[2] समस्त संसार में एकमात्र उसी प्रभु की अनन्त महिमामय सत्ता छायी हुई है। चालीस करोड़ देवता चौबीस अवतार और हजारों हजार विग्रह ये सब के सब मिथ्या हैं। कबीर का कथन है कि परमेश्वर ही माता पिता एवम् पति सब कुछ है। उन्होंने उस तेज पुँज परमेश्वर के एक अंश के आभास मात्र का साक्षात्कार किया है जिससे चतुर्दिक उनकी आँखों के समक्ष प्रकाश ही प्रकाश दृष्टिगोचर हो रहा है। उस सर्वव्यापक परम तत्त्व ज्योतिर्पुंज प्रभु की ज्योति के समक्ष सूर्य एवम् चंद्र की ज्योति मलिन पड़ जाती है। जिसने ज्योतिर्पुंज प्रभु के रूप में अपना अन्तःकरण को निमज्जित कर दिया वह असार संसार से पार होकर ही रहेगा।[3]

कबीर ने ऐसे सर्वव्यापक परम तत्त्व परमेश्वर को अन्तःकरण में ही ढूंढने का परामर्श दिया है। इसे ढूंढने के लिए न तो वन-वन भटकने की आवश्यकता है और न तो मन्दिर या मस्जिद का ही अवलम्बन ग्रहण करने की अपेक्षा है। ईश्वर तो अन्न-जल और पवन की भाँति सर्व-सुलभ है। जिस प्रकार तिल में तेल का[4] और कस्तूरी मृग की नाभि में गन्ध का वास है ठीक उसी प्रकार घट घट में उसका वास है। हममें तथा उसमें एक आवरण मात्र का अंतर है। जो व्यक्ति इस वस्तु स्थिति से अवगत हो चुका है वह उसके अन्वेषण में बाहर नहीं निकलता।

कबीर ने माया को एक व्यापक शक्ति के रूप में स्वीकार किया है। ब्रह्म अपनी इसी शक्ति के द्वारा अपने को अभिव्यक्त करता है। इसे ही हम दूसरे शब्दों में प्रकृति कह सकते हैं। इस माया के दो रूप हैं—सत्य और मिथ्या। प्रथम प्रकार की माया परमात्मा से साक्षात्कार कराती है और दूसरी उससे पराङ्मुख कराकर नरक में ठेल देती है। साधक को चाहिए कि वह प्रथम का ही आश्रय ग्रहण करे और दूसरी से मुक्त हो जाय। कबीर ने अधिकतर दूसरी कोटि की माया का ही वर्णन किया है।[1] समस्त संसार इसी से उत्पन्न होता है और फिर इसी के जाल में फँस जाता है। यह माया त्रिगुणात्मक है और यही जग पालन एवम् संहार करने वाली भी है। यह क्षण-क्षण उत्पन्न और

---

१ कबीर ग्रन्थावली पृ० १४० पद १५६

२ चार भुजा के भजन में भूलि परे सब संत।
कबिरा सुमिरैं ताहि को जाहि की भुजा अनंत॥
—कबीर वचनावली दो ६, पृ० १

३ जोति माहि जे मन थिरकर, कहै कबीर सो प्राणी तिरै॥
—कबीर-ग्रन्थावली १२८ (अंतिम पंक्ति) पृ० १६६

४ तेरा साईं तुज्झ में ज्यों तिल माहीं तेल।
कबीर वचनावली पृ ३ दो० २२ (ज)

१ कबीर माया पापिनी हरि सूं करै हराम।
—कबीर-ग्रन्थावली "माया को अंग" पद ४ (पू) पृ ३२

नष्ट होती रहती है। इसी से जीव आवागमन के बंधन में आबद्ध है। जीव को आवागमन के बंधन में आबद्ध रखने की इसमें असीम सामर्थ्य भी है क्योंकि यह मोहिनी है। ऐसे यह खांड की तरह मीठी प्रतीत होती है पर इसका प्रभाव विष से भी अधिक भयंकर है।[1] संसार के जितने भी आकर्षक एवम् मोह में आबद्ध करने वाले पदार्थ हैं वे सब माया के प्रतिरूप हैं। जहाँ माया का सर्वथा अभाव है वही ब्रह्मज्ञान है।[2] इस माया से देवता भी आतंकित हैं। इसके रचित जालों में ज्ञानी-अज्ञानी देवता-मुनि और मनुष्य सभी आबद्ध हैं। यह सबों को नचाती रहती है। वस्तुतः इस सर्वशक्तिशालिनी माया से त्राण पाना अत्यंत कठिन है। इससे तभी त्राण संभव है जब परमात्मा या सद्गुरु की कृपा हो जाय।[3] कबीर ने इस माया को महाठगिनी कहा है।[4] तात्पर्य यह है कि यह माया चतुर संयमी एवम् ज्ञानवान व्यक्ति को भी प्रवञ्चित कर लेती है और अपनी ओर से उदासीन रहने वालों को अपने प्रति विद्रोह का भाव रखने वाले को बलात्कार आबद्ध कर लेती है। इसकी हार्दिक कामना यही रहती है कि जीव ईश्वर की ओर उन्मुख न हो। यह तो सद्गुरु की असीम कृपा का ही प्रसाद था कि कबीर इसके जाल से छुटकारा पाकर आत्मस्वरूप का ज्ञान कर सके।

कबीर को निरंतर भगवद्भजन में ही अपूर्व आनंद मिलता है। वे प्रभुरस पान में मस्त ही हैं।[5] उन्हें सांसारिक कर्म कष्टदायक प्रतीत होता है।[6] उनकी दृष्टि में सभी कर्मों

---

१ कबीर माया मोहिनी जैसी मीठी खांड।
सतगुरु की किरपा भई नहीं तो करती भांड॥
—कबीर ग्रन्थावली माया को अंग पद ७ पृ० ३३

२ माया आदर माया मान माया नहीं तहाँ ब्रह्म गियान॥
—कबीर-ग्रन्थावली पृ० ११४ पद ८४ पंक्ति ३

३ सतगुर की किरपा भइ नहीं तो करती भांड॥
—कबीर ग्रन्थावली माया को अंग पद ७ (उ०) पृ० ३३

४ माया महा ठगिनी हम जानी।
तिरिगुन फांस लिए कर डोलै बोलै मधुरी-बानी॥
केसो के कमला होय बैठी सिव के भवन भवानी॥

× × ×

कहहिं कबीर सुनहु हो सतों ई सब अकथ कहानी॥
—बीजक पृ० २०८ २०९ पद ५९

५ है हरि भजन को प्रवांन।
नींच पांवै ऊँच पदवी बाजते नीसान॥

× × ×

जन कबीर तेरी सरीन राखि लेहु भगवान॥
—कबीर-ग्रन्थावली पृ० १२० पद ३०

६ जगति भजन हरिनांव है दूजा दुक्ख अपार।
मनसा वाचा क्रमना कबीर सुमिरण सार॥
—वही पृ० ६ व ४

में भक्ति ही श्रेष्ठ कर्म है। अतः भ्रमों का त्याग कर भक्ति ही करनी चाहिए। भक्ति से ही मुक्ति की प्राप्ति होती है।[1] पर इस भक्ति की प्राप्ति कराने में गुरु का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसीलिए कबीर ने सद्‌गुरु की महिमा का गायन ज़ोरदार शब्दों में किया है। ईश्वर से मिलाने के कारण गुरु का स्थान ईश्वर से भी ऊँचा है।[2] ईश्वर के अप्रसन्न होने पर गुरु रक्षा कर सकता है पर गुरु के अप्रसन्न होने पर समस्त संसार में कहीं भी साधक का त्राण संभव नहीं है।[3]

कबीर की दृष्टि में भक्ति अन्तःकरण की वस्तु है।[4] यही कारण है कि वे जप-तप व्रत तीर्थ-यात्रा प्रतिमा-पूजन धूनि रमाना जटा रखना भस्म तिलक-चन्दन लगाना आदि बाह्य विधि-विधानों के पालन पर ज़ोर नहीं देते हैं। वस्तुतः उनकी दृष्टि में भक्ति के लिए अन्तःकरण की पवित्रता एवम् सांसारिक प्रपंचों से चित्तवृत्तियों को विमुख करके भगवान् के चरण-कमलों में प्रगाढ़ प्रेम अपेक्षित है। अपनी इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करके ध्रुव और प्रह्लाद जैसे भक्तों ने भक्ति का यही आदर्श जन-जीवन के समक्ष उपस्थित किया है। इसके अतिरिक्त वे भगवान् की कृपा को भी महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान करते हैं। जिस साधक को भगवत्कृपा का प्रश्रय प्राप्त नहीं हुआ वह संसार-सागर का संतरण कदापि नहीं कर सकता।

जायसी और भक्ति

मलिक मुहम्मद जायसी अपने समय के पहुँचे हुए सिद्ध फ़कीर थे। वे प्रेम-काव्य-परम्परा के प्रमुख कवि हैं। उनके समय में मुसलमानों का एक 'सूफ़ी' सम्प्रदाय था जिसके अनुयायी प्रेम को ही ईश्वर प्राप्ति का प्रमुख साधन मानते थे। जायसी भी मुसलमान होने के कारण उस सूफ़ी सम्प्रदाय से काफ़ी प्रभावित हुए। ऐसे वे बड़े ही भावुक उदार एवम् विशाल हृदय के साधक थे। अतः उनकी साधना में परमात्मा तक पहुँचाने वाले सभी धार्मिक सम्प्रदायों के मूलभूत सिद्धान्तों का कुछ-न-कुछ समन्वय अवश्य है। पर उन्होंने

---

१ करम कंवल चित लाइये राम नाम गुनगाइ।
कहै कबीर सशा नहीं भगति मुकतिगति पाइ रे।
—वही पृ० ८९ पद ९

२ गुरु गोविंद दोऊ खड़े काके लागों पाँय
बलिहारी गुरु आपने गोविंद दिया बताय।
—कबीर वचनावली पृ० १ दो० १०

३ कबीरा ते नर अंध हैं गुरु को कहते और,
हरि रूठे गुरु ठौर है गुरु रूठे नहिं ठौर।
—वही पृ ११ दो १०८

मन मथुरा दिल द्वारिका काया कासी जाणि।
दसवां द्वारा देहुरा तामैं जोति पिछाणि॥
—कबीर-ग्रन्थावली भ्रम बिधौंसण कौ अंग पृ ४४ दो० १

इस्लाम धर्म पर अपना प्रगाढ़ प्रेम व्यक्त किया है।[1] इस्लाम के परम पुनीत तीर्थ स्थल मक्का एवम् मदीना का वे आदर पूर्वक उल्लेख करते हैं।[2] उनकी दृष्टि में मुहम्मद का नाम न लेने वाले लोगों को नरक में निवास करना पड़ता है।[3] इस्लाम धर्म (मुहम्मद के मजहब) में एकमात्र अल्लाह की ही सत्ता स्वीकृत है। जायसी एकेश्वरवादी हैं परन्तु उन पर अद्वैतवादी प्रभाव भी था।

उपासना के क्षेत्र में वे निर्गुण रूप के उपासक थे। पर सूफी सिद्धान्तों से अनुप्राणित होने के कारण उनकी उपासना में साकारोपासना की सहृदयता भी दृष्टिगोचर होती है। हिन्दुओं का भक्तिवाद सूफी साधना के सर्वथा अनुकूल था। सूफी मानते थे कि परमात्मा की सत्ता का सार है प्रेम और भक्तिवाद भी प्रेम को ही लेकर चला है। इसलिए जायसी भक्तिवाद के बहुत निकट थे। उनकी कृतियों में भक्ति शब्द का स्पष्ट उल्लेख भी हुआ है।[4]

जायसी ने तीन ग्रन्थों का प्रणयन किया था—

पद्मावत,

अखरावट और

आखिरी कलाम।

पद्मावत् इनकी प्रमुख कृति है। इसमें मानव जीवन का व्यापक निरूपण हुआ है। वैसे तो पद्मावत की प्रथम कथा चित्तौर के राजा रत्नसेन की है जो हीरामन तोते से सिंहलद्वीप की राजकुमारी पद्मावती का अलौकिक रूप वर्णन सुनकर उसे उपलब्ध करने के निमित्त प्रस्थान करने मार्ग मे अनेकानेक विघ्न-बाधाओं को सहन करने और अन्तत उपलब्ध करने से ही सम्बन्धित है पर पद्मावत की इस साधारण कथावस्तु के साथ-साथ जायसी का एक प्रच्छन्न आध्यात्मिक अर्थ भी है जिसकी ओर ग्रन्थ के अंत में उसे अन्योक्ति

---

१ विधिना के मारग हैं तेते। सरग-नखत तन रोवाँ जेते ॥
जेइ हेरा तेइ तहँइ पावा। भा संतोष समुझि मन गावा ॥
तेहि महँ पन्थ कहौं भल गाई। जेहि दूनौ जग छाज बड़ाई ॥
सो बड़ पन्थ मुहम्मद केरा। है निरमल कबिलास बसेरा ॥
—अखरावट दो० १२ चौ० २—४

२ अखरावट दो० १० चौ० २

३ जो नहिं लीन्ह जनम के नाऊँ।
ता कहँ कीन्ह नरक महँ ठाऊँ ॥
—पद्मावत स्तुति खण्ड दो० ११ चौ० ९ तथा
आखिरी कलाम दो ७ चौ ७

४ जो मुख सकति भगति भा नेमा।
होइ लेवार धन बहु प्रेमा ॥
—अखरावट दो २४ चौ ४

कहते हुए उन्होंने बड़ी कुशलता के साथ संकेत किया है।[1] पद्मावत की कथावस्तु में इतिहास और कल्पना दोनों तत्त्वों का सन्तुलित सामंजस्य है। इसमें लौकिक प्रेम अलौकिक की सीमा तक पहुँच गया है। यह काव्य सूफी सिद्धान्तों की अभिव्यक्ति के लिए भी महत्त्वपूर्ण है। सूफी सिद्धांत के अनुसार साधक की जो शरीयत तरीकत हकीकत और मारफित नामक चार अवस्थाएँ मानी गयी हैं। उन सभी अवस्थाओं का जायसी ने अपने पद्मावत में सांगोपांग वर्णन किया है। सूफी साधक की दृष्टि में लौकिक प्रेम अलौकिक प्रेम का प्रथम सोपान है। यही कारण है कि जायसी रूप का अत्यधिक वर्णन करते हैं और प्रेम को एक परम पवित्र वस्तु मानते हैं। उनकी साधना प्रेम की साधना है। प्रेम की प्रशस्ति पर उन्होंने बहुत लिखा है। उनकी दृष्टि में यह प्रेमरत्न बड़ा ही उदात्त एवं गम्भीर है। यह नित्य एकरस सुन्दर एवं एकान्तिक आनन्द प्रद पदार्थ है। इस प्रेम-पथ पर अग्रसर होने वाले पथिकों को अपना सर्वस्व समर्पण करना पड़ता है और भाँति भाँति के अनगिनत कष्ट झेलने पड़ते हैं। पृथ्वी पर अवतीर्ण होकर जिसने प्रेम-पथ को नहीं अपनाया उसका जीवन निरर्थक है। जायसी ने चातक चकोर, मयूर आदि पक्षियों के प्रेम की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। उन्होंने प्रेम-पथ के साधकों के रूप में अनेक स्थलों पर गोपीचन्द भर्तृहरि एवं गोपालनाथ का नामोल्लेख बड़ी ही श्रद्धा एवं भक्ति के साथ किया है। प्रेमाग्नि में प्रज्वलित होने वाले साधकों की पीड़ा पुरस्कार पाकर ही दम लेती है। वह बेकार नहीं होती। जायसी को समस्त संसार के कण-कण में अपने प्रेममय प्रभु की झाँकी दृष्टिगोचर होती है। प्रकृति के प्रांगण में दिखायी पड़ने वाली सारी ज्योति उसी प्रभु की ज्योति से निःसृत है।[2] चिड़ियों

---

१ तन चितउर मन राजा कीन्हा।
हिय सिंघल बुधि पदमिनि चीन्हा।
गुरु सुआ जेइ पंथ देखावा।
बिनु गुरु जगत को निरगुन पावा॥
नागमती यह दुनिया धंधा।
बाँचा सोइ न एहि चित बंधा॥
राघव दूत सोई सैतानू।
माया अलाउदी सुलतानू॥
प्रेम कथा एहि भाँति बिचारहु।
बूझि लेहु जो बूझै पारहु॥
—पद्मावत उपसंहार दो० १ चौ० १७

२ रवि ससि नखत दिपहिं ओही जोती।
रतन पदारथ मानिक मोती॥
जहँ जहँ बिहँसि सुभावहि हँसी।
तहँ तहँ छिटकि जोति परगसी॥
—पं रामचन्द्र शुक्ल त्रिवेणी पृ ९८ में उद्धृत

की मधुर चहचहाहट और नदियों की कलकल ध्वनि में उसी की गुण-गाथा सुनाई पड़ रही है। जायसी ईश्वर को कबीर की तरह केवल भीतर हृदय में ही नहीं देखते हैं[1] प्रत्युत बाह्य प्रकृति के नाना रूपों में भी देखते हैं। उनका ईश्वर सर्वत्र व्याप्त है। वह सबमें प्रतिष्ठित है। संसार की समस्त सत्ताओं का उत्पादक वही है।[2] वह रूप एवं वर्ण से हीन है फिर भी अद्वितीय रूप-सम्पन्न है। वह समस्त संसार का सृजन करने वाला है पर उसका स्रष्टा कोई नहीं है। उसमें विरोधी गुण भी विद्यमान हैं। वह प्राण के अभाव में भी जीवन धारण करता है। हाथ-पैर आँख कान जीभ आदि इन्द्रियों के अभाव में भी उन सबों के व्यापारों का सम्पादन करता है। उसकी कोई निश्चित जगह नहीं है पर संसार के कण-कण में सभी जगहों में वह विद्यमान है।[3] वही इस संसार का सृजन पालन एवं संहार करने वाला है।[4] उसकी सीमाएँ अनन्त हैं। भिन्न-भिन्न स्तर के साधक अपनी भिन्न-भिन्न अनुभूति के आधार पर उसके स्वरूप का भिन्न-भिन्न ढंग से वर्णन करते हैं पर उसके गुण कर्म एवं स्वरूप का यथार्थ मूल्यांकन सर्वथा असम्भव-सा है।[5] जायसी की दृष्टि में उसके वास्तविक स्वरूप से अवगत होना ही यथार्थ ज्ञान है। उसकी ओर से पराङ्मुख होने वाले लोगों को अन्तत भयंकर पश्चात्ताप करना पड़ता है। अतः प्रमाद जड़ता एवं आलस्य का परित्याग कर निरन्तर आवश्यक सचेष्ट एवं सावधान रहते हुए ईश्वरोन्मुख होना चाहिए। ऐसे ही साधक ईश्वर की कृपा के पात्र भी बनते हैं। जायसी ने ईश्वर को हरि विधि गुसाईं देव रुद्र शिव महादेव आदि नामों से सम्बोधित किया है।[6] उन्होंने बैकुण्ठ कैलाश शिवलोक आदि धामों की चर्चा भी की है।[7] उनका ईश्वर सृष्टि का कर्ता अनन्त अनादि सर्वशक्तिमान अजन्मा सर्वव्यापी अलक्ष्य और अवर्णनीय होते हुए भी उनका प्रियतम है। यों सूफी सम्प्रदाय में ईश्वर को पत्नी के रूप में स्वीकृत किया गया है पर जायसी ने उसका वर्णन पत्नी रूप के अतिरिक्त प्रियतम रूप में भी किया है। सूफियों के प्रतिबिम्बवाद सिद्धांत को

---

१ पिउ हिरदय महँ भेंट न होई।
  को रे मिलाव कहौं केहि रोई ॥
  —वही पृ० ६६

२ जेहि के जोति सकल चाँद सुरुज तारा भए।
  तेहि कर रूप अनूप मुहमद बरनि न पाइ किछु ॥
  —अखरावट सो० ४६

३ पदमावत स्तुति खंड दो० ७ चौ० १—दो० ८

४ संजन मइन संहारन जिन कीना सब कैम।
  —आखिरी कलाम दो० २१ (पू०)

५ पुनि हस्ती कर नावँ अँधरन्ह टोवा धाइ के।
  जेइ टोवा जेहि ठावँ मुहमद सो तैसे कहा ॥
  —अखरावट सो० २४

६ अखरावट सो० ५१ आखिरी कलाम दो० १७ चौ० ४ (पू०)

७ आखिरी कलाम दो० ५५ (पू०) अखरावट सो० ३५ चौ० ४ (उ०)

चर्चा उन्होंने अनेकानेक स्थलों पर की है।[1] वस्तुतः यह प्रतिबिम्बवाद अद्वैतवाद का ही प्रतिरूप है जिसका जायसी ने स्पष्ट शब्दों में समर्थन किया है।[2] उनका विश्वास है वेद पुराण कुरान आदि लोक कल्याणकारी हैं। मूर्ति-पूजा को वे व्यर्थ मानते हैं। उनकी दृष्टि में जीव ब्रह्ममय है और संसार नश्वर है। हठयोग रसायनवाद सम्बन्धी बातों में भी उनका पूर्ण विश्वास है। उनकी साधना-पद्धति पर नाथ-सम्प्रदाय का पर्याप्त प्रभाव परिलक्षित होता है। नाथ सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य गोरखनाथ एवं उनके गुरु मत्स्येन्द्रनाथ के नाम भी इनकी रचनाओं में अनेक स्थल पर आये हैं। राज्य त्याग करके योगी बने हुए गोपीचन्द एवं भर्तृहरि का स्मरण भी जायसी ने सम्मानपूर्वक किया है। नाथ पंथ के आदि नाथ भगवान् शिव को वे देवताओं के पिता मानते हैं। उन्हीं की कृपा से राम ने रणभूमि में विजय प्राप्त की है।[3] डा० मुन्शीराम शर्मा के शब्दों में "जायसी ने नाथ पंथियों के योग मार्ग को प्रेम से भक्ति करके उनके ज्ञानकाण्ड को भक्तशक्ति की भूमि पर प्रतिष्ठित किया। इस योग एवं प्रेम ज्ञान एवं भक्ति के सम्मिलन से हठयोग तथा ज्ञान-विज्ञान की शुष्कता एवं नीरसता दूर हुई। प्रभु प्रेम की संजीवनी ने प्रेम के लौकिक पक्ष को भी नवीन जीवन दान दिया और जनता को सदाचार पथ पर चलने के लिए प्रेरित किया। जायसी की यह देन हम सब के लिए अमूल्य है।[4]

वस्तुतः जायसी की दृष्टि में जीव अपने अहंभाव के कारण भगवान् से अलग हो गया है अन्यथा उससे वह एकाकार था। संसार में भोग-सामग्रियाँ पर्याप्त परिमाण में विद्यमान हैं और वे जीव को निरन्तर आकर्षित और आकृष्ट किया करती हैं। हमारी इन्द्रियाँ यहाँ विषयों में फँस गई हैं और हम सांसारिक कामनाओं का परित्याग कर ईश्वरोन्मुख नहीं हो पा रहे हैं। इस्लाम धर्म में जीव को स्वर्ग से पृथक करने वाला शैतान है जिसे जायसी ने नारद नाम से भी अभिहित किया है।[5] वे इस संसार को एक बाजार मानते हैं। यहाँ आकर हमें ऐसी सुन्दर एवं बहुमूल्य सामग्री खरीदनी चाहिए जो हमारे परलोक-पथ के लिए पाथेय बन सके।

---

१ अखरावट दो ४२ ४४

२ (क) सबै जगत दरपन के लेखा।
आपुहि दरपन आपुहि देखा॥
—अखरावट दो १८ चौ० १

(ख) आपहि गुरु आपु भा चेला।
आपुहि सब औ आपु अकेला॥
—अखरावट दो ४७ चौ १

(ग) आपुहि बावन आपु मसि आपुहि लेखनहार।
आपुहि लिखनी आखर आपुहि पण्डित अपार॥
—वही दो १८

३ भक्ति का विकास पृ २४०-२४४

४ २४४ २४१

५ आखिरी कलाम दो० ६ चौ ४५

इस संसार रूपी बाजार में आकर कोई क्रय-विक्रय करके काफी मालामाल होकर महाप्रस्थान करता है और कोई अपनी असावधानी से मूलधन को भी गँवा देता है। मनुष्य इस संसार में भला-बुरा जो भी कर्म करता है उस परलोक में उसी के अनुसार फल भी मिलता है।[1] अतः मनुष्य को इस संसार में आकर पापों का समूल संहार कर पुण्यार्जन करते हुए अपने हृदय को पवित्र एवं स्वच्छ बनाना चाहिए।[2]

जायसी ने महापुरुष गुरु संत आदि के महत्व का प्रतिपादन अनेक स्थलों पर किया है।[3] वे निष्काम कर्मयोग का पूर्ण समर्थन करते हैं और गृहस्थाश्रम में निवास करते हुए ही संन्यास की भावना पर पर्याप्त बल देते हैं।[4] उनकी दृष्टि में अध्यात्म पथ पर अग्रसर होने के लिए साधक को गुरु के शरणागत होना नितान्त अपेक्षित है। साधक के अन्तःकरण में गुरु की कृपा से ही परमेश्वर के प्रति प्रगाढ़ प्रेम का प्रादुर्भाव सम्भव है। वस्तुतः गुरु भृंगी की तरह और चेला पतंगे की तरह है। जिस तरह भृंगी पतंग को अपने रूप में परिणत कर लेता है ठीक उसी तरह गुरु चेला को उसके सांसारिक विषय-वासनाओं से दूषित रूप को दूर कर अपना निर्मल पवित्र एवं सुन्दर रूप प्रदान कर कृतार्थ कर देता है। अतः शिष्य को मन-वचन एवं कर्म से गुरु के चरणों की सेवा में संलग्न रहना चाहिए और उसके व्यक्तित्व में उसका अखण्ड विश्वास होना चाहिए। जिस स्थान पर गुरु अपना पैर रखता हो उस स्थान पर चेला को अपना सिर रखना चाहिए। गुरु शिष्य के अन्तःकरण में प्रभु प्रेम की ज्योति को जाग्रत कर उसके विरह की एक चिनगारी डालता है उसी चिनगारी को अपने हृदय-मन्दिर में अधिकाधिक प्रज्वलित कर लेने में शिष्य की कुशलता एवं कृतार्थता है।[5]

सूर और भक्ति

महाकवि सूरदास जी परम वैष्णव भक्त थे। आप गोस्वामी वल्लभाचार्य जी के शिष्य थे। इनकी भक्ति अधिकांशतः गोस्वामी वल्लभाचार्य जी के दार्शनिक सिद्धान्तों पर ही आधारित है। वल्लभाचार्य ने ब्रह्म के सगुण एवं निर्गुण दोनों रूपों को स्वीकार किया है पर निर्गुण ब्रह्म की (आराधना की) अपेक्षा सगुण ब्रह्म की उपासना को वे सुगम एवं श्रेष्ठ मानते हैं। निर्गुण ब्रह्म चिन्तन मात्र का विषय हो सकता है उसकी आराधना एवं उपासना कदापि सम्भव नहीं है। निर्गुण-मार्गी भक्त भी भगवान् के प्रेम में तन्मय होकर उनमें क्षमा

---

१ इहाँ क बीजु उहाँ सो पावै।
—आखिरी कलाम दो० १० चौ० ७ (उ०)

२ आखिरी कलाम दो ४४ चौ० २

३ अखरावट सो० ११ चौ० २-७

४ घर ही माहँ उदास गृहस्थ सोइ सराहिए।
—अखरावट सो ४८ (उ)

५ गुरु विरह-चिनगी जो मेला।
जो सुलगाइ लेइ सो चेला॥
—पद्मावत प्रेम-खण्ड दो ७ चौ० १

दया करुणा भक्तवत्सलता आदि गुणों का आरोप कर सके हैं किन्तु अव्यक्त में आसक्त साधकों को अधिकतर कष्ट ही होता है।[1] सूर ने भी इसी तथ्य का समर्थन किया है।[2] उन्होंने 'सूरसागर' की सर्वाधिक मर्मस्पर्शिनी कविता 'भ्रमरगीत' की रचना सगुणोपासना के निरूपण एवं निर्गुणोपासना के खण्डन के लिए ही की है। निर्गुणोपासक एवं पूर्ण ज्ञानी योगी कृष्ण-सखा उद्धव को अपने ज्ञान का बड़ा अभिमान था। इसीलिए भगवान् कृष्ण ने उन्हें अपना संदेश देकर अपने विरह में व्याकुल गोपियों के पास भेजा था जिससे उन्हें अपने ज्ञान की सारहीनता का पता लग जाय और उनके नीरस निर्गुणवाद का अहंकार छूट जाय।[3] गोपियाँ इस प्रसंग में उद्धव के समक्ष ज्ञान, योग एवं निर्गुण ब्रह्म की व्यर्थता दिखाकर भक्ति, प्रेम तथा सगुण ब्रह्म की उपासना का प्रतिपादन बड़ी ही कुशलतापूर्वक करती हैं।[1] उनके प्रेम के उच्च आदर्श एवं सच्ची भक्ति-भावना की तन्मयता को देखकर ज्ञान निष्ठा के पण्डित उद्धव भी उन्हीं के रंग में रंग जाते हैं।[2] उनके नियम व्रत छूट जाते हैं और वे कृष्ण का गुण-गान करने लगते हैं। यहाँ तक कि वे गोपियों के चरणों की धूल लेने को लालायित हो जाते हैं। उद्धव भगवान् से प्रार्थना करते हैं कि वे उन्हें ब्रज की लता-पता बना दें जिससे गोपियाँ उनके ऊपर से होकर चलें और उन्हें उनकी चरण-धूल के स्पर्श का सौभाग्य उपलब्ध हो। भ्रमरगीत प्रसंग के अन्त में उद्धव पर गोपियों की यह विजय वस्तुतः निर्गुणवाद पर सगुणवाद की, ज्ञान पर भक्ति की तथा योग पर प्रेम की विजय है।

सूरदास का भक्ति-मार्ग पुष्टि-मार्ग कहा जाता है। इसमें भगवान् की कृपा से भक्त उसके आनन्दधाम में प्रवेश पाता है। वस्तुतः पुष्टि-भक्ति की प्राप्ति भगवान् के अनुग्रह से

---

१ क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥ गीता १२.५

२ अबिगत-गति कछु कहत न आवै।
ज्यौं गूँगे मीठे फल कौ रस अन्तरगत ही भावै।
परम स्वाद सबही सु निरन्तर अमित तोष उपजावै।
मन-बानी कौं अगम-अगोचर सो जानै जो पावै।
रूप रेख-गुन-जाति-जुगति-बिनु निरालम्ब कित धावै।
सब बिधि अगम बिचारहिं तातैं सूर सगुन-पद गावै।
—सूरसागर, प्रथम स्कंध पद—२

३ यदुपति जानि उद्धव रीति।
जिहिं प्रगट निज सखा ...... आइ क्यौं समुझाइ।
सूर प्रभु मन यहै आनी ब्रजहिं देउँ पठाइ॥
—सूरसागर, दशमस्कन्ध पद ३४११।

१ सूरसागर दशम स्कंध पद ३२ ४ ३५२८ ३६६? ३७१९ ३७२५, ३७२९ ३८१ ३८२४ ३८२८ ३८२९ इत्यादि।

२ हौं हूँ हरि जसोदा महरि केतिक गुपनी बाई।
न जानौं यह जोग बापुरो कहँ तें नयौ चलाई॥

ही सम्भव है। इसमें भक्त को किसी साधन की अपेक्षा नहीं रहती है। वह परमात्मा की कृपा पर ही पूर्णतया अवलम्बित रहता है। इसीलिए महात्मा सूरदास जी परमात्मा की कृपा के लिए लालायित हैं।[1] वे अपने अनेकानेक पदों में प्रभु-कृपा की याचना एवं अभिलाषा करते हैं। पर अपने को विषय-वासना में तल्लीन देखकर वे भयभीत हो जाते हैं कि कदाचित् प्रभु उन पर कृपा न करेंगे। फिर भी वे उनको "पतितपावन" जानकर साहस करके उनकी शरण में जाते ही हैं।[2]

पुष्टि मार्गीय भक्ति का सीधा सम्बन्ध भगवान् की लीला में भाग लेकर उनकी सेवा करने से है। यह मार्ग प्रधान रूप से भगवान् की सेवा को ही महत्त्व प्रदान करता है। सूरदास ने अपने सूरसागर में इसका अत्यधिक वर्णन किया है। पुष्टि मार्ग वर्ण एवं आश्रम की मर्यादा की कुछ भी मान्यता नहीं है।[3] इसमें सभी वर्ण के लोगों को भगवान् की भक्ति पूजा एवं कीर्तन करने का पूर्ण अधिकार प्राप्त है। भक्त किसी भी वर्ण एवं आश्रम का क्यों नहीं हो उसका प्रधान कर्त्तव्य प्रभु-सेवा है। सूर ने अपने अनेकानेक पदों में जाति-पाँति की निरर्थकता का प्रतिपादन किया है। उन्होंने ज्ञान कर्म उपासना आदि साधनों को भी भ्रमात्मक माना है। अपने गुरु स्वामी वल्लभाचार्य से हरि लीला के रहस्य को अवगत कर लेने के पश्चात् वे समस्त साधनों को तिलांजलि देकर हरि-लीला के गायन में ही तल्लीन हो गये थे।[4]

वस्तुतः पुष्टि मार्ग में हरि लीला की ही सर्वाधिक प्रधानता थी। कृष्ण की लीला में भाग लेना भक्तों का सर्वस्व था। ये सब लीलायें भक्त और भगवान्, जीव और ब्रह्म के व्यवधान को छिन्न-भिन्न करने के साधन हैं। इन लीलाओं में राधा कृष्ण गोपियों एवं ग्वाल-बालों को अधिक महत्त्व प्रदान किया जाता है। कृष्ण की यह लीला जो ब्रजभूमि में हुई, शाश्वत एवं चिरन्तन है। इसके समक्ष मुक्ति का स्थान तुच्छातितुच्छ है। वृन्दावन गोलोक का प्रतीक है जहाँ सदैव आनन्दमय रास होता रहता है। श्रीकृष्ण पूर्ण ब्रह्म हैं राधा उनकी आह्लादिनी शक्ति और गोपियाँ भक्त आत्माएँ हैं। प्रत्येक भक्त अपने को इस लीला का अंश समझता है। कृष्ण प्रतिदिन प्रातः काल उठते कलेवा करते गाय चराते गोदोहन करते

---

१ सोइ कछु कीजै दीन-दयाल।
जाते जन छन चरन न छाँड़ै करुना-सागर भक्त रसाल।
—सूरसागर प्रथम स्कंध पद १२७

२ पतित पावन जानि सरन आयौ।
—सूरसागर प्रथम स्कंध पद ११६

३ सूरसागर, प्रथम स्कंध पद १२

४ करम-जोग पुनि ज्ञान-उपासन सबही भ्रम भरमायौ।
श्री वल्लभ गुरु तत्त्व सुनायौ लीला भेद बतायौ॥
ता दिन तें हरि-लीला गाई, एक लक्ष पद बन्द।
ताको सार "सूर" सारावलि गावत अति आनन्द॥
—सूर-सारावली पद ११ २-११०१

यमुना तट पर क्रीड़ा करते संध्या समय घर लौटने और शयन करते हैं। सबेरे उठते ही उनको जगाना मुँह धुमाना कलेवा कराना आदि भक्तों की सेवा समझी जाती थी। मन वचन एवं कर्म से कृष्ण की विविध लीलाओं में योगदान प्रदान करना उपासकों का परम धर्म था। प्रतिदिन प्रतिमास और प्रति ऋतु में कृष्ण के जीवन की विशेष-विशेष बातों के लिए उत्सव मनाये जाते थे। वृन्दावन मथुरा गोकुल बरसाना आदि मन्दिरों में आज भी समयानुसार वसन्तोत्सव मनाये जाते हैं फाग खेले जाते हैं हिंडोले और झूलन की झाँकियाँ प्रस्तुत की जाती हैं तथा रास-लीला होती रहती है। इस तरह सूर प्रतिपादित पुष्टि भक्ति सर्वथा प्रवृत्ति-मूलक है। इसमें निराशा नहीं है बल्कि जीवन की आनन्ददायिनी धारा का मंगल स्रोत विद्यमान है। भगवान् की विविध लीलाओं में भाग लेकर, उनकी सेवा कर *भगवत्प्रेम एवं भगवत् कृपा की प्राप्ति पुष्टि मार्गीय भक्ति का प्रधान सन्देश है।*

गोस्वामी वल्लभाचार्य जी ने पुष्टि भक्ति की तीन अवस्थाएँ मानी हैं [१]

स्नेह

आसक्ति, और

व्यसन।

स्नेह की अवस्था में संसार में सम्पूर्ण सम्बन्धों से विमुख होकर भगवान् की ओर भक्त का मन आकृष्ट हो जाता है। आसक्ति की अवस्था में मिलन की विकलता रहती है। यह विरह की अवस्था है। इसमें भगवान् से सम्बन्ध न रखने वाले पदार्थों से घृणा होती है। व्यसन में प्रत्येक पल प्रिय भगवान् का ध्यान बना रहता है। अन्य वस्तु अच्छी नहीं लगती। वस्तुतः शनैः शनैः स्नेह ही आसक्ति में और आसक्ति परमात्मा के व्यसन अर्थात् पूर्ण प्रेम में परिणत हो जाती है। सूर की रचनाओं में इन अवस्थाओं को प्रकट करने वाले अनेक पद वर्तमान हैं। उन्होंने राधा के स्नेह में भक्ति के विकास का यह क्रम बड़े ही सुन्दर ढंग से चित्रित किया है। सर्वप्रथम राधा और कृष्ण में स्नेह अंकुरित होता है।[२] फिर यही स्नेह

---

१ "साहित्यिक निबन्धावली" में प्रो० जयनाथ राव शर्मा का निबन्ध सूर की भक्ति-भावना और दर्शन पृ० ७२

२ खेलत हरि निकसे ब्रज-खोरी।

× × × ×

गये स्याम रवि-तनया के तट अंग लसति चन्दन की खोरी।
औचक ही देखी तहँ राधा नैन बिसाल भाल दिये रोरी।

× × × ×

सूर स्याम देखत ही रीझे, नैन-नैन मिलि परी ठगोरी॥
—सूरसागर, दशम स्कंध पद १७१

आसक्ति का रूप धारण करता है।[१] और अन्ततः यह आसक्ति व्यसन के रूप में परिवर्तित हो जाती है।[२]

स्वामी वल्लभाचार्य ने ब्रह्म में अनेकानेक शुभ गुणों का निवास माना है। सूर भी पूर्णब्रह्म श्रीकृष्ण को अनेकानेक शुभ गुणों का निवास-स्थान बतलाते हैं। उन्होंने सूरसागर के प्रथम स्कंध के लगभग पच्चीस प्रारम्भिक पदों में कृष्ण की कृपालुता कृतज्ञता क्षमाशीलता आदि गुणों का सविस्तार वर्णन किया है। उनके कृष्ण सर्वशक्तिमान हैं। वे जगत्पिता हैं, अपराधी हैं तथा भक्त की मूढ़ता पर ध्यान नहीं देते हैं। भक्तों को वे अकारण उपकार करते हैं तथा उनसे स्वार्थ रहित प्रेम रखते हैं। उनकी कृपा से बहरा व्यक्ति सुनने लगता है गूँगा बोलने लगता है तथा दरिद्र सिर पर छत्र धारण कर चलने लगता है।[३] उनमें जाति कुल एवं गोत्र का भेद नहीं है। वे सबके साथ समान भाव से व्यवहार करने वाले हैं।[४] वे शरणागतवत्सल हैं।[५] अपने भक्तों के कष्ट दूर करने वाले हैं।[६] विपत्ति पड़ने पर भक्त जब भी उन्हें स्मरण करता है तभी वे उसके समक्ष उपस्थित हो जाते हैं।[७] वे वही करते हैं जिससे उनके भक्तों को आनन्द मिलता है।[८] वे करुणामय हैं तथा उनके स्वभाव में उदारता एवं गम्भीरता है। भक्त के थोड़े से भी गुण को वे बहुत अधिक मान लेते हैं और उसके बड़े से भी बड़े दोष को नगण्य समझते हैं।[९] उनकी माया समग्र ब्रह्माण्ड को वशीभूत करने वाली है।[१०] भगवान् कृष्ण का जन्म साधारण मनुष्यों के समान नहीं होता। वे अजन्मा हैं। अतः अपने जन्मकाल में वे अपनी माता के समक्ष अपने चारों आयुधों—शंख चक्र गदा पद्म के साथ सहसा आविर्भूत हो जाते हैं।[११] वे सर्वज्ञ हैं सर्वशक्तिमान् हैं असंख्य राक्षसों के संहार करने में समर्थ हैं। फिर भी वे साधारण मनुष्यों के लड़कों की तरह लीला करते हैं।[१२] अपनी माता से मक्खन रोटी लेने का और आकाश में उदित चन्द्रमा को खिलौना बनाने का

---

१ नागरि मन गई अरुझाइ।
अति बिरह तनु भई व्याकुल घर न नैंकु सुहाइ॥
—वही पद ६०८

२ राधा नन्द-नन्दन अनुरागी।
भय चिन्ता हिरदै नहिं एकौ स्याम-रंग रस पागी॥
—वही पद १६०१

३ सूरसागर, प्रथम स्कंध पद–१
४ वही पद १२
५ वही पद १४
६ वही पद ११
७ सूरसागर, प्रथम स्कंध पद ७
८ वही पद १६
९ वही पद ८
१० वही पद ४१
११ सूरसागर दशम स्कंध पद ६
१२ वही पद १०२

हठ करते हैं।[१] बाल सुलभ ईर्ष्या की भावना प्रकट करते हैं। मित्रों सहित गोपियों के गृह में प्रवेश कर मक्खन चुराते हैं और उनका दधिमाण्ड फोड़ते हैं। वे साधारण मानव की तरह अपनी प्यारी गोपियों के साथ लीला करते हैं। कभी उन्हें पनघट पर छेड़ते हैं, कभी उनसे दधि का दान लेते हैं और कभी उनके चीर हरण करते हैं। इन लीलाओं के अतिरिक्त समय-समय पर वे अपने अलौकिक पराक्रम का भी प्रदर्शन करते हैं। अपने बचपन में ही वे पूतना श्रीधर शकटासुर, बकासुर, अघासुर आदि दुष्टों को मार डालते हैं। बड़े होने पर काली नाग को नाथते हैं और कंस जैसे आततायी सम्राट का संहार करते हैं। इतना अलौकिक पराक्रम रखते हुए भी प्रेम के महत्त्व को पहचानने वाले सूर के प्रेममय कृष्ण अपनी माता के बाँधने पर ऊखल में बँध जाते हैं। उनको मिट्टी खाते देख माता जब उनके मुख से मिट्टी निकालने लगती हैं तो वे अपने मुख के अन्तर्गत ही समग्र ब्रह्माण्ड का उन्हें दर्शन करा देते हैं। क्रुद्ध होकर इन्द्र के भयंकर वृष्टि करने पर वे अपने बायें हाथ की कानी उँगली पर गोवर्द्धन पर्वत को धारण कर लेते हैं। गुरु दक्षिणा में वे अपने गुरु के मृतक पुत्र को लाकर अर्पित कर देते हैं। इनकी मुरली की मधुर ध्वनि स्वर्गलोक तक पहुँच कर जड़ चेतन सबको मग्न मुग्ध कर देती है। इस तरह कृष्ण अवसर-अवसर पर अपने अलौकिक ऐश्वर्य को भी प्रदर्शित करने से नहीं चूकते।

सूर ने अपने आराध्य देव कृष्ण के समग्र व्यक्तित्व का अंकन नहीं किया है। उनकी वृत्ति कृष्ण के बाल एवं किशोर रूप के वर्णन में ही विशेष रमी है। भगवान् कृष्ण के शील शक्ति एवं सौन्दर्य इन तीन विभूतियों का उद्घाटन करते हुए भी अविस्तर उन्होंने बड़ी ही तन्मयता के साथ नख से शिख तक उनके अनुपम एवं अद्वितीय सौन्दर्य का ही चित्रांकन किया है। सूर के श्रीकृष्ण अद्वैत, इन्द्रियातीत रूपरहित और निराकार भी हैं वे अलख हैं अनिर्वचनीय हैं। जब कभी यह अलख ब्रह्म अपने व्यक्त स्वरूप को मर्यादित करना चाहता है तब वह तीनों लोकों का विस्तार कर उन्हें अपनी ज्योति से आलोकित करता है। उसके विराट तथा ज्योति स्वरूप का वर्णन वेदों में भी हुआ है। वेदों के वर्णन के अनुसार सूर ने भी उसके स्वरूप का कुछ वर्णन किया है।[२]

भगवान् कृष्ण का ही दूसरा स्वरूप राधा है। वह अनादि है, अनुपम है तथा निरन्तर श्रीकृष्ण से मिली हुई रहती है। राधा और कृष्ण के बीच कोई अन्तर नहीं है।[१] सूर ने

---

१ वही पद १६५ तथा २८८

२ सूरसागर दशम स्कंध पद ४१००-४१०१

१ राधा माधव भेंट भई।
राधा माधव माधव राधा कीट भृंग गति ह्वै जु गई।
माधव राधा के रंग राचे राधा माधव रंग रई।
माधव राधा प्रीति निरन्तर, रसना करि सो कहि न गई।
बिहँसि कह्यौ हम तुम नहिं अन्तर, यह कहि कै उन ब्रज पठई।
सूरदास प्रभु राधा माधव ब्रज-बिहार नित नई-नई।।
—सूरसागर, दशम स्कंध पद ४२९१

राधा और कृष्ण को प्रकृति और पुरुष का अवतार माना है। वे दो नहीं हैं बल्कि एक हैं और दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। यदि कृष्ण सौन्दर्य हैं तो राधा उनकी आह्लादिनी शक्ति है। सूर ने उनके शाश्वत एकत्व एवं चिरन्तन साहचर्य पर अनेकानेक बार बल दिया है। यों वैष्णव-साहित्य में राधा कृष्ण की प्रियतमा के रूप में बहुत पीछे आती हैं पर सूर की राधा कृष्ण के जीवन में सहसा नहीं आतीं। सूर-साहित्य में राधा कृष्ण की बालसंगिनी के रूप में चित्रित हैं। राधा और कृष्ण का प्रेम क्रमिक रूप से विकसित होता है। उसमें 'रूप लिप्सा और साहचर्य दोनों का योग है।[1] बचपन में जब कृष्ण गोकुल की गलियों में खेलने को निकलते हैं तभी उन्हें एकाएक यमुना के तट पर राधा का साक्षात्कार हो जाता है।[2] वे परस्पर खेलते हुए बड़े होते हैं। इस बाल-स्नेह में ही सूर ने दाम्पत्य-भाव का बीज वपन कर दिया है। बाल क्रीड़ा के सखा-सखी आगे चलकर यौवन-क्रीड़ा के सखा-सखी हो जाते हैं।[3] सूर की दृष्टि में ब्रह्म के इन स्वरूपों को समझने के लिए एकमात्र साधन भक्ति ही है। वस्तुतः केवल कृष्ण की कृपा से ही जीव का कल्याण सम्भव हो सकता है और उनकी उस कृपा की प्राप्ति भक्ति से ही होती है। अतः सूर ने संसार की क्षणभंगुरता एवं नश्वरता का प्रभावोत्पादक चित्रांकन करते हुए मानव जीवन के लिए भक्ति की सर्वाधिक आवश्यकता घोषित की है। उनका कथन है कि यह संसार निश्चितरूप से नश्वर है। एक न एक दिन सबों की मृत्यु अवश्यंभावी है। इस शरीर से प्राण-पक्षी के उड़ जाने पर यह शरीर जलकर भस्मीभूत हो जायगा।[4] सत्य-असत्य के प्रयोग से संकलित सारी सम्पत्ति स्वर्ण जटित सुन्दर भवन स्त्री पुत्र स्वजन बन्धु-बान्धव सब यहीं छूट जायेंगे। पुत्र मित्र कलत्र सब तभी तक मनुष्य के सहायक हैं जब तक वह अर्थोपार्जन करता हुआ जीवित है। वस्तुतः मरने के उप रान्त भगवान् को छोड़कर अपना कोई नहीं है। परलोक मे भगवद् भजन के अतिरिक्त अन्य कोई सहायक नहीं होता। तो फिर दिनरात अथक परिश्रम करके अर्थोपार्जन करने से क्या लाभ है? निरन्तर विषय-वासनाओं में आसक्त रहने का क्या प्रयोजन है? अतः हमें संसार के सभी व्यापारों से पराङ्मुख होकर भगवच्चरणों की अर्चना एवं नाम स्मरण में तल्लीन रहना चाहिए क्योंकि एकमात्र भगवान् ही हमारे अपने हैं। हमारी रक्षा एवं उद्धार का उत्तरदायित्व उन्हीं पर है।[5] हमें संसार की मृग-मरीचिका को छोड़कर उन्हीं के पीछे दौड़ना चाहिए।

---

१ पं० रामचन्द्र शुक्ल त्रिवेदी पृ० ८६

२ सूरसागर दशम स्कंध पद ६७ १७८ १७६

३ पं० रामचन्द्र शुक्ल त्रिवेदी पृ ८६

४ जा दिन मन पंछी उड़ि जैहै।
   ता दिन तेरे तन तरुवर के सबै पात झरि जैहैं॥
   ×   ×   ×
   ×   ×   ×
   सूरदास भगवन्त भजन बिनु वृथा सु जनम गँवैहै॥
   —सूरसागर प्रथम स्कंध पृ० ८६

५ सूरसागर द्वितीय स्कंध पद १०-१२

उन्हीं के चरणों की अनन्य भक्ति करनी चाहिए। उन्हीं की सेवा में सतत् संलग्न रहना चाहिए हमें सब कोई छोड़ दे तो छोड़ दे सब कोई धोखा दे दे तो द दे पर भगवान् हमें कभी नहीं छोड़ते कभी धोखा नहीं देते।[1] जिस किसी भाव से सम्भव हो जीव को उनकी ओर उन्मुख होना चाहिए। कृष्ण की सच्ची प्रेमिकाएँ गोपियाँ माधुर्य भाव से उनकी ओर उन्मुख हुईं। ग्वाल बालों ने सख्य भाव से उनकी उपासना की। नन्द-यशोदा एवं वसुदेव-देवकी ने वात्सल्य भाव से उनसे स्नेह किया। आततायी कंस जरासंध शिशुपाल पूतना आदि शत्रु भाव से उनकी ओर उन्मुख हुए। पर सबों को समान भाव से मुक्ति की प्राप्ति हुई। अतः किसी तरह भगवान् के प्रति आकर्षण होना जीव के लिए कल्याणकारक है।

सूर ने अपनी यह आस्था व्यक्त की है कि गोपाल श्रीकृष्ण के गुणों के गायन से जो सुख मिलता है वह बहुत से जप-तप आदि साधनों के सम्पन्न करने तथा करोड़ों तीर्थों में स्नान करने से भी नहीं मिल पाता।[2] वस्तुतः भगवान् का सच्चा भक्त भगवान् को छोड़कर दूसरे किसी को भी नहीं चाहता है। वह अपने हृदय के काम-क्रोध आदि विकारों तथा विविध भोगलिप्साओं का बलिदान कर देता है। उसके निर्मल हृदय-मन्दिर में ईश्वर को छोड़कर और कोई वस्तु नहीं रह जाती। जैसे सरिता समुद्र में मिलकर पुनः प्रवाहित नहीं होती वैसे ही भक्त भगवान् में मिलकर पूर्ण काम हो जाता है। उसका मन कहीं दूसरी जगह नहीं जाता। भक्ति की इस परम स्थिति के प्रकट होने पर भक्त के अन्तःकरण में जो आह्लाद उत्पन्न होता है, उसकी अभिव्यक्ति 'मूकास्वादनवत्' अनिर्वचनीय है।[3]

श्रीमद्भागवत में साधक के स्वाभावानुसार भक्ति चार प्रकार की बतलायी गयी है। इस प्रकार का विभाजन वल्लभ सम्प्रदाय में भी हुआ है। सूर ने भी भक्ति के चार ही प्रकार बतलाये हैं —

> 'तमोगुणी
> रजोगुणी
> सतोगुणी और
> मुक्त या निर्गुण या शुद्धाधार।

---

१ वही पद २२३०।

२ जो सुख होत गुपालहिं गाएँ।
सो सुख होत न जप-तप कीन्हें, कोटिक तीरथ न्हाएँ।
—सूरसागर, द्वितीय स्कंध पद पद ९

३ 'अति सुकुमार कोमल रस कीनी सो रस जाहि पियावे (हो)।
ज्यों गूँगो गुर खाइ अधिक रस सुख-सवाद न बतावे (हो)।
जैसें सरिता मिले सिन्धु को बहुरि प्रवाह न आवे (हो)।
ऐसें सूर कमल-लोचन तैं चित नहिं अनत डोलावे (हो)॥
—वही पद १०

तमोगुणी भक्त भगवान् से अपने शत्रुओं के भयकार एवं संहार की प्रार्थना करता है। रजोगुणी भक्त धन-कुटुम्ब चाहता है और भगवान् से व्यक्तिगत कल्याण की कामना करता है। सतोगुणी भक्त मुक्ति चाहता है। तदर्थ वह संतों को भगवान् का स्वरूप समझ कर उनकी सेवा में संलग्न रहता है। भगवान से वह संतों का सम्पर्क प्रदान करने की याचना करता है। मुक्त भक्ति का भक्त मुक्ति को भी नहीं चाहता है। यह अनन्य भक्ति निष्काम भाव से भगवान् के चरणारविन्द में प्रेम करता है। उसका न कोई शत्रु होता है और न मित्र। यह केवल भगवान् के दर्शन मात्र से ही परम सुख का अनुभव करता है। ऐसे निष्कामभक्तों को फिर संसार में जन्म धारण नहीं करना पड़ता। वस्तुतः सूर प्रतिपादित भक्तों के ये चारों प्रकार भक्तों के आध्यात्मिक एवं नैतिक उत्थान की क्रमिक अवस्थाएँ हैं। इनमें भक्त क्रमशः सकामता से निष्कामता की ओर अग्रसर होता है।[1]

वल्लभ मत में श्रीमद्भगवान की नवधा भक्ति के अतिरिक्त इसको प्रेमलक्षणा भक्ति कही गयी है। इसी से भगवान् के स्वरूपानन्द की उपलब्धि होती है। सूर ने नवधा भक्ति और इसकी प्रेम लक्षणा भक्ति का भी उल्लेख किया है। उनके प्रेममय भगवान् प्रेम के पाश में आबद्ध हैं। प्रेम के ही कारण उन्होंने यशोदा के स्तनों का दुग्ध पान किया। देवकी के गर्भ में निवास किया और गोवर्द्धन पर्वत को धारण किया।[2] सूर ने भक्तों के स्वरूप एवं महत्त्व का मूल्यांकन करते हुए अनेकानेक पदों में उनकी भूरि भूरि प्रशंसा की है। भक्त सतत् भगवत गुण-गान में तल्लीन रहता है। सांसारिक वस्तुओं की उपलब्धि एवं अनुपलब्धि से उसे हर्ष-विषाद नहीं होता। मधुर भाषण शीतलता समता आदि उसके व्यक्तित्व की विशिष्टता है।[3] वस्तुतः भगवान् भक्तों के हैं और भक्त भगवान् के हैं। जहाँ-जहाँ भक्तों पर विपत्ति आती है वहाँ-वहाँ जाकर वे भक्तवत्सल भगवान् उनकी विपत्तियों को विध्वस्त कर देते हैं। भक्तों की पराजय को भगवान् अपनी पराजय और उनकी विजय मानते हैं।[4] भक्त संसार सागर में कभी नहीं डूबते। समस्त संसार भी शत्रु होकर उसका बाल बांका

---

१ 'भक्ति भक्ति चारि परकार सत रज तम गुन सुद्धा सार।

× × ×

भक्ति सात्त्विकी चाहत मुक्ति। रजो गुनी धन कुटुम्बानुरक्ति।
तमो गुनी चाहै या भाइ। मम बैरी क्यों हूँ मरि जाइ।
सुद्धा भक्ति मोहिं की चाहै। मुक्तिहुँ की सो नहिं अवगाहै।
मन-क्रम-बच मम सेवा करै। मन तैं सब आसा परिहरै।
ऐसौ भक्त सदा मोहिं प्यारौ। इक छिन तातैं रहौं न न्यारौ।'
—वही तृतीय स्कंध पद ११ पृ० १११

२ वही दशम स्कंध पद २ १४—१०१७

३ वही द्वितीय स्कंध पद १८

४ वही प्रथम स्कंध पद १७२

तक नहीं कर सकता ।[1] जिसने भगवद्भजन नहीं किया, उस भक्ति शून्य हृदय वाले व्यक्ति को चौरासी लाख योनियों में भटकना पड़ता है ।[2] वस्तुतः उसका सम्पूर्ण जीवन शूकर और कूकर के सदृश है ।[3] सूर की दृष्टि में भक्त गृहस्थ भी हो सकते हैं और विरक्त भी । इन दोनों ही कोटि के भक्तों के लिए कामनाओं एवं विषय-वासनाओं के परित्याग तथा भगवच्चरणों में प्रगाढ़ एवं अनन्य प्रेम की आत्यन्तिक आवश्यकता है । विरक्त भक्त के अन्तःकरण में तो भोजन एवं वस्त्र की भी चिन्ता नहीं होनी चाहिए । विश्वम्भर भगवान् ने उसके भोजन के लिए जंगलों में फल उत्पन्न किये हैं । उसके पीने के लिए झरनों एवं नदियों में जल भरे हैं । पात्र के लिए उसने हाथों का निर्माण किया है और वस्त्रों के लिए वल्कलों की रचना की है । पर्वत की कन्दराएँ उसके भक्तों के लिए निवास-गृह हैं और शयन करने के लिए पृथ्वी रूपी विस्तृत शय्या विद्यमान है । अतः उसे चिन्तामुक्त होकर भजन करना चाहिए । एक साधारण मनुष्य को अपने द्वार पर बँधे हुए पशुओं के पालन-पोषण की चिन्ता लगी रहती है तो फिर अखिल विश्व का पालन-पोषण करने वाले भगवान् अपने भक्तों का पालन-पोषण कैसे नहीं करेंगे । मातृ-कुक्षि में स्थित शिशु की रक्षा के निमित्त रुधिर को क्षीर के रूप में परिणत करने वाले परमपिता परमेश्वर अपने प्रेम में तल्लीन रहने वाले भक्तों की अवहेलना कदापि नहीं कर सकते । अतः विरक्त भक्तों को पुत्र मित्र कलत्र वित्त वसन-असन आदि की आसक्ति एवं चिन्ता त्याग कर एक मात्र भगवान् के चरणों का आश्रय ग्रहण कर लेना चाहिए ।[4] सूर ने भगवान् के अविचल प्रेम में तन्मय रहकर चिरन्तन आनन्द के उपभोग के आकांक्षी भक्तों को क्रमशः यम नियम आसन प्राणायाम प्रत्याहार, धारणा ध्यान और समाधि अवस्था जैसे अष्टांग योग के अभ्यास की साधना की भी सलाह दी है ।[5]

गृहस्थ भक्तों के लिए सूर ने भगवान् के नाम को बड़ा भारी सहारा बतलाया है । उन्होंने अपने अनेकानेक पदों में नाम महिमा का प्रतिपादन करते हुए दिनारात भक्तों को भगवान् के नाम को स्मरण करते रहने का आदेश दिया है ।[6] वे उन्हें साधु-संतों की संगति में रहने को कहते हैं । उनके मन वचन एवं कर्म में पवित्रता तथा एकता अपेक्षित है । उन्हें पाप कर्म आलस्य अधिक द्रव्य-संचय की वासना भगवान् से विमुख पुरुषों के संसर्ग आदि दुर्गुणों का परित्याग कर देना चाहिए ।[7] उन्हें जितना लाभ हो उसी से संतोष करना

---

१ वही प्रथम स्कंध पद ११–१६ पद १२६
२ वही द्वितीय स्कंध पद ११
३ वही द्वितीय स्कंध, पद १४
४ सूरसागर, द्वितीय स्कंध पद २
५ वही पद २१
६ वही प्रथम स्कंध पद ६०-२११–२१२ २६७ ३०६ द्वितीय स्कंध ३४१
७ वही प्रथम स्कंध पद ३१२

चाहिए तथा अपने अपराधों की अनुभूति करते हुए प्रतिदिन भगवान् के सगुण स्वरूप का ध्यान करना चाहिए। सूर ने भगवान के नखशिख ध्यान की विधि भी वर्णित की है। यदि गृहस्थ भक्त दीर्घकाल तक यह ध्यान करता रहे तो यह स्वाभाविक हो जाता है और आगे चलकर समस्त सृष्टि में उसे केवल भगवान् का ही स्वरूप दृष्टिगोचर होने लगता है। गाहस्थ्य-जीवन में निवास करते हुए भी वह स्त्री-पुत्र धन-वैभव आदि से उसी प्रकार अछूता रहता है जैसे कमल का पत्र जल में निवास करते हुए भी जल से अलिप्त रहता है।

सूर ने भगवान् के चरणों में आश्रय नहीं ग्रहण करने से हानि तथा आश्रय ग्रहण करने से लाभ का अनेकानेक पदों में सविस्तार वर्णन किया है।[1] वे भक्ति के बहुत ऊँचे धरातल पर प्रतिष्ठित थे। उनके पदों में भगवान् के चरणों में निवास पाने की उद्दाम आकांक्षा विद्यमान है।[2] उनके आत्म निवेदन एवं पश्चात्ताप के पदों से उनके हृदय की प्रगाढ़ भक्ति प्रकट होती है।[3] सूर की एकमात्र यही लालसा है कि भगवान् जैसे चाहे, वैसे उन्हें रखें पर अपने चरण कमलों से एक क्षण के लिए भी अलग न करें।[4] सूर का मन दूसरी जगह कहीं भी सुख न पाकर के जहाज के पक्षी की भाँति भगवान् के चरणों में ही सुख की प्राप्ति करता था।[5] वे बारम्बार अपने समक्ष अजामिल गणिका व्याध आदि प्रख्यात पतितों की भक्ति परक पौराणिक कथाओं को उद्धृत करते हुए धैर्य धारण करते हैं कि जिस पतित पावन दयालु भगवान् ने इन पतितों का उद्धार किया है, वही निश्चय ही उनका भी उद्धार करेगा।[6] अपने जीवन के अन्तिम क्षण में भी उन्होंने 'भरोसो दृढ़ इन चरनन केरौ' एवं खंजन नैन सुरंग रस माते पदों को गाते हुए ही इस असार संसार से अपना महाप्रयाण सम्पन्न किया।

यों सूर वल्लभाचार्य के शिष्य हैं और सगुण-भक्ति-मार्ग के आराधक हैं पर जब वे भक्ति के आवेश में आते हैं तो किसी भी बन्धन में नहीं रहते। वे हर प्रकार के बन्धनों से ऊपर उठ जाते हैं और साम्प्रदायिक न रहकर सार्वभौम बन जाते हैं। उन्होंने अपने गुरु वल्लभाचार्य के सिद्धान्तों का अनुकरण करते हुए भी उन्हीं तक अपने को सीमित नहीं रखकर प्रपत्ति के

१ सूरसागर, प्रथम स्कंध २२१ पद संख्या से ३३९ तक
२ वही पद १४ १८ ६६ १०० १ ६
३ वही पद १३० १४१ १४२ २१९ इत्यादि
४ वही पद १६१
५ वही पद १६८
६ द्विज कुल पतित अजामिल विषयी गनिका हाथ बिकायौ।
मुत-हित नाम लियौ नारायन सो बैकुंठ पठायौ।
—वही पद १०४
द्रष्टव्य पद २७ ९६ ११३ ११६ १२२

छः अंगों का भी सांगोपांग वर्णन किया है।[1] सूर ने माया का जो वर्णन किया है वह वल्लभाचार्य की अविद्या भी कही जा सकती है और शंकराचार्य की माया भी। इसी प्रकार उनके कुछ ऐसे पद भी हैं जो निर्गुण भक्ति-मार्गी कवियों के पदों की तरह रहस्यवाद से भी संबद्ध हैं। पर सूर के ये पद निर्गुण-मार्गी कवियों के पदों की भाँति धूमिल अस्पष्ट एवं कोरी कल्पना की उपज मात्र नहीं हैं, प्रत्युत उनकी प्रत्येक पंक्ति में रसपूर्णता और प्रेम का प्रभावशाली उद्गार विद्यमान है।[2] इस तरह सूर केवल सम्प्रदाय की परिधि में ही घिरकर नहीं रहे। उनकी भक्ति साम्प्रदायिकता की परिधि का अतिक्रमण कर सार्वदेशिक बन गयी है।

---

१ (क) आनुकूल्य-संकल्प

जैसैं राखहु तैसैं रहौं।
जानत हौ दुख-सुख सब जन के मुखि करि कहा कहौं।
—वही पद १६१

(ख) प्रातिकूल्य-वर्जन

सोइ प्रभु कीजै दीन-दयालु।
जातैं जन छन चरन न छाँड़ै करुना सागर भक्त रसाल।
—वही पद १२७

तजौ मन हरि विमुखनि कौ संग।
—वही पद ३३२

(ग) ईश्वर द्वारा रक्षा में विश्वास—

तुम हरि, साँकरे के साथी।
सुनत पुकार, परम आतुर ह्वै दौरि छुड़ायौ हाथी।
—वही, पद ११२

(घ) गोप्तृत्व-वरण—

दीन नाथ अब बारि तुम्हारी।
पतित उधारन बिरद जानि कै बिगरी लेहु सँवारी।
—वही पद ११८

(ङ) आत्मनिक्षेप—

कृपा अब कीजिऐ बलि जाउँ।
नाहिन मेरैं और कोउ बलि चरन कमल बिन ठाउँ।
—वही पद १२८

(च) कार्पण्य—

नाथ सको तौ मोहिं उधारौ।
पतितनि मैं बिख्यात पतित हौं पावन नाम तुम्हारौ।
—वही पद १३१

२ (क) चकई री चलि चरन-सरोवर, जहाँ न प्रेम बियोग।
जहँ भ्रम-निसा होति नहिं कबहूँ सोइ सायर सुख जोग।
—सूरसागर, प्रथम स्कंध पद ३३७

(शेष अगले पृष्ठ पर)—

तुलसी पूर्व हिन्दी काव्यों में भक्ति के विकास का सिंहावलोकन :

यथापरा हिन्दी काव्यों में हिन्दी के प्रथम महाकवि चन्दबरदाई के पृथ्वीराज रासो नामक प्रथम हिन्दी महाकाव्य में ही भक्ति की प्रच्छन्न धारा दृष्टिगोचर होती है। उन्होंने इस महाकाव्य के आरम्भ में मंगलाचरण[1] के रूपक में आदिदेव गुरु वाणी लक्ष्मीश सुरनाथ और सर्वेश को नमस्कार किया है। उनका कथन है—"आदिदेव को नमन करके और गुरु को नमस्कार करके वाणी के चरणों को वन्दन स्वर्ग पाताल (और) पृथ्वी के स्रष्टा लक्ष्मीश के चरणों का आश्रय दुष्टों के दहन करने को उग्र पुन (जिस) देव मे रहता है (उस) सुरनाथ की पादुका का सेवन (और) थिर चर जंगम (और) जीव के शरणागम सर्वेश को (मैं) वन्द नमन करता हूँ।[2]

ऐसे महाकवि विद्यापति मूलतः प्रेम और सौन्दर्य के कवि माने जाते हैं। पर उनके पदों में जहाँ सौन्दर्य अपनी चरम सीमा पर है वहाँ भक्ति की पराकाष्ठा भी दृष्टिगोचर होती है। वस्तुतः विद्यापति की कृतियों में शृंगार और भक्ति दोनों का समन्वय है। उनके शिव[3], दुर्गा[4] गंगा[5] आदि से सम्बन्धित पदों में तो भक्ति की तन्मयता स्पष्टतया परिलक्षित होती है। उनकी शिव सम्बन्धी स्तुतियाँ मिथिला में "नचारी" के नाम से प्रसिद्ध हैं और आज भी भक्तों के बीच अत्यधिक समादृत हैं। मिथिला के पुष्पों से सुसज्जित चौबारों पर अवस्थित शिवालयों में तन्मय होकर विशेष कर मैथिल भक्त जन अपने इसी मूर्धन्य कवि की 'नचारी' गा-गाकर शिव की संस्तुति करते हुए उन्हें भंग की निद्रा से संसार के कल्याण के लिए जगाते रहते हैं।[6]

महाकवि विद्यापति के राधा-कृष्ण सम्बन्धी जिन पदों पर प्रायः शृंगारिकता का आरोप किया जाता है, उन्हीं पदों का श्रवण कर महाप्रभु चैतन्य आनन्द-विह्वल एवं मूर्च्छित हो

(पिछले पृष्ठ का शेष)

(ख) कलि कलि तिहि सरोवर माहि।
तिहि सरोवर कमल कमला रवि बिना बिकसाहि।
हंस उज्जल पंख निर्मल अंग मलि-मलि न्हाहिं।
मुक्ति मुक्ता अनगिने फल तहाँ चुनि चुनि खाहिं॥
× × ×
सूर क्यों नहि चलै उडि तहँ, बहुरि उड़िबौ नाहिं॥

—वही पद ३३८

द्रष्टव्य—पद ३३६ पद ३४०।

1. पृथ्वीराज रासो आदि पर्व (पहिला समय) मंगलाचरण छन्द १ रूपक १
2. भाग १ मोहन लाल विष्णु लाल पण्ड्या राधाकृष्ण दास और श्याम सुन्दर दास द्वारा सम्पादित पृ ४
3. विद्यापति की पदावली (संकलयिता श्री रामवृक्ष बेनीपुरी) पद २११
4. वही पद ३
5. वही पद २१०-२१२
6. वही पद २३५ २३६ २४२ २४३ २४६ २४८

गाया करते थे। भक्तों पर पड़ने वाले उनके पदों के इस प्रभाव को देखकर डा० ग्रियर्सन ने अपना यह उद्‌गार व्यक्त किया है— 'हिन्दू-धर्म के सूर्य का अस्त भले हो जाय—वह समय भी आ जाय जब राधा और कृष्ण में मनुष्यों का विश्वास और श्रद्धा न रहे और कृष्ण के प्रेम की स्तुतियों के लिए जो इहलोक में हमारे अस्तित्व के रोग की दवा है अनुराग जाता रहे, तो भी विद्यापति के गान के लिये—जिसमें राधा और कृष्ण का उल्लेख है—लोगों का प्रेम कभी कम नहीं होगा।[1]

अपने पिछले कृत्यों पर घोर पश्चात्ताप करने वाले महाकवि विद्यापति का निम्नांकित विशुद्ध भक्त्यात्मक उद्‌गार कितना मर्मस्पर्शी है—

तातल सैकत वारि-बिन्दु सम सुत-मित-र मि-समाज।
तोहे बिसारि मन ताहे समरपिनु अब मझु हब कोन काज॥
माधव, हम परिनाम निरासा।
तुहुँ जगतारन दीन दयामय अतय तोहर बिस्वासा।
आध जनम हम नींद गमायनु जरा सिसु कत दिन गेला।
निधुवन रमनि-रभस रंग मातनु तोहे भजब कोन बेला[2]

इसी तरह 'माधव कत तोर करब बड़ाई,[3]' मधव बहुत मिनति कर तोय[4] जैसे पंक्तियाँ भी सर्वथा प्रभावोत्पादक एवं भक्ति रस से परिपूरित हैं।

सम्भव है, राज दरबार के शृंगारिक वातावरण में रहने के कारण युवावस्था की समय में विद्यापति ने शृंगार रस से परिपूर्ण पदों की ही रचना की हो पर अपनी जीवन सन्ध्या में उन्होंने निश्चय ही निश्छल भाव से भगवान् की शरणागति स्वीकार कर ली थी। वस्तुतः मिथिला के लोक जीवन में ही नहीं प्रत्युत गंगा के तट पर भोलानाथ के मन्दिर में दुर्गा-बाड़ी में आज भी समान भाव से विद्यापति के पद गूँज रहे हैं।

अपनी पावन स्वर लहरी से संसार के शोक-ताप को अपहरण करने वाली प्रेम दिवानी मीरा की भक्ति-भावना में तो साकार और निराकार दोनों रूपों की उपासना का स्पष्ट समावेश दृष्टिगोचर होता है। ऐसे तो वे भगवान् श्रीकृष्ण को अपना इष्टदेव एवं प्रियतम मानती हैं[5] और अपने को उनकी ही दासी सहचरी प्रेयसी सब कुछ कहती हैं। इससे

---

१ विद्यापति की पदावली संकलयिता श्री रामवृक्ष बेनीपुरी
  कवि-परिचय पृ० ३८ ११ में उद्धृत
२ विद्यापति की पदावली संकलयिता श्री रामवृक्ष बेनीपुरी पद २५४
३ विद्यापति की पदावली संकलयिता श्री रामवृक्ष बेनीपुरी पद २५२
४ वही पद २५३
५ बसो मोरे नैनन में नन्दलाल।
  मोहनी मूरति साँवरी सूरति नैना बने बिसाल।
  अधर सुधारस मुरली राजति उर बैजन्ती माल।
  क्षुद्र घण्टिका कटितट सोभित नूपुर सबद रसाल।
  मीरा प्रभु सन्तन सुखदाई, भक्त बछल गोपाल॥
  —मीराँबाई की पदावली सम्पादक—परशुराम चतुर्वेदी, पद—३

(शेष अगले पृष्ठ

स्वभावत: उनकी साधना सगुणपरक सिद्ध होती है किन्तु उनके बहुत से ऐसे पद भी हैं जो उन्हें निर्गुणोपासिका की कोटि में रखने का आग्रह करते हैं।[1] मीरा की भक्ति में इतनी प्रगाढ़ता अनन्यता एवं उत्कट आत्म निवेदन है कि आज भी साधु-सन्त उनके पदों को गाते गाते आत्मसुधि खो देते हैं। गिरधारी नाम के प्रति मीरा की तन्मयता ने उनकी वाणी में एक अपूर्व प्रभावोत्पादकता ला दी है।

वस्तुत: मध्ययुगीन भारतीय समाज में कबीर जायसी सूर, तुलसी, मीरा आदि का आविर्भाव एक सांस्कृतिक घटना है। उस समय भौतिक रूप एवं शारीरिक दृष्टि से राष्ट्रीय जीवन जितना क्षीण अशक्त एवं परतन्त्र था इनके आविर्भाव ने आध्यात्मिक रूप एवं मानसिक दृष्टि से उसे उतना ही अधिक अभ्युन्नत सुसभ्य, सुसंस्कृत एवं स्वतन्त्र बना दिया था। ये सन्त स्वतन्त्र-चिंतक और अन्तिम सत्य के आग्रही थे। इनका साहित्य महान् आदर्श से संचालित था। इसमें लोकमानस के अन्तर्गत व्यापक चेतना जाग्रत करने की अपूर्व क्षमता विद्यमान थी। वह मानव समाज में सात्विक जीवन यापन की पवित्रता का प्रतिपादन करते हुए भगवद्भक्ति के महान् आदर्श को लेकर अग्रसर हो रहा था। अत: उसमें भाषा छन्द अलंकार, आदि किसी का भी आडम्बर नहीं मिलता। अपनी सरलता स्पष्टता मधुरता और सादगी की दृष्टि से वह सर्वथा अभूतपूर्व है। उसका स्वर बड़ा ही गम्भीर एवं विषय बड़ा

(पिछले पृष्ठ का शेष)
मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई।
जाके सिर मोर मुकुट मेरो पति सोई।

× × ×
× × ×

—वही पद १६
द्रष्टव्य पद १ ६ २० इत्यादि।

[1] री मेरे पार निकस गया सतगुर मारया तीर ॥
बिरह भाल लगी उर अन्दरि, व्याकुल भया शरीर।
इत उत चित्त चले नाहि कबहूँ डारी प्रेम जंजीर।
कै जाणैं मेरो प्रीतम प्यारो और न जाणे पीर।
कहा करूँ मेरो बस नाहिं सजनी नैन झरत दोउ नीर।
मीरा कहै प्रभु तुम मिलियां बिनि प्राण धरत नहिं धीर ॥
—वही पद १५५
हेरी मैं तो दरद दिवाणी होइ दरद न जाणै मेरो कोइ ॥

× × × ×
× × × ×

सूली ऊपरि सेज हमारी सोवणा किस विध होइ।
गगन मण्डल प सेज पियाकी किस विध मिलणा होइ।

× × × ×

—वही पद ७२
द्रष्टव्य पद १२० १५३ २ १ इत्यादि

ही उदात्त है। उसे काव्य शास्त्र की कसौटी की चिन्ता नहीं है। वह तो विशाल जन समूह को सामाजिक एकता के सूत्र मे आबद्ध करके उनके कल्याण साधन में ही अपने को कृतार्थ मानता है। यथार्थ में इन सन्तों के सन्देश एवं जीवन-दर्शन हमारी संस्कृति की प्राणधारा एवं हमारे समाज की अक्षय सम्पत्ति एवं अमूल्य निधि है। भारतीय सांस्कृतिक रंगमंच पर कबीर जैसे अशिक्षित और तुलसी जैसे प्रकाण्ड पण्डित न खड़े होकर अपनी प्रतिभा एवं अनुभूति के बल पर जनता की भाषा एवं अभिव्यंजना प्रणाली में विविध भारतीय चिन्तन एवं बौद्धिक प्रक्रियाओं की समस्त पूर्ववर्ती उपलब्धियों के सारभूत तत्त्वों को जन-जन के जीवन में सन्निविष्ट कर दिया। इतना बड़ा समन्वयवादी युग किसी भी राष्ट्र के इतिहास के लिए गौरव की वस्तु है। इन सभी समर्थ भक्त कवियों ने किसी व्यक्ति विशेष का गुण कीर्तन नहीं करके अनन्तशक्ति सम्पन्न परब्रह्म का गुण-कीर्तन किया। इन्होंने समाज को मानव आत्मा की एकता एवं समानता के रहस्य से अवगत कराया और एक नवीन मार्ग पर अग्रसर होने को प्रेरित किया। ये सभी सन्त प्रतिनिधि कवि सम्प्रदायिक मतों को स्वीकार करते हुए भी संकीर्ण मतवादों के चक्कर मे नहीं आये। इन्होंने साम्प्रदायिक संकीर्णता एवं कट्टरता की परिधि का अतिक्रमण करके सदैव असाम्प्रदायिकता की ही साधना की। कबीर ज्ञान मार्गी निर्गुण सन्त है, पर प्रेम की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए वे राम नाम का समर्थन भी करते है। जायसी प्रेम मार्गी हैं पर वे ज्ञान का कहीं भी विरोध नहीं करते। सूर कृष्ण भक्त कवि हैं पर वे राम का भी गुण-गान करते हैं। तुलसी राम भक्त हैं पर 'कृष्ण गीतावली' की रचना करके वे अपनी कृष्ण-भक्ति का भी परिचय देते हैं। सगुण मार्गी होते हुए भी निर्गुण मार्ग से उनका कोई विरोध नहीं है। वर्णाश्रम धर्म को मानते हुए भी वे जाति-पाँति का विरोध करते हैं। गुरु-महिमा ईश्वर पर अखण्ड विश्वास और जीवन की सादगी आदि सम्बन्धी उनकी पंक्तियाँ कबीर से काफी साम्य रखती है। ऐसे कबीर नानक दादू आदि सन्तो के निधन के बाद उनके नाम पर कुछ सम्प्रदाय या पन्थ भी बनाये गये पर वस्तुतः इन सन्तों में न तो साम्प्रदायिकता थी और न तो इन्होंने कोई सम्प्रदाय ही चलाया। संक्षेपतः कबीर जायसी सूर, तुलसी आदि प्रतिनिधि सन्त भारतीय लोक मानस के महान् पथ प्रदर्शक थे और साम्प्रदायिकता की सीमा को तोड़कर सार्वभौम बन गये थे। इन सबों ने मिलकर भारतीय जनता को आपस में कट मरने से बचाया। यही कारण है कि हमारे प्रत्येक सन्त समग्र समाज मे पूजित हुए। समाज ने सूर और तुलसी जैसे ब्राह्मणों को ही नहीं पूजा वरन् कबीर जैसे जुलाहे दादू जैसे धुनिये रैदास जैसे चमार और जायसी जैसे मुसलमान को भी पूज्य माना।

—o—

तीसरा अध्याय

रामचरितमानस में प्रतिपादित भक्ति का स्वरूप

"रामचरितमानस" में प्रतिपादित भक्ति का स्वरूप

गोस्वामी तुलसीदासजी ने 'रामचरितमानस' में भक्ति का विशद निरूपण किया है। 'मानस' में निरूपित भक्ति का स्वरूप कुछ नवीन नहीं प्रत्युत 'नानापुराण निगमागम सम्मत' ही है। वह आचार्यों की परम्परागत मान्यताओं एवं सनातन धर्म के लक्षणों के सर्वथा अनुकूल है। जप-तप [1] गुरूपासना [2] ब्राह्मण-पूजा [3] साधु-सेवा [4] वर्णाश्रम धर्म [5] अवतारवाद [6] कर्मवाद [7] भाग्यवाद [8] जन्मान्तरवाद [9] परलोकवाद [10] आदि के लिए इसमें महत्त्वपूर्ण स्थान सुरक्षित है। माया और उसकी विनाश वाहिनी को विध्वस्त करने के लिए तथा दुस्तर संसार-सागर को पार करने के लिए भक्ति का अत्यधिक महत्त्व स्वीकार करते हुए तुलसीदास रामभक्ति पर बल देते हैं।[11] एतदर्थ वे उसे ज्ञान योग कर्म आदि से श्रेष्ठ भी प्रमाणित करते हैं।[12]

भक्ति की परिभाषा, स्वरूप एवं महत्ता

वस्तुतः भगवान् राम के चरणों में अनन्य प्रेम का होना ही भक्ति है। यद्यपि भगवान् राम समदर्शी हैं तथापि अनन्य गति वाला सेवक ही उनको अत्यधिक प्रिय है।[13] अनन्य गति वाला साधक वही है जिसकी ऐसी बुद्धि कभी नहीं टलती कि मैं सेवक हूँ और यह जड़ चेतन जगत् मेरे स्वामी भगवान् का रूप है।[14] भगवान् राम के प्रति अनन्य प्रेम होने

---

१ मा० १ १११ ८ (पू) ३ ४४ २ (पू)
२ मा० १ सो० ५ ७ ६१ ५
३ मा १ ३५९ २ १ २ १५७ ७ (पू०)
४ मा १ १५५ ४ २ ७ २ (पू०)
५ मा० ७ २० ७ ६८ १
६ मा० २ ६३ ७ ७२ (क)
७ मा २ ६२ ४ २ २१६ ४
८ मा० १ ६७ १० १ ६१३
९ मा १ ६८ ५ ७ ६७ (क) पू०
१ मा० २ १८२ ५ २ २११ ५
११ मा ५ ३८ ७ ९८ (क) ७ १२१ (ख) ७ १२२ (ग)
१२ मा० ३ २११ १–२
१३ मा ४ ३ ८ ११ ८
१४ मा० ४ ३

पर साधक के लिए वे ही सब कुछ हो जाते हैं और उस उनके अतिरिक्त लोक-परलोक में अन्य कोई महत्त्वपूर्ण पदार्थ दृष्टिगोचर नहीं होता। तुलसी राम की इसी अनन्य भक्ति के आकांक्षी हैं। उनके स्वामी एवं आराध्य राम हैं और अपने राम के स्थान पर किसी अन्य देवता को प्रतिष्ठित करने के पक्ष में वे कदापि नहीं हैं। ऐसे राम के प्रति उनकी यह अन-निष्ठा किसी अन्य देवी-देवता के प्रतिष्ठा स्थान की विरोधिनी भी नहीं है। तभी तो वे प्रायः अन्य देवी-देवताओं का भी निःसंकोच गुणगान करते हैं। पर वे राम की सत्ता को ही सर्वत्र व्याप्त मानकर चलते हैं। "दोहावली"[1] के चातक-सम्बन्धी दोहों में वे चातक के प्रति चातक की अनन्य भक्ति को प्रदर्शित करके सच्ची भक्ति के स्वरूप का सुन्दरतम निदर्शन करते हैं। मेघ गर्जन-तर्जन करता हुआ चातक के शरीर पर ओले बरसाता है और कठोर बिजली भी गिरा देता है। पर वह (चातक) अपने आराध्य की समस्त प्रताड़नाओं को सहर्ष सहन करता रहता है। वह मेघ को छोड़कर कभी भी किसी दूसरे की ओर देखता तक नहीं।[1] मेघ चाहे जन्म भर चातक की सुधि न ले और जल की याचना करने पर वह चाहे वज्र और ओले ही गिरावे पर चातक की रटन घटने से तो उसकी बात ही घट जायगी उसकी प्रतिष्ठा ही नष्ट हो जायगी। उसकी तो प्रेम बढ़ने में ही सब तरह से भलाई है। जैसे तपाने से सोने पर चमक आ जाती है वैसे ही प्रियतम के चरणों में प्रेम का नियम निबाहने से प्रेमी सेवक का गौरव बढ़ जाता है।[2] भगवान् की ओर से भक्त को चाहे कितनी भी यातना क्यों न मिले भले ही भगवान् उसे कुटिल समझें लोग उसे गुरु-द्रोही कहें पर भगवान् के चरणों में उसका प्रेम दिन-दिन अगाध ही होते जाना चाहिए।[3] चातक की तरह तुलसी (के साधक) को भी एक राम रूपी श्यामघन का ही भरोसा है उसी का बल है उसी की आशा है और उसी का विश्वास है।[4] तुलसी का यह उद्घोष भगवान्

---

१ उपल बरषि गरजत तरजि डारत कुलिस कठोर।
चितव कि चातक मेघ तजि कबहुँ दूसरी ओर॥
—दोहावली दो० २८३

२ मा० २ २०५.१–४ 'जलदु जनम भरि सुरति बिसारउ।
जाचत जलु पबि पाहन डारउ॥
चातकु रटनि घटें घटि जाई।
बढ़ें प्रेमु सब भाँति भलाई॥
कनकहिं बान चढ़इ जिमि दाहें।
तिमि प्रियतम पद नेम निबाहें॥

३ मा २ २०८.१–२ जानहुँ रामु कुटिल करि मोही।
लोग कहउ गुर साहिब द्रोही॥
सीताराम चरन रति मोरें।
अनुदिन बढ़उ अनुग्रह तोरें॥'

४ एक भरोसो एक बल एक आस बिस्वास।
एक राम घनस्याम हित चातक तुलसीदास॥ —दोहावली—२७७
"......तुलसी चातक आस राम स्याम घन की।
—विनय पत्रिका पद संख्या ७५ की अन्तिम पंक्ति का उत्तरार्द्ध

राम के प्रति उनके अखण्ड अनुराग तथा अटल विश्वास का ही द्योतक है। इसी प्रकार वे जल के प्रति मछली का अनन्य प्रेम को उदाहृत कर भगवद्‍भक्ति के वास्तविक स्वरूप की ओर साधकों का ध्यान आकृष्ट करते हैं।[1] पुनः वे मृग का उदाहरण उपस्थित कर वीणा की श्रुति मधुर संगीत-लहरी के प्रति उसके अनन्य अनुराग की भूरि भूरि प्रशंसा करते हैं।[2] भगवान् राम की भक्ति का आकांक्षी साधक उनके सम्पर्क में आने वाली जड़ चेतन सभी वस्तुओं की उपासना करने लगता है। उसके हृदय में राम की भक्ति का विकास येन-केन प्रकारेण राम का साहचर्य प्राप्त करने वाले समस्त पदार्थों के प्रति प्रेम के रूप में भी होता है। जगत् को पवित्र करने वाले भगवान् राम के पुनीत चरणों के स्पर्श का सौभाग्य अयोध्या सरयू, चित्रकूट आदि को उपलब्ध हुआ है। अतः ये भी परम पवित्र हो गये हैं और इनमें आज भी अमलत्वावनत्व विद्यमान है। यही कारण है कि तुलसी इनकी भी उपासना करते हैं। राम के चरणों के स्पर्श से सरयू की महत्ता इतनी बढ़ गयी है कि विमल मति सारदा भी उसे नहीं कह सकतीं।[3] जिस अयोध्या की भूमि में लोट-लोट कर राम बड़े हुए हैं वह "सुहावनि" 'पुरी' निश्चय ही 'रामधमदा' हो सकती है। वहाँ पर शरीर त्याग करने वाले बड़भागी को संसार में फिर लौटकर आने की नौबत नहीं आती।[4]

राम के सुन्दर शरीर से सम्बन्ध रखने वाले ग्राम-नगर नर-नारी वन-पर्वत नदी सरोवर लता-वृक्ष भूमि-मार्ग सब भक्त को पवित्र एवं प्रिय लगने लगते हैं।[5] वह इन सबों

---

१ (क) राम भगति जल मम मन मीना।
किमि बिलगाइ मुनीस प्रबीना॥ मा० ७ ११११

(ख) करुनानिधान। बरदान तुलसी चहत।
सीतापति-भक्ति-सुरसरि-नीर-मीनता॥
—विनयपत्रिका पद संख्या २६२ की अन्तिम पंक्ति

(ग) रामप्रेम बिनु दूबरो राम प्रेम हीं पीन।
रघुबर कबहुँक करहु तुमे तुलसिहि ज्यों जल मीन॥—दोहावली दो० ५७

२ दोहावली दो ११४

३ मा० १ ३५ २ नदी पुनीत अमित महिमा अति।
कहि न सकइ सारदा बिमल मति॥

४ मा० १ ३५ ३–४ "राम धामदा पुरी सुहावनि।
लोक समस्त बिदित अति पावनि॥
चारि खानि जग जीव अपारा।
अवध तजें तनु नहिं संसारा॥

५ (क) मा १ १६ १–२— 'बंदउँ अवध पुरी अति पावनि।
सरजू सरि कलि कलुष नसावनि॥
प्रनवउँ पुरनर नारि बहोरी।
ममता जिन्ह पर प्रभुहि न थोरी॥"

(ख) मा २ ११६ १–२— 'धन्य भूमि बन पंथ पहारा।
जहँ-जहँ नाथ पाउ तुम्ह धारा॥
धन्य बिहग मृग काननचारी।
सफल जनम भए तुम्हहि निहारी॥"

(ग) मा० २ ११३ १–८

तुलसी ने रामभक्ति को मानव के सर्वोच्च लक्ष्य के रूप में प्रतिष्ठित किया है। राम प्रेम एवं राम भक्ति के अभाव में अन्तःकरण की पूर्ण शुद्धि कदापि सम्भव नहीं है।[1] नर शरीर की सार्थकता इसी में है कि सभी कामनाओं को छोड़कर राम की भक्ति की जाय। वस्तुत रामचरणानुरागी ही गुणवान् एवं बड़भागी है।[2] जीव का सच्चा स्वार्थ इसी में है कि वह मन वचन और कर्म से भगवान् राम के चरणों में प्रेम करे। वही शरीर पवित्र और सुन्दर है जिसे पाकर राम की भक्ति की जाय।[3] राम भक्ति में सहायता नहीं करने वाली सम्पत्ति घर, सुख मित्र माता पिता भाई आदि की कोई उपयोगिता नहीं है।[4] वस्तुत राम की भक्ति ही सत्य है और संसार के अन्य समस्त पदार्थ स्वप्नवत् असत्य हैं।[5] ज्ञान वैराग्य श्रद्धा विश्वास आदि गुण भक्ति के साथ ही सुशोभित होते हैं। भक्ति से रहित सब गुण और सुख वैसे ही फीके हैं जैसे नमक के बिना अनेक प्रकार के व्यंजन।[6] जब तक लोभ के घर काम को छोड़कर जीव राम की भक्ति नहीं करता तबतक उसकी कुशल नहीं है और न स्वप्न में भी उसके मन को शान्ति ही मिल सकती है।[7] रामभक्ति की प्राप्ति हो जाने पर जीव को सताने करने वाले काम क्रोध लोभ मोह आदि खल समूल नष्ट हो जाते हैं।[8] भव रोग के लिए एक मात्र औषध यही रामभक्ति है और इसी में आध्यात्मिक आधिदैविक तथा आधिभौतिक तापों के अपहरण करने की क्षमता है।[9]

इस तरह तुलसीदास "रामचरितमानस" के अनेकानेक प्रसंगों में राम-भक्ति का प्रतिपादन करते हैं। "मानस' में सर्वत्र राम भक्ति के लिए ही उनका सर्वोपरि आग्रह दृष्टि गोचर होता है। यही राम भक्ति उनकी सम्पूर्ण जीवन परिधि का केन्द्र है और "रामचरित मानस' में इसी को प्रस्तुत करने का वे विराट आयोजन करते हैं। वे राम भक्ति के अभाव में मुक्ति को भी हेय समझते हैं। वैसे सन्त पुराण वेद शास्त्र सभी की यही मान्यता है कि मुक्ति अत्यन्त दुर्लभ है पर वही मुक्ति राम-भक्ति से बिना इच्छा किये भी जबरदस्ती आ जाती है। जैसे करोड़ों उपाय करने पर भी स्थल के बिना जल नहीं रह सकता वैसे ही मोक्ष-सुख भी राम भक्ति को छोड़कर नहीं रह सकता। ऐसा विचार कर बुद्धिमान् भक्त भक्ति पर लुभाये

---

१ राम-चरन-अनुराग-नीर बिनु मल अति नास न पावै।
—विनयपत्रिका पद ८२ की अन्तिम पंक्ति।
प्रेम भगति जल बिनु रघुराई। अभि अन्तर मल कबहुँ न जाई॥
—मा० ७ ४९ ६

२ मा ४ २३ ६—७
३ मा० ७ ४३ १—२
४ मा० २ १८५
५ मा० ३ ३९ ५
६ मा० ७ ८४ ५
७ मा ५.४६ २ १ ७
८ मा० ७ १२२ ७—८
९ मा ७ १२४ (क) पृ० ५४४ ६

ठुकराकर मुक्ति का तिरस्कार कर देते हैं।[1] ऐसे अनेक जप तप यज्ञ शम दम व्रत दान वैराग्य ज्ञान योग विज्ञान आदि साधन भी जीवन का अभ्युदय करने वाले हैं पर उन सब की सुन्दरतम परिणति भक्ति में ही होती है।[2] यही कारण है कि शरभंग मुनि ने याग जप तप व्रत आदि जो कुछ भी किया था सब प्रभु को समर्पित करके बदले में भक्ति का ही वरदान लिया।[3] प्रसन्न होने पर भगवान् राम काग भुशुण्डि से कहते हैं—

"काक भुसुण्डि मागु बर अति प्रसन्न मोहि जानि।
अनिमादिक सिधि अपर रिधि मोच्छ सकल सुख खानि॥
ग्यान बिबेक बिरति बिग्याना। मुनि दुर्लभ गुन जे जग नाना॥
आजु देउँ सब संसय नाहीं। मागु जो तोहि भाव मन माहीं॥"[4]

पर काग भुशुण्डि को इन सारे एक से एक महान् वरदानों की कोई आवश्यकता नहीं है। उन्हें तो भगवान् राम की केवल अविरल भक्ति चाहिए जिसका वरदान भी उन्होंने (भगवान् राम ने) नहीं दिया—

"अबिरल भगति बिसुद्ध तव श्रुति पुरान जो गाव।
जेहि खोजत जोगीस मुनि प्रभु प्रसाद कोउ पाव॥
भगत कल्पतरु प्रनत हित कृपा सिंधु सुख धाम।
सोइ निज भगति मोहि प्रभु देहु दया करि राम॥"[5]

इसी तरह राम जहाँ कहीं भी जाते हैं सिद्ध-साधक अपनी सम्पूर्ण साधनाओं का फल उन्हें समर्पित कर बदले में उनसे उनकी भक्ति की ही याचना करते हैं। स्वयं भगवान् राम भक्तिमती भीलनी शबरी के आश्रम में जाकर अपनी भक्ति का ही उपदेश देते हैं। उन्हें केवल भक्ति का ही नाता मान्य है, क्योंकि जाति-पाँति कुल धर्म बड़ाई धन बल कुटुम्ब गुण और चतुराई के होते हुए भी भक्ति से हीन मनुष्य बिना जल के बादल की तरह शोभा रहित हो जाता है।[6] उनका स्पष्ट कथन है कि वे अपनी भक्ति से ही शीघ्र प्रसन्न होते हैं।[7] वे भागवत धर्म[8] एवं भक्ति[9] की चर्चा बराबर करते चलते हैं। जब सुतीक्ष्ण के साथ

---

१ मा ७ ११९ ३—७ ९ ११२ ७
२ मा ७ ९५ ५-६ ७ १२१ ४-७
३ मा ३ ८ ७
४ मा ७ ८३ (ख) ७ ८४ २
५ मा ७ ८४ (क)—८४ (ख)
६ मा ३ ३५ ४—६
७ मा ३ १६ २
८ कहि निज धर्म ताहि समुझावा। निज पद प्रीति देखि मन भावा॥
—मा ३ ३४ ३
९ कहत अनुज सन कथा अनेका। भगति बिरति नयनीति बिबेका॥
—मा० ४ १३ ७
कहुँ-कहुँ बृष्टि सारदी थोरी। कोउ एक पाव भगति जिमि मोरी॥
—मा ४ १६ १

वे अगस्त्य के आश्रम की ओर बढ़ रहे हैं तो मार्ग में भी भक्ति की ही चर्चा करते चल रहे हैं।[1] मानस के समस्त भक्त तो भगवान् से भक्ति की याचना करते ही हैं भगवान् स्वय भी केवट[2] एव सुतीक्ष्ण[3] जैसे दो बड़भागी भक्तों को बिना माँगे अपनी ओर स भक्ति का ही वरदान प्रदान करते हैं। भगवान् राम श्री मुख से अद्वितीय "बड़भागी" काकभुशुण्डि की भक्ति की याचना की प्रवृत्ति की भूरि प्रशसा करते हुए अपनी परम प्रसन्नता व्यक्त करते हैं।[4] वस्तुत भक्तिहीन ब्रह्मा ही क्यों न हो वह भी उनको सब जीवों क समान ही प्यारा है पर भक्ति वाला अत्यन्त निम्न प्राणी भी उन्हें प्राण के समान प्रिय है।[5] 'रामचरितमानस का कोई भी महात्मा यदि किसी भक्त को आशीर्वाद देता है तो वह राम की भक्ति राम की अनुकूलता या राम की कृपा आदि का ही आशीर्वाद होता है।[6] मानस में जब भी कोई प्रकरण समाप्त होता है तब तुलसी अकारण दया करने वाले दीन बन्धु भगवान् राम की भक्ति करने की सलाह देना नहीं भूलते।[8] उनकी दृष्टि में इस असार ससार में भगवान् की भक्ति से बढ़कर कोई दूसरा बड़ा लाभ नहीं है और मनुष्य का शरीर पाकर भी राम की भक्ति नहीं करने से बढ़कर कोई दूसरी बड़ी हानि नहीं है।[5] सभी प्राणी सुख की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील हैं पर उनका दृढ़ विश्वास है कि राम की भक्ति बिना किसी को सुख कदापि नहीं मिल सकता— रघुपति भगति बिना सुख नाहीं।[9] यही कारण है कि वे नौ असम्भव दृष्टान्त उपस्थित कर भक्ति स ही भवसन्तरण का अटल सिद्धान्त घोषित करते हैं।[10] यद्यपि तुलसीदास भक्ति की सर्वोपरि महत्ता स्वीकार करते हैं तथापि ज्ञान योग

---

१ पंथ कहत निज भगति अनूपा। मुनि आश्रम पहुँचे सुर भूपा ॥
—मा २ १ २ (छ)

२ दिया कीन्ह करुनायतन भगति बिमल बर देइ ॥ —मा० २ १०२ (छ०)

३ अबिरल भगति बिरति बिग्याना। होहु सकल गुन ग्यान निधाना ॥
—मा० ३ ११ २६

४ सुनु बायस तैं सहज सयाना। काहे न मागसि अस बरदाना ॥
सब सुख खानि भगति तैं मागी। नहि जग कोउ तोहि सम बड़भागी ॥
जो मुनि कोटि जतन नहि लहहीं। जे जप-जोग अनल तन दहहीं ॥
रीझेउँ देखि तोरि चतुराई। मागेहु भगति मोहि अति भाई ॥
—मा ७ ८५ २—५

५ मा ७ ८६ ६—१०

६ मा ५ १० ३ ६ १०७ ७ ११३ १६

७ मा १ २११ १ ३६१ ४ ३० (क) ५ ५ ६ ६ १२१ (ख)

८ ७ ११२ ८-९

९ मा ७ ११९ १४ (ज)

१० कमठ पीठ जामहिं बरु बारा। बंध्या सुत बरु काहुहि मारा ॥
फूलहिं नभ बरु बहुबिधि फूला। जीव न लह सुख हरि प्रतिकूला ॥
तृषा जाइ बरु मृग जल पाना। बरु जामहिं सस सीस बिषाना ॥
अंधकार बरु रबिहि नसावै। राम बिमुख न जीव सुख पावै ॥
हिम ते अनल प्रगट बरु होई। बिमुख राम सुख पाव न कोई ॥

(शेष अगले पृष्ठ पर)

ग्यान पंथ कृपान कै धारा । परत खगेस होइ नहिं बारा ॥
जो निर्बिघ्न पंथ निर्बहई । सो कैवल्य परम पद लहई ॥[1]

इतनी कठिनाइयों के पश्चात् ज्ञान का परम लक्ष्य दुर्लभ मुक्ति की प्राप्ति है। वही दुर्लभ मुक्ति राम की भक्ति की साधना से दीन भक्त को स्वतः प्राप्त हो जाती है यद्यपि वह इसके लिए कभी भी प्रयत्नशील नहीं रहता है—

"राम भजत सोइ मुकुति गोसाईं ।
अन इच्छित आवइ बरिआईं ॥"[2]

गोस्वामी जी ने एक सुन्दर रहस्यपूर्ण उक्ति द्वारा भी ज्ञान से भक्ति की श्रेष्ठता प्रतिपादित की है। ज्ञान, वैराग्य, योग और विज्ञान आदि पुरुष वर्ग के हैं। भक्ति और माया दोनों ही स्त्री वर्ग की हैं। ज्ञान-पुरुष माया-नारी को देखकर उसके अधीन हो जाता है परन्तु भक्ति-नारी माया-नारी को देखकर उसके अधीन नहीं होती क्योंकि नारी नारी के रूप पर मोहित (कामासक्त) नहीं होती। फिर भगवान् राम को भक्ति प्यारी है। अतः निश्चय ही नर्तकी माया उस पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने में असमर्थ रहती है। इस तरह तुलसी ने ज्ञान को पुरुष और भक्ति को स्त्री मानकर तथा माया नर्तकी पर भक्ति-नारी का मोहित होना असम्भव बताकर सर्वसाधारण के लिए भक्ति की महत्ता प्रदर्शित की है।[3]

ज्ञान से भक्ति की श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए गोस्वामी जी एक और भी सुन्दर उपमा का प्रयोग करते हैं। ज्ञानी "प्रौढ़तनय" के समान और भक्त अबोध शिशु के समान है। प्रौढ़ तनय अपनी ही शक्ति से रक्षित है पर अबोध शिशु के संरक्षण का सम्पूर्ण दायित्व निरन्तर माता पर ही रहता है। यही कारण है कि अपने ही पुरुषार्थ के बल पर काम क्रोधादि शत्रुओं से अपनी रक्षा कर लेने वाले ज्ञानी जन भी भक्ति का परित्याग नहीं करते।[4] वस्तुतः भगवान् के चरणों पर अपना सर्वस्व समर्पण कर अपनी पूरी जिम्मेदारी

---

१ मा० ७ ११७ २
२ मा० ७ ११९ ४
३ ग्यान बिराग जोग बिग्याना । ए सब पुरुष सुनहु हरिजाना ॥
× × ×
मोह न नारि नारि कें रूपा । पन्नगारि यह रीति अनूपा ॥
माया भगति सुनहु तुम्ह दोऊ । नारि बर्ग जानइ सब कोऊ ॥
पुनि रघुबीरहि भगति पिआरी । माया खलु नर्तकी बिचारी ॥
भगतिहि सानुकूल रघुराया । ताते तेहि डरपति अति माया ॥
राम भगति निरुपम निरुपाधी । बसइ जासु उर सदा अबाधी ॥
अस बिचारि जे मुनि बिग्यानी । जाचहिं भगति सकल सुख खानी ॥
—मा ७ ११५ ११—७ ११६ ८
४ मोरे प्रौढ़ तनय सम ग्यानी । बालक सुत सम दास अमानी ॥
जनहि मोर बल निज बल ताही । दुहु कहँ काम क्रोध रिपु आही ॥
यह बिचारि पंडित मोहि भजहीं । पाएहुँ ग्यान भगति नहिं तजहीं ॥
—मा ३।४३।८—१०

उन पर छोड़कर, निर्भय एवं निश्चिन्त हो जाने वाले भक्तों की अपेक्षा अपने ही पुरुषार्थ से काम चलाने वाले ज्ञानियों को बड़े विकट प्रत्यूहों का सामना करना पड़ता है। ज्ञानी का मार्ग 'अगम' होता है। उसमें बहुत से 'साधन कठिन' बहुत कष्ट करके यदि कोई उसे प्राप्त भी कर लेता है तो वह "भक्ति हीन ज्ञान भगवान् को प्रिय नहीं हो पाता—

'ग्यान अगम प्रत्यूह अनेका। साधन कठिन न मन कहुँ टेका॥
करत कष्ट बहु पावइ कोऊ। भक्ति हीन मोहि प्रिय नहिं सोऊ॥'[1]

पर भक्ति की भावना में भक्त को भगवत्कृपा के कारण किसी प्रकार के विघ्न बाधा नहीं पहुँचाते—

"सकल विघ्न व्यापहिं नहिं तेही। राम सुकृपाँ बिलोकहिं जेही॥"[2]

वस्तुतः राम की भक्ति के बिना ज्ञान की दशा कर्णधार के बिना जलयान की तरह होती है।[3] भक्ति का परित्याग कर केवल ज्ञान की प्राप्ति के लिए प्रयास करने वाले जड़ हैं। वे व्यक्ति मानों घर की कामधेनु का परित्याग कर मदार के वृक्ष से दुग्ध प्राप्ति का प्रयास कर रहे हैं।[4] राम की भक्ति के अभाव में ही निर्वाण पद का आकांक्षी ज्ञानी बिना पूँछ एवं सींग के जानवर की तरह है।[5] भगवान् राम की स्तुति करते हुए वेद-गण की वाणी है कि जो व्यक्ति ज्ञान के अभिमान में विशेष रूप से मतवाला होकर भव भय को हरण करने वाली भक्ति का आदर नहीं करते वे देव-दुर्लभ पद को पाकर भी उस पद से अधःपतित होते हैं।[6] "विनयपत्रिका" में भी तुलसी ने अपना यही विचार व्यक्त किया है कि रात के समय घर में केवल दीपक की बातें करने से जैसे अंधकार दूर नहीं होता वैसे ही कोई व्यक्ति वाचिक ज्ञान में कितना ही निपुण क्यों न हो फिर भी वह संसार-सागर को पार नहीं कर सकता।[7] "रामचरितमानस" के चित्रकूट प्रसंग में जब अयोध्या के नर-नारी गणेश गौरी शिव सूर्य एवं लक्ष्मीपति विष्णु के चरणों की वन्दना एवं पूजा करके उनसे वरदान माँगते हैं कि गुरुओं व समाज और भाइयों के साथ राम अयोध्या में राजा होकर राज्य करें। सीता रानी हों तथा राजधानी अयोध्या आनन्द की सीमा होकर फिर समाज सहित

---

१ मा ७ ४५ १ ४
२ मा १ ३९ ५
३ मा २ २७७ ५
४ मा ७ ११५ १ २
५ मा ७ ७८ (क)
६ मा ७ १३ ११
७ वाक्य-ग्यान अत्यंत निपुन भव-पार न पावै कोई।
निसि गृह मध्य दीप की बातन्ह तम निवृत नहीं होई॥
—विनयपत्रिका पद १२३ पं० ११

सुखपूर्वक बस और राम के राजा रहते ही हम लोगों का अयोध्या मे प्रयाना हो[1] तब उस स्थिति के व्यापक प्रभाव का मूल्यांकन करते हुए तुलसी का कथन है कि—

मुनि सनेहमय पुरजन बानी।
निदहिं जोग बिरति मुनि ग्यानी॥[2]

अयोध्या निवासियो की स्नेहमयी वाणी सुनकर ज्ञानी मुनि लाग भी अपने योग और वराग्य की निन्दा कर रहे हैं। तुलसी बुद्धि योग जन्य ज्ञान से हृदय योग जन्य प्रेम को अधिक महत्व प्रदान करते हैं। चित्रकूट की ही राजसभा में भगवान् राम उन सब लोगो की ओर महर्षि वशिष्ठ का ध्यान आकृष्ट करते है जो घर-बार एव राज-पाट छोड़ वन म उनके लिए अपार कष्ट झेल रहे हैं। भगवान् उनसे समस्या का समुचित समाधान करन का निवेदन करते हैं।[3] महर्षि वसिष्ठ भगवान् राम को जो उत्तर देते हैं उससे योग और ज्ञान की अपेक्षा प्रेम भक्ति की श्रेष्ठता सिद्ध होती है। वसिष्ठ की दृष्टि में राम के बिना सम्पूर्ण सुखों का साज नरक के समान है। राम प्राणों के प्राण जीवों के जीव तथा सुखों के भी सुख हैं राम को छोड़कर जिन्हे घर अच्छा लगता है उनसे विधाता विपरीत है। राम के चरणों म भक्ति नही उत्पन्न करने वाले सुख कर्म और धर्म जलकर भस्मीभूत हो जाएँ। जिस योग एवं ज्ञान की साधना में राम के प्रेम की प्रधानता है वस्तुत वह कुयोग एव अज्ञान की साधना के ही समान है।[4] महर्षि वसिष्ठ राम के द्वारा प्रस्तुत समस्या के समाधान को ब्रह्म ज्ञान के कोष पवित्र सज्जन वर्ग में अग्रण रहने वाले तथा मनुष्यों के रक्षक राजा जनक पर रखते हैं क्योंकि उस सभा मे उक्त समस्या का समाधान करने वाले उनसे अधिक योग्य कोई नही हैं।[5] पर वसिष्ट की बात सुनकर ज्ञानी जनक के हृदय म प्रेम प्रवाहित हो उठता है। उनके ज्ञान और वराग्य उनसे विरक्त हो जाते हैं—

सुनि मुनि बचन जनक अनुरागे।
लखि गति ग्यानु बिरागु बिरागे॥"[6]

वस्तुतः ज्ञान और वैराग्य के शुष्क जीवन की ओर वढ़त् को ले जाना तुलसी को इष्ट नही है। उनकी साधना योग ज्ञान और वैराग्य की व्यक्ति मूलक साधना न होकर भक्ति

---

१ मा० २ २७३ ४—२ १७३

२ मा० २ ६७४ १

३ नाथ भरतु पुरजन महतारी। सोक बिकल बनबास दुखारी॥
सहित समाज राउ मिथिलेसू। बहुत दिवस भए सहत कलेसू॥
उचित होइ सोइ कीजिअ नाथा। हित सबही कर रौरें हाथा॥
—मा २ २१० ४ ६

४ मा० २११ ३— २११ ३

५ मा २ २११

६ मा० २१२ १

की सार्वजनिक एव मावमुमक साधना है। इधर 'सकल सुखों की खान' मक्ति के लिए ज्ञान की भाँति किसी दूसरे अवलम्ब की अपेक्षा नही है। वह स्वतंत्र है और ज्ञान विज्ञान उसी के अन्तर्गत समाहित है।[1] शिव ब्रह्मा शुकदेव सनकादि और नारद आदि जो ब्रह्म विचार में परम प्रवीण हैं उन सबका अन्तिम सिद्धात यही है कि राम के चरण कमलों मे भक्ति करनी चाहिए। वेद पुराण आदि सभी ग्रन्थों का यही निर्णय है कि राम का भक्ति के बिना सुख सम्भव नहीं है।[2] समस्त सांसारिक कार्यों को विस्मृत कर राम-भक्ति की साधना ही वैदिक सिद्धात है।[3] मन वचन एवं कर्म से राम के चरणों में प्रेम ही परम परमार्थ है।[4]

ज्ञान से भक्ति की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करने के लिए 'मानस' के काकवि भक्ति-मणि की महत्ता का भी मायम करते हैं। जिस प्रकार वे ज्ञान की तुलना दीपक से करते हैं उसी प्रकार भक्ति की तुलना मणि से करते हैं। उनकी दृष्टि में राम भक्ति चिन्तामणि के समान सुन्दर है। यह जिस हृदय में बसती है उसम दिन रात परम प्रकाश बना रहता है। उस दीपक घी और बत्ती कुछ भी नहीं चाहिए। मोह रूपी दरिद्रता उसके निकट नहीं आती। इस मणिमय दीप को लोभ रूपी हवा बुझा नही सकती। इसके प्रकाश से अविद्या का प्रबल अन्धकार नष्ट हो जाता है और मदादि पतंगों का सारा समूह परास्त हो जाता है। जिसके हृदय में भक्ति बसती है उसके निकट काम क्रोध लोभ आदि दुष्ट फटकने नही पाते। उनके लिए विष अमृत और शत्रु मित्र हो जाते हैं। इस मणि के बिना कोई सुख नही पाता। सबसे बड़ा लाभ तो यह है कि उसे बड़े-बड़े मानस-रोग जिनके वश होकर सब जीव दुखी हो रहे हैं नहीं सता पाते। जिसके हृदय में यह राम-भक्ति रूपी मणि बसती है, उसे स्वप्न में भी लेश मात्र दुख नहीं होता। ससार में वे ही मनुष्य चतुरों के शिरोमणि हैं जो इस भक्ति-मणि की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील हैं।[5]

वस्तुत मक्ति की साधना में प्रारम्भ से ही सुख ही सुख है। अत सभी आचार्यों ने एक स्वर से सर्वसाधारण एवं सुकुमार साधकों के लिए भक्ति के प्रशस्त राजपथ की महिमा को स्वीकार किया है। इस पथ का श्रीगणेश निवृत्ति एवं त्याग से नहीं प्रत्युत प्रवृत्ति एवं संग्रह से होता है। यही कारण है कि यह पथ सामान्य जन-समुदाय के लिए सर्वथा सुगम सुखकर एवं श्रेयस्कर है। सांसारिक सुखों की प्राप्ति के लिए भी भक्ति करने से जन्म-मृत्यु-रूप ससार की जड़ अविद्या बिना ही प्रयत्न एव परिश्रम के स्वत वैसे ही नष्ट हो जाती है

---

१ मा ३ ११६ ३ ७ ४५ ५ (पू)
२ मा ७ १२२ १२—१४ ७ ८६ (क) उ
३ मा० ७ १० ३ २
४ मा २ २३९ ३
५ मा ७ १२० २ १

है और भगवान् के चरणों में प्रेम-भक्ति उत्पन्न होती है।[1] संसार में ज्ञान के समान दुर्लभ कुछ भी नहीं है।[2] ज्ञानी भगवान् का विशेष प्रिय भी होता है।[3] (क) यह ज्ञान ही भक्ति का प्रथम सोपान है। ज्ञान से विश्वास उत्पन्न होता है विश्वास से प्रेम होता है और प्रेम से भक्ति की उत्पत्ति होती है।[4] भक्ति मणि के अन्वेषण में ज्ञान एवं वैराग्य रूपी नेत्रों की नितान्त अपेक्षा है।[5] वैराग्य रूपी ढाल से अपनी रक्षा करते हुए, ज्ञान रूपी तलवार से ही मद लोभ एवं मोह रूपी शत्रुओं का संहार कर हरि-भक्ति रूपी विजय की प्राप्ति की जाती है।[6] अतः जहाँ सच्ची भक्ति होगी वहाँ ज्ञान पीछे नहीं रहेगा। राम के महान् भक्त हनुमान् जी ज्ञानी ही नहीं बल्कि ज्ञानियों में अग्रगण्य भी हैं।[7] भगवान् को अज अद्वैत अरूप अनुभवगम्य एवं सर्वभूतमय मानने वाले निर्गुण पन्थी एवं ज्ञान मार्गी महर्षि लोमश में भी भक्ति का अभाव नहीं है तभी तो काक शरीर प्राप्त करने का कठोर अभिशाप देने पर भी सगुणोपासक परम राम भक्त काकभुशुण्डि की एकनिष्ठा को देखकर वे उन्हें राम-मन्त्र का उपदेश देते हैं और उनसे राम कथा का वर्णन करते हैं। तुलसीदास वस्तुतः भक्ति रहित ज्ञान की ही भर्त्सना करते हैं भक्ति युक्त ज्ञान की कदापि नहीं।

भक्ति की दुर्लभता का भी प्रतिपादन

तुलसी ने भक्ति-मार्ग की सरलता के साथ ही साथ उसकी दुर्लभता का भी प्रतिपादन किया है। वस्तुतः राम की भक्ति करने में बड़ी कठिनाई भी है। कहना तो सहज है पर उसका करना कठिन। इसे वही जानता है जिससे वह करते बन गयी।[8] काकभुशुण्डि के

---

१ होइ बिबेकु मोह भ्रम भागा। तब रघुनाथ चरन अनुरागा ॥
—मा २ ९३ ५
बिमल ज्ञान जल जब सो नहाई। तब रह राम भगति उर छाई ॥
—मा ७ १२२ ११
भयेउ प्रकास कतहुँ तम नाहीं। ज्ञान उदय जिमि संसय जाहीं ॥
—मा ६ ४७ ४
२ नहिं कछु दुर्लभ ज्ञान समाना।
—मा० ७ ११५ ६ (उ)
३(क) ज्ञानी प्रभुहि बिसेष पियारा।
—मा० १ २२ ७ (उ०)
४ जाने बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती ॥
प्रीति बिना नहिं भगति दृढ़ाई। जिमि खगपति जल कै चिकनाई ॥
—मा ७ ८९ ७-८
५ सद्गुरु बैद्य मुनि बचन बिचारी। ज्ञान बिराग नयन उरगारी।
भाव सहित खोजइ जो प्रानी। पाव भगति मनि सब सुख खानी ॥
—मा ७ १२० १४ १५
६ मा० ७ १२ (ख)
७ मा० ५ श्लो० ३
८ रघुपति भगति करत कठिनाई।
कहत सुगम करनी अपार जानै सोइ जेहि बनि आई ॥ इत्यादि।
—विनय-पत्रिका पद १६७

प्रथम म राम भक्ति की आत्यन्तिक दुर्लभता का प्रतिपादन करती हुई पार्वती शंकर से कहती हैं

'सब ते सो दुर्लभ सुर राया । राम भगति रत गत मद माया ॥"[1]

पार्वती के शब्दों म सहस्रों मनुष्यों मे से कोई एक व्यक्ति धर्म के व्रत का पालन करने वाला होता है। करोड़ों धर्मात्माओं में से कोई एक व्यक्ति विषयों से विमुख होकर वैराग्य-परायण होता है। करोड़ों विरक्तों में से कोई एक व्यक्ति सम्यक् ज्ञान को प्राप्त करता है। करोड़ों ज्ञानियों मे कोई एक ही व्यक्ति जीवन्मुक्त होता है। सहस्रों मे भी सब सुखों की खान ब्रह्मलीन विज्ञानी व्यक्ति मिलना और भी दुर्लभ है। धर्मशील विरक्त ज्ञानी जीवन्मुक्त और ब्रह्मलीन विज्ञानियों में भी मद-माया से रहित होकर राम भक्ति में परायण प्राणी अत्यन्त दुर्लभ है।[2] भक्ति करने के लिए समस्त सांसारिक पदार्थों के प्रति सुदृढ़ रहने वाली सारी आसक्तियों का परित्याग करना पड़ता है।[3] भक्ति में सारे सांसारिक सम्बन्धों का केन्द्र बिन्दु भगवान् को ही बनाना होता है। माता पिता भाई पुत्र स्त्री शरीर धन घर मित्र और परिवार इन सब के ममत्व-रूपी डोरियों को बटोर कर और उन सबकी एक डोरी बना कर उसके द्वारा अपने मन को भगवान् के चरणों म ही आबद्ध कर देना पड़ता है।[4] भक्ति मार्ग में सुख सम्पत्ति परिवार एवं बड़ाई सब को त्याग कर भगवान् के चरणों की आराधना करनी पड़ती है क्योंकि ये सब राम भक्ति के बाधक तत्त्व हैं।[5] राम की भक्ति समस्त संसार से विरक्त होकर, सब आशा और भरोसा को तिलांजलि देकर की जाती है।[6] शरीर के निर्वाह के लिए भक्त को जो कुछ मिल जाय उसी से उसे सदा संतोष करना पड़ता है।[7]

---

१ मा० १ ५४ ७

२ मा० ७ ५४ २–५

३ मा० ४ २१ १ (उ०) तुलसी सतसई, प्रथम सर्ग दो० ४४

४ मा० ५ ४८ ४–५

५ मा० ४ ७ १६–१७

६ (क) तजि सकल आस भरोस गावहि सुनहि सन्तत सठ मना ॥
—मा० ५ ६ १२

(ख) निज सिद्धान्त सुनावउँ तोही । सुनु मन धरु सब तजि भजु मोही ॥
—मा ७ ८६ २

(ग) सत्य कहउँ खग तोहि सुचि सेवक मम प्रान प्रिय ।
अस बिचारि भजु मोहि परिहरि आस भरोस सब ॥
—मा० ७ ८७ क

(घ) तजि माया सेइअ परलोक ।
—मा० ४ २२ ५

७ जथा लाभ संतोष सदाई ।
—मा० ७ ४६ २ (उ०)

भगवान् राम अयोध्या की प्रजाओं को उपदेश देते हुए कहते हैं कि मेरा दास कहलाकर भी यदि कोई मनुष्यों की आशा करता है, तो कहो उसका मुझ पर क्या विश्वास है ?

"मोर दास कहाइ नर आसा । करइ तौ कहहु कहा बिस्वासा ।।"[1]

सगुण और निर्गुण ब्रह्म में तादात्म्य

तुलसी ने सगुण और निर्गुण ब्रह्म में भी तादात्म्य स्थापित किया है । उनकी दृष्टि में निर्गुण और सगुण ब्रह्म के दो स्वरूप हैं । ये दोनों अकथनीय अगम और अनुपम हैं ।[2] वे दोनों की सापेक्ष महत्ता स्वीकृत करते हैं । बिना निर्गुण के सगुण की या बिना सगुण के निर्गुण की कल्पना कदापि संभव नहीं ।[3] परब्रह्म की निर्गुण अवस्था की अपेक्षा उसकी सगुण अवस्था सर्वथा भिन्न एवं सुन्दर है । शरद् ऋतु का वर्णन करते हुए वे कहते हैं कि कमलों के फूलने से तालाब वैसे ही शोभित हो रहा है जैसे निर्गुण ब्रह्म सगुण होने पर शोभित होता है ।[4] वस्तुतः निर्गुण और सगुण दोनों प्रकार के ब्रह्म का ज्ञान अग्नि के समान है । निर्गुण उस अप्रकट अग्नि के समान है जो काठ के अन्दर है परन्तु दृष्टिगोचर नहीं होती और सगुण उस प्रकट अग्नि के समान है जो प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होती है ।[5] "रामचरित मानस" के अनेकानेक स्थलों पर तुलसी ने अपना यह विचार व्यक्त किया है कि वास्तव में ब्रह्म निर्गुण ही है ।[6] पर वही ज्ञान वाणी और इन्द्रियों से परे अजन्मा ब्रह्म अपने भक्तों के प्रेम के कारण सगुण बन जाता है और लीला शरीर धारण कर लेता है ।[7] यही कारण है कि तुलसी एक ही पंक्ति में सगुण ब्रह्मवादी भी बने रहते हैं और निर्गुण ब्रह्मवादी भी बन जाते हैं । सगुण और निर्गुण ब्रह्म में अभेद भाव प्रकट करते हुए शिव पार्वती से कहते हैं

"सगुनहि अगुनहि नहिं कछु भेदा । गावहिं मुनि पुरान बुध बेदा ।।
अगुन अरूप अलख अज जोई । भगत प्रेम बस सगुन सो होई ।।
जो गुन रहित सगुन सोइ कैसें । जलु हिम उपल बिलग नहिं जैसें ।।[8]

मानस के प्रायः प्रत्येक संवाद स्तुति और वर्णन में निर्गुण ब्रह्म और सगुण रूप

---

१ मा ७४६ १
२ मा १२३ १
३ ग्यान कहै अग्यान बिनु तम बिनु कहै प्रकास ।
निरगुन कहै जो सगुन बिनु सो गुरु तुलसीदास ।।
—दोहावली दो २५१
४ मा ४१७ २
५ मा १२३ ४
६ मा १११ १ ११४४ १ ५ १२ ५ (पू)
७ मा० ११६८ १११ ४ ११४४७ १२ ५ ७२५
८ मा १११६ १-३

भगवान् राम में तादात्म्य स्थापित किया गया है। अत्रि[1] सुतीक्ष्ण[2] जनक[3] अगस्त्य[4] शिव[5] सनकादि[6] वेद[7] देवता-गण[8] आदि के उद्गार इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। निर्गुण ब्रह्म और सगुण ब्रह्म भगवान् राम में अभेद भाव नहीं मानने वालों के प्रति आक्रोश प्रकट करते हुए शिव पार्वती से कहते हैं

> "निज भ्रम नहिं समुझहिं अग्यानी। प्रभु पर मोह धरहिं जड़ प्रानी॥
> जथा गगन घन पटल निहारी। झाँपेउ भानु कहहिं कुबिचारी॥
> चितव जो लोचन अंगुलि लाएँ। प्रगट जुगल ससि तेहि के भाएँ॥
> उमा राम बिषइक अस मोहा। नभ तम धूम धूरि जिमि सोहा॥[9]

इस तरह यद्यपि तुलसी ने ब्रह्म के निर्गुण और सगुण रूप में अभेद भाव प्रदर्शित किया है तथापि उन्हें निर्गुण रूप की अपेक्षा सगुण रूप ही अत्यधिक प्रिय है।

'रामचरितमानस' में शिव[10] सुतीक्ष्ण[11] अगस्त्य[12] जामवंत[13] हनु-[14]

---

१ मा० १ ८ १७–२२

२ निर्गुन सगुन बिषम सम रूपं। ग्यान गिरा गोतीतमनूपं॥
अमलमखिलमनवद्यमपारं। नौमि राम भंजन महि भारं॥
—मा ३ ११ ११–१२

३ व्यापक ब्रह्म अलख अविनासी। चिदानंद निरगुन गुनरासी॥
—मा १ ३४१ ६

४ जय राम रूप अनूप निर्गुन सगुन गुन प्रेरक सही।
—मा ३ ३२ ३

५ अगुन सगुन गुन मन्दिर सुन्दर।
—मा ६ ११५ ३ (पू०)

६ जय भगवन्त अनन्त अनामय। अनघ अनेक एक करुनामय॥
जय निर्गुन जय-जय गुन सागर। सुख मन्दिर सुन्दर अति नागर॥
—मा ७ ३४ २–३

७ जय सगुन निर्गुन रूप-रूप अनूप भूप सिरोमने।
—मा ७ १३ १

८ मा० ६ ११० १–४

९ मा० १ ११७ १–४

१० पुरुष प्रसिद्ध प्रकास निधि प्रगट परावर नाथ।
रघुकुल मनि मम स्वामि सो कहि सिव नायउ माथ॥
—मा १ ११६

११ जे जानहिं ते जानहुँ स्वामी। सगुन अगुन उर अन्तर जामी॥
जो कोसलपति राजीव नयना। करउ सो राम हृदय मम अयना॥
—मा ३ ११ १९–२

(शेष अगले पृष्ठ पर)

वेद[1] और काकभुशुण्डि[2] की उक्ति तथा विनयपत्रिका के कतिपय पद[3] इसकी पुष्टि करते हैं। भक्त के लिए सगुण रूप की सर्वाधिकप्रियता सर्वथा अनिवार्य भी है। इसी विषय को ध्यान में रख कर कदाचित् रानडे ने अपना यह उद्गार किया है—"यह कहना काफी है कि तुलसीदास में सगुण निर्गुण का विरोधी नहीं है यद्यपि निर्गुण से सगुण प्रधान है और राम रूप में सगुण सर्वोत्कृष्ट आकार पा सका है।"[4]

तुलसी माया से आच्छन्न पुरुष के लिए निर्गुण ब्रह्म को अगम्य बतलाते हैं[5] पर निर्गुण रूप की अपेक्षा सगुण रूप की कठिनता का भी उन्होंने यत्र-तत्र उल्लेख किया है।[6]

मानसकार की भक्ति में सर्वांगपूर्णता

तुलसी की भक्ति जीवन के किसी पक्ष से सर्वथा संबंध विच्छेद कर नहीं चलती है।

(पिछले पृष्ठ का शेष)

१२ जद्यपि ब्रह्म अखंड अनंता। अनुभव गम्य भजहिं जेहि संता।
अस तव रूप बखानउँ जानउँ। फिरि फिरि सगुन ब्रह्म रति मानउँ॥
—मा० ३ १३ १२–१३

१३ तात राम कहुँ नर जनि मानहु। निर्गुन ब्रह्म अजित अज जानहु॥
हम सब सेवक अति बड़भागी। संतत सगुन ब्रह्म अनुरागी॥
निज इच्छा प्रभु अवतरइ सुर महि गो द्विज लागि।
सगुन उपासक संग तहँ रहहिं मोच्छ सब त्यागि॥
—मा० ४ २६ १२–४ २६

१४ कोउ ब्रह्म निर्गुन ध्याव। अव्यक्त जेहि श्रुति गाव॥
मोहि भाव कोसल भूप। श्री राम सगुन सरूप॥
—मा० ६ ११३ १३–१४

१ जे ब्रह्म अजमद्वैत मनुभवगम्य मन पर ध्यावहीं।
ते कहहुँ जानहुँ नाथ हम तव सगुन जस नित गावहीं॥
—मा ७ १३ २१–२२

२ जेहि पूछउँ सोइ मुनि अस कहई। ईस्वर सर्ब भूतमय अहई॥
निर्गुन मत नहिं मोहि सोहाई। सगुन ब्रह्म रति उर अधिकाई॥
—मा० ७ ११ १५–१६

३ विनयपत्रिका पद संख्या ५४ ५५

४ Pathway to god in Hindi Literature
R D Ranede Page 108–109

५ मायाछन्न न देखिए जैसे निर्गुन ब्रह्म॥
—मा ३ ३९ (क) उ०

६ (क) निर्गुन रूप सुलभ अति सगुन जान नहिं कोइ।
सुगम अगम नाना चरित सुनि मुनि मन भ्रम होइ॥
—मा० ७ ७३ (ख)

(ख) चरित राम के सगुन भवानी। तर्कि न जाहिं बुद्धि बल बानी॥
—मा० ६ ७२ १

का सर्वांग पूर्ण है। सब पक्षों के साथ उसका सन्तुलित सामंजस्य है। न उसका कर्म से विरोध है न ज्ञान से न निर्गुण से। शिव की उपासना के लिए अपेक्षित योग का भी उसमें समन्वय है। वस्तुतः योग चित्त की वृत्तियों का निरोध है।[1] भक्ति एवं प्रेम की स्थिति में मन की गति का निरोध तुलसी ने देखा है। मन जब प्रेम से भर जाता है तब वह अन्य गति के लिए रिक्त हो जाता है। उसकी गति अवरुद्ध हो जाती है और उसकी वृत्तियों का निरोध हो जाता है।[2] शबरी, शरभंग, शिव, सती आदि के प्रसंग में योग समन्वित भक्ति का रूप स्पष्टतया परिलक्षित होता है। शबरी[3] शरभंग[4] और सती[5] तो योगाग्नि में ही अपने शरीर को भस्म करती हैं। शिव तो सदा के लिए योगी, अकाम और अभोगी हैं।[6] तुलसी ने "कमलासन" मारकर अगाध अपार एवं असाधारण समाधि लगाने वाले शिव का सुन्दर वर्णन किया है।[7] पर शिव जितने महान् सिद्ध योगी हैं उतने ही महान् सिद्ध भक्त भी हैं।[8] इस तरह तुलसी की भक्ति में योग का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। वस्तुतः उनकी भक्ति के अन्तर्गत योग, ज्ञान, वैराग्य सब समाहित हैं। मानस के राम स्वयं शिव, योग, ज्ञान एवं वैराग्य की निधि भी हैं।[9]

"मानस" में प्रतिपादित भक्ति का सामाजिक पक्ष

तुलसी की भक्ति सामाजिक धरातल पर अवस्थित है। वह व्यक्तिगत साधना एवं व्यक्ति मात्र के कल्याण के लिए ही नहीं है प्रत्युत लोक-साधना एवं लोक-कल्याण के लिए भी

---

१ योगश्चित्तवृत्ति निरोधः —पातंजल दर्शन समाधिपाद सूत्र २

२ कोउ किछु कहइ न कोउ किछु पूछा। प्रेम भरा मन निज गति छूछा॥
—मा० २ २४२ ७

३ कहि कथा सकल बिलोकि हरि मुख हृदयँ पद पंकज धरे।
तजि जोग पावक देह हरि पद लीन भइ जहँ नहिं फिरे॥
—मा० ३ ३६ १४-१५

४ अस कहि जोग अगिनि तनु जारा। राम कृपाँ बैकुंठ सिधारा॥
—मा० ३ ९ १

५ अस कहि जोग अगिनि तनु जारा। भयउ सकल मख हाहाकारा॥
—मा० १ ६४ ८

६ हमरें जान सदा सिव जोगी। अज अनवद्य अकाम अभोगी॥
—मा० १ ९० १

७ (क) तहँ पुनि संभु समुझि पन आपन। बैठे बट तर करि कमलासन॥
संकर सहज सरूपु सम्हारा। लागि समाधि अखंड अपारा॥
—मा० १ ५८ ७-८

(ख) बीतें संबत सहस सतासी। तजी समाधि संभु अबिनासी॥
—मा० १ ६० २

८ राम भगत समरथ भगवाना। —मा० १ २०५ (उ)

९ मा० १ १०७

है।[1] लोक-कल्याण के लिए आत्म बलिदान करने वाले को वे स्तुत्य मानते हैं।[2] उनकी भक्ति संसार को छोड़कर नहीं चलती। आवश्यकता उपस्थित होने पर वे बिना हिचकिचाहट के वेद विहित परम धर्म अहिंसा[3] को छोड़ने का परामर्श देते हैं।[4] उसमें साधुमत एवं लोकमत दोनों का समन्वय है।[5] जिस भक्ति से संसार की रक्षा होती है जिससे समाज चाहता है वही वास्तविक भक्ति है। तुलसी की भक्ति को अकर्मण्य परावलम्बी एवं निस्तेज बना देने वाली नहीं है। वह तो उसे सतत् कर्मयोगी एवं तन-मन-वचन से लोक-मङ्गल-साधना के निमित्त निरन्तर सचेष्ट एवं जागरूक रहने की प्रबल प्रेरणा प्रदान करती है। यही कारण है कि वह व्यष्टिनिष्ठ न होकर समष्टिनिष्ठ हो उठी है। उसके अन्तस्तल से लोक-मंगल की कामना कभी भी तिरोहित नहीं हो सकी है। उसमें समस्त सांसारिक मर्यादाओं का आदर्श अक्षुण्ण है। चित्रकूट में वशिष्ठ एवं निषादराज का मिलन प्रकरण इसका सुन्दरतम उदाहरण है। प्रेम से पुलकित होकर अपना नाम बतलाकर निषादराज अपनी जातिगत हीनता के कारण लोकमत की मर्यादा का निर्वाह करते हुए वशिष्ठ जैसे महर्षि को दूर ही से दण्डवत् प्रणाम करता है। पर महर्षि वशिष्ठ राम सखा को 'बरबस' हृदय से लगाकर अपनी महानता का परिचय देते हुए साधुमत का सफल निर्वाह करते हैं। पृथ्वी पर पड़कर प्रणाम करता हुआ निषादराज महर्षिवर वशिष्ठ को ऐसा प्रतीत हुआ मानो प्रेम पृथ्वी पर गिरकर बिखर गया हो जिस बिखरे हुए प्रेम को उन्होंने समेट कर अपने हृदय से लगा लिया।[6] भरत-निषाद राज के मिलन का वर्णन करते हुए भी तुलसी ने इसी स्थिति का स्पष्टीकरण किया है।[7] इसी तरह काकभुशुण्डि के प्रसंग में भी गुरु को

---

१ परहित सरिस धरमु नहिं भाई।
—मा० ७ ४१ १ (पू) विनयपत्रिका पद १७२, पं० ४

२ परहित लागि तजइ जो देही। सन्तत संत प्रसंसहिं तेही॥
—मा० १ ८४ २

३ परम धरम श्रुति विदित अहिंसा॥
—मा ७ १२१ २२ (पू०)

४ (क) अनुज बधू भगिनी सुतनारी। सुनु सठ कन्या सम ए चारी।
इन्हहि कुदृष्टि बिलोकइ जोई। ताहि बधें कछु पाप न होई॥
—मा० ४ ९ ७—८

(ख) सठ सँग भीपति अपवादा। मुनिल जहाँ तहँ असि मरजादा॥
काटिअ तासु जीभ जो बसाई।... ......
—मा० १ ६४ ३—४ (पू०)

५ मा० २ २५८

६ प्रेम पुलकि केवट कहि नामू। कीन्ह दूरि तें दण्ड प्रनामू॥
राम सखा रिषि बरबस भेंटा। जनु महि लुठत सनेह समेटा॥
—मा० २ २४३ २ ३

७ मारग बेर सब मांतिहिं नीचा। जासु छाँह छुइ लेइअ सींचा॥
तेहि भरि अंक राम लघु भ्राता। मिलत पुलक परिपूरित गाता॥
—मा० २ १९४ १ ४

शिव मन्दिर में अभिमान के कारण प्रणाम नहीं करके अपमानित करने वाले काक का भगवान् शिव के द्वारा अभिशाप दिया जाना लोकमत की मर्यादा की रक्षा का प्रतीक है और अभिवादन नहीं किये जाने पर भी काक के गुरु के हृदय को लेश मात्र भी क्रोध का नहीं होना तथा शिव द्वारा शाप दिये जाने पर उनसे उसके परम कल्याण की प्रार्थना करना उनके साधुमत की मर्यादा के सफल निर्वाह का परिचायक है। तुलसी भक्ति के आवेश में कभी भी समाज का त्याग नहीं करते। भरत जब राम को मनाने के लिए चित्रकूट जा रहे हैं तब वे नगर, घोड़े, हाथी, महल-खजाना आदि सारी सम्पत्ति की रक्षा की व्यवस्था करके ही आगे बढ़ते हैं। उनके विचार में सारी सम्पत्ति भगवान् राम की है और उसे ऐसे ही छोड़कर चलने में भलाई नहीं है क्योंकि स्वामी का द्रोह सब पापों में शिरोमणि है।[1] इसी तरह राजा जनक भी घर, नगर और देश में रक्षकों को रखकर ही चित्रकूट के लिए प्रस्थान करते हैं।[2] भक्त शिरोमणि भरत और जनक के जीवन में राम के प्रति अपार प्रेम और सामाजिक कर्तव्य दोनों का समानान्तर निर्वाह प्रदर्शित करके तुलसी ने इंगित किया है कि कर्तव्य रहित राम भक्ति के वे समर्थक नहीं हैं। तुलसी की भक्ति में सबल लोक संग्रह का अत्यन्त व्यापक भाव विद्यमान है। लोक मर्यादा की रक्षा के लिए ही राम के अनन्य भक्त तुलसी अपनी कृतियों में पहले विद्या की अधिष्ठातृ देवी वाणी तथा विद्या के अधिष्ठाता देवता विनायक की वन्दना करके ही अपने आराध्य का गुण-गान प्रारम्भ करते हैं।[3]

तुलसी ने अपनी भक्ति का ज्ञान योग कर्म आदि के साथ ही सामञ्जस्य स्थापित नहीं किया प्रत्युत तत्कालीन साम्प्रदायिक झगड़ों को समूल नष्ट करने के लिए भारत के सम्मान्य इष्टदेवों में भी इस कुशलता के साथ सामञ्जस्य स्थापित किया है कि किसी भी सम्प्रदाय के इष्टदेव के प्रति विद्वेषात्मक भाव उठने ही नहीं पाता। एक देवता के अनुराग में पड़कर उन्होंने किसी अन्य देवी-देवता की उपेक्षा नहीं की। उनके समय में आर्य भावनाओं के अनुकूल जितने मत सम्प्रदाय और उपासना के अन्य प्रचलित केन्द्र थे उन सबसे उन्होंने अपने आराध्य या आराध्या को सम्बद्ध बताया है। पर आर्य भावनाओं के सर्वथा प्रतिकूल आचरण करने वाले कौल एवं वाम पथ पर उन्होंने कठोर प्रहार किया है।[4] साम्प्रदायिक संकीर्णता के कारण छिन्न-भिन्न होने वाले भारतीय समाज की सांस्कृतिक एकता की रक्षा के लिए तुलसी का यह प्रशंसनीय प्रयत्न उनकी सभी प्रमुख कृतियों में स्पष्टतया परिलक्षित

---

१ भरत चाह घर कोउ विचारू। नगर बाजि गज भवन भँडारू॥
सम्पति सब रघुपति कै आही। जौं बिनु जतन चलौं तजि ताही॥
तौ परिनाम न मोरि भलाई। पाप सिरोमनि साईं दोहाई॥
—मा २।१८६।२४

२ घर पुर देस राखि रखवारे। हय गय रथ बहु जान सँवारे॥
दुघरी साधि चले ततकाला। किये बिश्रामु न मग महिपाला॥
—मा २।२७२।४।५

३ मा १ श्लो १ विनयपत्रिका पद १

४ मा० ६।११।२४ २।१६८।७–८

होता है। पर रामचरितमानस और विनयपत्रिका में इसका विराट आयोजन दृष्टिगोचर होता है। मानस में कदाचित् ही कोई देवता स्थान पाने से बच पाये हों। भगवान् राम और शिव तो इस कथा का आधारशिला एवं मेरुदण्ड ही हैं पर मानस के अनेकानेक प्रसंगों और स्थलों पर पार्वती गणेश सरस्वती गंगा सूर्य आदि अन्यान्य देवी-देवताओं की भी स्तुतियाँ तुलसी की सर्वदेव समन्वयकारिता की पुष्टि कर रही है। वस्तुतः समस्त पौराणिक सम्प्रदायों के सात्विक स्वरूप में तुलसी का अखण्ड विश्वास है। यही कारण है कि उन्होंने अपनी कृतियों में वैष्णव शैव शाक्त गाणपत्य सौर प्रभृति सभी सम्प्रदायों के इष्टदेवों को महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया है और सबों की वन्दनाएँ करते हुए उनसे रामभक्ति की याचना की है। राम की भक्ति को निर्विवाद रूप से सर्वश्रेष्ठ स्वीकार करते हुए राम की अनन्य भक्ति की आकांक्षा ही तुलसी की विशेष साम्प्रदायिकता है। तुलसी की यह साम्प्रदायिकता संकीर्णता एवं कट्टरता आदि दुर्गुणों से सर्वथा मुक्त रहकर दूसरे सम्प्रदायों को भी मुक्त रहने की प्रबल प्रेरणा प्रदान करने वाली है। डॉ॰ राजपति दीक्षित के शब्दों में अपनी विश्व संग्राहिका-बुद्धि तथा अपने महान् विलक्षण उदार हृदय के कारण उन्होंने अपनी साम्प्रदायिकता को वह व्यापक रूप दिया है जिसमें आर्य सनातन धर्म को किसी भी सात्विक रूप में मानकर चलने वाले सम्प्रदायों की अन्तरात्मा का सुसम्बद्ध समन्वय है।[1]

"मानस" में विविध देव-समन्वय

तुलसी को कुल विशेष के इष्टदेव ग्रामदेव नामदेव आदि की पूजा में भी अखण्ड विश्वास है और उन्होंने उन्हें महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया है। रामचरितमानस के बाल काण्ड में कौशल्या रघुकुल के इष्टदेव भगवान् रंगदेव जी की पूजा के लिए स्नान करती हैं और पूजा करके उन्हें नैवेद्य चढ़ाती है।[2] राम राज्याभिषेक के अवसर पर उन्होंने ग्राम देवियों देवताओं और नागों की पूजा की और कार्य सम्पन्न होने पर पुनः पूजा करने की मनौती मानी।[3] अपने विवाह के समय में शिवधनु को तोड़ने में राम की असमर्थता की संभावना करके महारानी सीता धनुष के भारीपन को दूर करने के लिए शिव पार्वती एवं गणेश से अनुनय-विनय कर रही हैं।[4] अपनी वन यात्रा के प्रारम्भ में राम गणेश पार्वती

---

१ तुलसीदास और उनका युग पृ॰ ११६ का अन्तिम वाक्य

२ निज कुल इष्टदेव भगवाना। पूजा हेतु कीन्ह अस्नाना॥
करि पूजा नैवेद्य चढ़ावा।

—मा॰ १ २०१ २ ३ (पू॰)

३ पूजी ग्राम देवि सुर नागा। कहेउ बहोरि देन बलिभागा॥

—मा॰ २ ८ ५

४ मन ही मन मनाव अकुलानी। होहु प्रसन्न महेस भवानी।
करहु सफल आपनि सेवकाई। करि हितु हरहु चाप गरुआई॥
गननायक बरदायक देवा। आजु लगें कीन्हिउँ तुअ सेवा॥
बारबार बिनती सुनि मोरी। करहु चाप गुरुता अति थोरी॥

— मा २ २३७ ५-८

और शिव का मंगलमय ध्यान करते हैं।[1] उसी क्रम में केवट के द्वारा गंगा पार कर दिये जाने के पश्चात् राम स्नान करके पार्थिव पूजा करते हैं और शिव को सिर नवाते हैं तथा महारानी सीता गंगा माता से अपनी मनोकामनाओं की पूर्ति के लिए करबद्ध प्रार्थना करती हैं जिससे पति और देवर के साथ सकुशल लौटकर उन्हें गंगा की पुनः पूजा करने का सौभाग्य प्राप्त हो सके।[2] यह सौभाग्य उन्हें प्राप्त भी होता है और वन की असह्य विपत्तियों को झेलकर अपने पति और देवर के साथ अयोध्या लौटती हुई सीताजी मार्ग में बहुत प्रकार से गंगा की पूजा करके उनके चरणों की वन्दना करती हैं तथा अनन्त सुहागिन बने रहने का शुभाशीर्वाद पाती हैं।[3] राम को मनाने के लिए भरत के साथ जो अयोध्यावासी स्त्री-पुरुष चित्रकूट गये हैं वे सब वहाँ स्नान करके गणेश, पार्वती, शिव और सूर्य भगवान् की पूजा करते हैं तथा लक्ष्मीपति भगवान् विष्णु के चरणों की वन्दना करके उनसे राम जानकी को अयोध्या लौटाने की प्रार्थना करते हैं।[4] राम के मंगलमय विवाहोत्सव के शुभावसर पर अयोध्या से जनकपुर के लिए प्रस्थान करते हुए राजा दशरथ शिव, गुरु, पार्वती और गणेश का स्मरण करके ही रथ पर आरूढ़ होते हैं।[5]

तुलसी की दृष्टि में राम नाम के प्रभाव से गणेश समस्त देवों में प्रथम पूज्य हैं।[6] औरों की तो बात ही क्या साक्षात् उनके पिता-माता शिव-पार्वती ने भी अपने विवाह के समय उनका पूजन किया था।[7] बुद्धि की राशि और शुभ गुणों के धाम 'करिवर-वदन' गणेश के स्मरण करने से ही सभी कार्य सिद्ध हो जाते हैं। अतः तुलसी उनके अनुग्रह के आकांक्षी हैं[8] और सकल मंगल कार्यों के प्रारंभ में उनकी अभिवन्दना करते हैं। सीता-स्वयंवर के अवसर पर राम द्वारा शिवधनु के तोड़े जाने के लिए जनकपुर के स्त्री-पुरुषों ने शिव और देवताओं की

---

१ गनपति गौरि गिरीसु मनाई। चले असीस पाइ रघुराई॥
—मा० २।८१।२

२ तब मज्जनु करि रघुकुल नाथा। पूजि पारथिव नायउ माथा॥
सियँ सुरसरिहि कहेउ कर जोरी। मातु मनोरथ पुरउबि मोरी॥
पति देवर संग कुसल बहोरी। आइ करौं जेहि पूजा तोरी॥
—मा० २।१०३।२-३

३ तब सीताँ पूजी सुरसरी। बहु प्रकार पुनि चरनन्हि परी॥
दीन्हि असीस हरषि मन गंगा। सुन्दरि तव अहिवात अभंगा॥
—मा० ६।१२१।८-९

४ मा० २।२७३।१

५ चलेउ स्यंदन सुमिरि हर गुर गौरि गनेसु॥
—मा० १।३०१ (उ०)

६ मा० १।१९।४

७ मा० १।१०० (पू०)

८ मा० १ सो० १

वन्दना करके अपने पुत्रों की दुहाई देते हुए गणेश से ही प्रार्थना की थी।[1] दशरथ के निधन पर वशिष्ठ ने जब भरत को ननिहाल से बुलाने के लिए उनके पास दूत भेजे तब वे गणेश को ही मनाकर अयोध्या के लिए प्रस्थान करते हैं।[2] तुलसी के शब्दों में गणेश 'सिद्धि-सदन' हैं "कृपा-सिंधु" हैं "सुर-मंगलदाता" हैं 'विद्या-वारिधि' हैं और 'बुद्धि-विधाता' भी हैं।[3]

तुलसी शाक्त सम्प्रदाय के दूषित आचार-विचार एवं आहार-विहार से सहमत नहीं हैं पर 'भुक्ति-मुक्ति-दायिनी' उनकी आराध्या जगन्माता कालिका के लिए उनके अन्तःकरण में 'परम प्रेम' एवं "अचल-नेम' की याचना की है। यही कालिका "अनेक-रूप-नामिनी' है। यही "हिम-शैल-बालिका' "महेश भामिनि" पार्वती भी हैं।[4] तुलसी की दृष्टि में आप श्रद्धा स्वरूपा हैं।[5] यही कारण है कि उनकी आराध्या महारानी सीता पार्वती की स्तुति एवं जयध्वनि करती हुई दृष्टिगोचर होती हैं। महारानी सीता ने पार्वती आदि-मध्य अवसानहीन अनन्त रूप तथा असीम प्रभाव का मूल्यांकन किया है जिसे वेद भी नहीं जानते। उन्होंने संसार की उत्पत्ति, पालन एवं संहार करने वाली स्वतन्त्र शक्ति के रूप में पार्वती को देखा है। उनकी दृष्टि में पति को अपना देवता मानने वाली आदर्श स्त्रियों में पार्वती का प्रथम स्थान है। उनकी अपार महिमा को हजारों सरस्वती और शेष भी नहीं कह सकते। उनकी सेवा करने से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारों फल सुलभ हो जाते हैं और उनके चरण कमलों की पूजा करके देवता मनुष्य और मुनि सभी सुखी होते हैं।[6] गोस्वामी जी ने 'पार्वती-मंगल' की रचना करके भी पार्वती के प्रति भक्ति-भावना प्रदर्शित की है।

यों तो एक प्रचलित किम्वदन्ती के अनुसार तुलसी ने साक्षात् वृन्दावन धाम में भी भगवान् कृष्ण का दर्शन अपने आराध्य राम के रूप में ही किया,[7] फिर भी उनका भगवान् कृष्ण के प्रति भी कम प्रेम नहीं है। उनकी कृष्ण-गीतावली कृष्ण के प्रति उनका प्रेम और

---

१ मा १ २५५।७-८

२ मा० २ १५७ (उ०)

३ विनय पत्रिका पद–१

४ विनय पत्रिका पद–१६

५ मा० १ श्लो० २ (पू)

६ मा० १ २३५।१—१ २३६।२

७ कहा कहौं छवि आज की भले बने हो नाथ।
तुलसी मस्तक तब नवै धनुष बान लो हाथ॥"
"कीट मुकुट माथे धरयो धनुष बान लिये हाथ।
कहीं-कहीं ऐसा भी पाठ है—
मुरली मुकुट दुराइ के धरयो धनुष सर हाथ।
तुलसी लखि रुचि दास की नाथ भये रघुनाथ॥
बाबू शिवनन्दन सहाय गोस्वामी तुलसीदास पृ ७० से उद्धृत।

भक्ति का ही परिचायक है। तुलसी कृष्ण को भी परब्रह्म[1] स्वीकार करते हुए उन्हें अपने आराध्य राम से सर्वथा अभिन्न मानते हैं।[2] 'मानस' में भी दो स्थलों पर उन्होंने कृष्ण का स्मरण किया है।[3]

गोस्वामी जी के समय में शैव एवं वैष्णव सम्प्रदायों का पारस्परिक विद्वेषात्मक सम्बंध पराकाष्ठा पर पहुँच चुका था। तुलसी के पूर्ववर्ती महाकवि विद्यापति ने भी विष्णु और शिव को एक ही बताकर दोनों सम्प्रदायों की कटुता को दूर करने का प्रयास किया था।[4] पर तुलसी ने अपनी रामभक्ति में शैवोपासना को महत्वपूर्ण स्थान प्रदान कर वैष्णव एवं शैव सम्प्रदायों की समस्त कटुताओं को सदा के लिए भस्मीभूत कर दिया। वस्तुतः शाक्त, गाणपत्य आदि सम्प्रदाय भी वैष्णव एवं शैव सम्प्रदायों में से एक या दूसरे से सम्बद्ध हैं और इन्हीं के अंतर्गत अलग से लिये जा सकते हैं। पर समय-समय पर धर्म के स्वार्थी ठेकेदारों ने अपना उल्लू सीधा करने के लिए इन सम्प्रदायों को एक दूसरे से सर्वथा भिन्न बतला कर तथा इनका पृथक अस्तित्व घोषित कर भोली भाली जनता को भक्ति के नाम पर संघर्ष में संलग्न किया है और गोस्वामी तुलसीदास जी जैसे महापुरुषों ने इन्हीं संघर्षशील प्रवृत्तियों को शमन करने के लिए भाँति भाँति से उन सभी सम्प्रदायों की तात्त्विक एकता का प्रतिपादन कर उनके समन्वय का सफल एवं स्तुत्य प्रयास किया है। तुलसी के सम्पूर्ण साहित्य में वैष्णव एवं शैव सम्प्रदायों के समन्वय का एक विराट आयोजन स्पष्टतया परिलक्षित होता है। पर रामचरितमानस और विनय-पत्रिका में यह अत्यन्त व्यापक रूप लिए हुए है। इनमें भी विशेषकर रामचरितमानस में तो वह आदि से अन्त तक अवस्थित रूप में दृष्टिगोचर होता है। 'मानस' में रामचरित के आदि आचार्य के रूप में भगवान् शिव ही पूजित हैं[5] और तुलसी बाल[6] अयोध्या[7] अरण्य[8] लंका[9] और उत्तर काण्डों[10] के प्रारम्भिक श्लोकों में राम के साथ ही साथ शिव की भी संस्तुति करते हैं। उन्होंने

---

१ विनय पत्रिका पद ६५ पं १–६।

२ विनय-पत्रिका पद ५२ पं० १३–१४ पद १८८ पं ७–८

३ मा० १ २० ८ (उ०) १८८ १

४ भल हर भल हरि भल तुअ कला। खन पित बसन खनहि बघछला॥
खन पंचानन खन भुज चारि। खन संकर खन देव मुरारि॥
इत्यादि
विद्यापति की पदावली सम्पादित श्री रामवृक्ष बेनीपुरी पद २१२

५ मा० १ ३० ३ (पू०) १ १५ ६ १ १ १५ ११

६ मा० १ श्लो०

७ मा० २ श्लो०

८ मा० ३ श्लो०

९ मा० ६ श्लो० २–३

१० मा० ७ श्लो० १

भगवान् शिव को जगद्गुरु जगद्बन्धु, जगदीश अविनाशी के रूप में स्वीकार करते हुए भी राम का महान् भक्त माना है।[1] शिव स्वयं कह रहे हैं कि राम मेरे इष्टदेव हैं—

सोइ मम इष्टदेव रघुबीरा। सेवत जाहि सदा मुनि धीरा ॥[2]

साथ ही इधर राम भी शिव के अनन्य भक्त हैं। शैव सम्प्रदाय में शिव का मूल प्रतीक शिवलिंग है और भगवान् राम लंका प्रस्थान करते समय समुद्र तट पर उस शिवलिंग की संस्थापना करके विधि पूर्वक उसका पूजन करते हुए कहते हैं कि शिव के समान मुझे कोई दूसरा प्रिय नहीं है।[3] यहीं भगवान् राम श्रीमुख से डंके की चोट देकर स्पष्ट निर्णय करते हैं कि—

"सिव द्रोही मम भगत कहावा। सो नर सपनेहुँ मोहि न पावा ॥
संकर बिमुख भगति चह मोरी। सो नारकी मूढ़ मति थोरी ॥
संकर प्रिय मम द्रोही सिव द्रोही मम दास।
सो नर करहिं कलप भरि घोर नरक महुँ बास ॥"[4]

गोस्वामी जी ने राम के सच्चे भक्त का लक्षण यही बताया है कि भगवान् शिव के चरणों में उसका निश्छल प्रेम होना है।[5] *शिव के चरण कमलों में जिनका प्रेम नहीं होता* वे स्वप्न में भी राम को अच्छे नहीं लगते।[6] जिस पर शिव कृपा नहीं करते हैं और जो उनका भजन नहीं करता उसे राम-भक्ति की प्राप्ति नहीं होती।[7] शिव की सेवा का फल ही राम के चरणों में अविरल भक्ति का होना है।[8]

शिव के समान राम भक्ति को दृढ़ता के साथ धारण करने वाला कोई नहीं है।[9] भगवान् को उनके सदृश्य दूसरा कोई प्रिय भी नहीं है।[10] वस्तुतः अम्बिकापति शिव भक्तों की अभीष्ट सिद्धि को देने वाले हैं।[11] बिना उनकी आराधना किये करोड़ों योग और जप करने पर भी इच्छित फल नहीं मिलता।[12] यदि पार्वती श्रद्धा स्वरूपा हैं तो शिव साक्षात् विश्वास के स्वरूप हैं और इनकी कृपा के बिना सिद्ध जन भी अपने अन्तःकरण में स्थित

---

१ गीतावली अयोध्या काण्ड पद ८४ पं० १ विनय पत्रिका पद २११ पद १
२ मा० १ ५१ ८
३ मा० ६ २ ६
४ मा० ६ २ ७—१२
५ मा० १ १ ६
६ मा० १ १ २
७ मा मा १ १३८ ७ ७ ४५ (उ) विनयपत्रिका पद ६ प ३—४
८ मा० ७ १०६ २
९ मा १ १ ४७—८ (पू)
१० मा० १ १ ४८ (उ०) १ १३८ ६
११ मा० ७ श्लो ३ पं १ (उ)
१२ मा० १ ७ ८

ईश्वर को नहीं देख सकते ।[1] भगवान् शंकर विवेक रूपी समुद्र को आनन्द प्रदान करने वाले पूर्ण चन्द्रमा के समान हैं और वैराग्य रूपी कमल को विकसित करने के लिए तो वे साक्षात् सूर्य ही हैं।[2] डा० मुन्शीराम शर्मा के शब्दों में ज्ञान और वैराग्य भक्ति को दृढ़ करने के लिए भूमिका का कार्य करते हैं। शंकर बहुकुलोद्भव और ज्ञान के मूल स्रोत समझे गये हैं। वैराग्य के तो वे सूर्य ही हैं। शंकर का भजन करना मानों इन्हीं दोनों भूमिकाओं को उपलब्ध करना है। अतः जब यह कहा जाता है कि शंकर की भक्ति के बिना साधक का प्रभु भक्ति प्राप्त नहीं हो सकती तब यही समझना चाहिए कि उसे पूर्व ज्ञान और वैराग्य की अनिवार्य साधना करनी है।"[3] गोस्वामी जी शंकर को अपना गुरु मानते हैं।[4] उन्होंने गुरु और शंकर का तादात्म्य भी प्रदर्शित किया है।[5] वस्तुतः वैदिक रुद्र और शंकर में कोई अन्तर नहीं है। वे सर्वथा अभिन्न हैं। तुलसी ने रुद्र का प्रयोग शिव के लिए किया है।[6] उन्होंने भैरव रूप शिव की स्तुति करते हुए रुद्र और राम का तादात्म्य दिखाया है और उन्हें ही बन्धु, गुरु पिता, माता और विधाता कहकर उनसे अपनी रक्षा की प्रार्थना की है।[7] 'मानस' में ऐसे अनेकानेक स्थल हैं जहाँ साक्षात् भगवान् राम शिव की पूजा कर रहे हैं[8] और उनसे द्रोह करने वालों की दुर्गति की ओर इंगित कर रहे हैं।[9] यहीं पर भरत जैसे परम रामभक्त अपने ननिहाल में रात को भयंकर स्वप्न देखने पर नाना प्रकार से शिव की आराधना करके उनको ही हृदय में मनाकर उनसे माता-पिता कुटुम्बी और भाइयों का

---

१ मा० १ श्लो० २
२ मा० ३ श्लो १ (पू०)
३ भक्ति का विकास—पृ० ७२१-२२
४ गुरु पितु मातु महेस भवानी। प्रनवउँ दीन बन्धु दिनदानी ॥
—मा० १ १५ १
५ वन्दे बोधमयं नित्यं गुरुं शंकररूपिणं।
—मा० १ श्लो० ३
६ तहँहि देखि मदन भय मामा।
—मा० १ ८६ ४ (पू)
७ पाहि भैरव-रूप राम-रूपी रुद्र बन्धु गुरु जनक जननी, विधाता ॥
—विनय-पत्रिका पद ११
८ (क) लिंग थापि बिधिवत करि पूजा।
—मा० ६ २ १ (पू०)
(ख) पूजि पुरारि साधु सनमाने।
—मा० २ २२६ ८ (उ०)
९ (क) सिव द्रोही मम भगत कहावा। सो नर सपनेहुँ मोहि न पावा।
संकर बिमुख भगति चह मोरी। सो नारकी मूढ़ मति थोरी ॥
—मा० ६ २ ७-८
(ख) चातक रटत तृषा अति ओही। जिमि सुख लहइ न संकर द्रोही ॥
—मा० ४ १७ ५

कुशल-क्षेम माँगते हैं।[1] राम वन-गमन की सम्भावना से आर्त राजा दशरथ आशुतोष अवढरदानी महाशिव से ही प्रार्थना करते हैं कि वे राम को ऐसी बुद्धि दें जिससे वे उनके वचन को त्याग कर और शील-स्नेह को छोड़कर घर ही में रह जायें।[2] जनक और दशरथ जैसे भक्त राजाओं के समान तो किसी ने शिव की आराधना ही नहीं की और न इनके समान किसी ने फल ही पाया।[3] जैसे मानस के भक्तगण और मानसकार के आराध्य शिव के प्रति अपनी अगाध भक्ति का प्रदर्शन करते हैं वैसे ही शिव भी भगवान् राम के चिन्तन में निरन्तर तल्लीन रहते हैं। राम की कथा उन्हें नर्मदा के समान प्यारी है।[4] वे अपनी प्रियतमा पार्वती से उनकी लीलाओं का गायन करते हुए पुलकित, रोमांचित एवं गद्गद हो जाते हैं।[5] अपनी नगरी काशी में मरने वाले जीवों को वे राम नाम के बल पर ही मुक्ति प्रदान किया करते हैं[6] और अपने आराध्य भगवान् राम की आज्ञाओं का शिरोधार्य करना अपना परम धर्म मानते हैं।[7] वस्तुतः वे सीतापति रामचन्द्र के सेवक, स्वामी और सखा सब कुछ हैं।[8]

इतना ही नहीं तुलसी ने अपनी कृतियों में वैष्णव सम्प्रदाय के साथ ही साथ शैव सम्प्रदाय की पूजा-पद्धति एवं धार्मिक प्रतीकों का भी यत्र-तत्र साम्प्रदायिक स्वरूप प्रस्तुत किया है। वैष्णव सम्प्रदाय में सीता और लक्ष्मण समेत भगवान् राम की पूजा[9] तिलक लगाना[10] कण्ठी धारण करना[11] और तुलसीदल[12] आदि का बड़ा महात्म्य है और तुलसी

---

१ मा० २ १५७ ६–८
२ मा १ ४४७–२.७४
३ मा० १ ११० २
४ मा० १ ३१ ११
५ मा० १ १११
६ मा० २ ११६.१ १ ११ ३
७ मा १ ७७ २
८ मा० १ १५.४ (पू०)
९ राम बाम दिसि जानकी लखन दाहिनी ओर।
   ध्यान सकल कल्यानमय सुरतरु तुलसी तोर॥
—दोहावली दो० १
१० भाल बिसाल तिलक झलकाहीं।
—मा० १ २४१ ५ (पू०)
११ कुँवर मनि कंठा कलित उरन्हि तुलसिका माल।
—मा० १ ३१ १२ (पू०)
१२ (क) रामहि प्रिय पावनि तुलसी सी।
—१ ३१ १२ (पू०)
(ख) तुलसी तरुबर बिबिध सुहाए।
—मा० २ ३१० ७ (पू०)
(ग) नव तुलसिका बृंद तहँ देखि हरष कपि राइ।
—मा० ५ ५ (उ०)
(घ) तीर तीर तुलसिका सुहाई।
—मा० ७ २९।६ (पू०)

भगवान् के चरणों को स्मरण करने का परामर्श दिया क्योंकि जिसकी पृथ्वी दासी है वही अविनाशी भगवान् ब्रह्मा और पृथ्वी दोनों के सहायक है।[1] इसी तरह तारकासुर के अनेक भयंकर अत्याचारों से संत्रस्त देवताओं को समझाते हुए ब्रह्मा ने कहा था कि इस दैत्य की मृत्यु तभी होगी जब शिव के वीर्य से पुत्र उत्पन्न हो। वही इसको युद्ध में जीतेगा।[2] ब्रह्मा के इस तरह के कथन से यह स्पष्ट है कि मानस में वर्णित त्रिदेव के अन्तर्गत विष्णु और शिव की तरह उनका प्रमुख स्थान नहीं है। वे अपनी तपस्या के बल पर संसार की सृष्टि करते हैं तथा प्रपंच रचते हैं।[3] और उनकी यह सृष्टि भी एकान्त रमणीय नहीं परन्तु गुण दोषों से सर्वथा परिपूर्ण है।[4] ब्रह्मा निर्मित भवसागर से एक ओर जहाँ संत रूपी अमृत चन्द्रमा और कामधेनु निकली वहीं दूसरी ओर दुष्ट मनुष्य रूपी विष और मदिरा भी उत्पन्न हुई।[5] ब्रह्मा का एक महत्त्वपूर्ण काम ललाट-लिपि लिखना भी है। वे ललाट पर जो कुछ लिख देते हैं उसको देवता दानव मनुष्य, नाग और मुनि कोई भी नहीं मिटा सकते।[6]

मानस में अन्यान्य दूसरे देवताओं की स्थिति सर्वथा दयनीय है। उनका निवास तो उच्च है पर काम नीच है। वे दूसरों की विभूतियों को नहीं देख सकते।[7] वे स्वार्थी एवं मलिन हैं और मनुष्यों में प्रबल प्रपंच एवं माया रचकर मद भ्रम शोक आदि का संचार करते-रहते हैं।[8] राम-भरत-मिलाप के अवसर पर उन्हें धुकधुकी होने लगती है।[9] "मानस" के सभी महत्त्वपूर्ण अवसरों पर देवगण पुष्पवृष्टि करते रहते हैं।[10]

इन्द्र तो देवों में सर्वाधिक कुटिल और स्वार्थी हैं।[11] नारद को तपोभ्रष्ट करने के लिए वे कामदेव का उपयोग करते हैं।[12] पर लंका में राम रावण युद्ध के अवसर पर राम के पास रथ भेज कर वे अपनी महानता एवं उदारता का परिचय प्रदान किये हैं।[13] वस्तुतः तुलसी ने इन देवताओं का वैदिक रूप नहीं लेकर पौराणिक रूप लिया है। यों तो वे किसी

---

१ मा० १।१८३–१।१८४
२ मा० १।८२
३ मा० १।१५।२ (पू०) १।७।१ (पू०)
४ मा० १।६।१–१।६ (पू०)
५ मा० १।१४ (च)
६ मा० १।६८ १।९७।६
७ मा० २।१२।६
८ मा० २।२९५
९ मा० २।२४१।७
१० मा० १।१९१।६–७ १।१२६।१३–१४ २।१०१।८ २।११६ (पू०)
११ मा० २।३०१ (उ०)—२।३०२।१; २।१ २।८ (उ०)
१२ मा १।१२५।१–६
१३ मा ६।८९।२–३

भी देवी-देवता की निन्दा नहीं करना चाहते तथापि वे मानवों[1] और वानरों[2] के ही नहीं देवताओं के कुकृत्यों की भी कठोर आलोचना करने से नहीं चूकते।

मानसकार की भक्ति में सेवक-सेव्य भाव

तुलसी की भक्ति सेवक-सेव्य भाव सम्पन्न है। राम उनके स्वामी हैं और वे उन पर अनन्य भाव से आश्रित उनके दीन हीन असहाय सेवक हैं। अपनी अपनी अभिरुचि के अनुसार भक्त गण दास्य सख्य वात्सल्य और शान्त भाव से भगवान् की भक्ति करते हैं पर दास्य भक्ति-क्षेत्र का प्रधान भाव है और सब में विद्यमान रहता है। इसलिए तुलसीदास जी इन सबों में सेव्य-सेवक भाव को सर्वश्रेष्ठ एवं भवसागर से पार उतारने वाला मानते थे।[3] सेव्य-सेवक भावों के अतिरिक्त अन्य भावों की भक्ति बहुत कुछ रागात्मिकता से रंजित है। किन्तु सेव्य-सेवक भाव में अधिक वैराग्य एवं विषय त्याग की भावना रहती है। इसलिए इस भाव की भक्ति की महिमा से तुलसी पूर्णतया प्रभावित हैं। सेव्य-सेवक भाव में मर्यादा और भक्ति का पार्थक्य नहीं हो सकता। उसमें अकर्मण्यता और आलस्य नहीं हो सकता। उसमें अविनय, अनाचार एवं धृष्टता के लिए अवकाश नहीं है। तुलसी ने इसी भक्ति को अपने जीवन में उतारने का प्रयत्न किया था। और अपने "मानस" और विनय पत्रिका में उन्होंने इसी भक्ति भाव पर अधिक बल दिया था उन्होंने किसी अन्य प्रकार की भक्ति पद्धति को अस्वीकार नहीं किया था पर अपनी अभिरुचि को स्पष्ट शब्दों में व्यक्त कर दिया था। भारतीय लोक जीवन में तो दासों के साथ पारिवारिक आत्मीयता बरती जाती है और उनके निर्वाह का दायित्व स्वामी पर ही होता है। यही कारण है कि भगवान् राम ने वन यात्रा के समय अपने दास-दासियों को बुलाकर गुरु वशिष्ठ को सौंपा था और उनसे माता-पिता के समान उनकी देख-रेख करते रहने का करबद्ध अनुरोध किया था।[4] दास्य भाव की भक्ति में वात्सल्य, सख्य आदि भावों की तरह कभी फिसलने तथा पथभ्रष्ट होने का अवकाश नहीं रहता। इसीलिए तुलसी ने दास्य भाव अथवा सेवक-सेव्य भाव को ही भक्ति का सच्चा स्वरूप माना है। रामचरितमानस के भरत सुतीक्ष्ण आदि प्रायः सभी प्रमुख भक्तों ने दास्य भाव की ही भक्ति की है। वे सभी भगवान् राम के निश्छल सेवक हैं सभी दैन्य भाव से युक्त हैं और सभी अनन्य भाव से उन पर ही अवलम्बित हैं। कदाचित् सेवक-सेव्य भाव की भक्ति को सर्वश्रेष्ठ स्वीकार करने के कारण ही गोस्वामी जी ने सेवकों

---

१ मा० २ २५ १ ५

२ मा १ २८ ७-१

३ सेवक-सेव्य भाव बिनु भव न तरिअ उरगारि।
भजहु राम पद पंकज अस सिद्धांत बिचारि॥
—मा० ७ ११९ (क)

४ दासीं दास बोलाइ बहोरी। गुरहि सौंपि बोले कर जोरी॥
सब कै सार सँभार गोसाईं। करबि जनक जननी की नाईं॥
—मा० २ ८० ५-६

के गुरु-धर्म एवं वात्सल्य-पालन की सविस्तार मीमांसा की है।[1] एवं उन्होंने मनु[2] और काक भुशुण्डि[3] के प्रसंग में वात्सल्य भाव की ही भक्ति का वर्णन किया है। शिव भी भगवान् राम के बालरूप की वन्दना करते हैं।[4]

वस्तुतः इस तरह मध्यकालीन वैष्णवता के परिमार्जित एवं प्राञ्जल रूपों को स्वीकार करते हुए गोस्वामी जी ने सर्वत्र समाज की एकता का विशेष रूप से ध्यान रखा है। भारतीय समाज को राम भक्ति के बन्धन में सुगुम्फित कर भक्ति का स्वच्छ एवं उज्ज्वल आलोक विकीर्ण करते हुए तुलसी ने भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता को एक महत् नूतन देन से अभिषिक्त किया है।

"मानसकार के भगवान् राम"

प्राचीन शास्त्रों के अनुसार ईश्वर का अस्तित्व एवं स्वरूप

मानस में वर्णित भगवान् राम के स्वरूप को समझने के लिए प्राचीन शास्त्रों के अनुसार ईश्वर के अस्तित्व एवं उसके स्वरूप का थोड़ा विवेचन कर लेना आवश्यक है। यह बात निर्विवाद रूप से सिद्ध है कि ऋग्वेद ही विश्व का प्राचीनतम ग्रन्थ है। ऋग्वेद में अनेक देवताओं का वर्णन है जिनमें तीन प्रधान हैं—अग्नि, इन्द्र और सूर्य। ये तीनों क्रमशः पृथ्वी, आकाश एवं स्वर्ग में निवास करते हैं। यथार्थ में ये भी एक ही परब्रह्म के भिन्न-भिन्न स्वरूप हैं। इस बात का प्रमाण ऋग्वेद का पुरुष-सूक्त है। उक्त सूक्त के पहले से चौथे मंत्रों में पुरुष अर्थात् ईश्वर को सहस्रसिरों, सहस्र चक्षुओं एवं सहस्र चरणों वाला कहा गया है उसको इस समस्त ब्रह्माण्ड को चारों ओर से व्याप्त करके दश अंगुलि ऊपर उठने वाला भी बतलाया गया है।[5] दूसरे मंत्र में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि जो कुछ होने वाला है, हुआ है और है, सो सब पुरुष या ईश्वर ही है।[6] तीसरे मंत्र में यह सारा ब्रह्माण्ड उसकी महिमा बतलाया गया है और उसे उसकी महिमा से भी बड़ा कहा गया है। यह सारा ब्रह्माण्ड उसका चतुर्थांश कहा गया है और उसका तीन चतुर्थांश इस ब्रह्माण्ड से भी बाहर कहा गया है। चौथे मंत्र में सारे ब्रह्माण्ड में उसे ही चेतन और अचेतन प्राणियों और वस्तुओं में व्याप्त होने वाला कहा गया है। इससे स्पष्ट होता है कि सर्वव्यापी सबका कारण एवं सबका स्वामी ब्रह्म एक ही है और सारे देवता उसके अंग एवं उपांग हैं।[7] प्रो० जगन्नाथ राय शर्मा के शब्दों में—

"ऋग्वेद से यह प्रकट है कि उसके द्वारा वर्णित देवताओं का अन्तिम तत्त्व एक ही है। उसे विद्वानों ने भिन्न-भिन्न नाम दिये हैं। इन्द्र, अग्नि, वरुण और मरुत तथा अन्यान्य

---

1. मा० १।२७१।३ (पू०) २।२६१।६ (उ०)
2. मा० १।१४१।४
3. मा० ७।७५।२–६, ७।७५।५ (पू०) ७।११३।७, ७।११४।१२–१८
4. मा० १।११२।३ (पू०)
5. ऋग्वेद मं० १० सूक्त ९० मंत्र १
6. वही मं० १० सूक्त ९० मंत्र २
7. वही मं० १ सूक्त १६४ मंत्र ४६

देवता उस एक ही ब्रह्म के भिन्न-भिन्न स्वरूप हैं। इसी प्रकार हंसवती ऋचा में भी एक ही तत्त्व का भिन्न भिन्न स्थानों मे निवास बताया गया है।

इन मन्त्रों से स्पष्ट है कि वेदों मे परमात्मा को सर्वव्यापक और सर्वान्तर्यामी बताया है। उनके अनुसार एक ही पुरुष पूर्ण एवं सनातन है। वही सत् वही चित् और वही आनन्द है।[१]

ऋग्वेद में जितने देवता हैं उनमें मंत्रों की संख्या की दृष्टि से प्रधान देवताओं का नामोल्लेख किया जा चुका है। किन्तु उनके अतिरिक्त एक अन्य देवता हैं भगवान् विष्णु जिनका वर्णन ऋग्वेद के बहुत थोड़े मंत्रों में किया गया है। पर उन्ही मन्त्रों से उनकी सर्वश्रेष्ठता प्रतिपादित होती है। उन मन्त्रों मे विष्णु द्वारा अपने चरणों मे सारे ब्रह्माण्ड को छिपा लेने एवं परिक्रमा करने की बात कही गयी है।[२] आगे के मन्त्र में उन्हें समस्त संसार का रक्षक कहा गया है और यह कहा गया है कि उनको आघात करने वाला कोई नहीं है।[३] आगे चलकर सूक्त संख्या १५४ में उनके द्वारा तीनों लोकों को तीन कर्मों में मापने की बात कही गयी है।[४] चौथे मन्त्र में विष्णु को ह्रास-हीन तथा अकेले ही धातु-त्रय अर्थात् पृथ्वी द्युलोक और समस्त भुवनों को धारण करने वाला कहा गया है।[५] वे सबके पालक शत्रु रहित एवं तरुण हैं।[६] वे स्वर्गवर्ती नित्य तरुण और अकुमार हैं।[७] अगले सूक्त में उन्हें प्राचीन मेधावी नित्य नवीन एवं स्वयंभू बतलाया गया है।[८] विष्णु को इन्द्र सखा एवं तीनों लोकों में सर्वाधिक पराक्रमशील कहा गया है।[९]

यथार्थ में विष्णु शब्द विष् धातु से बना है जिसका अर्थ होता है प्रवेश करना। इसलिए विष्णु शब्द का अर्थ है सर्वत्र व्यापनशील। अतः विष्णु यथार्थ में वही हैं जिन्हें ऋग्वेद के दशम मण्डल में पुरुष कहा गया है। इन्द्र अग्नि सूर्य वरुण आदि जितने वैदिक देवता हैं सब उसी पुरुष या विष्णु के अंगोपांग हैं।[१]

वैदिक साहित्य के बाद निर्गुण एवं निरंजन परब्रह्म के जो तीन सगुण स्वरूप माने गये वे हैं ब्रह्मा अर्थात् सृष्टिकर्ता विष्णु अर्थात् विश्व-पालक और रुद्र या शिव अर्थात् विश्व संहारक। पौराणिक युग में प्रधानतया इन्ही का पूजन होता रहा। इनमें भी विष्णु तथा शिव का विशेष रूप से पूजन हुआ जिसके अनुयायी वैष्णव तथा शैव कहलाये।

---

१ हमारा सांस्कृतिक साहित्य पृ १६
२ ऋग्वेद मण्डल १ सूक्त २८ मन्त्र १७
३ वही मन्त्र १८
४ वही मन्त्र १
५ वही सूक्त १५४ मन्त्र ४
६ वही सूक्त १५५ मन्त्र ४
७ वही मन्त्र ५ ६
८ वही सूक्त १५६ मन्त्र २
९ वही मन्त्र ५
१ यजुर्वेद अ १२ मन्त्र १–२

पुरुष ब्रह्म या ईश्वर के दो रूप स्वीकार किये गये हैं—निर्गुण और सगुण। निर्गुण और सगुण का विवेचन बड़ा ही कठिन है। यथार्थ में जब हम सृष्टि के मूल में स्थित एक तत्त्व पर विचार करते हैं तो अपनी इन्द्रियों से दृष्टिगोचर होने वाले द्रव्यों से परे की वस्तु को ग्रहण करने का प्रयत्न करते हैं। ऐसी स्थिति में हमें "मानवी इन्द्रियों की सापेक्ष दृष्टि छोड़ देनी पड़ती है और जितना हो सके उतना बुद्धि से ही अन्तिम विचार करना पड़ता है। *ऐसा करने से इन्द्रियों का गोचर होने वाले सभी गुण आप ही आप छूट जाते हैं और यह सिद्ध* हो जाता है कि ब्रह्म का नित्य स्वरूप इन्द्रियातीत अर्थात् निर्गुण एवं सर्वश्रेष्ठ है। ब्रह्म के इसी निर्गुण स्वरूप में मनुष्य को अपनी इन्द्रियों के योग से सगुण दृष्टि की झलक दीख पड़ती है। अब यहाँ फिर प्रश्न होता है कि निर्गुण को सगुण करने की यह शक्ति इन्द्रियों ने पाई कहाँ से भी। इस प्रकार अद्वैत वेदान्त शास्त्र का यह उत्तर है कि मानवी ज्ञान की गति यहाँ तक है। इसके आगे उसकी गुजर नहीं। इसलिये यह इन्द्रियों का अज्ञान है और निर्गुण परब्रह्म सगुण जगत् का दृश्य देखना यह उसी अज्ञान का परिणाम है। अथवा यहाँ अज्ञान का परिणाम है। अथवा यहाँ निश्चित अनुमान करके निश्चित हो जाना पड़ता है कि इन्द्रियाँ भी परमेश्वर की सृष्टि की ही हैं। इस कारण यह सगुण सृष्टि (प्रकृति) निर्गुण परमेश्वर की ही एक दैवी माया है।[१]

इस लम्बे उद्धरण का तात्पर्य यह है कि ब्रह्म विष्णु या पुरुष का तात्त्विक स्वरूप हमारी इन्द्रियों से अग्राह्य है। इसलिए वह अव्यक्त अगोचर एवं निर्गुण है। उसका दूसरा स्वरूप जो *अखिल ब्रह्माण्ड में तथा उसके परे व्याप्त है* वह *भी उसी का रूप है और* वह हमारी इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य है। अतएव सगुण है। इस प्रकार ब्रह्म निर्गुण भी है और सगुण भी है।

महात्मा तुलसीदास जी ने अपने राम को उपर्युक्त ब्रह्म पुरुष या विष्णु का स्वरूप माना है। अतएव वे उन्हें बराबर सगुण एवं निर्गुण कहते हैं।[२] मानस में उन्होंने अपने ढंग से सगुण एवं निर्गुण का विवेचन भी किया है। मानस के बालकाण्ड के प्रारम्भ में ही वे कहते हैं कि भगवान एक अनीह, अरूप अनाम अज सच्चिदानन्द परधाम व्यापक एवं विश्वरूप हैं। *यहाँ एक अनीह अरूप अनाम अज सच्चिदानन्द* एवं शब्दों द्वारा उन्होंने ब्रह्म के निर्गुण स्वरूप की ओर इंगित किया है। साथ ही व्यापक एवं विश्व रूप कहकर उन्होंने उनकी व्यापक सृष्टिमय रूप की ओर संकेत कर उनका सगुण स्वरूप बतलाया है।[३] आगे चलकर इसी प्रकार अनेक स्थानों में उन्होंने राम को सगुण एवं निर्गुण दोनों ही बतलाया है। राज्याभिषेक के पश्चात् वेदों ने जो राम की स्तुति की है, उसमें उन्हें निर्गुण और सगुण कहकर संसार-विटप में नमस्कार किया है। इस छन्द में निर्गुण राम का सगुण

१ तिलककृत गीता रहस्य पृ २४१–२

२ मा० १ ११ ११ (पू१) ११२ १ ६ ११२ १ (पू०) ७ ११ १

३ मा ११३-१

संसार-विटप के रूप में वर्णन कर तुलसी ने उसके निर्गुण एवं सगुण स्वरूप का यथार्थ विवेचन किया है।[1]

सगुण ब्रह्म और अवतारवाद

इस सगुण-निर्गुण ब्रह्म का किसी न किसी प्राणी के रूप में अवतीर्ण होने की कल्पना हिन्दू धर्म शास्त्रों में अत्यन्त प्राचीन काल से चली आती है। वेदों में भगवान् विष्णु के तीन डगों में ही समग्र ब्रह्माण्ड को नापने की कथा प्रसिद्ध है[2] जो वामनावतार का आधार है। यों तो अवतारों की संख्या चौबीस है[3] पर प्रमुख अवतार दस ही माने गये हैं।[4] विष्णु के दशावतारों—

मत्स्यः कूर्मो वराहश्च नरसिंहोऽथ वामनः ।
रामोरामश्च कृष्णश्च बुद्धः कल्किश्च ते दश ॥ [1]

की कथा पुराणों में चिरकाल से वर्णित होती रही है जिन्हें पीछे के कवियों ने भी स्वीकार कर लिया है। तुलसी ने भी दस अवतारों का ही उल्लेख किया है।[2] इस प्रकार के अवतारवाद को स्पष्ट रूप से भगवान कृष्ण ने गीता में स्वीकार किया है।[3] गीता में तो इस सम्बन्ध में यहाँ तक कहा है कि जो पुरुष भगवान् के दिव्य जन्म एवं दिव्य कर्म को जान लेता है, वह शरीर त्याग कर, उनसे मिल जाता है और फिर जन्म नहीं लेता है।[4] यहाँ जो कुछ कहा जा चुका है उससे स्पष्ट है कि ब्रह्म के दो रूप हैं निर्गुण एवं सगुण। वह ब्रह्म अपनी माया से निर्गुण से सगुण भी बन जाता है।

तुलसी के राम ब्रह्म, पुरुष या विष्णु (वैदिक) के अवतार या स्वयं परात्पर ब्रह्म

अब प्रश्न यह है कि तुलसी के राम किसके अवतार हैं? वे ब्रह्म पुरुष या विष्णु (वैदिक) के अवतार हैं अथवा स्वयं परात्पर ब्रह्म हैं? पुरुष-सूक्त में पुरुष की उपनिषदों में ब्रह्म की और ऋग्वेद की ऋचाओं में विष्णु की जो महिमा बतलायी गयी है उसपर विचार करते हुए उन तीनों को एक ही तत्त्व के भिन्न-भिन्न नाम स्वीकार करना पड़ता है। यथार्थ में उनसे बड़ा कोई देव नहीं है। अतः तुलसी के राम भी उनसे भिन्न नहीं हैं। इसीलिए आदिकाव्य में आदिकवि ने उन्हें विष्णु का अंशावतार बतलाया है।[5] अध्यात्म-रामायणकार

---

१ मा० ७।११। ७।११।१७-२०
२ ऋग्वेद, मण्डल १ सूक्त १५४ मन्त्र ४
३ श्रीमद्भागवत स्कंध २ अ० ७ श्लो० १-३८
४ वही स्कंध ११ अ० ४ श्लो० १८-२१
१ डा० रामदत्त भारद्वाज 'गोस्वामी तुलसीदास व्यक्तित्व दर्शन साहित्य' पृ० १०१ में उद्धृत।
२ विनयपत्रिका पद ५२
३ गीता अ० ४ श्लो० ६– अ० [illegible] श्लो० ४१
४ गीता अ० ४ श्लो० ९
५ वाल्मीकीय रामायण बालकाण्ड सर्ग १५ श्लो० २१-३

ने भी भगवान् दाशरथि राम को विष्णु का ही अवतार माना है।[६] श्रीमद्भागवत में भी भगवान् रामचन्द्र को साक्षात् ब्रह्ममय हरि का अंशावतार कहा गया है।[७] यहाँ हरि शब्द का अर्थ विष्णु लेने से भागवत के अनुसार भी राम विष्णु के ही अवतार सिद्ध होते हैं।[८]

तुलसी ने राम को कहीं-कहीं तो अनादि ब्रह्म माना है और कहीं पर उन्हें हरि या विष्णु का अवतार माना है। यदि इतना ही होता तो इस सम्बन्ध में विचार की कोई आवश्यकता नहीं होती किन्तु तुलसी ने कहीं-कहीं ब्रह्मा विष्णु और महेश इन सबको राम से पृथक तथा उनका सेव्य ही माना है। निम्नांकित स्थलों में तुलसी ने राम को परब्रह्म रूप में स्वीकार किया है

१ 'एक अनीह अरूप अनामा। अज सच्चिदानंद पर धामा॥
ब्यापक बिस्वरूप भगवाना। तेहिं धरि देह चरित कृत नाना॥
—मा १ १३ ४

२ 'ब्यापकु एकु ब्रह्म अबिनासी। सत चेतन घन आनँद रासी॥
—मा० १ २३ १

३ "राम सच्चिदानंद दिनेसा। ── ── ── ──॥

× × ×

राम ब्रह्म ब्यापक जग जाना। परमानंद परेस पुराना॥
पुरुष प्रसिद्ध प्रकास निधि प्रगट परावर नाथ।
रघुकुल मनि मम स्वामि सोइ कहि सिवँ नायउ माथ॥
—मा० १ ११६ ५—१ ११६

४ "आदि अंत कोउ जासु न पावा। मति अनुमानि निगम अस गावा॥
बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना। कर बिनु करम करइ बिधि नाना॥

× × ×

राम सो परमातमा भवानी।" ── ── ──॥
—मा० १ ११८ ४—१ ११६ ५ (पू०)

५ "ब्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुन बिगत बिनोद।
सो अज प्रेम भगति बस कौसल्या कें गोद॥
—मा० १ १९८

---

६ अध्यात्म रामायण बालकाण्ड सर्ग २ श्लो० २८-२९
७ श्रीमद्भागवत स्कंध ९ अ १ श्लो० २
८ यों तो 'हरि' का पर्यायवाची शब्द विष्णु है ही किन्तु भागवत् के दशम स्कन्ध के पहले अध्याय के श्लोक ६२ में कृष्ण को विष्णु का अवतार मानने से राम का भी विष्णु का अवतार होना ही सिद्ध है। हरि शब्द कृष्ण के लिए भागवत दशम स्कन्ध तृतीय अध्याय श्लोक ४६ में व्यवहृत भी हुआ है।

६ 'देखरावा मातहि निज अद्भुत रूप अखंड।
रोम रोम प्रति लागे कोटि कोटि ब्रह्मंड ॥"

—मा० १ २ १

७ राम ब्रह्म परमारथ रूपा। अबिगत अलख अनादि अनूपा ॥
सकल बिकार रहित गत भेदा। कहि नित नेति निरूपहिं बेदा ॥
भगत भूमि भूसुर सुरभिसुर हित लागि कृपाल।
करत चरित धरि मनुज तनु सुनत मिटहिं जगजाल ॥'

मा० २ ९३ ७—२ ९३

८ तमेकमद्भुतं प्रभु। निरीहमीश्वरं विभु ॥
जगद्गुरु च शाश्वतं। तुरीयमेव केवलं ॥'

मा० ३ । १०-१८

९ "बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना। कर बिनु करम करइ बिधि नाना ॥
अमल अखिल मन अगम अपारं। मोहि राम भंजन महि भार ॥"

—मा० १ ११ ११ १२

१० 'जदपि ब्रह्म अखंड अनंता।
अनुभव गम्य भजहिं जेहि संता ॥'

—मा० १ ११ ११ १२

११ 'तात राम कहुँ नर जनि मानहु।
निर्गुन ब्रह्म अजित अज जानहु ॥"

—मा० ४ २६ १२

१२ 'बिस्वरूप रघुबंस मनि करहु बचन बिस्वासु।
लोक कल्पना बेद कर अंग अंग प्रति जासु ॥

—मा० ६ १४

१३ "व्यापक ब्रह्म अजित भुवनेश्वर।"

—मा ६ ११ १ (पू०)

१४ 'सोइ सच्चिदानन्द घन रामा। अज विग्यान रूप बल धामा ॥

× × ×

प्रकृति पार प्रभु सब उर बासी। ब्रह्म निरीह बिरज अबिनासी ॥'

—मा ७.७२ १—७

इसी प्रकार कहीं-कहीं प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्षरूप में राम को उन्होंने विष्णु का अवतार भी माना है। सर्वप्रथम पार्वती के पूछने पर शिव ने रामजन्म के पाँच अवतारों के कारण बतलाय

हैं जिनमें से तीन कल्पों में राम का विष्णु का अवतार होना कहा गया है। इस सम्बन्ध में प्रो० जगन्नाथ राय शर्मा ने 'रामचरितमानस की कथावस्तु' में यों लिखा है—

(१) विष्णु भगवान् के द्वारपाल जय और विजय को तीन जन्मों तक राक्षस होने का ब्राह्मण द्वारा शाप। इसकी कथा देखिए—भागवतपुराण तृतीय स्कन्ध (१५ अध्याय) और ब्रह्मवैवर्त (२६ अध्याय)। वहाँ पर भगवान् के माता-पिता दशरथ और कौसल्या कश्यप और अदिति के अवतार थे।

(२) जालन्धर नामक राक्षस से पराजित देवताओं की प्रार्थना करने पर शिव ने जालन्धर के साथ युद्ध किया पर उसकी पतिव्रता पत्नी के प्रताप से उसे पराजित न कर सके। विष्णु ने उस राक्षस-पत्नी का व्रत भंग किया अतएव उसके शाप से उन्हें मनुष्य का अवतार धारण करना पड़ा। (लिंग पुराण अ० १७ स्कन्द पुराण पद्म पुराण और शिव पुराण (खंड ५ अ० २३)।

(३) एक बार नारद ने विष्णु भगवान् को मनुष्य अवतार धारण करने का शाप दिया था। इसलिए भगवान् राम रूप में अवतीर्ण हुए। देखिए—शिवपुराण (रुद्र संहिता अ० १ से ४ तक)। तीसरा अवतार वही था जिसके कारण सती के मन में मोह हुआ था और जिसमें सती ने राम की परीक्षा ली थी।[1]

स्वयं तुलसी ने राम को विष्णु के अवतारों के बीच परिगणित किया है—

१ "जबहिं त्रिविक्रम भए खरारी।"

—मा० ४२१८ (छं०)

२ 'अति बल मधु कैटभ जेहिं मारे। महाबीर दितिसुत संघारे॥
जेहिं बलि बाँधि सहस भुज मारा। सोइ अवतरेउ हरन महि भारा॥

—मा० ६६७-८

३ तुम्ह सम रूप ब्रह्म अबिनासी। सदा एकरस सहज उदासी॥
अकल अगुन अज अनघ अनामय। अजित अमोघसक्ति करुनामय॥
मीन कमठ सूकर नरहरी। बामन परसुराम बपु धरी॥
जब जब नाथ सुरन्ह दुखु पायो। नाना तनु धरि तुम्हइँ नसायो॥

—मा० ६११०५-८

कहीं कहीं पर राम के लिए विष्णु से सम्बन्धित विशेषणों या संबोधनों जैसे—

---

१ रामचरितमानस की कथावस्तु पृ० २५

"रमानिवास"[१] "रमेश"[२] "श्रीरमण"[३] "रमारमण"[४] "रमानाथ"[५] "इन्दिरापति"[६] "श्रीपति"[७] आदि का अथवा स्पष्टतया हरि या विष्णु शब्द का प्रयोग किया है—

१ "तेहि अवसर भंजन महि भारा। हरि रघुबंस लीन्ह अवतारा॥

—मा० १।४८।३

२ बिष्नु जो सुर हित नर तनु धारी। सोउ सर्बग्य जथा त्रिपुरारी॥

—मा० १।५१।१

३ भुजबल बिस्व जितब तुम्ह जहिआ। धरिहहिं बिष्नु मनुज तनु तहिआ॥

—मा० १।१३८।६

कहीं-कहीं पर विष्णु के द्वारा किये गये कार्यों का कर्ता राम को ही माना गया है—

१ जेहि पद सुरसरिता परमपुनीता प्रगट भई सिव सीसधरी।
सोई पद पंकज जेहि पूजत अज मम सिर धरेउ कृपाल हरी॥'

—मा० १।२११।१४

२ 'मकरंदु जिन्ह को संभु सिर सुचिता अवधि सुर बरनई॥

—मा० १।३२४।१४

३ अतिबल मधु कैटभ जेहिं मारे। महाबीर दितिसुत संघारे।
जेहि बलि बाँधि सहस भुज मारा। सोइ अवतरेउ हरन महि भारा॥

—मा० ६।६।७-८

४ हिरण्याक्ष भ्राता सहित मधु कैटभ बलवान।
जेहि मारे सोइ अवतरेउ कृपा सिंधु भगवान॥

—मा० ३।४८ (क)

५ नख निर्गता मुनि बंदिता त्रैलोक पावनि सुरसरी॥

—मा० ७।१३।१५

---

१ मा० १।११३।११।१० ७।६८।१ ७।८३ (क) उ०।
२ मा० ७।१३।११ ७।४८ (पू०)
३ मा० ७।१४।११ (उ०)
४ मा० २।२७।१ (पू०) ७।१४।१ (पू०)
५ मा० ७।२९ (पू०)
६ मा० ३।४।११ (पू०)
७ मा० १।५१।२ (उ०) १।१२९।८ (पू०)

कहीं-कहीं पर राम के रूप-वर्णन के क्रम में विष्णु के शरीर तथा उस पर रहने वाले आभूषणों एवं चिह्नों का स्पष्ट उल्लेख मिलता है—

१ कुण्डल मकर मुकुट सिर भ्राजा। कुटिल केस जनु मधुप समाजा॥
उर श्रीबत्स रुचिर बनमाला। पदिक हार भूषन मनि जाला॥
के हरि कंधर चारु जनेऊ। बाहुबिभूषन सुन्दर तेऊ॥
—मा० १ १४७ १-७

२ रेख कुलिस ध्वज अंकुस सोहे। नूपुर धुनि सुनि मुनि मोहे॥
कटि किंकिनी उदर त्रय रेखा। नाभि गभीर जान जेहि देखा॥
भुज बिसाल भूषन जुत भूरी। हियँ हरिनख अति सोभा रूरी॥
उर मनिहार पदिक की सोभा। बिप्र चरन देखत मन लोभा॥
—मा १ १९९ १-६

३ ध्वज कुलिस अंकुस कंज जुत बन फिरत कंटक किन लहे।
—मा० ७ १३ १५

राम के अवतार के लिए ब्रह्मा शिव एवम् अन्य देव सम्मिलित रूप में प्रयत्नशील हैं पर उनके बीच विष्णु उपस्थित नहीं हैं। जब सब देवता बैठकर विचार करने लगते हैं कि प्रभु को कहाँ प्राप्त किया जाय तब कोई बैकुण्ठ लोक में जाने का प्रस्ताव रखता है और कोई कहता है कि वही प्रभु क्षीर-समुद्र में निवास करते हैं।[1] यहाँ बैकुण्ठ और क्षीर-समुद्र से विष्णु की ओर ही इंगित किया जा रहा है। वहीं पर 'मतिधीर' ब्रह्मा जिस 'सुर नायक जन सुखदायक प्रनत पाल भगवंता' की 'जय जय' कर रहे हैं वह 'सिंधु सुता प्रिय कंता' के अतिरिक्त और कोई नहीं है।[2] वे राम रूप में भी कौशल्या के समक्ष 'निज आयुध भुज चारी' के साथ ही प्रकट होते हैं और उसी समय माता कौशल्या ने उस 'जन अनुरागी' को 'श्रीकंता' शब्द से ही अभिहित किया था। राम के प्रकट होने के बाद उनके रूप का जो वर्णन है वह निर्विवाद रूप से विष्णु भगवान् का ही परम्परागत रूप है।[3] इसी तरह रावण-वध के पश्चात् ब्रह्मा शिव इन्द्र आदि देवगण तो राम के समक्ष उपस्थित होकर उनकी स्तुति करते हैं पर फिर वहाँ विष्णु की अनुपस्थिति है। तुलसी ने उपर्युक्त दोनों प्रकरणों में कदाचित् इसीलिए विष्णु को उपस्थित नहीं किया क्योंकि प्रथम प्रकरण में तो उन्हें ही राम रूप में अवतरित होना है और दूसरे प्रकरण में उन्होंने राम रूप में अवतरित होकर रावण का वध किया है। अतः दोनों प्रसंगों में विष्णु की अनुपस्थिति राम और विष्णु का तादात्म्य सूचक है।

तुलसीदास जी ने जो नारद-कथा लिखी है उससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि राम विष्णु के ही अवतार हैं। नारदजी अपनी काम-विजय गाथा गाकर के मना करने पर भी क्षीरसमुद्र

१ मा० १ १८५ १–२
२ मा० १ १८६ १–२
३ मा० १ १९२ १–८

में श्री निवास' 'भृतिमाथ रमा निकेत' तथा 'चराचर राज' से निवेदन करते थे। वे उन्हीं की माया से रचित विश्व मोहिनी नामक राजकुमारी पर आसक्त हुए व और उन्हीं की लीला से अपने उद्देश्य में असफल हुए तथा क्रुद्ध होकर उन्हें मनुष्य होने का शाप दिया।[1] पुनः उसी विष्णु के अवतार राम से उन्होंने अरण्य में अपने विवाह की असफलता का कारण पूछा था।[2] इससे यह स्पष्ट सिद्ध है कि उस कल्प के राम विष्णु के ही अवतार थे।

इसी तरह सुतीक्ष्ण के ध्यान मग्न प्रसंग से भी यह प्रकट होता है कि उनके इष्टदेव त्रिभुज राम और चतुर्भुज विष्णु यथार्थतः एक ही तत्त्व है।[3]

तुलसी ने यत्र-तत्र राम भक्तों को प्रायः विष्णु भक्त भी कह दिया है।[4] इससे भी सिद्ध है कि वे राम और विष्णु में कोई अन्तर नहीं मानते है।

उपर्युक्त तथ्यों से ऐसा प्रतीत होता है कि मानस के राम परब्रह्म एवम् विष्णु दोनों ही के अवतार हैं। यथार्थतः प्राचीन वैदिक दृष्टि में यह बात असंगत भी नहीं है। कारण यह है कि परब्रह्म या पुरुष एवम् विष्णु में वेदों ने कोई अन्तर नहीं माना है। परन्तु तुलसी ने कहीं-कहीं राम को विष्णु से पृथक उनसे वन्दनीय तथा उनको नचाने वाला भी कहा है—

१ सम्भु बिरंचि बिष्नु भगवाना। उपजहिं जासु अंस तें नाना॥
—मा० १।१४४।६

२ बिधि हरि हर तप देखि अपारा। मनु समीप आए बहु बारा॥
मागहु बर बहु भाँति लोभाए। परम धीर नहिं चलहिं चलाए॥
—मा० १।१४५।२-३

३ पुनु सेवक सुरतरु सुर धेनू। बिधि हरिहर बंदित पद रेनू॥
—मा० १।१४६।१

४ हरिहित सहित रामु जब जोहे। रमा समेत रमापति मोहे॥
—मा० १।३१७।३

५ जगु पेखन तुम्ह देखनिहारे। बिधि हरि सम्भु नचावनिहारे॥
तेउ न जानहिं मरमु तुम्हारा। और तुम्हहि को जाननिहारा॥
—मा० २।१२७।१-२

---

१ मा० १।१२७।६—१३७।८
२ मा० ३।४३।१-३
३ "मुनिहि राम बहु भाँति जगावा। जाग न ध्यान जनित सुख पावा।
भूप रूप तब राम दुरावा। हृदयं चतुर्भुज रूप देखावा।
—मा० ३।१०।१७-१८
४ (क) नारद बिष्नु भगत पुनि ग्यानी॥
—मा० १।१२४।६ (उ०)
(ख) नाम बिभीषन जेहि जग जाना। बिष्नु भगत बिग्यान निधाना॥
—मा० १।१७६।५

६ बिधि हरि हरु ससि रबि दिसिपाला । माया जीव करम कुलि काला ॥

× × ×

करि बिचार जियँ देखहु नीकें । राम रजाइ सीस सबही कें ॥
—मा० २ २५४ ६–८

७ जाकें बल बिरंचि हरि ईसा । पालत सृजत हरत दससीसा ॥
—मा० ५ २१ ५

८ हरिहि हरिता बिधिहि बिधिता, सिवहि सिवता जो दई ।
सोइ जानकी-पति मधुर मूरति, मोदमय मंगल मई ॥
—विनयपत्रिका पद १३५ छन्द ३ की अन्तिम दो पंक्तियाँ

९ जानतहू मनहि रिझाइ सठ जनि घालसि कुल खीस ।
राम बिरोध न उबरसि सरन बिष्नु अज ईस ॥
—मा० ५ ५६ (क)

१० लोक-लोक प्रति भिन्न बिधाता । भिन्न बिष्नु सिव मनु दिसित्राता ॥

× × ×

भिन्न-भिन्न मैं दीख सबु अति बिचित्र हरि जान ।
अगनित भुवन फिरेउँ प्रभु राम न देखेउँ आन ॥
—मा० ७ ८१ १–८१ (क)

११ बिष्नु कोटि सम पालन कर्ता ।
—मा० ७ ९२ ६ (पू०)

इस तरह तुलसी ने कतिपय स्थलों पर राम और विष्णु में जो भेद प्रदर्शित किया है उस सम्बन्ध में मेरा विचार यह है कि तुलसी के युग में या उनसे कुछ पूर्व कबीर आदि निर्गुणवादी सन्तों ने दाशरथि राम को सामान्य मनुष्य सिद्ध करने का प्रयत्न किया था। वे सगुणवाद को निरर्थक असत्य और उपहसनीय सिद्ध करना चाहते थे। उनके इस प्रयत्न से हिन्दुओं के वेद-शास्त्र-पुराणानुमोदित भागवत धर्म पर आघात पहुँचता था। इसीलिए सूर और तुलसी जैसे सगुण ब्रह्मवादी सन्त निर्गुण ब्रह्मवादी सन्तों की विचारधाराओं का खण्डन करने के लिए तत्पर हुए। यही कारण है कि तुलसी के समक्ष जब यह आशंका प्रकट की जाती थी कि दाशरथि राम मनुष्य हैं अथवा परब्रह्म तो वे कुछ आवेश में आ जाते थे।[1]

---

१ मा० १ ११४ ७–१ ११४

सूरदास इस प्रकार के आवेश में तो नहीं आते थे पर निर्गुण ब्रह्मवादियों से इस सम्बन्ध में वे बड़ी मीठी चुटकी लेते थे।[1] कबीर जैसे निर्गुण ब्रह्मवादी का कथन था

"दसरथ-सुत तिहुँ लोकहिं जाना राम-नाम का मरम है आना।"[2]

साथ ही वे अपने राम को सभी देवी-देवताओं से बड़ा और निर्गुण मानते थे। तुलसीदास ने इसीलिए दाशरथि राम को निर्गुण एवं परात्पर ब्रह्म का भी अवतार स्वीकार किया और पौराणिक परम्पराओं का निर्वाह करने के लिए उन्हें विष्णु का अवतार भी माना। एक बात और भी है। पौराणिक काल के वैदिक देवी-देवताओं का स्वरूप बहुत कुछ विकृत हो चुका था। साक्षात् भगवान् विष्णु को देवों के कल्याण के लिए मोहिनी रूप धारण करने वाला[3] और जालंधर नामक असुर की धर्मपत्नी वृन्दा का पातिव्रत्य नष्ट करने वाला[4] कहा गया था। ऐसी परिस्थिति में तुलसी परात्पर ब्रह्म तथा वैदिक विष्णु के अवतार राम को पौराणिक विष्णु से सूक्ष्म एवं श्रेष्ठ मानते हैं। परन्तु इस स्थिति में यह सन्देह होना स्वाभाविक है कि आखिर उनके राम किसके अवतार हैं? यह सन्देह पार्वती के मोह के समान विकराल बनकर हमारे युग के कतिपय सुधी समालोचकों के हृदयों को भी मथित करता हुआ प्रतीत हो रहा है। ऐसे आलोचकों में 'भक्ति का विकास एवं 'मानस-दर्शन" आदि ग्रन्थों के प्रणेता प्रमुख हैं। इस सम्बन्ध में उनके विचार निम्नलिखित हैं

---

१ (क) यह गोकुल गोपाल-उपासी।
जे गाहक निरगुन के ऊधौ ते सब बसत ईस-पुर काशी॥

× × × ×

सूरदास ऐसी को बिरहिनि, माँगि मुक्ति छाँड़े गुन रासी॥
—सूरसागर दशम स्कंध पद ३९८

(ख) ब्रजजन सकल स्याम ब्रत-धारी।
बिना गुपाल और नहिं जानें तिहिं कहियै व्यभिचारी॥

× × × ×

सूरदास-स्वामी मन मोहन मूरति की बलिहारी॥
—वही पद ३९२१

(ग) निरगुन कौन देस को बासी?
मधुकर कहि समुझाइ सौंह दै बूझति साँच न हाँसी॥
को है जनक कौन है जननी कौन नारि को दासी?
कैसे बरन भेष है कैसो किहिं रस में अभिलाषी? इत्यादि।
—वही पद ३९११

२ बीजक पृ० २७६ पद १०९ पंक्ति २

३ श्रीमद्भागवत स्कन्ध ८ अ० ८ श्लो० ४१ स्कंध ८ अ ?? श्लो० १२

४ पद्मपुराण उत्तर खण्ड अ० १६ श्लो० ४१ ४६
शिवपुराण रुद्र संहिता युद्ध खण्ड अ० २३ श्लो० २ और श्लो० १९ ४१

(१) "एक उलझन और भी है। तुलसी एक स्थान पर तो राम को कर्ता धर्ता आदि कहते हैं जिनको अपने कार्य में किसी अन्य की सहायता अपेक्षित नहीं होती और दूसरे स्थान पर उन्हें इस कार्य से विरत दिखाकर उनके भृकुटि विलास मात्र से ब्रह्मा विष्णु और महेश को उत्पन्न कराकर उनके सृष्टा पालक और संहारक का काम कराते हैं। कभी वे राम को विष्णु का अवतार सीता को रमा और राम को हरि कहते हैं और कभी इसके विपरीत हरि अर्थात् विष्णु और रमा को सीता तथा राम के स्वयंवर में दर्शक रूप में भेज देते हैं। क्या इन उक्तियों में कोई संगति है? ऐसे प्रश्न प्रायः उठते रहे हैं पर उनके यथोचित समाधानकारक उत्तर दिये जा चुके हैं इसमें सन्देह है।"[1]

२ (क) "परन्तु मानस के राम विष्णु के अवतार हैं ही नहीं वरन् ब्रह्मा विष्णु और महेश को नचाने वाले स्वयं परब्रह्म परमेश्वर हैं।"[2]

(ख) "मानसकार ने किस प्रकार इतनी बड़ी भूल कर दी यह बात समझ में नहीं आती। जान पड़ता है कि कथा के आवेश में उन्होंने राम को भूल से रमापति आदि भी लिख दिया। परन्तु यह बात तो निश्चित रूप से कही जा सकती है कि तुलसीदास राम को निर्गुण ब्रह्म के रूप में ही मानते हैं विष्णु के अवतारी रूप में नहीं। अध्यात्म रामायण में भी राम निर्गुण ब्रह्म ही माने गये हैं क्षीर-निधिवासी विष्णु भगवान् के अवतार नहीं।"[3]

उपर्युक्त उद्धरणों में क्रमशः निम्नांकित शंकाएँ व्यक्त की गयी हैं

(क) तुलसी कहीं राम को कर्ता-धर्ता आदि कहकर किसी की सहायता के बिना ब्रह्माण्ड का संचालन करने वाला कहते हैं और कहीं उनके भृकुटी विलास से ब्रह्मा विष्णु एवं महेश की उत्पत्ति बताकर इनके द्वारा ब्रह्माण्ड की सृष्टि पालन तथा संहार कार्य सम्पन्न होने की बात कहते हैं।

(ख) तुलसी कभी राम को विष्णु का और सीता को रमा का अवतार कहकर भी समकक्ष ही विवाह में विष्णु और रमा को दर्शक रूप में भेज देते हैं।

(ग) मानस के राम विष्णु के अवतार न होकर ब्रह्मा विष्णु और महेश को नचाने वाले परब्रह्म हैं।

(घ) तुलसी ने कथा के आवेश में राम को भूल से रमापति आदि भी लिख दिया।

(ङ) यथार्थ में तुलसी राम को निर्गुण ब्रह्म के रूप में ही मानते हैं विष्णु के अवतारी रूप में नहीं।

(च) अध्यात्म-रामायण में भी राम निर्गुण ब्रह्म ही माने गये हैं क्षीरनिधिवासी विष्णु भगवान् के अवतार नहीं।

---

१ भक्ति का विकास—डा० मुन्शीराम शर्मा पृ० ७०७।
२ मानस-दर्शन श्रीकृष्ण लाल पृ० ११२
३ वही पृ० ११३ ११४

उपर्युक्त कथनों में से प्रारम्भिक दो तो शंका के रूप में हैं किन्तु शेष चार लेखक के निश्चयात्मक कथन हैं जो यथार्थतः सर्वथा भ्रान्तिपूर्ण हैं। यहाँ क्रमशः उनपर विचार किया जा रहा है।

प्रथम कथन (क) का उत्तर एक प्रकार से पहले ही दिया जा चुका है। फिर भी उसे और स्पष्ट करने के लिए कुछ पिष्टपेषण भी क्षम्य हो सकता है। यथार्थ में परब्रह्म के दो रूप हैं—निर्गुण और सगुण। लोकमान्य तिलक कहते हैं कि 'यहाँ तक अध्यात्म-शास्त्र के जो मुख्य सिद्धान्त बतलाये गये और शास्त्रीय रीति से उनकी जो संक्षिप्त उपपत्ति बतलाई गयी उससे इन बातों का स्पष्टीकरण हो जायगा कि परमेश्वर के सारे नाम रूपात्मक व्यक्त स्वरूप केवल मायिक और अनित्य हैं तथा उनकी अपेक्षा उसका अव्यक्त स्वरूप श्रेष्ठ है। उसमें भी जो निर्गुण अर्थात् नामरूप रहित है वह सबसे श्रेष्ठ है।"[1] किन्तु स्वयं निर्गुण ब्रह्म अवतार लेने पर निर्गुण नहीं रह सकता। यों भी कहा जाय कि अवतार सगुण ब्रह्म का ही होता है। स्वयं तुलसी ने भी इस बात को मानस के एक स्थल पर स्वीकार किया है।[2] निर्गुण ब्रह्म जब सृष्टि में सगुण रूप धारण करते हैं तो वह उनका यथार्थ रूप नहीं रहता।[3] उनका वह स्वरूप उनकी माया का कार्य होता है।[4] अतः तुलसीदास यदि राम अर्थात् ब्रह्म के निर्गुण एवं सगुण दोनों रूपों को ध्यान में रखकर बिना किसी की सहायता के अकेला ही उन्हें समग्र ब्रह्माण्ड का कर्ता-धर्ता आदि कहते हैं और कहीं ब्रह्म के सगुण स्वरूप ब्रह्मा विष्णु एवं महेश को उत्पन्न करने वाला और उनके द्वारा ब्रह्माण्ड की सृष्टि पालन एवं संहार कराने वाला कहते हैं, तो इसमें असंगति क्या है? क्योंकि तुलसी ने तो राम को बार-बार निर्गुण एवं सगुण दोनों ही कहा है। निर्गुण अव्यक्त एवं अवांमानस गोचर तो कर्तृत्व रहित है।[5] गीता में यह स्पष्ट कहा गया है कि 'कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षर समुद्भवम्।'[6] इसकी व्याख्या करते हुए गीता रहस्यकार लिखते हैं "गीता रहस्य के सातवें और आठवें प्रकरण में यह बात विस्तार पूर्वक बतलायी गयी है कि परमेश्वर से प्रकृति और त्रिगुणात्मक प्रकृति से जगत् के सब कर्म कैसे निष्पन्न होते हैं। इस प्रकार पुरुष

---

१ तिलक—गीता रहस्य पृ २४८

२ मंगल भवन अमंगल हारी। ... (मूल पंक्तियाँ अस्पष्ट)

—मा १ १ ४१

३ अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूत महेश्वरम्॥

—गीता अ ९ श्लो ११

४ (क) गीता अ० ४ श्लो ६
(ख) मा० ५ श्लो० १—"......रामाख्यं जगदीश्वरं सुरगुरुं माया मनुष्यं हरिं......"

५ गीता अ० ४ श्लो १३ (उ०) गीता अ० १४ श्लो० ११ १५

६ गीता अ ३ श्लो० १५ (पू)

सूक्त में भी यह वर्णन है कि देवताओं ने प्रथम यज्ञ करके ही सृष्टि का निर्माण किया है।[1] अतः निर्गुण एवं सगुण ब्रह्म के स्वरूप राम में अकेले ही सृष्टि संचालन करने की क्षमता तथा अपने अनेक सहायक उत्पन्न करने की क्षमता का आरोप करना कोई असंगत बात नहीं है।

दूसरे कथन (ख) में यह आशंका व्यक्त की गयी है कि स्वयं विष्णु और रमा अपने ही अवतार राम और सीता के विवाह में दर्शक कैसे बन सके ? तुलसी यह बात मानते हैं कि विष्णु सर्वव्यापक और निर्गुण होते हुए भी अपनी योगमाया के बल पर अनेक रूप धारण कर सकते हैं। विष्णु के अवतार स्वयं राम ने भी तो अनेक अवसरों पर अपने अनेक रूप प्रदर्शित किये हैं।[2] एक ही विष्णु के दो-दो अवतार अर्थात् राम और परशुराम एक ही समय में हुए थे। अपने-अपने लोकों में रहते हुए भी देवताओं ने वानरों का शरीर धारण कर भगवान् राम की सेवा की थी।[3] ऐसी परिस्थिति में यह शंका ही निर्मूल है कि राम के विवाह में विष्णु दर्शक कैसे बने ? लक्ष्मी भी विष्णु की शक्ति विशेष हैं और संसार की उत्पत्ति पालन एवं संहार करने वाली हैं। अतः वे भी अनेक रूप धारण कर सकती हैं।

---

१ गीता रहस्य तिलक पृ० १८१

२ (क) अमित रूप प्रकटे तेहि काला। जथा जोग मिले सबहि कृपाला ॥

× × × ×

छन महिं सबहि मिले भगवाना। उमा मरम यह काहुँ न जाना ॥
—मा० ७ ६ ५ ७

(ख) देखरावा मातहि निज अद्भुत रूप अखण्ड।
रोम रोम प्रति लागे कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड ॥
—मा० १ २०१

(ग) बिसमयवंत देखि महतारी। भए बहुरि सिसु रूप खरारी ॥
—मा० १ २ २ ६

(घ) देखहि रूप महारन धीरा। मनहुँ बीर रसु धरें सरीरा ॥

× × × ×

हरि भगतन्ह देखे दोउ भ्राता। इष्टदेव इव सब सुखदाता।
—मा० १ २४१ ५—२४२ ५

(ङ) भूप रूप तब राम दुरावा। हृदयं चतुर्भुज रूप देखावा ॥"
—मा० १ १० १८

३ मा० १ १८७-१८८ १-२ दोहावली दो० १४२-१४३

लक्ष्मी के अवतार सीता[1] ने भी तो अवसर आने पर अनेक वेष धारण किया था।[2] इसी तरह विष्णु की माया[3] लक्ष्मी एवं विश्व मोहिनी दोनों ही राम-भाव न रह को वैकुण्ठ-मार्ग में दृष्टिगोचर हुई थी।[4]

तीसरे कथन (ग) का उत्तर तो पहले ही दिया जा चुका है कि राम विष्णु के अवतार हैं और वैदिक विष्णु तथा परब्रह्म एक ही तत्त्व हैं। हाँ पौराणिक विष्णु परब्रह्म के केवल वही रूप हैं जो सृष्टि का पालन करते हैं। पर यथार्थतः तो वे भी परमेश्वर से भिन्न नहीं हैं।

ऊपर जो कुछ कहा गया है उसके आलोक में चौथे (घ) और पाँचवें (ङ) कथन स्वतः अप्रामाणिक सिद्ध होते हैं। जब तुलसी ने राम को सगुण ब्रह्म का अवतार माना है[5] और साथ ही यह भी कहा है कि—

"सगुनहि अगुनहि नहिं कछु भेदा।[6]

या

"जो गुनरहित सगुन सोइ कैसें। जलु हिम उपल बिलग नहिं जैसें॥"[7]

तो राम को रामपति श्रीनिवास आदि विशेषणों से स्मरण करना केवल कथा के आवेश में कैसे कहा जा सकता है? और यह कैसे कहा जा सकता है कि तुलसी राम को निर्गुण ब्रह्म के रूप में ही मानते हैं विष्णु के अवतारी रूप में नहीं। ऐसा लिखना तो स्वयं तुलसी के कथन को अप्रामाणिक सिद्ध करना होगा।

छठे कथन (च) के इस अंश की अप्रामाणिकता कि अध्यात्म रामायण में भी राम क्षीर सिंधुवासी विष्णु के अवतार नहीं हैं अध्यात्म रामायण से ही सिद्ध है। देवगण राक्षसों से पीड़ित होकर पृथ्वी और ब्रह्मा के साथ अपने परित्राण के लिए क्षीर-समुद्र-वासी विष्णु के पास ही गये थे।[8] भगवान् विष्णु ने उनकी स्तुति से प्रसन्न होकर चार रूपों में

---

१ बसइ नगर जेहिं लच्छि करि कपट नारि बरवेष।
—मा० १ २८९ (पू०)

२ सीय मातु प्रतिवेष बनाई। सादर करइ सरिस सेवकाई॥
लखा न मरमु राम बिनु काहूँ। माया सब सिय माया माहूँ॥
—मा० २ २५२ २-३

३ श्रीपति निज माया तब प्रेरी।
—मा० १ १२९ ८ (पू०)

४ बीचहिं पंथ मिले दनुजारी। संग रमा सोइ राजकुमारी॥
—मा० १ १३९ ४

५ मंगल भवन सुगम सब काहें।
सगुन ब्रह्म सुन्दर सुत जाहें॥
—मा० १ १०४ १

६ मा० १ ११६ १ (पू०)

७ मा० १ ११६ १

८ अध्यात्म रामायण बालकाण्ड सर्ग २ श्लो० ७

अयोध्या नरेश-दशरथ का पुत्र होना स्वीकार किया था तथा उन्हें यह भी आश्वासन दिया था कि उनकी योग माया सीता नाम से मिथिलेश जनक के घर में अवतीर्ण होगी और उसके पश्चात् उनके सारे कल्याण-कार्यों का सम्पादन होगा।[1]

यथार्थ में तुलसी ने सगुण एवम् निर्गुण ब्रह्म को एक मानकर उनमें तात्त्विक भेद न देखते हुए अपने मन को पूर्ण ब्रह्म माना है। यह भी निवेदन किया जा चुका है कि वेदों में विष्णु का जो स्वरूप वर्णित है उसमें और तुलसी के राम में कोई अन्तर नहीं है। तुलसी ने यदि कहीं राम को विष्णु से श्रेष्ठ और भिन्न कहा भी है। तो वह पौराणिक विष्णु के स्वरूप का लेकर ही। विष्णु से राम को बड़ा मानने का एक महत्त्वपूर्ण कारण यह भी है कि राम तुलसी के इष्टदेव थे और आराधक के लिए आराध्य से बढ़कर महान् कोई अन्य नहीं होता। भगवान् कृष्ण ने गीता में कहा है—

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्॥'[2]

अर्थात् "जो भक्त जिस रूप की अर्थात् देवता की श्रद्धा से उपासना किया करता है उसकी श्रद्धा को मैं उसी में स्थिर कर देता हूँ।[3] गीता के इस सिद्धांत का प्रमाण मानस में अत्यन्त स्पष्ट है। तुलसी परशुराम और राम दोनों को ईश्वर का अवतार[4] मानते हुए भी जितनी श्रद्धा राम में रखते हैं उतनी परशुराम में नहीं। यहाँ तक कि उन्हें राम के मुख से प्रायः 'मुनि' और "विप्रवर' ही कहलाते हैं[5] जिसे सुनकर भगवान् परशुराम एक बार चिढ़ भी जाते हैं।[6] राम के प्रति तुलसी की इतनी गहरी आस्था देखकर ही हिन्दी के कतिपय उद्‌भट विद्वान् इस भ्रम में पड़ गये हैं कि तुलसी राम को केवल निर्गुण ब्रह्म का ही अवतार मानते हैं उनके सगुण स्वरूप विष्णु का नहीं किन्तु वाल्मीकीय रामायण अध्यात्म रामायण एवम् मानस में विद्यमान तुलसी की पंक्तियाँ भी इस सिद्धांत के सर्वथा प्रतिकूल हैं।

मानसकार के राम का सौन्दर्य शक्ति एवम् शील

मानस के भगवान् राम अपूर्व सौन्दर्य शक्ति एवम् शील के संगम हैं। इनका स्वरूप ऐसा नहीं है जो हमारे हृदयागण को क्षण भर के लिए एक क्षीण प्रकाश रेखा से आलोकित करके फिर अन्तर्धान हो जाय। वे तो हमारी आँखों के सामने धनुष-बाण धारण किये हुए सतत दृष्टिगोचर होते रहते हैं। भक्त अपनी अभिरुचि एवं प्रवृत्ति के अनुरूप उनके भिन्न

---

१ वही श्लो २५-२८
२ गीता अ० ७ श्लो० २१
३ गीता रहस्य पृ ७६३
४ मीन कमठ सूकर नरहरी। बामन परसुराम बपु धरी॥

—मा० ६ ११० ७

५ मा० १ २८२ (पू)
६ मा १ २८२ (उ)—२८३ ?

भिन्न रूपों की उपासना किया करते हैं। कोई उनके 'बाल रूप'[१] की उपासना करता है तो कोई उनके 'भग्न रूप'[२] का उपासक होता है और किसी को उनका 'कामधारी'[३] रूप ही उपासना के अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। गोस्वामी तुलसीदास जी को उनका शरचाप धारी रूप ही अत्यधिक प्रिय है[४] क्योंकि भगवान् का यह रूप शरणागत वत्सल एवं आर्तनाश के लिए सर्वदा बद्ध परिकर रहता है।

राम वज्र से भी कठोर और फूल से भी कोमल है।[५] अत्याचारियों के दमन में उनके रौद्र, शरणागतों पर कृपा प्रदर्शन में उनके कोमल रूप के दर्शन होते है। गौ ब्राह्मण और ऋषि मुनियों पर घोर अत्याचार करने वाले राक्षसों पर भयंकर क्रोध प्रकट करते हुए वे पृथ्वी को राक्षस रहित करने का भुजा उठाकर प्रण करते हैं।[६] शरणागत भक्तों के पापों को नष्ट कर वे उनकी रक्षा करते हैं और उन्हें सद्गति प्रदान करते हैं। अपने अनिष्ट की आशंका से शरणागत का त्याग उन्हें अभीष्ट नहीं है।[७] शरणागत-वत्सल भगवान् को शरणागत विभीषण की रक्षा की चिंता युद्ध भूमि में अपने भाई लक्ष्मण के अचेत होने पर भी बनी रही।[८] रावण ने क्रुद्ध होकर युद्ध-भूमि में विभीषण पर जो प्रचण्ड शक्ति का प्रयोग किया था उसे राम ने विभीषण को पीछे कर स्वयं सामने होकर अपने ऊपर सहन कर लिया।[९] कदाचित् इसीलिए भगवान् शिव ने यह सिद्धान्त प्रकट कर दिया है कि—

"उमा राम सुभाउ जेहिं जाना। ताहि भजन तजि भाव न आना॥"[१०]

मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् राम अनन्य-सौन्दर्य-सम्पन्न हैं।[११] करोड़ों कामदेवों को लज्जित करने वाला उनका असाधारण एवं अनन्त रूप सौन्दर्य का अवलोकन कर आबाल वृद्ध-वनिता से भी विस्मय-विमुग्ध हो जाते हैं। उनकी रूप-माधुरी का तुलसी पर इतना अधिक प्रभाव है कि अनेकानेक बार उसकी अभिव्यक्ति करते हुए भी उनको पुनरुक्ति का भान तक नहीं होता। सभी भक्त राम का दर्शन कर आत्म-सुधि खो देते है और तन्मय हो जाते हैं।[१२] राम के अनुपम सौन्दर्य का इतना अधिक आकर्षण है कि वैरागी विदेह जनक सहित जनकपुरवासी[१३] वन-मार्ग के ग्रामीण नर-नारी[१४] कोल-भील[१५] पशु-पक्षी सज्जन

---

१ मा० १।११२।१ (पू०) ७।७५।५ (पू०)
२ मा० ३।१०।१८।१६
३ मा० १।११।१५।१८
४ मा० १।१४७।८ २।१ गी० ३, १११
५ मा० ७।१६ (ग)
६ मा० ३।६ (पू०)
७ मा० ६।४३
८ गीतावली लंका काण्ड पद ७ पं० ५–६
९ मा० ६।६३–६।६४।२
१० मा० ५।३४।३
११ मा० १।१६६।१
१२ मा० ४।२।६ १।४५।३ ७।३३।२–४
१३ मा० १।२१६।३ १।२२०।१–१।२२०
१४ मा० २।११०।२ २।११४।३
१५ मा० २।१३४।४–६

दुर्जन ऋषि-मुनि देवता सभी बरबस वशीभूत हो जाते हैं। विधैसे एवं तामसी प्रवृत्ति के सप बिच्छू भी उन पर मुग्ध होकर उनका कोई अनिष्ट नहीं करते।[1] औरों की तो बात ही क्या उनका शत्रु खरदूषण भी उनके सौन्दर्य पर मन्त्र मुग्ध है।[2] शूपर्णखा भी उनके सौन्दर्य पर विमुग्ध होकर ही उनसे अपना वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करना चाहती थी।[3] क्षत्रिय कुल के विश्वविदित द्रोही परशुराम भी असंख्य रामदेवों का मान मदन करने वाले उनके अपूर्व रूप का अवलोकन कर चकित रह गये।[4] जनकपुर के 'बालक वृन्द' तो उनका अद्भुत सौन्दर्य देखकर उनके पीछे ही भग जाते हैं।[5] जनकपुर की वाटिका में भगवान् राम ने अपने भाई लक्ष्मण सहित लता-कुंज से प्रकट होकर सीता की सखियों को जिस सौन्दर्य का साक्षात्कार कराया वह ऐसा विलक्षण एवं अपूर्व था कि सखियाँ अपने आप को भूल गयी।[6] इतना ही नहीं उनमें से एक चतुरा ने तो पार्वती की पूजा में ध्यानस्थ सीता के हाथों को झकझोर कर उन्हें उस सौन्दर्य को देखने के लिए विवश किया।[7] राम का रूप ऐसा अपूर्व है कि उसे स्वयं तो लोग देखते ही हैं, दूसरों को भी देख कर नेत्रों का लाभ लेने की शिक्षा देते हैं।[8] विवाह के अवसर पर तो उनके त्रिभुवन-मोहन रूप के दर्शनार्थ शिव विष्णु, ब्रह्मा कोटिकन्दर्प रुद्र आदि सभी देवगण जनकपुर में जुट गये थे।[9] सीता स्वयंवर में उपस्थित सभी नागरिक निर्निमेष नयनों से राम की रूप माधुरी का पान कर रहे थे।[10] वन-मार्ग के पथिकगण एवं ग्रामीण उनके सौन्दर्य की पराकाष्ठा देखकर आश्चर्य चकित रह जाते हैं। ग्रामीण वधूएँ उत्कण्ठित होकर सीता से 'स्यामल-गौर-किसोर' राज कुमारों का परिचय प्राप्त करती हैं[11] और उनके चले जाने पर भी उनकी सुकुमारता को स्मरण करती हुई खिन्न होकर विधिना को उलाहना[12] देती हैं तथा यही चाहती हैं कि—

> जौं मागा पाइअ विधि पाहीं।
>
> ए रखिअहिं सखि आँखिन्ह माहीं ॥'[13]

तुलसी ने भगवान् राम के अनुपम सौन्दर्य के साथ ही साथ उनकी अद्वितीय शक्ति का भी उद्घाटन किया है। उनकी शक्ति के अवलेश से तीनों लोकों के चराचर पर विजय

---

१ मा २ २९२ ८
२ मा ३ १९ १-२
३ मा० ३ १७ ८-१०
४ मा० १ २८९ ८
५ मा १ २१९ २
६ मा० १ २३२-१ २३३
७ मा १ २३४ १-२
८ मा २ ११४ ६
९ मा १ ३१७ २-८
१० मा १ २४२-१ २४४ ३
११ मा २ ११६-२ ११७ १
१२ मा० २ १२१ ३-४
१३ मा० २ १२१ ५

प्राप्त की जा सकती है।[1] जिस समय भगवान् राम का अवतार हुआ था उस समय रावण बालि और परशुराम ये तीन विश्व विजयी योद्धा विद्यमान थे। किष्किन्धा का राजा बालि राक्षसराज रावण से भी अधिक बली था और उसने उसे बुरी तरह पराजित ही नहीं किया था परन्तु अपनी कांख में दबा, मास भर बन्दी भी रखा था। क्षत्रियों के आतंकस्वरूप महामुनि परशुराम ने तो कौतुक में ही रावण को बन्दी बनाने वाले महावीर सहस्रबाहु को भी मार कर इक्कीस बार पृथ्वी को क्षत्रिय विहीन किया था। राम ने रावण और बालि का तो वध किया ही उन्होंने सीता-स्वयंवर में अजेय वीर परशुराम का भी मान मर्दन कर उन्हें तपस्या के लिए वापस वन का रास्ता दिखाया। ये सारे काम राम की अतुलित शक्ति और अपूर्व वीरता की पराकाष्ठा के ही परिचायक हैं। उनके बाण राक्षसों के समूह के हृदय में ज्वाला उठाने वाले थे।[2] उन्होंने सुबाहु का ही बाण चलाकर संहार किया था और मारीच को बिना फर के ही मारा था जिसकी प्रतिक्रियायें अवर्णनीय हैं। उनके बाणों में ऐसी अद्भुत शक्ति है जो क्षणमात्र में ही भयंकर राक्षसों को काटकर रख देते हैं और वे सब पुनः लौटकर उनके तरकश में घुस जाते हैं।[3] राम की शक्ति के बल पर ही रावण के सामने आँख उठा कर भी नहीं देखने वाला विभीषण वीरों के समान उससे युद्ध करता था।[4] उनके कमल सदृश कोमल कर के स्पर्श से भक्तों की पीड़ा दूर हो जाती है और उनका शरीर वज्र के समान सुदृढ़ हो जाता है।[5] वे अपनी शक्ति से सबको नचाते रहते हैं।[6] उनमें असंख्य कोटि दुर्गाओं के समान शत्रुओं के संहार की शक्ति विद्यमान है।[7] राम ने अपनी अपूर्व शक्ति से ताड़का खरदूषण कुम्भकरण मारीच आदि अत्याचारियों का भी वध किया। रावण और मारीच आदि राक्षसों ने उनकी अतुलित शक्ति से ही उन्हें परब्रह्म के रूप में पहचाना था।[8] भला उस राम से भी अधिक शक्ति सम्पन्न कौन हो सकता है। जिनके लव निमेष परमाणु वर्ष युग और कल्प प्रचण्ड बाण हैं और साक्षात् काल जिनका धनुष है।[9] वस्तुतः जिस तरह राम स्वयं अनन्त हैं उसी तरह उनकी महिमा नाम रूप और गुणों की कथा सभी अपार एवं अनन्त है।[10]

तुलसी ने भगवान् राम के शील का ऐसा मार्मिक अंकन किया है कि भक्तों का हृदय स्वतः उनकी ओर आकृष्ट हो जाता है। उनके मनोहर शील-स्वरूप को देखकर

---

१ मा० ५.२१
२ मा० ५.१८.६ (उ०)
३ मा० ६.६८
४ मा० ६.९४
५ मा० ३.३ ४.८.६ विनयपत्रिका पद १३८ की अन्तिम दो पंक्तियाँ।
६ मा० ४.७.२४ ४.११.७
७ मा० ७.११.७ (उ०)
८ मा० ३.२३.२ ३.२५
९ मा० ६ मंगलाचरण का दोहा
१० मा० १.११ (पू०) ७.११.३

उसका अनुभव कर मनुष्य अपनी वृत्तियों को भी उसी के मेल में से ढालने के लिए प्रयत्न शील हो जाता है। राम की सरलता एवं सुशीलता के अनुभव से उसकी कुटिलता एवं कुरूपता धीरे धीरे दूर होने लगती है और इस तरह वह भक्ति का अधिकारी बनता जाता है। अयोध्या में राम राज्याभिषेक का आयोजन हो रहा है। कुलगुरु वशिष्ठ अभिषेक की सफलता के लिए राम को संयम करने का आदेश देने आये हैं। मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् राम लौकिक एवं वैदिक धर्म की रक्षा करते हुए उनके प्रति जिस असाधारण शिष्टाचार एवं शील का निर्वाह करते हैं उसे देखकर महामुनि वशिष्ठ उनके गुण शील और स्वभाव का बखान कर प्रेम से पुलकित हो जाते हैं।[1] गुरु का आगमन सुनते ही राम राजद्वार पर उपस्थित होकर उनके चरणों में नतमस्तक होते हैं। सादर अर्घ्य प्रदान कर उन्हें घर में लाते हैं और षोडशोपचार से पूजा करके उन्हें सम्मानित करते हैं। पुनः सपत्नीक चरण-स्पर्श करते हुए करबद्ध निवेदन करते हैं कि यद्यपि सेवक के घर स्वामी का आगमन मंगलों का मूल और अमंगलों का विध्वंसक होता है तथापि उचित तो यही था दास को ही काम के लिए बुला लिया जाता। आपने प्रभुता का परित्याग कर स्वयं यहाँ पधार कर जो स्नेह किया इससे यह घर आज पवित्र हो गया। अब गुरुदेव की जो आज्ञा हो वही मैं करूँ क्योंकि स्वामी की सेवा में ही सेवक का लाभ है।[2] जब वशिष्ठ राम को अभिषेक कार्य के सकुशल सम्पन्न होने के निमित्त उपवास हवन आदि संयम करने का उपदेश देकर लौट जाते हैं तब राम सोचने लगते हैं कि हम चारों भाई एक ही साथ जन्मे। खाना सोना लड़कपन के खेलकूद कर्णवेध यज्ञोपवीत संस्कार और विवाह आदि उत्सव सब साथ ही साथ हुए। पर इस निर्मल वंश में यही एक अनुचित बात है कि और सब भाइयों को छोड़कर राज्याभिषेक एक बड़े का ही होता है।[3] वस्तुतः कुल की परम्परा के अनुसार ज्येष्ठ पुत्र होने के नाते राम का अभिषेक कोई अनुचित नहीं था पर अन्याय सभी उत्सवों में अपने भाइयों के साथ सम्मिलित रहने वाले राम को अपनी सुशीलता के कारण इस उत्सव में भी एकाकी होना उचित प्रतीत नहीं होता। राम का यही शील सम्पन्न प्रेमपूर्ण सुन्दर पश्चाताप भक्तों के मन की कुटिलता को अपहरण करने में सफलता प्राप्त करता है।[4] इसी तरह वन-गमन प्रसंग में राम लक्ष्मण एवं सीता को वन के लिए विदा कर जब सुमन्त्र अवध आने लगे तब राम अपनी सुशीलता के कारण पिता के लिए उनके द्वारा प्रेम पूरित सन्देश ही प्रेषित नहीं करते प्रत्युत पिता के लिए "कटुवाणी" का प्रयोग करने वाले लक्ष्मण को रोकते भी हैं। इतना ही नहीं लक्ष्मण के इस अनुचित आचरण पर उन्हें संकोच होता है और वे अपना शपथ देकर सुमन्त्र से लक्ष्मण की कटु बातों को पिता से नहीं कहने का आग्रह करते हैं।[5] यह राम के शील की पराकाष्ठा है

१ मा० २।१०।१
२ मा० २।९।२–७
३ मा० २।१०।५–७
४ मा० २।१०।८
५ मा० २।९६।४–५

जिसको उनके पिता से कहे बिना सुमन्त्र को भी नहीं रहा गया था।[१] अयोध्या के नागरिकों के साथ भरत को चित्रकूट में आते देखकर उनके प्रति लक्ष्मण के हृदय में बहुत तरह की कल्पित आशंकाएँ एवं सन्देह होने लगते हैं[२] पर राम के निर्मल अन्तःकरण में आशंका एवम् सन्देह के लिए कोई अवकाश नहीं है। उन्हें अपने शील के बल पर दूसरे के शील पर पूरा भरोसा है। अपने साथ अनिष्ट करने वालों के प्रति भी राम का शील प्रच्छन्न नहीं रहता। वहीं चित्रकूट में अपने कुकृत्यों से खिन्न कैकेयी को राम यही समझाते हैं कि जो कुछ भी घटनाएँ घटित हुईं वे सब विधाता के विधान के कारण उनमें कैकेयी का कोई अपराध नहीं है।[३] जिस महापराक्रमी राम के शर-संधान के उपक्रम से ही समुद्र में भयंकर ज्वाला उत्पन्न होने लगी वही महाशुशील राम पहले लगातार तीन दिनों तक 'जड़' 'जलधि' से अनुनय-विनय करते रहे। उनके शील के साक्षात्कार से काम भील गुह निषाद शबर भालु रीछ आदि बहुत सी अनार्य जातियाँ ही नहीं बल्कि वाल्मीकि अत्रि अगस्त्य आदि महामुनि भी उनकी ओर आकृष्ट हुए। किष्किन्धापति वानरराज बालि और लंकापति राक्षसराज रावण का वध कर उन्होंने उनके राज्य का अपहरण नहीं किया बल्कि उन्हीं के उत्तराधिकारी भाइयों को दे दिया। यह राम के शील की पराकाष्ठा का ही परिचायक है कि जो सम्पत्ति शिव ने रावण को दसों सिरों की बलि देने पर प्रदान की थी उसी को राम ने विभीषण को बहुत संकोच के साथ दिया।[४] उन्हें ऐसा लगा कि इसे कुछ दिया ही नहीं गया। वस्तुतः राम के शील-स्वभाव की थाती लेकर ही भक्त उनके पास तक पहुँचने का प्रयास करता है। जब जीव को प्रतिदिन किये जाने वाले अपने असंख्य अपराधों की स्मृति होती है तब भक्ति-मार्ग में उसके पैर लड़खड़ाने लगते हैं लेकिन जब उसे शील निधान भगवान् के उदार स्वभाव का स्मरण हो आता है तब उसके पैर तेजी से बढ़ने लगते हैं।[५]

यथार्थतः मानस में वर्णित भगवान् राम ने अपने सौन्दर्य शक्ति एवं शील से जन जन के जीवन पर अपना अखण्ड आधिपत्य स्थापित कर लिया है। कदाचित इसीलिए हिन्दी साहित्य के अद्वितीय आलोचक आचार्य प० रामचन्द्र शुक्ल ने अपना यह उद्‌गार व्यक्त किया है कि "भगवान् का जो प्रतीक तुलसीदास जी ने लोक के सम्मुख रखा है भक्ति का जो प्रकृत आलंबन उन्होंने खड़ा किया है उसमें सौन्दर्य शक्ति और शील तीनों विभूतियों की पराकाष्ठा है। सगुणोपासना के ये तीन सोपान हैं जिन पर हृदय क्रमशः टिकता हुआ उच्चता की ओर बढ़ता है।[६] वस्तुतः राम की सौन्दर्य शक्ति एवम् शील समन्वित झाँकी

---

१ मा० २।४२।७–८
२ मा० २।२१८।४–७
३ मा० २।२४४
४ मा० ५।४९ (क)
५ मा० २।२३४।६
६ गोस्वामी तुलसीदास पृ० ५३–५४

पाकर साधक स्वार्थमय सांसारिक सुख प्रलोभनों का सर्वथा परित्याग कर देता है। यही कारण है कि उनकी इस झाँकी का दर्शन कर जंगली कोल भील भी अनायास ही मन की, उसी पवित्र भाव-भूमि पर पहुँच जाते हैं जिस पर तपस्वियों को भी काफी कठोर साधना के पश्चात् ही पहुँचने का सौभाग्य उपलब्ध होता है।

भगवान राम के अन्यान्य गुण

तुलसी ने न्यायी कर्म-फल-दाता करुणानिधान, गरीब निवाज भक्त-वत्सल भगवान् राम की परम उदारता अकारण दयालुता दानशीलता समदर्शिता पतित पावनता क्षमाशीलता दैन्य-प्रियता शरणागत वत्सलता कारुण्य आदि गुणों का अनेकानेक स्थलों पर हृदयग्राही वर्णन किया है। वस्तुतः राम सर्व-गुण-सम्पन्न हैं। उनके गुण अनन्त हैं।[1] करोड़ों सरस्वती से भी उन गुणों का वर्णन सम्भव नहीं है।[2] वे लीला एवम् कौतुकप्रिय भी हैं। नारद मोह प्रकरण इसका उत्कृष्ट उदाहरण है। वे परम कृपालु हैं और भक्तों के लिए उनके अन्तःकरण में अगाध अनुराग है। अपने जन के लिए उन्हें अतिशय ममता एवम् स्नेह है। एक बार करुणा करके वे फिर कभी क्रोध नहीं करते। तुलसी के राम बिगड़ी हुई बातों को बनाने वाले हैं गरीबों के रक्षक हैं तथा सरल और सबल स्वामी हैं। उनके इन्हीं गुणों से अवगत होकर विद्वान् उनके यशों का वर्णन करते हैं और अपनी वाणी को पवित्र एवम् सफल बनाते हैं।[3] उन्हें दीन-हीन-जन अत्यधिक प्रिय हैं। उनकी भक्ति की उपलब्धि के लिए ऊँची जाति उत्कृष्ट गुण और अपार ऐश्वर्य-वैभव आदि की कोई आवश्यकता नहीं है। वे कारण रहित दयालु अपने भक्तों के 'परमहित'[4] के लिए उनके अन्तःकरण में स्थित अभिमान का मूलोच्छेदन कर देते हैं।[5] नारद जयन्त काकभुशुण्डि आदि भक्तों के अभिमान को उनके परम कल्याण के लिए भगवान् ने चूर्ण किया है। वस्तुतः देवता मनुष्य और मुनि सब की यह रीति है कि स्वार्थ के लिए ही सब प्रीति करते हैं।[6] पर संसार में भगवान् राम के समान हित करने वाला गुरु पिता माता बन्धु और स्वामी कोई नहीं है।[7] उनका यही स्वभाव है कि यदि सम्पूर्ण चराचर जगत् का द्रोही मनुष्य भी भयभीत होकर उनकी शरण में आ जाय और मद मोह तथा नाना प्रकार के छल कपटों का परित्याग कर दे तो वे उसे शीघ्र ही साधु समान बना देते हैं।[8] भगवान् को सब प्रिय हैं क्योंकि सब उनके ही 'उपजाए' हुए हैं पर उनकी सर्वाधिक प्रियता का केन्द्र बिन्दु दास

---

१ मा १ ११ (पू)
२ मा १ २० ८
३ मा० १ १३ ५–८
४ मा० १ १३२
५ मा० ७·७४ ५–७·७४ (क) पू०
६ मा० ४ १२ २
७ मा ४·१२ १
८ मा ५ ४८ १–३

का सेवक ही होता है। उन्हें सेवक के समान कोई भी प्रिय नहीं है। उनका प्रियत्व उत्तरोत्तर बढ़ते हुए सेवक पर ही आकर केन्द्रित हो जाता है।[1]

तुलसी ने अजामिल गणिका तथा 'खल मनुजाद द्विजामिष भोगी' राक्षसों आदि के उद्धार का जो वर्णन किया है, उसे कुछ लोग भक्ति के क्षेत्र में सदाचार की अवहेलना मानते हैं और यह समझते हैं कि पाप कर्म में प्रवृत्त व्यक्ति भी भक्ति एवं सद्गति का अधिकारी हो सकता है। पर सच पूछिये तो तुलसी ने ऐसा वर्णन इसलिए नहीं किया है कि भक्ति और सदाचार या सुकर्म के बीच कोई सम्बन्ध ही नहीं है। उन्होंने ऐसा वर्णन शरणागत-वत्सल भगवान् राम की भक्तवत्सलता एवं क्षमाशीलता को प्रदर्शित करने के लिए ही किया है और यही कारण है कि राम के शत्रु भी उनके इन गुणों की प्रशंसा करते हैं।[2]

भगवान् राम का नर रूप में आदर्श चरित्र

भगवान् राम मानव रूप में अनन्त एवं असीम मादर्शों को लेकर अवतीर्ण हुए थे। 'मानस' में नर रूप में उनका आदर्श चरित्र है। वे एक आदर्श पुत्र हैं आदर्श बन्धु हैं आदर्श पति हैं आदर्श मित्र हैं, आदर्श शिष्य हैं, आदर्श राजा हैं और आदर्श शत्रु हैं। उनका राज्य तो संसार के सामने एक ऐसा सुन्दर एवं उत्कृष्ट उदाहरण बना हुआ है कि आज भी विशाल विश्व के अधिकांश समृद्ध राष्ट्र उस स्वर्णिम राम राज्य को अपने जीवन में उतारने के लिए कटिबद्ध हैं।

भगवान् राम मानव-रूप की मर्यादा की रक्षा के लिए ही सीता के अपहृत होने पर "महा विरही अति कामी" की तरह विलाप करते हुए उन्हें वन-वन खोजते फिरे।[3] युद्ध भूमि में लक्ष्मण को शक्ति लगने पर करुण-क्रन्दन करते रहे। उन्होंने किसी एक मुनि से साधारण मनुष्य की तरह अपने आगे जाने का रास्ता पूछा तो किसी दूसरे मुनि से अपने निवास के लिए उपयुक्त स्थान की जानकारी प्राप्त की। महामुनि वाल्मीकि ने उनके मानवीय कार्यों को उचित बताते हुए उनसे ठीक ही कहा था कि जो जैसा स्वांग भरे उसे वैसा ही नाचना भी चाहिए।[4] वस्तुतः नर-रूप में अवतरित मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् राम ने अपने आदर्श विचार और आदर्श व्यवहार के सन्तुलन से लौकिक एवं वैदिक धर्म की मर्यादा की रक्षा करते हुए भारतीय सनातन संस्कृति को आर्य संस्कृति में आत्मसात् कर अपने भीतर के वन्दनीय पूज्यपुरुष को संसार के समक्ष इस रूप में संस्थापित कर दिया है कि उसका अनुकरण करके मनुष्य निरन्तर पूर्णता की ओर अबाध गति से अग्रसर होता रहेगा।

भक्ति के अधिकारियों के लक्षण

जब जीव भगवान् राम के सौम्य भक्ति या शील में से एक या अनेक के सम्यक् बोध में आकृष्ट होकर उनके आचरण का अनुकरण करते हुए उनके अनुराग में तल्लीन तथा

---

१ मा० ७।८६।४-८
२ मा० ५।२१ (उ०)—५।२२।१, ५।५१।१ (उ०)—२ (पू०)
३ मा० ३।३।१-१६
४ मा० २।१२७।८ (उ०)

सांसारिक विषयों से उदासीन रहना चाहता है तब वह उनकी भक्ति का अधिकारी होता है। भक्ति का अधिकारी सन्मार्ग का पथिक सदाचार का रक्षक और भगवान् का प्रेमी होता है। वस्तुतः भक्ति किसी जाति या व्यक्ति विशेष की पैतृक-सम्पत्ति नहीं है। राजा या रंक ब्राह्मण या शूद्र कोई भी भगवान् का प्रेमी बनकर भक्ति का अधिकारी हो सकता है। मनुष्यों की तो बात ही क्या "मानस" में प्रतिपादित भक्ति के पशु-पक्षी तक अधिकारी हैं। जटायु एवं काकभुशुण्डि आदि के प्रसंग इस कथन की पुष्टि करते हैं। गीताकार ने भी भक्ति पर सबों का अधिकार घोषित किया है।[1] पर सांसारिक वासनाओं के बन्धनों में बुरी तरह जकड़ कर जीव स्वयं इस अधिकार से विमुख हो जाता है। वस्तुतः जब तक जीव में अहंकार और अभिमान है तब तक वह भक्ति का अधिकारी नहीं बन पाता। भक्ति का अधिकारी बनने के लिए जीव में द्वैत भावना के साथ ही साथ परब्रह्म की आत्यन्तिक महानता तथा अपनी आत्यन्तिक लघुता का परिज्ञान नितान्त अपेक्षित है। इसी विषय के ज्ञान से उसमें दैन्य भाव का आविर्भाव होता है और तब वह भक्ति का अधिकारी बन पाता है। भक्ति का अधिकारी कौन है? इस प्रश्न के उत्तर से अवगत होने के लिए भगवान् राम का यह कथन उद्धृत किया जा सकता है—

"पुरुष नपुंसक नारि वा जीव चराचर कोइ।
सर्वभाव भज कपट तजि मोहि परम प्रिय सोइ॥"[2]

गीता में भगवान् कृष्ण का भी कुछ ऐसा ही कथन है।[3] वस्तुतः तुलसी ने भक्ति के अधिकारियों का लक्षण निःस्वार्थ प्रेम माना है। उनमें न तो साम्प्रदायिक संकीर्णता होनी चाहिए और न विभिन्न देवों में द्वेष-बुद्धि। इसीलिए गोस्वामीजी ने रामभक्ति के अधिकारियों के लिए शिव के चरणों में निश्छल प्रेम रखना आवश्यक बताया है—

(क) बिनु छल बिस्वनाथ पद नेहू। राम भगत कर लच्छन एहू॥[4]
(ख) औरउ एक गुपुत मत सबहि कहउँ कर जोरि।
संकर भजन बिना नर भगति न पावइ मोरि॥[5]

भक्ति का अधिकारी शुद्धहृदय तथा सरल सरस एवं विनम्र स्वभाव का होता है। वह भगवान् की प्रार्थना एवं स्तुति करता रहता है। भगवन्नाम के जप में उसकी आस्था होती है। वह अपने कर्त्तव्य पालन में संलग्न रहता है तथा माता पिता आदि गुरुजनों एवं देवताओं की सेवा किया करता है। भगवान् की लीला एवं कृत्यों में उसका अनुराग होता है तथा उनका गुण-गान करते समय उसका अंग-प्रत्यंग पुलकित एवं प्रफुल्लित हो जाता है।

---

१ श्रीमद्भगवद्गीता अ० ९, श्लो० ३२–३३
२ मा० ७ ८७ (क)
३ "मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥"
—श्रीमद्भगवद्गीता अ० ९ श्लो० ३२
४ मा० १ १०४ १
५ मा० ७.४५

"रमा विलास" को वमन के समान त्याग कर सांसारिक विषय-वासनाओं से वह पूर्ण विरक्त हो जाता है।[1] वह वर्णाश्रम धर्म की मर्यादा का रक्षक तथा विप्र-पद पूजक होता है। राम-भक्ति के अधिकारियों को सत्संगति अत्यधिक प्रिय होती है। गुरु के चरणों में उनकी प्रीति होती है और वे नीति परायण एवं ब्राह्मणों के सेवक होते हैं।[2] सत्संगति के द्वारा उन्हें भगवान् राम के नाम रूप लीला, धाम की चर्चा के लिए अवकाश प्रोत्साहन एवं प्रेरणा मिलती है जिसके परिणाम स्वरूप शनैः-शनैः उनके संशय मोह एवं भ्रम आदि नष्ट हो जाते हैं और अन्ततः भगवान् राम के चरण में उनका अनन्य अनुराग उत्पन्न हो जाता है और वे पूर्ण भक्त बन जाते हैं।

वन जाते समय महर्षि वाल्मीकि के आश्रम में पदार्पण करने पर जब राम ने महर्षि से अपने निवास योग्य भवन की जिज्ञासा प्रकट की तब वाल्मीकि के प्रत्युत्तर रूप में तुलसी ने भक्ति के अधिकारियों के लक्षणों का सुन्दरतम् निरूपण किया है। यथार्थतः यहाँ वाल्मीकि द्वारा बताये गये चौदह भवन भक्ति के अधिकारियों के चौदह लक्षणों के रूप में स्वीकार किये जा सकते हैं जो क्रमशः इस प्रकार हैं—

(१) भक्ति के अधिकारियों के अन्तःकरण में राम-कथा-श्रवण की वासना निरन्तर बनी रहती है।[3]

(२) वे भगवान् के रूप-बिन्दु के लिए चातक बने रहते हैं अर्थात् अपने हृदय में भगवान् की झलक पाने के लिए वे सदा लालायित रहते हैं।[4]

(३) उनकी जिह्वा भगवान् के यश-वर्णन में निरन्तर लगी रहती है।[5]

(४) उनकी नासिका नित्य आदर के साथ भगवान् के पवित्र और सुगन्धित तुलसी चन्दन अतर पुष्पादि सुन्दर प्रसाद को सूँघती है। वे भगवान् को अर्पण करके ही भोजन करते हैं और उनके प्रसाद स्वरूप वस्त्र और भूषण धारण करते हैं। वे अपने से बड़ों के प्रति विनम्र रहते हैं। उनके मस्तक देवता गुरु और ब्राह्मणों को देखकर बड़ी नम्रता के साथ प्रेमपूर्वक झुक जाते हैं। वे अपने हाथों से नित्य भगवान् राम के चरणों की पूजा करते हैं।

---

१ मा० २ १२४ ८

२ मा० ७ १२८-६-७

३ जिन्ह के श्रवन समुद्र समाना। कथा तुम्हारि सुभग सरि नाना॥
भरहिं निरंतर होहिं न पूरे। तिन्ह के हिय तुम्ह कहुँ गृह रूरे॥
—मा० २ १२८ ४-५

४ लोचन चातक जिन्ह करि राखे। रहहिं दरस जलधर अभिलाषे॥
निदरहिं सरित सिंधु सर भारी। रूप बिंदु जल होहिं सुखारी॥
—मा० २ १२८ ६-७

५ मा० २ १२८

उनके हृदय में भगवान् को छोड़कर दूसरे किसी का भरोसा नहीं रहता। वे तीर्थाटन में मन लगाते हैं और भगवान् राम के तीर्थों में पैदल ही यात्रा करते हैं।[1]

(५) वे नित्य भगवान् के राम नाम रूप मन्त्रराज को जपते हैं और उनके परिवार के सहित उनका पूजन करते हैं। वे अनेकानेक प्रकार के तर्पण और हवन करते हैं तथा ब्राह्मणों को भोजन कराकर बहुत दान देते हैं। वे गुरु को हृदय में भगवान् से भी अधिक बड़ा जानकर सर्वभाव से सम्मान पूर्वक उनकी सेवा करते हैं और इन सभी शुभ कर्मों को सम्पन्न करके इनके फलस्वरूप भगवान् के चरणों में प्रेम ही का वरदान माँगते हैं।[2]

(६) वे काम क्रोध मद मान मोह, लोभ क्षोभ राग द्वेष कपट दम्भ और माया से रहित होते हैं।[3]

(७) वे सबके प्रिय तथा हितकारी होते हैं तथा दुःख-सुख और स्तुति-निन्दा को एक समान समझते हैं। वे विचार कर सत्य तथा प्रिय वचन बोलते हैं और जाग्रत एवं सुषुप्त अवस्था में भी भगवान् की ही शरण में रहते हैं। भगवान को छोड़कर उनका दूसरा कोई आधार नहीं होता।[4]

(८) वे परस्त्री को माता के समान और दूसरे के धन को विष से भी भारी विष के समान समझते हैं। वे दूसरों की सम्पत्ति से सुखी और दूसरों की विपत्ति से दुःखी होते हैं। उन्हें भगवान् राम प्राणों से भी अधिक प्रिय होते हैं।[5]

---

१ प्रभु प्रसाद सुचि सुभग सुबासा। सादर जासु लहइ नित नासा ॥
तुम्हहि निवेदित भोजन करहीं। प्रभु प्रसाद पट-भूषन धरहीं।
सीस नवहिं सुर गुरु द्विज देखी। प्रीति सहित करि बिनय बिसेषी ॥
करनित करहिं राम पद पूजा। राम भरोस हृदय नहिं दूजा ॥
चरन राम तीरथ चलि जाहीं।

—मा० २।१२९।१–५ (पू०)

२ मा० २।१२९।६—२।१२९

३ काम कोह मद मान न मोहा। लोभ न छोभ न राग न द्रोहा।
जिन्ह के कपट दंभ नहीं माया।

—मा० २।१३०।१–२ (पू०)

४ सब के प्रिय सब के हितकारी। दुख सुख सरिस प्रसंसा गारी ॥
कहहिं सत्य प्रिय बचन बिचारी। जागत सोवत सरन तुम्हारी ॥
तुम्हहि छाड़ि गति दूसरि नाहीं।

—मा० २।१३०।१–५ (पू०)

५ जननी सम जानहिं पर नारी। धनु पराव बिष तें बिष भारी ॥
जे हरषहिं पर संपति देखी। दुखित होहिं पर बिपति बिसेषी ॥
जिन्हहि राम तुम्ह प्रान पिआरे।

—मा० २।१३०।६–८ (पू०)

(९) वे भगवान् को ही अपना स्वामी सखा पिता माता और गुरु सब कुछ समझते हैं।[1]

(१०) वे सबके दुर्गुणों को छोड़कर सद्गुणों को ग्रहण करते हैं तथा ब्राह्मण और गौ के हित के लिए संकट सहते हैं। वे लोक की पवित्र नीति में निपुण होते हैं।[2]

(११) वे अपने गुणों को भगवान् का और दोषों को अपना समझते हैं अर्थात् जो कुछ उनसे अच्छा बनता है वे उसे भगवान् की देन मानते हैं प्रभु की प्रेरणा का फल समझते हैं और जो कुछ बिगड़ता है उसमें अपने स्वाभाविक दोषों को स्वीकार करते हैं। उन्हें सब प्रकार से भगवान् का ही भरोसा रहता और वे राम भक्तों से प्रेम करते हैं।[3]

(१२) वे जाति पाँति धन धर्म प्रतिष्ठा प्यारा परिवार सुखदायक घर इन सब का परित्याग कर केवल भगवान् राम में ही तल्लीन रहते हैं।[4]

(१३) उनके लिए स्वर्ग नरक और मोक्ष एक समान हैं। वे सब धनुष-बाण धारण किए हुए भगवान राम की मूर्ति का दर्शन करते रहते हैं और मन वचन एवं कर्म से उनके सेवक होते हैं।[5]

(१४) भक्ति के अधिकारियों को कभी भी किसी वस्तु की कामना नहीं होती है। वे भगवान से स्वाभाविक स्नेह रखते हैं।[6]

वस्तुतः भक्ति के अधिकारियों के उपर्युक्त लक्षणों में गोस्वामी जी को किसी क्रम विशेष के लिए आग्रह नहीं है। जितने सुन्दर एवं शुभ लक्षण दृष्टिगोचर हुए, उन सबों को उन्होंने भक्ति के अधिकारियों के गुणों में समाविष्ट कर दिया है। यही कारण है कि कुछ लक्षणों की स्पष्टतया पुनरावृत्ति भी परिलक्षित हो रही है। जैसे चौथे लक्षण की 'राम भरोस हृदय नहिं दूजा'[7] सातवें लक्षण की "तुम्हहि छाड़ि गति दूसरि नाहीं"[8] और ग्यारहवें लक्षण का 'जेहि सब भाँति तुम्हार भरोसा'[9] आदि पंक्तियाँ सर्वथा एक ही अर्थ

---

१ मा० २।१३०

२ मा० २।१३१।१–२ (पू०)

३ गुन तुम्हार समुझइ निज दोषा। जेहि सब भाँति तुम्हार भरोसा॥
राम भगत प्रिय लागहिं जेही।

—मा० २।१३१।३–४ (पू०)

४ जाति पाँति धनु धरमु बड़ाई। प्रिय परिवार सदन सुखदाई॥
सब तजि तुम्हहि रहइ उर लाई।

—मा २।१३१।५।६ (पू०)

५ मा० २।१३१।७–८ (पू०)

६ मा० २।१३१

७ मा० २।१२९।४ (उ०)

८ मा० २।१३०।५ (पू०)

९ मा० २।१३१।१ (उ०)

को अभिव्यंजित कर रही है। इसी तरह बारहवें लक्षण की 'सब तजि तुम्हहि रहइ उर लाई'[1] पंक्ति और चौदहवें लक्षण की 'जाहि न चाहिअ कबहुँ कछु तुम्ह सन सहज सनेहु'[2] पंक्ति में भी अर्थ की दृष्टि से कोई नवीनता नहीं है। भक्ति के अधिकारियों के इन लक्षणों में कुछ लक्षण निषेधपरक और कुछ विधिपरक हैं। विधि परक लक्षणों में भी कुछ सदाचार से कुछ कर्मकाण्ड से कुछ समाज से और कुछ श्रवण-कीर्तन से कुछ भक्तिपरक तन्मयता एवं अनन्यता से सम्बद्ध हैं।

तुलसी ने मानस में भक्ति के अनधिकारियों के लक्षणों का भी स्पष्ट उल्लेख किया है। वे शठ या धूर्त होते हैं तथा उनका स्वभाव हठी का होता है। वे मन लगाकर भगवान् की लीलाओं का श्रवण नहीं करते हैं। वे लोभी क्रोधी एवं कामी होते हैं और भगवान् को नहीं भजते हैं। वे ब्राह्मणों के भी विरोधी होते हैं। ऐसे अनाधिकारी यदि देवराज इन्द्र के समान ऐश्वर्य-सम्पन्न सम्राट् भी हो तब भी गोस्वामी जी मानस की राम कथा को उनके कहने-सुनने का आदेश नहीं देते हैं[3] क्योंकि ऐसे ही अनाधिकारियों के हाथों में यदि दुर्भाग्य से कभी राम कथा पड़ जाती है तो वे उसके मूल तत्वों को हृदयंगम नहीं करके अर्थ का अनर्थ किया करते हैं। गीता में भगवान कृष्ण का भी ऐसे अनाधिकारियों के लिए यही आदेश है।[4] उपर्युक्त भक्ति के अनाधिकारियों के लक्षण के ठीक प्रतिकूल लक्षण भक्ति के अधिकारियों में पाये जाते हैं जिनका प्रकारान्तर से प्रायः पहले ही उल्लेख किया जा चुका है।

✓भक्ति के अन्तराय

भक्ति के सर्वाधिक प्रबल अन्तराय काम क्रोध और लोभ हैं। ये तीनों प्रबल खल अवमात्र में विज्ञान-धाम मुनियों के मन में भी क्षोभ उत्पन्न कर देते हैं।[5] गीताकार ने भी इन्हें आत्म नाशक नरक द्वार कहा है और इन तीनों को त्यागने का परामर्श दिया है।[6] तुलसी ने भी अन्यत्र स्पष्ट शब्दों में यही कहा है—

"काम क्रोध मद लोभ सब नाथ नरक के पंथ।"[7]

काम क्रोध मद एवं लोभ में रत होना दुःखदायक एवं तमात्मक कूप में गिरना है। ऐसे गृहासक्त जीव परमेश्वर को जानने में सर्वथा असमर्थ होते हैं।[8] गोस्वामी जी के विचार में लोभ का बल इच्छा और दम्भ है काम का बल केवल नारी है और क्रोध का

---

१ मा० २ १११ १ (पू)
२ मा २ १३१ (पू०)
३ मा ७ १२८ १–५
४ गीता अ० १८ श्लो० ६७
५ मा ३ ३८ (क)
६ गीता अ० १६ श्लो० २१
७ मा० ५.३८ (पू०)
८ मा० ७ ७३ (क)

बन्धु बन्धन है।[1] इन तीनों मनोविकारों पर पूर्णतः आधिपत्य प्राप्त कर लेने वाले महापुरुष, तुलसी की दृष्टि में साक्षात् भगवान् राम के ही समान हैं।[2] महाकवि भर्तृहरि ने भी अपना ठीक ऐसा ही विचार व्यक्त किया है।[3] परन्तु स्वभाव से मानव-मात्र के अभ्युदय एवं उसे सुचारु रूप से संचालित करने के लिए काम,[4] क्रोध[5] एवं लोभ[6] के सात्विक रूपों की नितान्त अपेक्षा है। आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने तो मानव-जीवन में इन मनोविकारों की आत्यन्तिक आवश्यकता प्रतिपादित की है।[7]

तुलसी ने मोह, काम, तृष्णा, क्रोध, लोभ, मीनध्वज प्रभुता, मृगनयनी स्त्रियों के कटाक्ष रूपी बाण, मान, मद, यौवन-ज्वर, ममता, मत्सर, लोक, चिन्ता, माया, मनोरथ, दुःख, दम एवं लोक प्रतिष्ठा की आकांक्षा आदि को माया का प्रबल एवं अपरिमित परिवार कहा है। माया की यह प्रचण्ड सेना संसार भर में परिव्याप्त है। सामान्य जीवों की तो बात ही क्या है, शिव और ब्रह्मा तक इससे भयभीत रहते हैं।[8] माया के इस विशाल परिवार की भयावहता की सविस्तार अभिव्यक्ति उन्होंने पुनः दूसरी बार इन्हें मानस रोगों का रूपक देकर किया है।[9] यही उन्होंने यह विचार भी व्यक्त किया है कि इस मानस रोग से सभी ग्रस्त हैं। इन्हें पहचानना कठिन है। बिरले ही कोई इन्हें जान पाते हैं। जान लिए जाने पर ये कुछ क्षीण अवश्य हो जाते हैं परन्तु सर्वथा नष्ट नहीं हो पाते। विषय का कुपथ्य पाकर ये मुनियों के हृदयों में भी अंकुरित हो जाते हैं, बेचारे साधारण मनुष्यों की तो बात ही क्या है?[10] अतः उपर्युक्त माया के परिवार एवं मानस रोगों के रूपक के आयोजन में समाविष्ट सारे दुर्गुण भक्ति के अन्तराय के अन्तर्गत ही आयेंगे।

इनके अतिरिक्त तुलसी की कृतियों में जहाँ कहीं भी दुर्जनों एवं असन्तों की दुष्प्रवृत्तियों की चर्चा है वे सब भक्ति के अन्तराय ही हैं। भक्ति के साधक को उनसे सदैव सावधान

---

१ मा० ३ ३८ (ख)
२ मा० ४ २१ ४-५
३ भर्तृहरि कृत नीति शतक (अनुवादक बाबू हरिदास वैद्य) श्लो० १०८
४ धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ।

—गीता ७ ११ (उ०)

५ मा० १ १४ ३ ४ (पू०)
६ मा० ७ ३० (ख)
७ चिन्तामणि प्रथम भाग पृ० ६१-६६ १४१ १४०
८ मा० ७ ७० ७-७ ७१ (क) पू०
९ मा० ७ १२१ २८-३७
१० मानस रोग कछुक मैं गाए। हहिं सबकें लखि बिरलेन्ह पाए ॥
जाने ते छीजहिं कछु पापी। नास न पावहिं जन परितापी ॥
बिषय कुपथ्य पाइ अंकुरे। मुनिहु हृदयँ का नर बापुरे ॥

—मा० ७ १२२

एवं दूर रहना चाहिए।[1] साथ ही भक्ति के साधनों के जितने प्रतिकूल एवं अवांछनीय तत्व हैं वे सभी भक्ति के अन्तराय हैं। उदाहरणार्थ सत्संग के प्रतिकूल कुसंग या दुःसंग[2] को लिया जा सकता है। जिस तरह सत्संग भक्ति का प्रमुख साधन है ठीक उसी तरह कुसंग भक्ति का प्रधान अन्तराय है। इससे दुर्गुणों का विकास एवं सद्गुणों का ह्रास होता है। तुलसी ने इसकी सर्वत्र भर्त्सना की है।[3]

जन्म-मरण रूप संसार का मूल और अनेक प्रकार के क्लेशों तथा समस्त शोकों का दायक अभिमान[4] भक्ति का सबसे बड़ा अन्तराय है। नारद[5] जैसे अद्वितीय तपस्वी और अर्जुन[6] जैसे महान् साधक को भी यह क्षण भर में विचलित कर देता है। अतः तुलसी ने मोह के मूल स्वरूप बहुत पीड़ा देने वाले तमरूप अभिमान को त्याग देने का आदेश दिया है।[7]

इसी तरह चित्त की चंचलता को द्विगुणित करने वाले और बहुत तरह की भ्रान्तियों के जन्मदाता कुतर्क और संशय को भी उन्होंने स्पष्ट शब्दों में त्याज्य कहा है।[8] कुतर्क की

---

१ कबि कोबिद गावहिं असि नीती। खल सन कलह न भल नहिं प्रीती॥
उदासीन नित रहिअ गोसाईं। खल परिहरिअ स्वान की नाईं॥
—मा० ७। १ १४-१५

२ दुःसङ्गः सर्वथैव त्याज्यः
—नारद भक्ति सूत्र ४३

३ (क) को न कुसंगति पाइ नसाई। रहइ न नीच मतें चतुराई॥
—मा० २ २४ ८

(ख) बरु भल बास नरक कर ताता। दुष्ट संग जनि देइ बिधाता॥
—मा० ५ ४६ ७

(ग) सुनहु असंतन्ह केर सुभाऊ। भूलेहुँ संगति करिअ न काऊ॥
तिन्ह कर संग सदा दुखदाई। जिमि कपिलहि घालइ हरहाई॥
—मा० ७ ३९ १-२

४ संसृत मूल सूलप्रद नाना। सकल सोक दायक अभिमाना॥
—मा० ७ ७४ ६

५ जिता काम अहमिति मन माहीं।
—मा० १ १२५ ५ (उ०)

६ दोहावली दो० ४४०

७ (क) मोह मूल बहु सूल प्रद त्यागहु तम अभिमान।
—मा० ५ २३ (पू०)

(ख) तजहु तात त्यागि अभिमाना। भजहु राम होइहि कल्याना॥
—मा० ५ ११ २

८ श्रम बिचारि मति धीर तजि कुतर्क संसय सकल।
भजहु राम रघुबीर करुनाकर सुन्दर सुखद॥
—मा० ७ ९० (ख)

की सर्वत्र कुत्सा की गयी है।[1] वस्तुतः श्रद्धा और विश्वास जो भक्ति के सबसे बड़े साधक हैं कुतर्क उनका जबरदस्त विरोधी है। अतः तुलसी इसके परित्याग पर सर्वत्र जोर देते हैं —

(क) हरिहर पद रति मति न कुतरकी।
तिन्ह कहुँ मधुर कथा रघुबर की ॥[2]

(ख) चरित राम के सगुन भवानी।
तर्कि न जाहिं बुद्धि बल बानी ॥
अस बिचारि जे तग्य बिरागी।
रामहि भजहिं तर्क सब त्यागी ॥[3]

गोस्वामी जी ने संशय रूपी विहग को उड़ाने के लिए राम कथा रूपी सुन्दर करतारी के प्रयोग का परामर्श दिया है।[4]

किम्वदन्ती के अनुसार मीराबाई को लिखित विनय-पत्रिका के एक पद से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि वे राम भक्ति में बाधक परिवार या समाज को भी छोड़ने के पक्ष में थे।[5]

भक्ति के साधन

'रामचरितमानस' में गोस्वामी जी ने भक्ति के अनेक साधन बतलाये हैं। उनकी दृष्टि में संसार में जितने प्रकार के शुभ कर्म सम्भव हैं सभी भक्ति की प्राप्ति के साधन हैं।[6] सर्व प्रथम तो वे शरीर को ही भक्ति की प्राप्ति के लिए अनिवार्य साधन के रूप में स्वीकार करते हैं।[7] अनेकानेक शरीर धारियों में भी मानव शरीर की महत्ता एवं दुर्लभता का सम्हौति

---

१ (क) ब्रह्मसूत्र १ : १ ११
(ख) कठोपनिषद्—१ २ ९
(ग) नारद भक्ति सूत्र—७४

२ मा० १ ९ ६

३ मा० ६ ७४ १–२

४ मा० १ ११४ १

५ विनय पत्रिका—पद—१७४

६ जप तप नियम जोग निज धर्मा। श्रुति सम्भव नाना शुभ कर्मा ॥
ज्ञान दया दम तीरथ मज्जन। जहँ लगि धर्म कहत श्रुति सज्जन ॥
आगम निगम पुरान अनेका। पढ़े सुने कर फल प्रभु एका ॥
तव पद पंकज प्रीति निरन्तर। सब साधन कर यह फल सुन्दर ॥
—मा० ७ ४९ १–४
जप जोग धर्म समूह तें नर भगति अनुपम पावई ॥
—मा० ३ ६ १३

७ मा० ७ ४३ ५ (उ०)

जोरदार शब्दों में प्रतिपादन किया है।[1] श्रद्धा[2] विश्वास[3] ज्ञान और वैराग्य[4] को भी वे राम भक्ति का परमावश्यक साधन मानते हैं। तुलसी ने श्रद्धा और विश्वास के प्रतीक रूप में भवानी और शंकर की अभिवन्दना करते हुए अपना यह विचार व्यक्त किया है कि इनकी सहायता के बिना सिद्ध जन भी अपने अन्तःकरण में स्थित ईश्वर का साक्षात्कार नहीं कर पाते।[5] ज्ञान-दीपक प्रकरण में उन्होंने सात्विक श्रद्धा को ही प्रथम स्थान प्रदान किया है।[6] विविध रोगों से ग्रस्त जीव के रोग नाश के लिए यदि भक्ति संजीवनी जड़ी है तो श्रद्धा ही उसका अनुपान भी है।[7] वस्तुतः भक्ति की प्राप्ति में व्यवधान उपस्थित करने वाले मद मोह, लोभ जैसे शत्रुओं का संहार वैराग्य रूपी ढाल और ज्ञान रूपी तलवार से ही सम्भव है।[8] वैराग्य मन को रोग रहित बनाता है सुमति को बढ़ाता है और विषयों की आशा को क्षीण करता है। भक्ति-मणि की प्राप्ति के लिए वेद पुराण आदि सद्ग्रन्थों का अध्ययन सुबुद्धि ज्ञान वैराग्य एवं सन्तों की संगति भी नितान्त सुगम साधन हैं।[9] सन्त जन भगवान् पर अनन्य भाव से आश्रित रहते हैं और निरन्तर भगवान् चर्चा में निरत रहते हैं। अतः उनके सम्पर्क से उनकी दिन चर्या से प्रभावित होकर साधकों के दोष दूर होते हैं उनमें सद्गुण आते हैं और स्व-स्वरूप-ज्ञान पूर्वक भगवद्भक्ति की प्राप्ति होती है। वस्तुतः संत-समाज सब गुणों की खान है।[10] जैसे पारस पत्थर के स्पर्श से लोहा भी स्वर्ण के रूप में परिणत हो जाता है वैसे ही सन्तों की संगति से दुर्जन भी सज्जन बन जाते हैं।[11] अतः तुलसी ने अनेकानेक स्थलों पर सत्संग की महिमा का मार्मिक एवं प्रभावोत्पादक वर्णन किया है और सन्तों की अनुकूलता को भक्ति-प्राप्ति का आत्यंतिक आवश्यक साधन माना है।[12] उनकी दृष्टि में जल में रहने वाले जमीन पर चलने वाले और आकाश में विचरने वाले नाना प्रकार के जड़ चेतन जो भी जीव इस जगत् में हैं उनमें से जिसने जिस समय जहाँ कहीं भी जिस किसी उपाय से बुद्धि कीर्ति सद्गति विभूति और भलाई पायी है, वह सब सत्संग

---

१ मा ७ ४१ ७—७ ४३ ७ ४४

२ मा ७ ६० ४ (पू)

३ मा० ७ ९० (क) पू०

४ मा० २ ११ ४–५ ७ १२० १४ (उ०)

५ मा १ श्लो २

६ मा० ७ ११७ ९ (पू०)

७ मा० १ १२२ ७

८ मा ७ १२० (ख)

९ मा ७ १२० १२–१५

१० मा० १ २ ४

११ मा १ ३ ९

१२ मा० १ ३ २–८ १ १५ ४ ५.४ ७ १४ (क) ७ २० १८–१९ ७ ३३ ८— ७ ३३ ७ ३२ ४ ७ ३१ ४ ७ ३१

का ही प्रभाव समझना चाहिए। वेदों में और लोक में भी उनकी प्राप्ति का दूसरा कोई साधन नहीं है।[१] पर सच्चे सन्त पुण्य-पुञ्ज एवं भगवत्कृपा से ही प्राप्त होते हैं।[२]

गोस्वामी जी ने मानस के अनेकानेक प्रकरणों 'शंकर भजन'[३] भगवत्स्तोत्र पाठ[४] रामचरितमानस में वर्णित राम-कथा[५] भक्तों के पारस्परिक संवाद[६] एवं उनके चरित[७] को प्रेमपूर्वक सादर श्रवण मनन एवं परायण को भी राम भक्ति की प्राप्ति के लिए प्रमुख साधन के रूप में स्वीकार किया है। मानस में ही एक स्थल पर उन्होंने जप योग एवं धर्म समूहों के सम्पादन से भक्ति की प्राप्ति कही है।[८]

रामचरितमानस में लक्ष्मण के पूछने पर भगवान् राम ने श्रीमुख से बड़े ही स्पष्ट शब्दों में भक्ति-प्राप्ति के निम्नांकित साधन बताये हैं—[९]

१ विप्रों के चरणों में प्रेम
२ श्रुति के अनुसार स्वधर्म पालन,
३ सन्तों के चरण कमलों में प्रेम
४ भगवद्भजन में दृढ़ नेम
५ अपना समस्त सांसारिक सम्बन्ध भगवान् में ही समझना
६ गद्गद कण्ठ से भगवान् का गुण-कीर्तन
७ कामादि मद एवं दम्भ न रखना
८ सर्वथा निष्काम भाव से भगवान् का शरणागत होकर भजन करना।

---

१ मा० ११४-६
२ मा० ७४५ ६, ७६९ ७ ७१२५ (ख) ११७ ५७४
३ मा० ११०४ ६ १११८ ७ ६१८ ७४५ ७१ ६२
४ पठन्ति ये स्तवं इदं। नरादरेण ते पदं॥
व्रजन्ति नात्र संशयं। त्वदीय भक्ति संयुता॥
—मा० ३ ४ २१-२४
५ मा० ११५ १०-११ ३६ ४४६ (क) ७ ५१ ६ ७१२६ ७१२८
६ यह संवाद जासु उर आवा। रघुपति चरन भगति सोइ पावा॥
—मा० ५ ३४ ४
७ मा० २ ३०४ २ २ ३२६
८ (क) जप जोग धर्म समूह तें नर भगति अनुपम पावई।
—मा० ३ ६ ११
(ख) जोग जग्य जप तप व्रत कीन्हा। प्रभु कहँ देइ भगति बर लीन्हा॥
—मा० ३ ८ ७
९ मा० ३ १६ ५-३ १६

यहाँ 'विप्र' शब्द का प्रयोग वेदपाठी तत्त्वज्ञ ब्राह्मण के लिए हुआ है[1] और उनके चरणों में प्रेम का यथार्थ तात्पर्य ज्ञानार्जन से है। ब्राह्मण ज्ञानी हुआ करते हैं। वे अज्ञान से उत्पन्न सभी सन्देहों को दूर कर दिया करते हैं। इसीलिए तुलसी ने पृथ्वी के देवता स्वरूप ऐसे ब्राह्मणों के चरणों की प्रथम वन्दना की है।[2] ब्राह्मणों के महत्त्व का सविस्तर प्रतिपादन महाभारत[3] एवं भागवत[4] में भी दृष्टिगोचर होता है। इनके निकटतम सम्पर्क से साधकों को ज्ञान की प्राप्ति होती है। उनके अन्तश्चक्षु खुल जाते हैं और उन्हें करणीय अकरणीय का विवेक हो जाता है। वेदानुसार अपने-अपने वर्णाश्रम धर्म के कर्मों में निरत रहने से सामाजिक-जीवन सुचारु रूप से संचालित होता रहता है और सबों को सिद्धि भी मिलती है।[5] गीता भी इस कथन की पुष्टि करती है।[6] तुलसी की सम्मति में ब्राह्मण प्रेम एवं श्रुत्यनुसार स्वधर्म पालन के परिणाम स्वरूप विषयों से वैराग्य होता है और वैराग्य होने पर भागवत धर्म में प्रेम उत्पन्न होता है। तत्पश्चात् श्रवणादि[7] भागवतोक्त नवधा भक्तियाँ दृढ़ होती हैं और भगवद् लीलाओं के प्रति प्रगाढ़ अनुराग उत्पन्न हो जाता है। गोस्वामी जी के शब्दों में—

> एहि कर फल पुनि बिषय बिरागा। तब मम धर्म उपज अनुरागा॥
> श्रवनादिक नव भक्ति दृढ़ाहीं। मम लीला रति अति मन माहीं॥"[8]

यहाँ "श्रवणादिक नव भक्ति" से निश्चय ही तुलसी को भागवतोक्त नवधाभक्ति की चर्चा ही अभीष्ट है। उनकी कृतियों में स्थल-स्थल पर इनके उत्कृष्ट उदाहरण भी उपलब्ध होते हैं। रामचरितमानस के सिद्धान्त-भाष्यकार महात्मा श्रीकान्तशरण जी की सम्मति में[9] वाल्मीकि ने राम के निवास योग्य जो चौदह स्थान बतलाए हैं उन स्थानों के प्रारंभिक नव स्थानों को इन नवों भक्तियों के उदाहरण के रूप में स्वीकार कर सकते हैं।[10]

उपर्युक्त लक्ष्मण भक्ति योग में निर्दिष्ट भक्ति का तीसरा साधन संतों के चरण-कमलों में प्रेम कहा गया है। यथावत् संतों से प्रेम होने पर भगवत्कथा श्रवण का सुअवसर उपलब्ध

---

१ "जानह ब्रह्म सो विप्रवर —
—मा० ७ ९९ (ख) उ०

२ बंदउँ प्रथम महीसुर चरना। मोह जनित संसय सब हरना॥
—मा० १ २ १

३ महाभारत अनुशासन पर्व अ० १५१ श्लो० २-२१ वहीं अ० १५१ श्लो० १०

४ भागवत स्कंध ७ अ० १४ श्लो० ४१-४२ स्कंध १० अ० १४ श्लो० ४१ स्कंध १२ अ० १ श्लो० २४

५ मा० ७ १

६ श्रीमद्भगवद्गीता अ० १८ श्लो ४५ (पू०)

७ श्रीमद्भागवत स्कंध ७ अ ५, श्लो० २३

८ मा० ३ १६ ७-८

९ रामचरितमानस सिद्धांत भाष्य पृ० १११२

१० मा २ १२८ ४—२ १३

होता है। उसके सम्यक काम क्रोध लोभ मोहादि विकार दूर होते हैं हृदय में सात्विकता आती है जिसके फलस्वरूप हृदय स्वच्छ एवं निर्मल होकर भगवत्प्रेम से परिपूरित हो जाता है। संत एवं सत्संग की महिमा के सम्बन्ध में पहले ही सोदाहरण निवेदन किया जा चुका है। अतः उसकी यहाँ पुनरावृत्ति अनावश्यक है।

चौथे साधन मन वचन एवं कर्म से भगवद्भजन में दृढ़ नेम के सम्पन्न होने पर शीघ्र ही भगवत्कृपा एवं भक्ति की प्राप्ति हो जाती है। तुलसी ने इस साधन का अन्यत्र भी उल्लेख किया है।[1]

पाँचवें साधन अर्थात् अपना समस्त सांसारिक सम्बन्ध गुरु पिता माता, बन्धु पतिदेव आदि भगवान् में ही समझने से साधक के हृदय में संसार को 'सियाराममय' देखने की भावना बलवती हो जाती है। साथ ही उसमें भगवान् के प्रति प्रगाढ़ प्रेमासक्ति भी आ जाती है जिसके फलस्वरूप भगवद्भक्ति की प्राप्ति होती है। महाभारतकार तो यह मन्तव्य है कि जो लोग मन वचन और कर्म से पितर, देवता गुरु अतिथि गौ ब्राह्मण पृथ्वी और माता की पूजा करते हैं, वे लोग विष्णु भगवान् की ही पूजा किया करते हैं, क्योंकि सब प्राणियों के शरीरगामी वे भगवान् सबमें ही व्याप्त हैं।[2] उपर्युक्त साधन का मानस में भी अन्य स्थल पर समावेश है।[3]

छठा साधन गद्गद कण्ठ से भगवान् का गुण-कीर्तन करना है। यह साधक की प्रबल भक्ति-भावना का सूचक है। भगवान् की गुणावली गाते-गाते उसके हृदय में उनकी प्रगाढ़ स्मृति हो जाती है जिसके परिणामस्वरूप उसका शरीर पुलकित हो जाता है। वाणी गद्गद हो जाती है और उसकी आँखों से प्रेमानंद की अविरल अश्रु धाराएँ प्रवाहित होने लगती हैं। भगवान् को निरन्तर वशीभूत रखने वाले ऐसे बड़भागी भक्तों का भी मानस में वर्णन हुआ है।[4] ये भक्त जहाँ कहीं भी भगवान् के गुणों का गायन करते रहते हैं, भक्त-वत्सल भगवान् भी वहाँ निश्चय ही विद्यमान रहते हैं। भगवान् के श्रीमुख की वाणी है—

नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदयेऽथवा।
मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद ॥[5]

---

१ करि प्रेम निरंतर नेम लिये पद पंकज सेवत सुद्ध हिये। मा ७।१४।१४

२ महाभारत शान्तिपर्व अ १४२ श्लो २६–२७

३ मा २।४८.४—५

१ (क) सुनि मन मगन भजन होइ बेसा। पुलक सरीर पनस फल जैसा ॥
—मा० ३ ११ १२

(ख) पुलकगात हिय सिय रघुबीरू। जीह नाम जप लोचन नीरू ॥
—मा० २।३२१।१

२ पद्मपुराण कार्तिक माहात्म्य अ० ३ श्लो० २२
(श्री श्रीकान्तशरण कृत रामचरितमानस के सिद्धान्त भाष्य पृ० १६१६ में उद्धृत)

सातवाँ साधन कामादि मद एवं दम्भ से रहित होना कहा गया है। वस्तुतः जब साधक अपने हृदय-मन्दिर से काम क्रोध लोभ मोह मद मत्सर दम्भ पाखंड आदि मनोविकारों को पूर्णतया निष्कासित कर देता है तब निश्चय ही उसमें स्वतः भगवान् पूर्ण प्रेम प्रतिष्ठा के साथ विराजमान हो जाते हैं। यहाँ श्रीमुख से कामादि के निराकरण करने पर ही अपना निवास कहा गया है क्योंकि कपट भ्रम छिद्र से रहित निर्मल हृदय में ही भगवान् सदा निवास करते हैं।[१] इसीलिए गोस्वामी जी ने विनयपत्रिका में भी अपना यह उद्गार व्यक्त किया है कि—

"करहु हृदय अति विमल बसहिं हरि" कहि कहि सबहिं सिखावौं।[२]

हाँ यदि साधक के कपट भ्रम छिद्रपूरित हृदय में अपार कृपा करके उसके प्रेमाधिक्य पर रीझ कर भगवान् स्वयं निवास करने लगें तो लोभ मोह मत्सर मद मान आदि कर्मों की मण्डली स्वयं वहाँ से पलायन कर जाती है।[३]

सर्वथा निष्काम भाव से भगवान् का शरणागत होकर भजन करना आठवाँ साधन है। मन वचन एवं कर्म सहित अनन्य भाव से शरणागत होकर जो भगवान् का कामना रहित भजन करता है ऐसे अनन्य भक्त के निष्काम हृदय में वे सदा विश्राम करते हैं। यही उनका निजगेह है।[४] वस्तुतः कामनाओं की पूर्ति के लिए ही अन्य देवताओं की सकाम आराधना की जाती है।[५] किन्तु सुतीक्ष्ण जैसे मन वचन एवं कर्म से राम के चरणों का सेवक स्वप्न में भी किसी दूसरे देवता का भरोसा नहीं रखता।[६] भगवान् के श्रीमुख की भी वाणी है—

मोर दास कहाइ नर आसा। करइ तो कहहु कहा बिस्वासा ॥[७]

इसी प्रकार भगवान् राम ने मानस के अरण्य काण्ड में ही शबरी से नवधा भक्ति की चर्चा की है।[८] इस नवधा भक्ति का वर्णन "भव विधा" भक्ति के नाम से अध्यात्म

---

१ निर्मल मन जन सो मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा ॥
—मा ५।४४।१

२ विनयपत्रिका पद १४२ पं० ६

३ मा १।४७।१–२

४ मा० ६।४७।१–२

५ जाहि न चाहिअ कबहुँ कछु तुम्ह सन सहज सनेहु।
बसहु निरन्तर तासु मन सो राउर निज गेहु ॥
—मा० २।१३१

६ गीता अ ७ श्लो० २०

७ मन क्रम बचन राम पद सेवक सपनेहुँ आन भरोस न देवक ॥
—मा० ३।१०।२

८ मा० ३।३४।७–३६।७

चर्चाएँ उपलब्ध होती हैं उनमें भक्ति के साधनों की बातें स्वतः समाविष्ट हो गयी हैं। अतः ऐसे प्रसंगों को भक्ति के साधनों के साथ भी सर्वत्र आसानी से सम्बद्ध किया जा सकता है। हाँ यहाँ एक बात ध्यान देने की यह अवश्य है कि इन भिन्न-भिन्न प्रकरणों में कुछ विशिष्ट साधनों की ही बार-बार आवृत्ति की गयी है। उदाहरण के लिए सत्संग भक्ति की प्राप्ति का एक प्रमुख साधन है। अब इस सत्संग के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न प्रकरणों में भिन्न-भिन्न पात्रों के द्वारा निर्देश कराया जा रहा है। महामोहग्रस्त पक्षिराज गरुड़ को सत्संग की महिमा से अवगत कराते हुए भगवान् शिव का कथन है—

तबहिं होइ सब संसय भंगा। जब बहुकाल करिअ सतसंगा॥ [१]

लक्ष्मण से भक्ति के साधनों की चर्चा के क्रम में भगवान् "संत चरन पंकज अति प्रेमा" [२] तो कहते ही हैं पर इसके पूर्व वे संतों की अनुकूलता पर काफी बल देते हैं —

भगति तात अनुपम सुखमूला।
मिलइ जो संत होइँ अनुकूला॥[३]

शबरी से भी वे सत्संग को ही अपनी पहली भक्ति बतलाते हैं

'प्रथम भगति संतन्ह कर संगा।"[४]

और फिर अयोध्या के नागरिकों के समक्ष भक्ति-मार्ग का निरूपण करते हुए सत्संग पर बल दिया गया है—

'प्रीति सदा सज्जन संसर्गा।[५]

अयोध्या के सुन्दर उपवन में सनकादि मुनियों के आगमन पर आह्लादित होकर भगवान् राम उनसे कहते हैं—

"आजु धन्य मैं सुनहु मुनीसा। तुम्हरें दरस जाहिं अघ खीसा॥
बड़े भाग पाइब सतसंगा। बिनहिं प्रयास होहिं भवभंगा॥[५]

शिव भी भगवान् राम से उनकी भक्ति साथ-साथ सत्संग का वरदान माँगते हैं[६] और पार्वती को समझाते हुए कहते हैं कि सन्त समागम के समान दूसरा कोई भी लाभ नहीं है। इसी प्रकार—

---

१ मा० ७ ९१ ४
२ मा० ३ १६ ६ (पू०)
३ मा० ३ १६ ४
४ मा० ३ ३५ ८ (पू)
५ मा० ७ ४६ ७ (पू)
५ मा० ७ ३३ ७–८
६ मा ७ १४ (क)

"सब कर फल हरि भगति सुहाई । सो बिनु सन्त न काहूँ पाई ॥
अस बिचारि जोइ कर सतसंगा । राम भगति तेहि सुलभ बिहंगा ॥"[१]

या

"भक्ति सुतन्त्र सकल सुख खानी । बिनु सतसंग न पावहिं प्रानी ॥"[२]

आदि पंक्तियाँ भी उद्धृत की जा सकती हैं । ठीक इसी तरह कथा श्रवण[३] देवता-ब्राह्मण-गुरु-पूजा[४] वैराग्य[५] अनन्य शरणागति[६] सभी सांसारिक सम्बन्धों को भगवान् के चरणों में ही केन्द्रित करना[७] परोपकार परायणता[८] आदि भक्ति के साधनों का 'मानस' में अनेक स्थलों पर अनेक बार उल्लेख हुआ है ।

तुलसी प्रतिपादित भक्ति के साधनों के अन्तर्गत इस ओर कलिकाल में भगवन्नाम जप की अपार महिमा ... नामस्मरण अन्यान्य समस्त साधनों से ...।[९] यों तो चारों युगों में तीनों कालों ... रहित हुए हैं[१] परन्तु कलियुग में नाम ... बढ़कर दूसरा कोई उपाय ही नहीं है ।[११] ... नाम ही कराता है । सगुण राम स्वयं ... समस्त संसार में कार्य-तत्पर दृष्टिगोचर ... ब्रह्म राम की असीमता का भी ज्ञान ... क महत्त्व प्रदान करते हैं क्योंकि उसमें ... विद्यमान है । शिव ने इसी तथ्य को

...
...) १९ ८ १८०१० ७१२२९
...) १ १६४ (पू०) ७ २२१ (उ०)
...) विनय पत्रिका, पद १७२
...
... ७ ४१ १ (पू०)
...) ७ १०१ (क) ७ ११० २-६
... अपि जीव बिसोका ॥ —मा० १ २७.१

११ कलि बिसेषि नहिं आन उपाऊ ॥ —मा० १ २२ ८ (उ०)

हृदयंगम करके सौ करोड़ रामचरितों में से एक रामनाम को ही सर्वश्रेष्ठ मानकर सार रूप में चुनकर ग्रहण किया है।[१] अतः तुलसी भी इसी 'राम नाम मनिदीप' को 'जीह देहरी द्वार' पर रखकर बाहर भीतर दोनों को आलोकित करने का शुभ सन्देश प्रदान कर रहे हैं।[२] मानस का विशाल राम-नाम-वन्दना प्रकरण[३] इतना युक्ति संगत एवं प्रभावशाली है कि उसे तुलसी की वाग्स्फीति नहीं समझी जा सकती वह उनके मन के विश्वास प्रेम एवं रुचि तथा नाम के प्रति प्रगाढ़ अनुराग का परिचायक है। 'विनयपत्रिका' में भी शंकर को साक्षी देते हुए उत्कट भावावेश के साथ उन्होंने अपना यही विचार व्यक्त किया है कि उनका एक मात्र आश्रय राम-नाम है और इसीसे उनका कल्याण भी हुआ है।[४] वे उस ही माता पिता सुजन स्नेही गुरु स्वामी सखा सुहृद, सम्पत्ति आदि सब कुछ स्वीकार करते हैं।[५]

ऐसे तो भगवान् के राम रघुवीर रघुकुलमणि परमात्मा परमेश्वर, अवधेश रमेश वासुदेव विष्णु वैभव आदि असंख्य नाम हैं पर इन सबों में तुलसी को राम नाम ही सर्वाधिक प्रिय है।[६] उनकी दृष्टि में भगवद्भक्ति यदि पूर्णिमा की रात्रि है तो उसमें रामनाम ही पूर्ण चन्द्रमा है और अन्यान्य सारे नाम तारागण के समान हैं।[७] यह राम नाम समस्त पापों को विध्वंस कर देता है और इसके स्मरण से पापी भी अपार भवसागर को पार कर जाता है।[८] वस्तुतः संसार सागर को संतरण करने के लिए यह सेतु के समान है।[९] अच्छे भाव से बुरे भाव से क्रोध से या आलस्य से किसी तरह से भी नाम जपने से दसों दिशाओं में कल्याण ही होता है।[१०] राम-नाम की महिमा तो ऐसी है कि साक्षात् भगवान राम भी उसके गुणों को नहीं गा सकते—

"कहौं-कहाँ लगि नाम बड़ाई।
रामु न सकहिं नाम गुन गाई ॥"[११]

---

१ मा० १ २४ १–१ २५

२ मा० १ २१

३ मा० १ १८–१ २८ १

४ विनयपत्रिका पद २२६ पं० ११–१२

५ वही पद २५४ पं० १–३

६ जद्यपि प्रभु के नाम अनेका। श्रुति कह अधिक एक तें एका ॥
राम सकल नामन्ह ते अधिका। होउ नाथ अघ खग गन बधिका ॥
—मा १ ४२ ७–८

७ मा० १ ४२ (क)

८ मा ४ २९ ३ १ ११

९ मा० ६ मंगलाचरण के बाद का दूसरा सोरठा

१० मा १ २८ १

११ मा १ २६ ८

भक्ति के उपर्युक्त साधनों के अतिरिक्त भगवत्कृपा भक्ति का सर्वोपरि साधन है।[1] इसके अभाव में समस्त उत्कृष्टतम साधन प्रभावहीन प्रतीत होने लगते हैं। यथार्थत: तुलसी की दृष्टि में भक्ति भगवत्कृपा साध्य है पर साधक को भगवत्कृपा की प्राप्ति के लिए साधनाएँ एवं क्रियाएँ करनी पड़ती हैं। अत: भगवत्कृपा और साधक की साधनाएँ एवं क्रियाएँ ये दोनों भक्ति के सम्मिलित साधन हैं। तुलसी ने जहाँ एक ओर भगवत्कृपा की महत्ता का प्रतिपादन किया है[2] वहीं दूसरी ओर कर्मवाद के सिद्धांत को भी अक्षुण्ण रखा है।[3] भक्ति को सर्वथा कृपासाध्य घोषित करने से कर्मवाद के सिद्धान्त पर निश्चय ही आघात पहुँचता जिसके परिणामस्वरूप लोग अकर्मण्य आलसी पराश्रमवी एवं निस्तेज होकर कर्म-मार्ग से च्युत हो जा सकते थे। अत: तुलसी ने भक्ति के अनिवार्य साधन के रूप में भगवान् की कृपा एवं साधक के शुभ कर्म दोनों का समन्वय करते हुए अपने व्यावहारिक दृष्टिकोण का परिचय दिया है।

भक्ति के भेद

सामान्यत: भक्ति के दो भेद होते हैं—सकाम भक्ति और निष्काम भक्ति। सकाम भक्ति में सांसारिक भोग-ऐश्वर्य की कामनाएँ विद्यमान रहती हैं। यह भक्ति किसी स्वार्थ की सिद्धि के लिए की जाती है। पर निष्काम भक्ति स्वार्थ सिद्धि की ही भावना से नहीं प्रत्युत परमार्थ सिद्धि की भावना से भी सर्वथा रहित होती है।[4] तुलसी ने मानस में सकाम एवं निष्काम[5] दोनों प्रकार की भक्ति की चर्चा की है। यों तो उन्होंने सकाम भक्ति की कहीं निन्दा नहीं की है पर निष्काम भक्ति के वे प्रमुख प्रशंसक हैं। उनका साधक भगवान् राम के चरणों में इसी निष्काम भक्ति के वे प्रमुख प्रशंसक हैं। उनका साधक भगवान् राम के चरणों में इसी निष्काम भक्ति का अनन्य आकांक्षी है।[6] उनकी यह निष्काम[7] भक्ति भागवत[8] की अहैतुकी भक्ति की तरह है।

---

१ मा १।२।११५ २।१०२ ७।१२६८ विनयपत्रिका पद ८१ १ २ ११३ ११६ १२१ १२६ इत्यादि।

२ मा० १।२११ २।१२७।३–४ ३।३१ ४।२१६।

३ मा० २।६२४ २।२११४ ७।४१४–५

४ स्वारथ परमारथ रहित सीता राम सनेहु।
तुलसी सो फल चारि को फल हमार मत एहु॥

—दोहावली दो० ९०

५ मा ७।१५३

६ मा० १।२२ (पू) ३।११

७ मा० ५ श्लो० २ ७।१११ २२४

८ श्रीमद्भागवत स्कंध १ अ० २ श्लो० ६

श्रीमद्भागवत में भक्ति के निम्नांकित नौ भेद वर्णित हैं—[१]

(१) श्रवण ।
(२) कीर्तन ।
(३) स्मरण ।
(४) पादसेवन ।
(५) अर्चन ।
(६) वन्दन ।
(७) दास्य ।
(८) सख्य और ।
(९) आत्मनिवेदन ।

तुलसी की रचनाओं में यत्र-तत्र उपर्युक्त भक्तों के *उदाहरण स्पष्टतया परिलक्षित* होते हैं । यहाँ उन्हें संक्षेप में उद्धृत करना अप्रासंगिक न होगा—

१ श्रवण—

(क) जिन्ह हरि कथा सुनी नहिं काना । श्रवन रंध्र अहि भवन समाना ॥
—मा० १ ११३ २

(ख) सुनिअ तहाँ हरि कथा सुहाई ।
—मा० ७ ११ ५ (पू०)

(ग) जीवन मुक्त महामुनि जेऊ । हरिगुन सुनहिं निरन्तर तेऊ ॥
—मा० ७ ५३ २

२ कीर्तन—

(क) कलिजुग केवल हरि गुन गाहा । गावत नर पावहिं भव थाहा ॥
कलिजुग जोग न जग्य न ज्ञाना । एक अधार राम गुन गाना ॥
—मा० ७ १०३ ५-६

(ख) गावत गुनगन राम के केहि की न मिटी भवभीर ॥
—विनयपत्रिका पद १९१ पं १६

३ स्मरण—

(क) सादर सुमिरन जे नर करहीं । भव बारिधि गोपद इव तरहीं ॥
—मा० १ ११९.४

---

१ श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥
—भागवत, स्कंध ७ अ० ५ श्लो० २३

(ख) पापिउ जाकर नाम सुमिरहीं। अति अपार भवसागर तरहीं॥
—मा० ४ २६ ४

४ पाद सेवन—

(क) पद पखारि जलु पान करि ....।
—मा० २ १०१ (पू०)

(ख) बड़भागी अंगद हनुमाना। चरन कमल चापत बिधि नाना॥
—मा० ६ ११ ७

५ अर्चन—

(क) तुम्हहि निवेदित भोजन करहीं। प्रभु प्रसाद पट भूषन धरहीं॥
—मा० २ १२९ १

(ख) तरपन होम करहिं बिधि नाना।
—मा० २ १२९ ७ (पू०)

(ग) मा० ३ १४।

६ वन्दन—

(क) बन्दउँ बाल रूप सोइ रामू।
—मा० १ ११२ १ (पू०)

(ख) ते सिर कटु तुम्बरि समतूला। जे न नमत हरि गुर पद मूला॥
—मा० १ ११३ ४

७ दास्य—

(क) अस अभिमान जाइ जनि भोरे। मैं सेवक रघुपति पति मोरे॥
—मा० ३ ११ २१

(ख) तुम्हहि नीक लागै रघुराई। सो मोहि देहु दास सुखदाई॥
मा० ३ ११ २२

८ सख्य—

(क) कहेहु सत्य सब सखा सुजाना। मोहि दीन्ह पितु आयसु आना॥
—मा० २ ८८ ४

(ख) ए सब सखा सुनहु मुनि मेरे।
—मा० ७ ८ ७ (पू०)

द्रष्टव्य—मा० ४ ७ १०; ५ ४६ ८ ५ ४८ १ ६ ८० ११

९ आत्म निवेदन—

(क) जागत सोवत सरन तुम्हारी।
तुम्हहि छाड़ि गति दूसरि नाहीं। राम बसहु तिन्ह के माहीं॥
—मा० २।१३०।४ (उ०)—५

(ख) रामचंद्र ! रघुनायक तुम सों हौं बिनती केहि भांति करौं।
—विनयपत्रिका पद १४१ प० १

पर तुलसी ने मानस में जो भक्ति के नौ भेद बतलाए हैं व भागवत के उपर्युक्त नौ भेदों से भिन्न हैं। वहाँ राम शबरी से भक्ति के जिन नौ भेदों की चर्चा करते हैं वे निम्न लिखित हैं—[1]

१ सत्संग
२ भगवत्कथा में प्रेम
३ अभिमान रहित गुरु-चरणों की सेवा
४ निष्कपट भाव से भगवद्गुणगान
५ मन्त्र जाप और भगवान् में दृढ़ विश्वास
६ इन्द्रिय निग्रह शील वैराग्य और सज्जनों के धर्म में निरन्तर निरत रहना
७ समस्त संसार को राममय देखना और सन्तों को राम से भी अधिक समझना
८. जो कुछ मिले उसीमें सन्तोष करना और स्वप्न में भी पराये दोषों को नहीं देखना और
९ सबसे सरल एवं छलरहित व्यवहार करना और हृदय में भगवान् का भरोसा रखकर हर्ष एवं दैन्य के अनुभव से रहित होना।

उपर्युक्त नवधा भक्ति में से जिसके पास एक भी होती है वह-स्त्री-पुरुष, जड़ चेतन कोई भी क्यों न हो भगवान् को अत्यधिक प्रिय होता है।[2]

इसके अतिरिक्त तुलसी ने भेद-भक्ति और अभेद-भक्ति के नाम से 'मानस' में भक्ति के और भी दो स्पष्ट भेद किये हैं। भेद भक्ति में सेवक-सेव्य-भाव की प्रधानता रहती है। इस प्रकार की भक्ति करने वाले भक्तजन भगवान् को अपना स्वामी और अपने को उनका सेवक मानते हैं। इस भक्ति में भगवान् और भक्त में भेद भावना की प्रबलता रहती है। शरभंग[3] और दशरथ[4] के क्रम से इसी भेद-भक्ति का

---

१ मा ३।३५।७—३।३६।५
२ मा० ३।३६।६–७ (पू)
३ ताते मुनि हरि लीन न भयऊ। प्रथमहिं भेद भगति बरमयऊ॥
—मा ३।९।२
४ ताते उमा मोच्छ नहीं पायो। दसरथ भेद भगति मन लायो॥
—मा० ६।११२।६

उल्लेख हुआ है। ऐसे भक्तगण मुक्ति या मोक्ष का भी स्वीकार नहीं करते हैं।[1] वे भगवान् राम की कृपा से उनके धाम या वैकुण्ठ में उनके साथ ही निवास करते हैं।[2] उनका साधन और सिद्धि दोनों भगवान् के चरणों में प्रेम ही होता है।[3]

अभेद-भक्ति में ब्रह्म और जीव में मूल रूप से अभेद-भाव विद्यमान रहता है।[4] इसमें 'अहं ब्रह्मास्मि' की अभेद भावना प्रधान होती है और इस कोटि के भक्तजन भगवान् राम के रूप में तल्लीन हो जाते हैं। भेद-भक्ति को ही ज्ञान कहते हैं। इस प्रकार की भक्ति करने वाले को कैवल्य-मुक्ति या निर्वाण मुक्ति की प्राप्ति होती है जिसका विधान उत्तरकाण्ड के ज्ञान दीपक प्रकरण में वर्णित है। वस्तुत भगवत्स्वरूप में लीन हो जाना ही कैवल्य मुक्ति प्राप्ति है जो अभेद भक्ति की परम सिद्धि है मानस की शबरी हरि चरणों में लीन होकर इसी की अधिकारिणी बनी थी।[5]

भगवान् की कृपा एवं भक्त के साधन की दृष्टि से भक्ति के दो और भेद भी सम्भव हैं। पहला कृपा-साध्य-भक्ति[6] और दूसरा साधन-साध्य-भक्ति।[7] वह भक्ति जो केवल भगवत्कृपा से बिना कुछ साधन किये ही प्राप्त हो जाती है उसको कृपा-साध्य-भक्ति कहते हैं। मानस में कृपा-साध्य-भक्ति को प्राप्त करने वालों में अहल्या[8] और केवट[9] के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

---

१ (क) अस बिचारि हरि भगत सयाने। मुक्ति निरादर भगति लुभाने॥
—मा ७ ११९ ७

(ख) सगुनोपासक मोच्छ न लेहीं। तिन्ह कहुँ राम भगति निज देहीं॥
—मा० ६ ११२ ७

२ अस कहि जोग अगिनि तनु जारा। राम कृपा बैकुण्ठ सिधारा।
—मा० ३ ९ १

३ साधन सिद्धि राम पग नेहू
—मा० २ २८९ ८ (पू०)

४ सो तें ताहि तोहि नहिं भेदा। बारिबीचि इव गावहिं बेदा॥
—मा० ६ १११ ६

५ तजि जोग पावक देह हरि पद लीन भई जहँ नहिं फिरे॥
—मा० ३ ३६ १५

६ सो रघुनाथ भगति श्रुति गाई। राम कृपा काहू एक पाई॥
—मा० ७ १२६ २८

यह गुन साधन तें नहिं होई। तुम्हारी कृपा पाव कोइ कोई॥
—मा ४ २१ ६

७ भगति के साधन कहउँ बखानी।
—मा ३ १६ ५ (पू०)

८ मा० १ २११ ५

९ मा० २ १ २

वह भक्ति जो साधन करके प्राप्त की जाती है साधन-साध्य भक्ति है। शास्त्रीय ग्रन्थों में इसके दो भेद बतलाये गये हैं—

१ वैधी और

२ रागानुगा।

ये भेद तुलसी को भी मान्य हैं।

शास्त्रों के उपदेशों को श्रवण करने पर भगवान् के चरणों में जो मनुष्य का अनुराग होता है उसे वैधी-भक्ति कहते हैं। जैसे—

श्रुति पुरान सब ग्रन्थ कहाहीं।
रघुपति भगति बिना सुख नाहीं॥[1]

भगवान् के चरणों मे स्वाभाविक प्रेम से जो मनुष्य की मनन में प्रवृत्ति होती है, उसे रागानुगा भक्ति कहते है। जैसे—

मनते सकल बासना भागी।
केवल राम चरन लय लागी॥[2]

मानस में तुलसी ने स्थान-स्थान पर भक्ति के विशेषणों के रूप में कुछ ऐसे शब्दों का प्रयोग किया है जिनसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि भक्ति के कुछ अन्यान्य भेद भी उन्हें अभीष्ट हैं। उदाहरण के लिए—

अबिरल भक्ति यथा—अबिरल भगति बिरति सतसंगा।
अबिरल-प्रेम-भक्ति यथा—अबिरल प्रेम भगति मुनि पाई॥

अनूपा भक्ति, यथा—पंथ कहउ निज भगति अनूपा।

भगति तात अनुपम सुख मूला।
राम भगति निरुपम निरुपाधी॥

दृढ़ राम-भक्ति, यथा—राम भगति दृढ़ पावहिं बिनु बिराग जप जोग॥
परम भक्ति, यथा—मोहि़सि परम भगति बर मांगी॥
अन पायिनी भक्ति, यथा—अनपायिनी भगति प्रभु दीन्ही॥
निर्भरा भक्ति, भक्ति प्रयच्छ रघुपुगव निर्भरा मे।
भाव भक्ति, यथा—भति भावभगति आनन्द अघाते॥
अखण्ड भक्ति, यथामकुण्ठ हरि भगति अखण्ड॥
विशुद्ध अबिरल भक्ति, यथा—अबिरल भक्ति बिशुद्ध तब।
सब सुख खानि भक्ति यथा—सब सुख खानि भगति तैं मागी॥
चिन्तामणि भक्ति, यथा— राम भक्ति चिन्तामनि सुन्दर॥

---

१ मा ७।१२२।४
२ मा० ७।११ १

फलरूपा भक्ति, यथा—सब कर फल हरि भगति सुहाई।
सञ्जीवनी भक्ति यथा—रघुपति भगति सजीवनि मूरी॥"[1]

इसी तरह माधुर्य वात्सल्य सख्य दास्य एवं वैरभाव के रूप में पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा वर्णित जो भक्ति के भेद पाये जाते हैं उन सबों के उदाहरण मानस में स्थल-स्थल पर उपलब्ध हो जाते हैं। मिथिलावासियों में माधुर्य भाव की भक्ति पायी जाती है। दशरथ एवं भुशुण्डि की भक्ति वात्सल्य भाव की थी। कुम्भकर्ण रावण आदि राक्षसों की भक्ति वैरभाव की थी और भगवान् ने इन्हें भी निजधाम[2] दिया। सख्य एवं दास्य भाव की भक्ति की चर्चा मानसोक्त नवधा भक्ति के विवेचन के क्रम में ऊपर की जा चुकी है।

भक्ति का फल

भक्ति की प्राप्ति पर चित्त की चंचलता दूर हो जाती है। मन भगवच्चरणों में एकाग्र होकर सांसारिक विषय-वासनाओं से सर्वथा विमुख हो जाता है। राम भक्त समस्त भोगों को रोगों के समान समझकर त्याग देता है।[3] उसे काम-धर्म भी व्याप्त नहीं कर पाता।[4] उसकी एकमात्र यही उद्दाम आकांक्षा रहती है कि उसे राम प्रिय लगें या वह राम को प्रिय लगे।[5] राम के प्रिय लगने के लिए वह राम के सौन्दर्य शक्ति एवं शील का अपने अन्तःकरण में सदैव साक्षात्कार करता रहता है और राम को प्रिय लगने के लिए उदात्त गुणों का ग्रहण एवं शुभ कर्मों का सानन्द सम्पादन करता रहता है। ममता-मद-मोह से रहित होकर वह निरन्तर भगवान् का ध्यान चिन्तन गुण-कीर्तन एवं नाम-स्मरण करता रहता है और इससे उसके हृदय में एक अलौकिक आनन्द का अनुभव होता रहता है। वस्तुतः वह जिस 'परानंद सन्दोह' का अनुभव करता रहता है उसके सुख को भी वही जान सकता है।[6] ऐसे महान् भक्त के लिए भक्ति का आनन्द ही उसका फल है।

भक्ति की प्राप्ति पर भक्त की रहनी कुछ विचित्र सी हो जाती है। उसे जो कुछ मिल जाता है, वह उसी में सन्तुष्ट रहता है। वह कभी भी किसी से कुछ नहीं चाहता। पर स्वयं इतना विरक्त होकर भी वह निरन्तर परहित चिन्तन में संलग्न रहता है। मन वचन एवं कर्म से वह अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य अपरिग्रह शौच सन्तोष तप स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान इन दस यम-नियमों का पालन करता रहता है। वह कानों से अत्यन्त कठोर एवं असह्य वचन सुनकर भी क्रोधाग्नि में भस्मीभूत नहीं होता। वह अभिमान त्याग कर सबमें समबुद्धि रखते हुए अपने मन को शान्त रखता है और दूसरों की स्तुति-निन्दा

---

१ कल्याण भक्ति अंक (१) वर्ष ३२ पृ ४१७
२ मा० १७१ (पू)
३ विनय पत्रिका पद १२७ प २ मा० २ ३२४ ८
४ मा० ७ १०८ ७
५ दोहावली दो ७८
६ मा ७ ४६

कुछ भी नहीं करता। वह अपने शरीर-निर्वाह सम्बन्धी सारी चिन्तायें छोड़कर सुख-दुख को समान भाव से सहता रहता है।[1]

ज्ञान का फल मोक्ष है[2] पर भक्ति का फल भक्त के मन मन्दिर में भगवान् का वास होता है। तुलसी दोहावली में स्पष्ट करते हैं

सब साधन को एक फल जेहि जान्यो सो जान।
ज्यों त्यों मन मंदिर बसहिं राम धरे धनुबान॥[3]

जब भगवान् भक्त की भावना कर उसके मन-मन्दिर में निवास कर लेते हैं तब उसका मन सभी बुरे-कर्मों से सर्वथा विमुख हो जाता है और कलिकालजनित उसकी सारी कुचालें छूट जाती हैं।[4]

अपनी भक्ति करने वालों पर ही भगवान् द्रवीभूत होते हैं और जब वे द्रवीभूत होते हैं तब सन्त समागम होता है जिससे दरस-परस से पाप समूह समूल नष्ट हो जाते हैं।[5] अतः सामान्य सन्तों का संग तो भक्ति का साधन है पर राम कृपा से प्राप्त होने वाले विमल एवं विशुद्ध सन्तों[6] का संग होना भक्ति का फल ही है।

भक्तों को ही भगवान् के दर्शन का सौभाग्य उपलब्ध होता है। भगवद्दर्शन का फल परम अनुपम है क्योंकि जीव इससे अपने सहज स्वरूप को प्राप्त कर लेता है

मम दरसन फल परम अनूपा।
जीव पाव निज सहज सरूपा॥[7]

ज्योंही जीव भगवान के सम्मुख होता है, त्योंही उसके करोड़ों जन्मों के पाप नष्ट हो जाते हैं।[8] उसके हृदय में जो कुछ पहले की सांसारिक वासनाएँ विद्यमान रहती हैं वे सब प्रभु के चरणों की प्रीति रूपी नदी में प्रवाहित हो जाती हैं।[9] यद्यपि भगवान् का दर्शन कर भक्त इच्छा शून्य एवं निष्काम हो जाता है पर फिर भी जगत् में उसका दर्शन अमोघ है।

---

१ विनय पत्रिका पद १७२
२ मा० १२१ (उ०)
३ दोहावली दो० ६०
४ मा० ५.४७ १–२ विनयपत्रिका पद २६८
५ जब द्रवै दीन दयालु राघव साधु संगति पाइये।
जेहि दरस-परस-समागमादिक पापराशि नसाइये॥
—विनयपत्रिका पद १३६ (१०) पं० १–४
६ सन्त विशुद्ध मिलहिं परितेही। चितवहिं राम कृपा करि जेही॥
—मा० ७.६९.७
७ मा० ३.३६.९
८ मा० ५.४४.२
९ मा० ५.४९.६

वह निष्फल नहीं जाता ।[1] अतः इच्छारहित होने पर भी जबरदस्ती भक्त का [illegible] एश्वर्य-वैभव अनायास ही प्राप्त हो जाते हैं । उदाहरण के लिए विभीषण को [illegible] सकता है । भगवान् राम ने रावण की क्रोधाग्नि में प्रज्वलित होते हुए [illegible] की रक्षा नहीं की प्रत्युत उसे अखण्ड राज्य भी प्रदान किया ।[2] उसे आसानी से [illegible] मिल गयी जो दसों सिरों के बलिदान करने पर शिव द्वारा रावण को [illegible] ।[3] [illegible] ब्राह्मण गौ एवं देवता की सेवा करने वाले पुण्यश्लोक महाराज दशरथ[4] [illegible] ने यही कहा था कि पुण्यात्मा पुरुष के लिए पृथ्वी सुखों से छायी हुई रहती है । [illegible] समुद्र में जाती हैं, यद्यपि समुद्र को नदी की कामना नहीं होती [illegible] बिना बुलाये स्वाभाविक रूप से ही धर्मात्मा पुरुष के पास जाती है ।[5] [illegible] का फल ही समझना चाहिए ।

भक्ति एवं भक्तों के अनेक भेद होने से भक्ति के फल में भी अनेक [illegible] है तुलसीदास ने श्रवण भक्ति के सम्बन्ध में कहा है

सुनहिं विमुक्त विरत अरु विषई । लहहिं भगति गति [illegible] ।[6]

अर्थात् भगवान् के चरित्र-श्रवण से मुक्त पुरुषों को भगवद्भक्ति [illegible] एवं विषयी पुरुषों को सम्पत्ति प्राप्त होती है । कोई सकाम भाव से [illegible] भी प्रत्येक सकाम भक्त की कामना भिन्न-भिन्न होती है । किसी की [illegible] होती । अतः सकाम एवं निष्काम भक्ति के फल भी अलग-अलग [illegible] तरह आर्त जिज्ञासु, अर्थार्थी एवं ज्ञानी भक्तों की भक्ति [illegible] स्वाभाविक एवं आवश्यक है । यदि सकाम भक्त कुम्भकर्णी [illegible] क्रोधी ढोंगी दम्भी हिंसक पर अहित चिन्तक एवं धर्मी-कपटी [illegible] का अभाव हो तो भगवान् उस पर प्रसन्न नहीं होते । वे तो [illegible] सदाचारी धर्मात्मा परहित चिन्तक सरल एवं निष्कपट [illegible] काम क्रोधादि दोषों से रहित होता है । वस्तुतः परमपिता [illegible] चित-स्वरूप एवं समदर्शी हैं । उनमें किसी के विषय में विरोध [illegible] दूसरों के लिए अनिष्टकर रहने वाली हमारी विरोधी [illegible] अतः सकाम भक्त को चाहिए कि वह अपनी शुद्ध भावना [illegible] का कृपा पात्र बन जाय । मन कर्म एवं वचन से पर [illegible]

---

१ मा० ५.४९.१
२ मा० ५.४९ (क)
३ मा ५.४९ (ख)
४ मा० २.२९४४
५ मा० २.२९४.१-३
६ मा० ७.१५.५

करने से भगवान् की कृपा की प्राप्ति होती है।[1] योग जप दान तप व्रत मख मनवाञ्छित नियमादि जहाँ निष्फल हो जाते हैं, वहाँ निश्छल प्रेम ही भगवत्कृपा की प्राप्ति कराने में सफल होता है।[2] रामचरितमानस में निर्देश तथा अज्ञान पाप कर्मों के प्रायश्चित्त प्रायश्चित्त विधान कर और तब अपनी शुभकामना की पूर्ति के लिए परमात्मा से प्रार्थना करे। जब तक उसका आचार विचार अच्छा नहीं होगा तब तक उस पर भगवान् की प्रसन्नता नहीं होगी तब तक उसकी सकामभक्ति का यथायोग्य फल मिलने में भी सन्देह ही रह जायगा।

निष्काम भक्ति करने वाले भक्तों की भक्ति का फल तो भगवान् ही हैं। वे भगवान् को ही प्राप्य प्रापक मानते हैं और उन्हें छोड़कर अन्य किसी पदार्थ की तो बात ही क्या वे मोक्ष को भी नहीं चाहते।[3] उनकी भक्ति का भक्ति ही परम फल है। उनके लिए तो साधन और सिद्धि दोनों ही भगवच्चरणानुराग है।[4]

---

१ मा० १ २०० ६

२ मा० ६ ११७ (ख)

३ मा० २ २ ४ ७ ११६ ७

४ मा० २ २८६ ८ (पू०)

चौथा अध्याय

मानस में भक्ति के उद्गार

केवल इतना ही नहीं शिव के मुख से याज्ञवल्क्य ने यह कहलाया है कि ठीक ऐसा ही मोह गरुड़ को भी उत्पन्न हुआ था जिसके निवारण के लिए उसे काकभुशुण्डि की शरण लेनी पड़ी थी।[1] जहाँ गीता में केवल अर्जुन के मोह की ही चर्चा है और उसके निवारण कर्ता केवल भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं वहाँ मानस में भरद्वाज पार्वती एवं गरुड़ जैसे तीन-तीन मोहग्रस्त व्यक्तियों के क्रमश याज्ञवल्क्य शिव एवं काकभुशुण्डि जैसे तीन-तीन महान् राम भक्त समाधानकर्ता हैं। इससे स्पष्ट है कि गीता वर्णित मोह से मानस वर्णित मोह अधिक अगाध और व्यापक है। यथार्थ में जहाँ गीता का मोह कर्म अकर्म का मोह है वहाँ मानस' का मोह समग्र सृष्टि के मूल तत्त्व भगवान् राम के स्वरूप का है। अत इसकी गम्भीरता स्पष्ट है। तुलसी के समय से पूर्व एवं उनके समय में भी जो निर्गुणवादी सन्त मत का प्रचार था या उसके अतिरिक्त जो अनन्य कल्पित पंथ विद्यमान थे उनके आचार्यों ने 'राम केवल निर्गुण हैं सगुण नहीं' या "राम का अस्तित्व ही नहीं है' इस प्रकार का मोह व्यापक रूप में फैला रखा था। हमारी समझ में तुलसी का 'रामचरितमानस" इसी घोर एवं व्यापक मोह का निराकरण करने के लिए लिखा था। इसीलिए मानस में एक परब्रह्म के अस्तित्व तथा उसके निर्गुण-सगुण स्वरूप पर भक्तों के भावुक हृदयों में आस्था जमाने के लिए इसके कथा प्रसंग में स्थल-स्थल पर प्रभावोत्पादक रूप में भक्ति के उद्गारों की अभिव्यक्ति हुई है। हमारी दृष्टि मे जिस प्रकार गीता ज्ञान एवं भक्ति के विवेचन से युक्त होकर भी एक कर्मयोग शास्त्र है उसी प्रकार 'रामचरितमानस कर्म एवं ज्ञान के विवेचन से युक्त होकर भी एक अलौकिक भक्ति योग शास्त्र है। इस तथ्य को समझने के लिए हमें मनोयोगपूर्वक अध्ययन करना होगा महात्मा तुलसीदास जी के मानसस्थ उद्गारों का। अत यहाँ 'मानस' के प्रत्येक काण्ड से अनेकानेक भक्तिपूर्ण उद्गारों को उद्धृत कर तुलसी के प्रधान भक्ति-भक्ति का विवेचन किया जा रहा है अन्यथा इसके अभाव में मानस' की भक्ति का समुचित अध्ययन अपूर्ण ही रह जायेगा।

बाल-काण्ड

बाल-काण्ड के छठे श्लोक के उत्तरार्ध में ही तुलसी ने भगवान् के चरणों को भव सागर तरने की इच्छा रखने वालों के लिए नौका बतलाकर उन्हें नमस्कार किया है।[2] आगे चलकर रामनाम की महिमा बतलाते हुए उन्होंने चार युगों तीनों कालों और तीनों लोकों में भगवान् के नाम जप के प्रभाव से प्राणियों के शोकहीन होने का उल्लेख किया है। उनको दृढ़ विश्वास है कि वेद पुराण एवं संतों का मत यही है कि राम का प्रेम मनुष्यों के सारे पुण्यों का फल है।[3]

---

१ मा० ७ ५८ २—७ ६४ २

२ मा० १ श्लो० ६ (पू०)

३ मा० १ २७ १–२—"चहुँ जुग तीनि काल तिहुँ लोका। भए नाम जप जीव बिसोका ॥
बेद पुरान संत मत एहू। सकल सुकृत फल रामसनेहू ॥

वैसे ही पाप नहीं लगता जैसे कमल के पत्ते को पानी नहीं लगता।[1] कर्मयोगी ऐसी अहंकार बुद्धि न रख कर कि 'मैं कर्म करता हूँ' केवल शरीर से, केवल मन से, केवल बुद्धि से और केवल इन्द्रियों से भी आसक्ति छोड़कर आत्मशुद्धि के लिए कर्म किया करते हैं।[2] हे अर्जुन! अतएव तू उठ, यश प्राप्त कर और शत्रुओं को जीतकर समृद्ध राज्य का उपभोग कर। मैंने इन राजाओं को पहले ही मार डाला है। हे सव्यसाचिन्! तू केवल निमित्त मात्र बन। मैं द्रोण, भीष्म, जयद्रथ और कर्ण ऐसे ही अन्य वीरों को पहले ही मार चुका हूँ। घबड़ाना नहीं, युद्ध कर, तू युद्ध में शत्रुओं को जीतेगा।[3] मेरे लिए कर्म करने से भी तू सिद्धि पायेगा।[4] शास्त्रों में जो कुछ कहा गया है उसे समझकर तुझे कर्म करना उचित है।[5] हे अर्जुन! यज्ञ, दान और तप जैसे कर्म न छोड़ना चाहिए। यह मेरा निश्चित और उत्तम मत है।[6] हे कौन्तेय! अपने स्वभावजन्य कर्म से बद्ध होने के कारण मोह के वश होकर तू जिसे न करने की इच्छा करता है, विवश होकर तुझे वही करना पड़ेगा।[7]

गीता में भगवान् कृष्ण के ये तथा इनके जैसे अनन्य उद्गार यह प्रमाणित करते हैं कि गीताकार का लक्ष्य मोहवश कर्तव्य से पराङ्मुख होने को तत्पर अर्जुन को कर्मयोग में कटिबद्ध करने के निमित्त व्यक्त किये गये हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि गीताकार का प्रधान लक्ष्य ज्ञान-भक्ति युक्त कर्मयोग ही है। उपर्युक्त उदाहरणों से यह पूर्णतः स्पष्ट है कि महान् ग्रन्थकार अपनी रचना में अपने मूल लक्ष्य को प्रकरणानुसार अभिव्यक्त करने का प्रयत्न करते हैं और उनसे हम उनके प्रधान उद्देश्य से अवगत हो पाते हैं।

गोस्वामी तुलसीदास जी का 'रामचरितमानस' भी 'श्रीमद्भगवद्गीता' के समान ही एक महान् ग्रन्थ है। इसमें भी गोस्वामी जी ने अपने महान् लक्ष्य को गीताकार ने ग्रन्थ के प्रारम्भ में अर्जुन के हृदय में कर्माकर्म का संशय उत्पन्न होने पर भगवान् श्रीकृष्ण के मुख से उसका विवेचन कराया है, उसी प्रकार मानसकार ने मानस के बालकांड प्रारम्भ में ही 'राम दशरथ के पुत्र हैं अथवा कोई अन्य' इस प्रकार का संशय भरद्वाज ऋषि के हृदय में उत्पन्न कराकर याज्ञवल्क्य के मुख से उसके विवेचन का सूत्रपात कराया है।[8] याज्ञवल्क्य ने इस प्रकार का सन्देह पार्वती के हृदय में भी उत्पन्न होने की चर्चा की है[9] और उसे सन्देह के निवारणार्थ शिव के मुख से समग्र रामचरित का वर्णन करना बतलाया है।[10]

---

१ वही ५/१
२ गीता ५/११
३ गीता ११।३३ ३४
४ गीता १२।१
५ वही १६।२४
६ गीता १८।५–६
७ गीता १८।६०
८ मा० १ ४६ ६–१ ४६
९ मा० १ १०८ १–१ १ ८
१० मा १ १२ (ख) (ग) और (घ)

केवल इतना ही नहीं शिव के मुख से याज्ञवल्क्य ने यह कहलाया है कि ठीक ऐसा ही मोह गरुड़ को भी उत्पन्न हुआ था जिसके निवारण के लिए उसे काकभुशुण्डि की शरण लेनी पड़ी थी।[1] जहाँ गीता में केवल अर्जुन के मोह की ही चर्चा है और उसके निवारण कर्त्ता केवल भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं वहाँ मानस में भरद्वाज पार्वती एवं गरुड़ जैसे तीन-तीन मोहग्रस्त व्यक्तियों के क्रमश: याज्ञवल्क्य, शिव एवं काकभुशुण्डि जैसे तीन-तीन महान् राम भक्त समाधानकर्त्ता हैं। इससे स्पष्ट है कि गीता वर्णित मोह से मानस वर्णित मोह अधिक प्रबल और व्यापक है। यथार्थ में जहाँ गीता का मोह कर्म अकर्म का मोह है वहाँ 'मानस' का मोह समग्र सृष्टि के मूल तत्त्व भगवान् राम के स्वरूप का है। अत: इसकी गम्भीरता स्पष्ट है। तुलसी के समय से पूर्व एवं उनके समय में भी जो निर्गुणवादी सन्त मत का प्रसार था या उसके अतिरिक्त जो अनन्य कल्पित पंथ विद्यमान थे उनके आचार्यों ने 'राम केवल निर्गुण हैं सगुण नहीं' या 'राम का अस्तित्व ही नहीं है' इस प्रकार का मोह व्यापक रूप में फैला रखा था। हमारी समझ में तुलसी का 'रामचरितमानस' इसी घोर एवं व्यापक मोह का निराकरण करने के लिए लिखा था। इसीलिए मानस में एक परब्रह्म के अस्तित्व तथा उसके निर्गुण-सगुण स्वरूप पर भक्तों के भावुक हृदयों में आस्था जमाने के लिए इसके कथा प्रसंग में स्थल-स्थल पर प्रभावोत्पादक रूप में भक्ति के उद्गारों की अभिव्यक्ति हुई है। हमारी दृष्टि में जिस प्रकार गीता ज्ञान एवं भक्ति के विवेचन से युक्त होकर भी एक कर्मयोग शास्त्र है उसी प्रकार "रामचरितमानस" कर्म एवं ज्ञान के विवेचन से युक्त होकर भी एक अलौकिक भक्ति योग शास्त्र है। इस तथ्य को समझने के लिए हमें मनोयोगपूर्वक अध्ययन करना होगा महात्मा तुलसीदास जी के मानसस्थ उद्गारों का। अत: यहाँ "मानस" के प्रत्येक काण्ड से अनेकानेक भक्तिपूर्ण उद्गारों को उद्धृत कर तुलसी के प्रधान लक्ष्य भक्ति का विवेचन किया जा रहा है अन्यथा इसके अभाव में 'मानस' की भक्ति का समुचित अध्ययन अपूर्ण ही रह जायेगा।

बाल-काण्ड

बाल-काण्ड के छठे श्लोक के उत्तरार्ध में ही तुलसी ने भगवान् के चरणों को भव सागर तरने की इच्छा रखने वालों के लिए नौका बतलाकर उन्हें नमस्कार किया है।[2] आगे चलकर रामनाम की महिमा बतलाते हुए उन्होंने चार युगों तीनों कालों और तीनों लोकों में भगवान् के नाम जप के प्रभाव से प्राणियों के शोकहीन होने का उल्लेख किया है। उनको दृढ़ विश्वास है कि वेद पुराण एवं सन्तों का मत यही है कि राम का प्रेम मनुष्यों के सारे पुण्यों का फल है।[3]

---

१ मा० ७ १८ २–७ १४ २

२ मा० १ श्लो ६ (पू)

३ मा० १ २७ १–२—"चहुँ जुग तीनि काल तिहुँ लोका। भए नाम जप जीव बिसोका॥
वेद पुरान सत मत एहू। सकल सुकृत फल रामसनेहू॥

का विषयगत भगवद्रूप की पिपासा का यह अलौकिक उद्गार बड़ा ही मर्मस्पर्शी एवं रमणीय है।

राम को विदा देते हुए परम ज्ञानी जनक भी प्रेमोन्मत्त हो उठते हैं और कहते हैं कि मेरा अहोभाग्य है जो सभी सुखों के मूल आपके दर्शन हुए। सच है भगवान् के अनुकूल होने पर ही संसार में जीव को सारे लाभ मिलते हैं।[1]

भक्त का हृदय आराध्य की शक्तिमत्ता शीलवत्ता उज्ज्वलता एवं पवित्रता से अभिभूत होकर उसकी चर्चा मात्र में अपने मन और वाणी को पवित्र करने की शक्ति का अनुभव करता है अतः तुलसी यहाँ आनन्द-विह्वल होकर रामचरित वर्णन का कारण अपनी वाणी को पवित्र बनाना ही मान लेते हैं। वस्तुतः प्रेम की पावनता मन कर्म और वचन सब को पवित्र बना देती है न कि वाणी को। आह्लाद के आवेश में तुलसी इतने आत्मविभोर हो गए हैं कि अपनी वाणी की पवित्रता से ही वे सन्तुष्ट हो जाते हैं।[2]

"अयोध्या-काण्ड"

एक ही प्रसंग भिन्न-भिन्न दृष्टियों से भिन्न-भिन्न रस का रूप धारण कर लेता है। इस तथ्य की पुष्टि कोप भवन में कैकेयी के पास पड़े हुए राजा दशरथ के समक्ष रामागमन प्रकरण से होती है। इस प्रसंग में दशरथ ने राम के प्रति जो अलौकिक प्रेम प्रकट किया है वह वात्सल्य रस ही समझा जाता यदि दशरथ परम भक्त महाराज मनु के अवतार न होते और भगवान से उनके चरणों में पुत्र विषयक प्रेम होने का वरदान न माँग चुके होते। महाराजा दशरथ का प्रेम कितना गहरा है इससे अवगत होने के लिए उनकी मानसिक स्थिति का पूर्ण अध्ययन अपेक्षित है। कैकेयी की कुचाल और निष्ठुरता की चोट से महाराज दशरथ विकल होकर तड़प रहे थे। यहाँ तक कि वे अपनी ओर हार्दिक व्यथा से मर्माहत होकर अचेत भी हो चुके थे। किन्तु यहाँ राम का आगमन सुनकर उनके हृदय में धैर्य का संचार हो जाता है और आँखें खुल जाती हैं। राम वियोग की असह्य संभावना से उनके अंग शक्तिहीन हो चुके थे। इसलिए सुमंत बहुत संभाल कर उन्हें बैठाते हैं। राजा दशरथ की प्यासी दृष्टि अपने चरणों पर गिरते हुए राम की ओर केन्द्रित हो जाती है और वे राम को उसी प्रकार ललक कर हृदय में लगा लेते हैं जैसे कोई मणिधर सर्प अपनी खोयी हुई मणि आतुरता पूर्वक ग्रहण कर लेता है। वे निःशब्द एवं निस्पंद होकर राम को देख रहे हैं और आँखों से अविरल अश्रुधाराएँ प्रवाहित हो रही हैं। राम के भावी वियोग की आशंका से वे बोलने में असमर्थ हैं, किन्तु प्रबल प्रेम के आवेग में विह्वल होकर राम को बार-बार हृदय से चिपका लेते हैं।[3] पर राजा को सत्य पर भी अलौकिक प्रेम है। वे सत्य

---

१ मा० १ ३४१—

> जनक विषय मो कहुँ सबउ सो समस्त सुख मूल।
> सबह लाभु जग जीव कहँ भएँ ईसु अनुकूल।

२ मा० १ ३६१ १

३ मा० २'४४ १—५

का परित्याग करने की बात भी नहीं सोचते। वे विधाता से बार-बार निवेदन कर रहे हैं। कि रामचंद्र जंगल में न जायें। वे आशुतोष भगवान शंकर से प्रार्थना कर रहे हैं कि राम शील एवं स्नेह को त्याग कर मेरी आज्ञा का उल्लंघन कर घर पर ही रह जायें। प्रेम का वेग क्रमशः बढ़ता चला जा रहा है और राजा के विवेक पर आधिपत्य कर लेता है। अतः अब वे सोचने लगते हैं कि अपयश हो तो हो सुयश भी नष्ट हो जाय तो हो चाहे देवलोक भी उन्हें प्राप्त हो या न हो बल्कि उन्हें नरक की ही भयंकर यातना क्यों न भुगतनी पड़े संसार के सब असह्य दुख उन्हें सहने पड़ें तो पड़ें पर उनके प्यारे राम उनकी आँखों से ओझल न हों।[1] सत्य और प्रेम दोनों के सफल निर्वाह का यह अलौकिक क्रम राजा दशरथ को ही भली भांति मालूम था। सत्य उनको प्राणों से भी बढ़कर प्रिय था किन्तु राम प्रेम के समक्ष उन्हें उसे भी क्षण भर के लिए भूल जाना पड़ा। ऐसी अलौकिक भक्ति के आश्रय महाराज दशरथ अनंत काल तक प्रथम श्रेणी के भक्तों में परिगणित होते रहेंगे।

तुलसीदास जी राम के प्रति दशरथ के प्रेम की गम्भीरता प्रदर्शित कर यहाँ उनकी महारानी सुमित्रा के अनन्य प्रेम का परिचय दे रहे हैं। वे अपने प्राण प्यारे पुत्र लक्ष्मण को राम-सीता की सेवा के लिए वन में भेजती हुई अपने हृदय के उद्‌गारों को यों व्यक्त करती हैं। राम हृदय और प्राणों के प्यारे हैं और समग्र जगत के प्राणियों के निःस्वार्थ सखा हैं। संसार में जितने पूज्य और प्रिय हैं वे सब राम के संबंध से ही वैसे हुए हैं। हे पुत्र ! इस तथ्य को हृदयंगम कर राम के साथ जंगल में जाओ और उनकी सेवा कर जीवन सफल करो। हे पुत्र ! मैं तुम्हारी बलैया लेती हूँ। मैं और तुम दोनों ही बड़े भाग्य भाजन हुए यदि तुम्हारा मन निष्कपट होकर राम के चरणों में रम गया।[2] अहा ! यथार्थ पुत्रवती वही युवती है जिसका पुत्र राम का भक्त हो। यदि किसी माता का पुत्र राम की भक्ति से पराङ्मुख हुआ तो उसे अपना हित समझना व्यर्थ है। उससे तो उसकी माता का बन्ध्या रहना ही अच्छा था। हाय ! उसने पुत्र प्रसव का कष्ट व्यर्थ ही सहा।[3] हे पुत्र ! राम के चरणों में प्रेम करना सारे पुण्यों का महान् फल है।[4] सुमित्रा के ये उद्‌गार उनके हृदय की निश्छलता निर्मलता एवं राम भक्ति की विह्वलता के निर्मल आदर्श हैं।

शृङ्गवेरपुर में गंगा के तट पर निषाद-लक्ष्मण-संवाद में तुलसी ने राम प्रेम की पराकाष्ठा व्यक्त की है। लक्ष्मण निषादराज गुह से कहते हैं कि मन कर्म और वाणी से राम के चरणों में प्रेम रखना ही मनुष्य का परम परमार्थ है।[5] राम यथार्थ में परमार्थ

---

१ मा० २।४९।१—२.४९.२

२ मा० २।७४।१

३ मा० २।७५.२—१—"पुत्रवती जुबती जग सोई। रघुपति भगतु जासु सुत होई॥
न तरु बाँझ भलि बादि बिआनी। राम बिमुख सुत तें हित जानी॥"

४ २।७५.४— "सकल सुकृत कर बड़ फल एहू।
राम सीय पद सहज सनेहू॥"

५ मा० २.९३।१—"सखा परम परमारथु एहू।
मन क्रम बचन राम पद नेहू॥"

तो यह विचार निरर्थक है। यदि शरीर राम है तो सारे योग बेकार है। यदि राम मे भक्ति नहीं तो जप और योग व्यर्थ है बिना जीव के देह भी निरर्थक है। इसी प्रकार राम के बिना मेरे लिए सब कुछ व्यर्थ है।[1] जिस राज्य के लिए बड़े-बड़े राजकुमार अपने पिता माता की हत्या तक करने से भी नहीं चूकते भरत को वह समृद्ध राज्य अनायास प्राप्त हो चुका है किन्तु वे उसको धूल से भी तुच्छ समझकर राम के चरणों के दर्शन के लिए लालायित है। प्रेम का मूर्तिमान स्वरूप यदि विश्व-साहित्य म देखना हो और यदि त्याग की सात्विकता की अनुभूति करनी हो तो तुलसी के मानस के इस प्रसंग को देख और बारि भार सधु बिनु रघुराई [2] की अनन्यता और गम्भीरता को हृदयगम करें।

चित्रकूट मे राम से मिलने के लिए चलते हुए भरत जिस किसी को अयोध्या में घर की रखवाली के लिए रखना चाहते है वह यह समझता है कि मानो उसकी गरदन ही मारी गयी। कोई कोई तो किसी को भी रखवाली करने के लिए रखने के पक्ष में है ही नहीं। उनकी दृष्टि में अपने जीवन का लाभ अर्थात् भगवान् राम का दर्शन कौन नहीं लेना चाहता?[3] उनकी दृष्टि मे वह सम्पत्ति घर सुख सुहृद माता पिता और भाई जल जायं तो अच्छा है जो रामचन्द्र के चरणों के समक्ष उपस्थित होने में सहर्ष सहायता न करें[4]। राम-प्रेम के समक्ष सम्पत्ति घर सुख सुहृद माता पिता और भ्राता की तुच्छता प्रदर्शित कराकर कवि ने अपनी भक्ति की अनन्यता का अद्भुत प्रमाण अन्यत्र भी प्रस्तुत किया है।[5]

राम भक्ति का अद्भुत उद्गार चित्रकूट जाते हुए भरत के गंगा तीर पर पहुँचने पर निषादराज गुह के मुह से निकलता है वह सोचता है कि एकाकी राम को वन में मार कर भरत निष्कंटक राज्य करने के लोभ से चित्रकूट जा रहे हैं। ऐसी परिस्थिति म वह उन्हे गंगा पार होने देना नहीं चाहता और भक्ति के आवेश में अपना प्राण न्योछावर करके भी अपना अभीष्ट सिद्ध करना चाहता है। उसके मुह से सहसा निकल पड़ता है कि सज्जनों के समाज में जिसकी गणना नहीं और जो राम के भक्तों मे नहीं परिगणित होता वह नष्ट हो जाय तो अच्छा क्योंकि उसका जीवन ही पृथ्वी के लिए भार स्वरूप है। वह अपनी माता के यौवन रूपी वृक्ष के लिए कुठारतुल्य है।[6] यहाँ अभक्तों के लिए उसकी 'जोबन बिटप कुठारू' शब्द में बड़ी घोर भर्त्सना भरी हुई है। इससे तुलसी के भक्त हृदय का परिचय निषादराज के शब्दों में दिया गया है।

---

१ मा २ १७८ १—६

२ मा ३ १७८ १ (छ)

३ मा २ १८५ १—७

४ मा० २ १८५— "जरउ सो संपति सदन सुखु सुहृद मातु पितु भाइ।
सनमुख होत जो राम पद करै न सहस सहाइ।"

५ विनयपत्रिका पद १७४ कवितावली उत्तर काण्ड पद ४१

६ मा० २ १९० ७—८ साधु समाज न जाकर लेखा। राम भगत महुँ जासु न रेखा।
जायँ जियत जग सो महि भारू। जननी जोबन [illegible] ॥"

राम-नाम की अपूर्व महिमा का परिचय तुलसी ने भरत-निषाद मिलन प्रसंग में प्रकट किया है। देवगण भरत और निषादराज गुह का मिलन देखकर उस निषाद के सौभाग्य की प्रभूत प्रशंसा करते हुए कहते हैं कि यह निषाद जो वेद और लोक दोनों की दृष्टि में अति नीचा है और जिसकी छाया छू जाने से भी मनुष्य स्नान करके ही शुद्ध होता है उससे रामचन्द्र जी का यह छोटा भाई भरत हृदय से लगाकर रोमांचित होते हुए मिलता है।[1] इससे राम नाम की महिमा प्रकट होती है। यथार्थ में राम-नाम की महिमा इतनी विशाल है कि चाण्डाल शबर, खस यवन एवं पामर कोल-किरात भी राम शब्द का उच्चारण करते ही परमपावन एवं विश्व विख्यात हो जाते।[2] भगवान् राम के संसर्ग एवं सौन्दर्य की महिमा के प्रतिपादन के पश्चात् यहां उनके नाम की महिमा की जोरदार शब्दों में घोषणा की गयी है।

भगवान् रामचन्द्र को अयोध्या लौटा लाने के विचार से चित्रकूट जाते हुए भरत त्रिवेणी के पास पहुंच कर उनसे करबद्ध राम भक्ति की भिक्षा मांगते हुए कहते हैं कि हे तीर्थराज! आप सभी कामनाओं के दाता हैं। आपका यह प्रभाव लोक एवं वेद दोनों ही में प्रकट है। यद्यपि मैं क्षत्रिय हूं और भिक्षा मांगना मेरा धर्म नहीं है पर फिर भी मैं अपना धर्म त्याग कर आपके समक्ष भिक्षुक बन रहा हूं। कारण यह है कि मैं इस समय आर्त्त हूं और आर्त्त कौन से कुकर्म नहीं करते? इसलिए हे सुजान हे सुदानी! मुझ याचक की प्रार्थना सफल करें।[3] मुझमें अर्थ धर्म या काम किसी की भी रुचि नहीं है। मैं निर्वाण पद की प्राप्ति भी नहीं चाहता। बस मैं जन्म-जन्म राम के चरणों मे प्रेम चाहता हूं। बस मुझे यही वरदान चाहिए अन्य नहीं। मुझे राम कुटिल समझें तो समझें लोग गुरु और स्वामी का द्रोही मानें किन्तु आपकी कृपा से सीता-राम के चरणों में मेरा प्रेम प्रतिदिन बढ़ता जाय। मेघ जन्म भर चातक की स्मृति भुला दें तो भुला दें उसके जल मांगने पर पत्थर और वज्र डाले पर चातक की रटन घटने से उसकी मर्यादा घट जायगी। हर हालत में प्रेम बढ़ने से ही उसकी भलाई है। जैसे तपाने से सोने की कान्ति बढ़ती है वैसे ही अपने प्यारे आराध्य के चरणों में प्रेम का नियम निबाहने से ही आराधक की शोभा बढ़ती है।[4] इस प्रसंग में तुलसी ने भरत के मुख से आदर्श भक्ति का स्वरूप अभिव्यंजित कराया है। यदि आराध्य आराधक की छोटी-बड़ी सभी कामनाएं पूर्ण करता चले तो उससे प्रेम करने में कौन सी कठिनाई है? प्रेम का मार्ग बीहड़ तो तब बन जाता है, जब आराध्य उसके प्रति क्रूर बनकर उसकी भक्ति की परीक्षा लेता है। भरत का कथन है कि प्रतिकूल चलते हुए आराध्य के प्रति भी यदि किसी आराधक का प्रेम सदा बढ़ता रहे तो वही सच्चा भक्त है।

---

१ मा० २ १९४ २-४

२ मा २ १९४— "स्वपच सबर खस जमन जड़ पावँर कोल किरात।
राम कहत पावन परम होत भुवन बिख्यात॥

३ मा० २ २ ४ ९-८

४ मा० २ २ ४—२.२०५-२

और उसी में उसकी मर्यादा तथा सीमा है। तुलसी ने यहाँ जो भक्ति का आदर्श उपस्थित किया है वह सर्वथा समन्वय एवं सामंजस्यपूर्ण है।

चित्रकूट में सीता राम और लक्ष्मण के शील से कुटिल रानी कैकेयी के हृदय में भी अपनी कुकर्म पर ग्लानि उत्पन्न हो गयी। इसलिए वह अवनत मन से पृथ्वी और यमराज से प्रार्थना करने लगी कि यदि पृथ्वी फट जाय या विधाता मृत्यु ही दे दे तो मेरे लिए अच्छा है।[1] कैकेयी की इसी आत्म ग्लानि अमित वेदना को देखकर कवि कहता है कि यह तथ्य वेद एवं लोक दोनों ही में प्रसिद्ध है कि राम से पराङ्मुख व्यक्तियों को नरक में भी स्थान नहीं मिलता।[2] बीच के प्रसंगों में राम के मंगल राम के शील एवं राम नाम महिमा का चर्चा हो चुकी है। अतः यहाँ राम से पराङ्मुख व्यक्तियों की दुर्गति दिखलाकर भगवान् राम के चरण कमलों में प्रेम करने की प्रेरणा प्रदान की गयी है।

चित्रकूट की सभा में वसिष्ठ-भरत संवाद के प्रसंग में वसिष्ठ जी कहते हैं कि हे भरत कोई भी बात राम की कृपा से ही सत्य होती है। जो लोग राम से पराङ्मुख रहते हैं उन्हें स्वप्न में भी सिद्धि नहीं मिलती।[3] यहाँ भी राम से पराङ्मुख मनुष्यों की भर्त्सना की गयी है।

चित्रकूट के आश्रम में जनकपुर और अयोध्यावासियों के बीच जो दशरथ-मरण का शोक फैला उससे ज्ञानी जनक भी नहीं बच सके। यह सही है कि राजा जनक ज्ञानी थे किन्तु राम और सीता से उन्हें इतना अधिक प्रेम था कि वे महाराज दशरथ की मृत्यु पर उदासीन न रह सके। संसार में तीन प्रकार के जीव हैं विषयी साधक और सिद्ध। इनमें से जिस किसी का मन राम के प्रेम से सरस है सज्जनों की सभा में उसी का बड़ा आदर है। कारण यह है कि राम की भक्ति के बिना ज्ञान की भी शोभा उसी प्रकार नहीं है जिस प्रकार कर्णधार के बिना जलयान की शोभा नहीं होती।[4] यहाँ ज्ञान से भी भक्ति की महिमा अधिक प्रदर्शित की गयी है।

अयोध्या एवं जनकपुर के नर-नारी चित्रकूट से सीता एवं राम को लिये बिना घर नहीं लौटना चाहते थे। उन्हें राम भक्ति के कारण उनके सम्पर्क में वनवास भी करोड़ों अमरावती के सुख सुखद प्रतीत होता था। वे सोचते थे कि राम लक्ष्मण और वैदेही को छोड़कर जिसे घर अच्छा लगे तो दैव ही उसके प्रतिकूल है। यदि विधाता सब पर प्रसन्न हो तो वन में राम के समीप निवास का सौभाग्य प्राप्त हो।[5] उनकी दृष्टि में जीव का चरम

---

१ मा० २ २२ ६ (?)

२ मा० २ २१२ ७— 'मातहुँ वेद विदित कवि कहहीं।
राम बिमुख थलु नरक न लहहीं॥

३ मा० २ २५६.१— "तात बात फुरि राम कृपाहीं।
राम बिमुख सिधि सपनेहुँ नाहीं॥

४ मा २ २७७.१—२

५ मा० २ २८० १—२

कक्ष परमात्मा की सान्निध्य ही है। यहाँ कवि ने अयोध्या एवं जनकपुर के नर-नारियों से राम-सम्पर्क के अपूर्व सुख का उद्गार व्यक्त कराया है।

चित्रकूट के वशिष्ठ-राम-संवाद प्रसंग में तुलसीदास ने वशिष्ठ के मुख से राम प्रेम की महत्ता व्यक्त की है। जब राम ने वशिष्ठ से कहा कि अयोध्या और जनकपुर के लोग वनवास के कारण दुःखी हो रहे हैं तो वशिष्ठ ने उत्तर दिया— हे राम दोनों राज-समाजों के लिये तुम्हारे बिना सारे सुख की सामग्री नरक के समान है, क्योंकि आप प्राणों के प्राण जीवों के जीव और सुख के सुख हैं। जिन्हें आपको छोड़कर घर अच्छा लगता है उनसे विधाता प्रतिकूल है।[1] यहाँ तक कि सुख और कर्म धर्म जल जाय जहाँ राम के चरण कमलों में सद्भाव न हो। जहाँ राम का प्रेम प्रधान न हो वहाँ योग कुयोग और ज्ञान अज्ञान है।[2] हे राम! लोग आप ही के बिना दुःखी रहते हैं और आपको पाकर ही सुखी होते हैं। जिसके हृदय में जो कुछ रहता है उसे आपही जानते हैं।[3] यहाँ भी राम के सान्निध्य से सम्बन्धित उद्गार व्यक्त हुआ है।

चित्रकूट की अन्तिम सभा में राम भरत-संवाद के प्रसंग में भरत राम से नम्रता पूर्वक निवेदन कर रहे हैं कि हे नाथ! आपके लिए संसार के सारे दुःख-दाह सहना भला है और आपके बिना परम पद पाना भी व्यर्थ है। हे स्वामी! आप सुजान हैं, और सब के हृदय की बात जानते हैं तथा इस जन के हृदय की रुचि लालसा और रहन भी आपको मालूम है। हे शरणागतों को पालने वाले! आप सभी का पालन करेंगे और दोनों के लोगों का निर्वाह करेंगे। ऐसा मेरे हृदय में पूर्ण विश्वास है और आपको इस बात पर विचार करने से मुझे जरा भी चिन्ता नहीं रह जाती है।[4] यह एक आज्ञाकारी भक्त का अपने सेव्य के प्रति पूर्ण आत्म समर्पण का उद्गार है। वह अपने स्वामी के लिए संसार के सारे दुःखों को सहन के लिए सहर्ष तत्पर है और प्रभु से पराङ्मुख होकर परम पद को भी ठोकर मारने को तैयार है। उसे पूर्ण विश्वास है कि उसके स्वामी सबके हृदय की सारी गति जानने में समर्थ हैं। अतः वे अपने शरणागतों की रक्षा और पालन करेंगे और आराध्य एवं आराधक दोनों के सम्बन्धों का पूर्णतया निर्वाह भी करेंगे। भक्त का यह अद्भुत विश्वास और दृढ़ भरोसा भक्ति की आधार शिला है। भरत ने राम के सम्मुख गम्भीर मुद्रा में भक्तों को अनासक्त भाव से अपने आराध्य के आदेश-पालन की प्रेरणा प्रदान की है। आराध्य आराधक या सेव्य-सेवक भाव की यह स्थिति परमाह्लादपूर्ण तथा संयम जनक है।

---

१ मा० २ २९० ८—२ २९०

२ मा० २ २९१ १—२— "सो सुखु करमु धरमु जरि जाऊ।
जहँ न राम पद पंकज भाऊ॥
जोगु कुजोगु ग्यानु अग्यानू।
जहँ नहिं राम प्रेम परधानू॥"

३ मा २ २९१ ३

४ मा० २ ३१४ २—५

'अरण्य-काण्ड'[1]

गोस्वामी तुलसीदास ने भगवान् रामचन्द्र के अतुल पराक्रम का परिचय जयन्त शासन प्रसंग में दिया है। देवाधिपति इन्द्र का पुत्र जयन्त अपने ऐश्वर्य एवं बल से उन्मत्त होकर काक-रूप धारण कर सीता के चरणों में प्रहार करता है। राम ने उसके अनुचित कर्म से क्षुब्ध होकर एक तृण का बाण उसकी ओर फेंका जिसने ब्रह्मबाण का रूप धारण कर लिया। उस बाण से भयभीत होकर जयन्त अपने पिता इन्द्र के पास गया किन्तु राम से पराङ्मुख होने के कारण उसे वहाँ भी शरण नहीं मिली। वह ब्रह्मा और शिव के लोक में भी गया लेकिन किसी ने उसे बैठने तक के लिए भी नहीं कहा।[1] तुलसीदास जी ने यहाँ राम-द्रोहियों को सचेत करते हुए कहा है कि भगवत्पराङ्मुख की रक्षा कौन कर सकता है? उसके लिए अपनी माता ही मृत्यु पिता ही यमराज एवं सुधा ही विष बन जाती है। उसका परम मित्र उसके विरुद्ध सैकड़ों शत्रुओं के समान कार्य करता है। स्वयं गंगा भी उसके लिए वैतरणी बन जाती है और सारा ब्रह्माण्ड उसके लिए अग्नि से भी बढ़कर तप्त हो जाता है।[2] राम के इस अतुल पराक्रम का परिचय प्रदान कर तुलसी ने उनसे प्रतिकूल होने वालों को सावधान किया है और केवल उन्हीं के शरण में जाने की सलाह दी है। अन्त में जयन्त ने भी सर्वत्र से निराश होकर राम की ही शरण ली और अपने कुकृत्य का फल भोगकर जान बचायी। भक्तों को भगवान् में अधिक स्नेह करने और भगवत्पराङ्मुखों को सन्मार्ग ग्रहण करने के लिए तुलसी ने ऐसे उद्‌गार मानस में व्यक्त किये हैं

महर्षि अत्रि ने अपनी स्तुति के मध्य में निर्मत्सर होकर भगवान् की भक्ति करके भवार्णव से उद्धार पाने का उपदेश दिया है।[3] इस 'महाघोर संसार रिपु' पर विजय प्राप्त करने का यथार्थतः कोई दूसरा साधन है भी नहीं।

महर्षि अत्रि एवं उनकी पत्नी अनुसूया से विदा लेते समय भगवान् के समक्ष अत्रि की प्रकृति से प्रभावित होकर तुलसीदास के हृदय से कलिकाल की कराल्ता से मुक्ति पाने के लिए राम का अनन्य भक्त होने का उद्‌गार सहसा व्यक्त हो जाता है। उनका कथन है कि यह कठिन कलिकाल सब प्रकार के मलों का कोष है। इसमें धर्म ज्ञान योग और जप ये सारे साधन मनुष्य से हो नहीं पाते। इसलिये इस युग में दूसरों का सारा भरोसा त्यागकर

---

१ मा० ३ २ ३—३ २ ४ (पू०)

२ मा० ३ २ ४ (उ०)—८ —

……………… ………… रांम को सकइ राम कर द्रोही ॥
मातु मृत्यु पितु समन समाना। सुधा होइ बिष सुनु हरिजाना ॥
मित्र करइ सत रिपु कै करनी। ता कहँ बिबुध नदी बैतरनी ॥
सब जगु ताहि अनलहु ते ताता। जो रघुबीर बिमुख सुनु भ्राता ॥

३ मा० ३ ४ ११ १४

जो राम का भजन करते हैं वे ही यथार्थ मे चतुर प्राणी हैं ।[1] भक्ति की यह उक्ति बड़ी ही सशक्त है । कलियुग की करालता और भगवच्चरणों की शीतलता की अनुभूति जिसने नहीं की होगी उसके हृदय से ऐसे उद्गार निकल ही नहीं सकते । ऐसी प्रेरणादायक वाणी व्यक्त कर भक्त प्रवर तुलसीदास ने महान् लोकोपकार किया है ।

"मानस" में राम-प्रेम-विह्वल यथार्थ भक्त का स्वरूप महर्षि अगस्त्य के शिष्य सुतीक्ष्ण का ही अंकित किया गया है । तुलसी की दृष्टि में आदर्श भक्त कैसा होता है इसे देखना और समझना हो तो अरण्य-काण्ड के दसवें और ग्यारहवें दोहे का सविधि अध्ययन करना उचित होगा । तुलसी ने इस भक्त सुतीक्ष्ण के तीक्ष्ण एवं गम्भीर स्नेह का जिस कौशल से अंकन किया है वह किसी अन्य के लिए दुर्गम है । उदाहरणार्थ निम्नांकित पंक्तियों का अवलोकन करें—

'निर्भर प्रेम मगन मुनि ग्यानी । कहि न जाइ सो दसा भवानी ॥
दिसि अरु बिदिसि पंथ नहिं सूझा । को मैं चलेउँ कहाँ नहिं बूझा ॥
कबहुँक फिरि पाछें पुनि जाई । कबहुँक नृत्य करइ गुन गाई ॥
अबिरल प्रेम भगति मुनि पाई । प्रभु देखैं तरु ओट लुकाई ॥
अतिसय प्रीति देखि रघुबीरा । प्रगटे हृदयँ हरन भव भीरा ॥
मुनि मग माझ अचल होइ बैसा । पुलक सरीर पनस फल जैसा ॥
तब रघुनाथ निकट चलि आए । देखि दसा निज जन मन भाए ॥
मुनिहि राम बहु भाँति जगावा । जाग न ध्यान जनित सुख पावा ॥
भूप रूप तब राम दुरावा । हृदयँ चतुर्भुज रूप देखावा ॥
मुनि अकुलाइ उठा तब कैसे । बिकल हीन मनि फनिबर जैसें ॥
आगे देखि राम तन स्यामा । सीता अनुज सहित सुख धामा ॥
परेउ लकुट इव चरनन्हि लागी । प्रेम मगन मुनिबर बड़भागी ॥"[2]

इस सुतीक्ष्ण ने भगवान् के बार-बार आग्रह करने पर भी अपने लिए इसके अतिरिक्त और कोई वरदान नहीं माँगा कि कमल नयन कौशलपति राम उसके हृदय में सदा निवास करें और वह उन्हें सदैव अपना सेव्य समझें तथा सेव्य-सेवक भाव को कभी न भूलें ।[3]

किसी विवशता के कारण राम से विरोध करने पर भी राम भक्त उनके स्नेह को नहीं भूलता । रावण के साथ राम को छलने के लिए जाते हुए मारीच के हृदय में भी राम भक्ति की धारा उमड़ रही थी । वह सोच रहा था कि वह सीता लक्ष्मण समेत राम का दर्शन करेगा और अपने नैन सफल करेगा । जिस भगवान् का क्रोध भी जीवों को मोक्ष देते

---

१ मा ९९ (ख)— 'कठिन काल मल कोस धर्म न ग्यान न जोग जप ।
परिहरि सकल भरोस रामहि भजहिं ते चतुर नर ॥

२ मा० ३ १० १ –२१

३ मा० ३ ११ २०–२१

वाला है और जिनके प्रति की गयी भक्ति उस भक्त को भी वश में करने वाली है वे सुख के समुद्र भगवान् मुझे बाण से मारेंगे। मेरे पीछे धनुष-बाण लेकर दौड़ते हुए रामचन्द्र के विश्व-मोहन स्वरूप का मैं पुनः पुनः दर्शन करूँगा। अतः मेरे समान धन्य और कौन है?[1] इस उद्गार में कई विशेषताएँ हैं। एक तो यह कि मारीच राक्षस वंश का था जो जन्मजात आर्यों से विरोध रखता था। दूसरे राम से युद्ध कर वह पहले परास्त भी हो चुका था। तीसरे यह कि राम को प्रवंचित करने के लिये उनके समीप जा रहा था किन्तु ऐसी परिस्थिति में भी राम के चरणों में इसका यह अलौकिक प्रेम भगवद्भक्ति की महिमा की पराकाष्ठा है। सच तो यह है कि राम प्रेम की बाढ़ में मन के सारे दुर्गुण सहसा प्रवाहित हो जाते हैं। यह प्रसंग इस तथ्य का ज्वलन्त प्रमाण है।

जटायु राम की स्तुति करते हुए "राम मन्त्र" की महिमा का वर्णन करता है और उसे असंख्य सन्तों के लिए मनोरंजन बतलाता है। राम के स्वरूप को उसने "कामादि खल दल" को नष्ट करने वाला और निष्काम योगियों के लिए प्रिय कहा है।[2] गृध्रराज की दृष्टि में भी 'राम मन्त्र' लोकोपकारक होने के कारण असंख्य सन्तों को प्रिय है। तब फिर मनुष्यों की दृष्टि में क्यों नहीं होना चाहिए? इस प्रसंग से यही बात स्पष्ट होती है।

अधमाधम कुल में उत्पन्न जटायु को भी उसके प्रेम की महिमा से प्रभावित होकर भगवान् ने उसे योगी-दुर्लभ अपने लोक में स्थान दिया।[3] इससे उनके चित्त की कोमलता प्रकट होती है। ऐसे उदार एवं कोमल प्रभु को त्यागकर जो लोग विषयानुरागी होते हैं वे लोग अवश्य ही अभागे हैं।[4] मानसकार ने जटायु राम-मिलन प्रसंग में विषयानुराग की तुच्छता और राम-भक्ति की महानता प्रदर्शित करने के लिए यह उद्गार व्यक्त किया है।

स्वयं भगवान् राम ने शबरी[5] को आश्वासन देते हुए भक्त की जाति-पाँति कुल-धर्म धन बल और परिजन इत्यादि की तुच्छता द्योतित करने के लिए[6] यह उद्गार व्यक्त किया है कि इन सारी चीजों के रहते हुए भी भक्तिहीन मनुष्य वैसा ही है जैसा बिना जल के बादल।[7] यथार्थ में भक्ति के लिए उच्च कुल और ऐश्वर्य की कोई आवश्यकता नहीं है। अधम कुलोत्पन्न पर भक्त शबरी के योगाग्नि द्वारा शरीर त्यागकर भगवान् के चरणों में लीन होने पर तुलसी मानव-जाति को यह सुनहली सीख दे रहे हैं कि हे लोगो! संसार के विविध कर्म और अधर्म तथा अनेक मत-मतान्तर ये सभी शोकप्रद हैं। इन्हें त्याग दो। मेरे

---

१ मा ३।२६।६-३।२६
२ मा० ३।३२।६-१०
३ मा ३।३३।१-२
४ मा० ३।३३।१— सुनहु उमा ते लोग अभागी। हरि तजि होहिं बिषय अनुरागी॥
५ मा० ३।३२-४
६ मा ३।३५।२
७ मा ३।३५।६— 'भगति हीन नर सोहइ कैसा। बिनु जल बारिद देखिअ जैसा॥

कथन पर विश्वास कर रामचन्द्र के चरणों में अनुरक्त हो जाओ।[1] तुलसी के इस उद्गार में भगवान् कृष्ण के— 'सब धर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।'[2] इस गीतोक्त उद्गार की ध्वनि प्रकट हो रही है। इसी प्रसंग से तुलसी ने अपने सम्बन्ध में भी यह अभिमत व्यक्त किया है कि जातिहीन और पापमय जन्म से युक्त शबरी जैसी नारी को जिस प्रभु ने मुक्त कर दिया उसको भूलकर यथार्थ सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती।[3] शबरी प्रकरण के इन उद्गारों से तुलसी ने अन्यों को ही नहीं अपने आप को भी राम भक्ति में तल्लीन रहने का उपदेश दिया है।

पम्पासर का सौन्दर्य वर्णन करते हुए विरही राम के हृदय में काम की चतुरंगिनी सेना का ध्यान हो जाता है। तुलसीदास जी कहते है कि भगवान् का यह काम स्मरण कामियों की दीनता दिखाने के लिए ही है। स्वयं वे क्यों काम के वश में आवेंगे। वे तो त्रिगुणातीत चराचर के स्वामी एवं अन्तर्यामी हैं। क्रोध काम लोभ मद और माया ये तो उन्हीं की कृपा से छूटते हैं। यदि इन्द्रजाल करने वाला नट किसी पर प्रसन्न हो जाय तो वह मनुष्य उसके इन्द्रजाल के भ्रम में नहीं पड़ता।[4] इसी प्रकार इस चराचर जगत् के रचियता राम यदि किसी पर प्रसन्न हो जाय तो वह मनुष्य उनकी माया के वश में नहीं पड़ता। यहाँ शिवजी पार्वती से कहते है कि—हे पार्वती! मैं अपनी अनुभूति की बात कहता हूँ कि इस जगत् में भगवान् का भजन ही सत्य है। सारा जगत् तो स्वप्न तुल्य है।[5] इस उद्गार में तुलसी ने जगत् की असत्यता और भक्ति की सत्यता सिद्ध की है।

अरण्य काण्ड के नारद-राम-संवाद प्रसंग में राम के मुख से अपने विवाह रोकने के कारणों को सुनकर और उससे अपना परमहित समझकर प्रसन्न और पुलकित हो नारद आँखों में आँसू भरकर कह रहे हैं कि भला कहिये तो सेवकों पर इस ढंग की ममता और प्रीति किस स्वामी की है?[6] सारे भ्रमों को छोड़कर जो राम जैसे प्रभु का भजन नहीं करते वे मनुष्य ज्ञान रंक मन्द बुद्धि और अभागे हैं।[7] राम भक्ति से वंचित मनुष्यों की भर्त्सना करना ही इस उद्गार का लक्ष्य है।

अरण्य काण्ड के अन्त में नारद मुनि से भगवान् ने जो सज्जनों के लक्षण कहे हैं उनको लक्ष्य कर तुलसीदास जी अपने आराध्य की भक्त वत्सलता का वर्णन करते हुए कहते

---

१ मा॰ ३ ३३ १६–१७— 'नर बिबिध कर्म अधम बहुमत सोकप्रद सब त्यागहू। बिस्वास करि कह दास तुलसी राम पद अनुरागहू॥

२ गीता अ॰ १८ श्लो॰ ६६ (पू॰)

३ मा ३ ३५— "जाति हीन अघ जन्म महि मुक्त कीन्हि असि नारि। महामन्द मन सुख चहसि ऐसे प्रभुहि बिसारि॥

४ मा॰ ३ ३९.३–४

५ मा॰ ३ ३९.५—"उमा कहउँ मैं अनुभव अपना। सत हरि भजनु जगत सब सपना॥

६ मा॰ ३ ४२ २

७ मा॰ ३ ४२ ३—"जे न भजहिं अस प्रभु भ्रम त्यागी। ग्यान रंक नर मन्द अभागी॥

है कि 'राम ऐसे दीनबन्धु और कृपालु हैं कि वे स्वयं अपने भक्तों के गुणों का अपने मुख से कहते हैं।[१] वे धन्य हैं जो सारी आशाओं को छोड़कर भगवत्प्रेम में पगे रहते हैं।"[२] इस उद्गार में भगवान् राम की भक्तवत्सलता और दीनबन्धुता का चित्रण कर तुलसी ने लोगों को राम भक्ति की ओर आकृष्ट करने का प्रयत्न किया है।

अरण्य काण्ड के अन्तिम दोहे में तुलसी ने नारी छवि में छके हुए मानवों को कामादि त्यागकर भगवान् राम के चरणों में प्रेम करने का आदेश दिया है। उन्होंने नारी के शरीर की उपमा दीपशिखा से दी है और मानव-मन की शलभ से। और काम तथा मद को छोड़कर भगवान् का भजन तथा सदा सत्संग करने का उपदेश दिया है।[३] कवि के इस उद्गार में नारी-छवि की अपार शक्ति ध्वनित होती है। जैसे पतंग दीपशिखा पर पड़कर प्रायः भस्मीभूत ही हो जाते हैं उसी तरह सकाम मानव-मन नारी-छवि-रूपी-दीपक की लपट से बच नहीं पाते। उससे बचने के लिए अलौकिक धैर्य असीम साहस और उत्कट दृढ़ता की आवश्यकता है। तुलसीदास मानव-मन को उसी साहस और दृढ़ता को अपना कर राम भक्ति में प्रवृत्त होने के लिए आमन्त्रित करते हैं।

"किष्किन्धा-काण्ड"

किष्किन्धा-काण्ड के प्रारम्भिक संस्कृत मंगलाचरण की अन्तिम पंक्ति में तुलसी ने उन पुण्य पुरुषों को धन्य कहा है जो सर्वदा श्रीरामनामामृत का पान करते हैं।[४] यह राम नामामृत वेद रूपी समुद्र से उत्पन्न हुआ है। कलिकाल के मलों को ध्वस्त करने वाला है अविकारी है और सर्वदा श्रीमान् शम्भु के सिर पर विराजमान चन्द्रमा में शोभित रहता है। संसार के सारे रोगों का यह औषध है। सब के लिए सुखकर है और श्रीजानकी जी का तो जीवन ही है।[५] तुलसी ने अपने इस उद्गार में बड़े कौशल से राम-नाम जप की महिमा का उल्लेख किया है। इस अलौकिक अमृत में सामान्य अमृत से अत्यधिक विशेषता है। यह खारे समुद्र से उत्पन्न नहीं हुआ है वरन् वेद रूपी समुद्र से उत्पन्न हुआ है। कलिकाल के सारे मलों को दूर करने के लिए यह औषध तुल्य है। इसमें कभी कोई विकार आ नहीं सकता। सचराचर त्रिलोक के स्वामी शिव भी अपने शिरस्थ चन्द्रमा में इसे रखा करते हैं। संसार के सारे रोगों का यह औषध है। यह प्राणिमात्र के लिए सुखकर है और माता जानकी का तो जीवन प्राण ही है। ऐसे अलौकिक अमृत को सर्वदा पीने वाले लोग तो अवश्य ही धन्य एवं विश्ववन्द्य हैं। तुलसी ने राम नामामृत की सारी विशेषताएं स्पष्ट कर

---

१ मा० ३।४१।१०

२ मा ३।४६।१२— 'ते धन्य तुलसी दास आस बिहाइ जे हरि रँग रँए॥"

३ मा ३।४१ (क)

४ मा ४ श्लो० २४— 'धन्यास्ते कृतिनः पिबन्ति सततं श्रीरामनामामृतम्।

५ मा० ४ श्लो २

कलि द्वारा प्रपीड़ित एवं सांसारिक रोगों से ग्रस्त मानवों को इस ओर आकृष्ट करने का स्तुत्य प्रयास किया है।

किष्किन्धाधिपति सुग्रीव अंगद हनुमान आदि वानरों को सीतान्वेषण के लिए दक्षिण की ओर भेजते हुए उनके शरीर धारण करने की सफलता की ओर संकेत करते हैं और कहते हैं कि हे भाई ! मानव शरीर धारण करने का तो यही फल है कि सारी काम नाओं का त्याग कर राम का भजन किया जाय। वही पुरुष गुणज्ञ है और वही परम भाग्य शाली है जो राम के चरणों में अनुरक्त है।[1] इस उद्गार में तुलसी ने मानव शरीर धारण करने के वास्तविक लक्ष्य का उद्घाटन किया है। इससे ध्वनि यह निकलती है कि जो इस लक्ष्य की पूर्ति नहीं करते वे महान् अभागे हैं।

"सुन्दर-काण्ड

यहाँ सुन्दर-काण्ड की संस्कृत वन्दना में तुलसी ने भगवान् राम के चरणों में अपने अनन्य प्रेम की अभिव्यक्ति की है। वे भगवान् को सम्बोधित कर कहते हैं कि हे राम ! मेरे हृदय में कोई दूसरी स्पृहा नहीं है। यह बात मैं सत्य कहता हूँ। यदि यह सत्य न हो तो आपसे किसी प्रकार छिपी नहीं रह सकती क्योंकि आप सभी प्राणियों की अन्तरात्मा हैं। वह स्पृहा केवल इतनी ही है कि आप अपने पाद-पद्मों में भक्ति अविरल एवं अमल अनुराग दीजिए। किन्तु उसके स्थायित्व के लिए एक वरदान और भी देने की कृपा कीजिए। मेरे मानस में कामादि अनेक दोष घुस आये हैं। इसलिए उसे स्वच्छ बनाकर अपनी भक्ति के निवास योग्य बना दीजिए।[2] तुलसीदास ने इस तथ्य का साक्षात्कार कर लिया था कि निष्कलुष मानस में ही भगवान् की भक्ति रह सकती है। इसीलिए उन्होंने अन्यत्र भी कहा है—

"जहाँ राम तह काम नहिं जहाँ काम नहिं राम।
तुलसी कबहीं होत नहिं रविरजनी इक ठाम ॥"[3]

यही भाव बड़े सुन्दर ढंग से विनयपत्रिका में भी व्यक्त किया गया है।[4]

सुन्दर काण्ड के हनुमान्-रावण संवाद में तुलसी ने फिर हृदय को निष्कलुष बना कर राम के चरणों में लगाने की बात कही है। अन्तर केवल इतना ही है कि जहाँ पहले प्रसंग पर कामादि दोष त्यागने पर अधिक बल दिया गया था वहाँ इस प्रसंग में "मोहमूल बहु सूल प्रद" अभिमान त्याग करने पर जोर दिया गया है। भक्त प्रवर हनुमान् परब्रह्म राम से विरोध न करने की बात समझाते हुए रावण से कहते हैं कि—हे रावण ! मद मोह त्याग कर अपने हृदय में विचार कर देखो। राम नाम के बिना वाणी की शोभा ही नहीं होती

---

१ मा० ४।२३।१—७
"येहि सरे कर यह फल भाई। भजिअ राम सब काम बिहाई ॥
सोइ गुनग्य सोई बड़भागी। जो रघुबीर चरन अनुरागी ॥"

२ मा० ५ श्लो० २

३ तुलसी सतसई प्रथम सर्ग दो० ४४

४ विनयपत्रिका पद १२५

हे देवरिपु ! कोई सुन्दर नारी आभूषणों से भूषित होने पर भी क्या वस्त्र के बिना शोभा पा सकती है ? राम से पराङ्मुख लोगों की सम्पत्ति और प्रभुता यदि है तो नष्ट हो जायगी और पाने पर भी उनका पाना व्यर्थ है। जिन नदी का मूल स्रोत नहीं होता वे वर्षा बीत जाने पर फिर सूख जाती हैं। अर्थात् सारी सम्पत्तियों के मूल राम हैं जो सजल मूल के समान हैं। जो सम्पत्तिशाली उनकी कृपा पर निर्भर नहीं करता सम्पत्ति शीघ्र नष्ट हो जाती है। हे रावण ! सुनो मैं प्रण रोपकर कहता हूँ यदि राम विमुख हो जायें तो तुम्हें ब्रह्माण्ड में कोई भी रक्षक नहीं मिलेगा। हजारों शिव विष्णु और ब्रह्मा राम के द्रोही की रक्षा नहीं कर सकते। इसलिए मोह से उत्पन्न और बहुत तरह की पीड़ा देने वाले अभिमान को तुम छोड़ दो और रघुकुल श्रेष्ठ एवं करुणा-सागर भगवान् राम का भजन करो।[1] यहाँ हनुमान् के मुख से कवि ने राम द्रोहियों के अकल्याण की चर्चा करायी है। रावण त्रिलोक विजयी सम्राट् था। उसके पास अतुल सम्पत्ति थी। वह शंकर का परम भक्त था और कठोर तपस्या करके उसने ब्रह्मा को भी प्रसन्न कर लिया था किन्तु हनुमान् कहते हैं कि राम से पराङ्मुख होने पर न तो तुम्हारी सम्पत्ति बच सकती है और न तुम्हें किसी की शरण प्राप्त हो सकती है। यह सत्य है कि तुमने ब्रह्मा और शिव को प्रसन्न कर लिया है। पर उनकी बात कौन कहे स्वयं विष्णु भी राम से विग्रह करने पर तुम्हारी रक्षा करने में असमर्थ होंगे। इस प्रकार में सम्पत्ति और रक्षा के सर्वश्रेष्ठ आधार भगवान् राम ही घोषित किये गये हैं। एक नहीं हजारों शंकर, विष्णु और ब्रह्मा से भगवान् राम अधिक समर्थ कहे गए हैं। तुलसीदास जी अपने इष्टदेव के अनुराग की उमंग में प्रायः यह भूल जाते हैं कि ब्रह्मा विष्णु और शंकर भगवान् राम से पृथक तत्त्व नहीं हैं। वे उन्हीं की सगुण मूर्तियाँ हैं जिन्हें क्रमशः सृष्टि पालन एवं संहार का कार्य सौंपा गया है। विशेषतः भगवान् विष्णु के वैदिक स्वरूप और राम में तो कोई अन्तर ही नहीं है।

परम राम भक्त विभीषण के मुख से तुलसी ने राम भक्ति का संदेश बड़े ही मार्मिक शब्दों में व्यक्त किया है। रावण के कल्याण के लिए पुलस्त्य ऋषि ने अपने शिष्य के द्वारा विभीषण से वे बातें कहला दी थीं जिन्हें उन्होंने सुअवसर पाकर उससे निवेदन किया।[2] विभीषण ने कहा हे स्वामी ! काम क्रोध मद और लोभ ये नरक के मार्ग हैं। इन सबों को त्यागकर उस रामचन्द्र का भजन करना चाहिए जिनकी उपासना संत किया करते हैं। हे भाई ! राम मनुष्य के राजा नहीं हैं। वे निखिल भुवनों के अधीश्वर और कालों के भी काल हैं। वे ब्रह्म अनामय अज भगवन्त व्यापक अजित अनादि और अनंत हैं। वे कृपासिन्धु, गो ब्राह्मण गाय एवं देवताओं के हित के लिए मनुष्य का शरीर धारण किये हुए हैं वे भक्तों को प्रसन्न करने वाले खलों के समूहों को नष्ट करने वाले तथा वेद धर्म के रक्षक हैं। शरणागतों के दुःख को दूर करने वाले उस रामचन्द्र को समय बैर त्याग कर सिर झुकाना चाहिए। अतः हे स्वामी ! राम को सीता दे दीजिए और अकारण प्रेम करने वाले राम का भजन कीजिए। अपनी शरण में आने पर भगवान् राम उसका भी त्याग

१ मा० ५ २३ १—५ २३
२ मा० ५ ३८ (ख)

नहीं करते जिसको विश्वद्रोह करने का पाप लगा रहता है। जिसका नाम ही आधिभौतिक आधिदैहिक एवं आधिदैविक त्रितापों को समूल नष्ट करने वाला है, हे रावण ! वही स्वामी के रूप में प्रत्यक्ष हुए हैं इसको समझो। मैं बार-बार तुम्हारे चरणों पर गिरता हूँ और विनय करता हूँ कि मान मोह और मद त्यागकर कौशलेश्वर राम का भजन करो।[1] तुलसीदास ने विभीषण के इस उद्गार द्वारा भक्तों के समक्ष भगवान् राम के यथार्थ स्वरूप का चित्रण किया है और सारी कामनाएं त्याग कर उनमें अनुरक्त होने की प्रेरणा प्रदान की है।

सकाधिपति रावण से सम्बन्ध-विच्छेद कर भगवान राम के शरणागत विभीषण उनके कुशल प्रश्न करने पर उत्तर देते हैं—हे भगवान्। जीव की तब तक कुशल नहीं और उसके मन में तब तक स्वप्न में भी विश्राम नहीं जब तक शोकों का घर काम को त्याग कर वह राम का भजन नहीं करता।[2] राम का भजन जब तक न किया जाय तब तक लोभ मोह, मत्सर, मद और अभिमान आदि अनेक दुष्ट हृदय में निवास करते हैं। जब तक भगवान् रामचन्द्र का प्रताप रूपी सूर्य हृदय में उदित नहीं होता तब तक उसमें ममता रूपी तरुण रात्रि का अन्धकार छाया रहता है जो कि राग-द्वेष रूपी उलूक को सुखकर होता है। किन्तु आज श्रीचरणों के दर्शन से भारी कुशल हुई और मेरे सारे भय दूर हो गए।[3] प्रस्तुत उद्गार में भगवान् के अभाव में जीव के हृदय में व्याप्त अन्धकार और उसमें सुख पूर्वक विचरण करने वाले खलों की चर्चा है। यहाँ भी यही सिद्धान्त व्यक्त किया गया है कि भगवान् के चरणों में चित्त लगाये बिना हृदय के सारे मल दूर नहीं हो सकते। अतः राम भक्ति ही सर्वथा करणीय है।

विभीषण की शरणागति के अन्तिम प्रसंग में तुलसी ने अपने उद्गारों में तीन बातें व्यक्त की हैं। भगवान् भक्त वत्सल हैं और उन्होंने विभीषण को अपनी शरण में लेकर रावण की क्रोधाग्नि से उसकी रक्षा की और उसे ऐसा राज्य दिया जो कभी खण्डित न हो सके।[4] दूसरी बात यह है कि अवढरदानी शिव की उदारता भी राम की उदारता के समक्ष नगण्य सी है, क्योंकि रावण को उन्होंने जो सम्पत्ति दसों सिर समर्पित करने पर दी थी वह सम्पत्ति रामचन्द्र ने विभीषण के शरणागत होते ही बड़े संकोच से दी।[5] अर्थात् देते हुए उनके मन में यह ग्लानि हुई कि मैंने इसे कुछ नहीं दिया। तीसरी बात यह है कि इतने बड़े उदार प्रभु को छोड़कर जो लोग किसी अन्य देव की भक्ति करते हैं वे बिना सींग-पूंछ के पशु हैं।[6] तुलसी ने यहाँ अपने इष्टदेव की महिमा-वर्णन करने की उमंग की पराकाष्ठा

---

१ मा ५।३८—५।३९ (क)
२ मा० ५।४२—"तब लगि कुसल न जीव कहुं सपनेहुँ मन बिश्राम।
जब लगि भजत न राम कहुं सोक धाम तजि काम।।"
३ मा ५।४७।१—५
४ मा० ५।४६ (क)
५ मा० ५।४६ (ख)
६ मा ५।५ १—
"अस प्रभु छाड़ि भजहिं जे आना। ते नर पसु बिनु पूंछ बिषाना।।"

कर दी है। भगवान् रामचन्द्र की शक्ति, उदारता, भक्तवत्सलता के साथ-साथ उनकी भक्ति की आवश्यकता का इस उद्‌गार में बड़े ही प्रभावोत्पादक शब्दों में अंकन हुआ है।

सुन्दर-काण्ड के उपसंहार में तुलसी ने भगवान् रामचन्द्र के कीर्ति-कीर्तन के महत्व का वर्णन किया है। वे कहते हैं कि राम के गुण-गण सुख भवन एवं संशय शमन हैं। इसीलिए वे अपने मन को सभी आशा भरोसा त्याग कर उन सबका गान करने की प्रेरणा देते हैं। इसके पश्चात् वे एक सामान्य सिद्धान्त उपस्थित करते हैं कि रामचन्द्र के गुणों का गान "सकल सुमंगल दायक" है। जो लोग आदर के साथ उन्हें सुनते हैं वे बिना जलयान के भी भव-सागर पार कर जाते हैं।[1] तात्पर्य यह है कि रामचन्द्र का गुण-गान सुखप्रद संदेह-नाशक एवं सभी सुमंगलों का दाता है। अतः निष्काम एवं निश्छल हृदय से उनके कीर्तन में अनुरक्त होने पर मनुष्य अनायास भवसागर पार कर जाता है।

लंका-काण्ड

लंका-काण्ड के प्रारम्भिक दोहे में महावीर कालस्वरूप भगवान् रामचन्द्र का एक महान् धनुर्धर के रूप में चित्रण हुआ है। यथार्थ में वीरता का उद्‌गम-स्थल कालों के भी काल भगवान् राम ही हैं। कवि कहता है कि अरे मन! उस भगवान् राम का भजन क्यों नहीं करता, जिसका धनुष स्वयं काल है और परमाणु निमिष, लव, वर्ष युग और कल्प जिसके प्रचण्ड बाण हैं।[2] वस्तुतः लंका-काण्ड के प्रारम्भ में भगवान राम की इसी रूप में वन्दना उपयुक्त थी। महाभारत के प्रारम्भ में भगवान कृष्ण ने भी अर्जुन के समक्ष अपना यही रूप प्रकट कर कहा था—

"कालोऽस्मि लोक क्षय कृत्प्रवृद्धो लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।"[3]

अर्थात् मैं लोकों का क्षय करने वाला बढ़ा हुआ "काल" हूँ। यहाँ लोकों का संहार करने के लिए प्रवृत्त हूँ। कोटि-कोटि राक्षसवाहिनी का विध्वंस करने के लिए उद्यत भगवान राम की वीरता का इससे अधिक लोमहर्षक वर्णन हो नहीं सकता था। इस उद्‌गार में यह भाव निहित है कि भगवान केवल स्रष्टा, पालक या नियामक ही नहीं हैं वरन् अद्वितीय संहारक भी हैं। इनमें केवल माधुर्य ही नहीं है, विकरालता भी है। वे संसार के सभी गुणों का मूल एवं सभी भावों के स्रोत हैं। वे केवल सत्य ही नहीं, शिव ही नहीं

१ मा० ५।६०।११—५।६०—

"सुख भवन संसय समन दवन बिषाद रघुपति गुनगना।
तजि सकल आस भरोस गावहि सुनहि संतत सठ मना॥
सकल सुमंगलदायक रघुनायक गुन गान।
सादर सुनहिं ते तरहिं भव सिंधु बिना जल जान॥"

२ मा० ६ दो० १—"लव निमेष परमानु जुग बरष कलप सर चंड।
भजसि न मन तेहि राम को कालु जासु को दंड॥"

३ गीता, अ० ११, श्लो० ३२ (पू०)

और न केवल सौन्दर्य-मूर्ति ही हैं वरन उनमें एक ऐसी विकरालता एवं भयंकरता भी है जिससे दैत्यागण भयभीत और देव, मानव तथा अन्य चराचर सृष्टि आश्वस्त रहती है। उनकी प्रचंड शक्ति अपरिमित, अजय और अद्वितीय है। अतएव वे समग्र चराचर सृष्टि से सर्वथा वन्दनीय एवं सेव्य हैं।

सेतुबन्ध-प्रसंग के अन्त में महाकवि तुलसीदास के हृदय से राम की अलौकिक शक्ति के प्रति अद्भुत विश्वास का उद्गार फूट पड़ता है। पत्थर की तरह भारी पदार्थ भी यदि समुद्र में तैरने लगे तो इससे बढ़कर आश्चर्य का विषय क्या हो सकता है? किन्तु यह कार्य भारत से लंका तक सेतु निर्माण के समय में प्रत्यक्ष देखा गया था। और यह कार्य सेतु निर्माण कराने वाले भगवान राम की महिमा से ही हुआ। तुलसी का कथन है कि ऐसे महिमामय भगवान को छोड़कर जो दूसरे देवों की आराधना में लग जाते हैं वे सचमुच ही बुद्धिहीन हैं।[1]

रावण की सभा में राम की निन्दा सुनकर अंगद के हृदय में बड़ा क्रोध उत्पन्न हुआ। इस क्रोध के आवेश में अंगद ने अपने दोनों हाथ पृथ्वी पर पटक दिये जिससे रावण के मुकुट उसके सिर से नीचे गिर पड़े। उनमें से चार अंगद ने राम की ओर फेंक दिया और क्रुद्ध होकर पृथ्वी पर अपना चरण टेक कर यह कठिन प्रण किया कि यदि रावण उसके चरण को पृथ्वी से टाल सके तो राम लौट जायेंगे और वह सीता को हार जायगा।[2] किन्तु रावण के सभी वीर प्रयत्न करके थक गये पर उसके चरण पृथ्वी तल से नहीं टले।[3] रावण भी अंगद के व्यंग-वचनों को सुनकर तेज हीन एवं लज्जित होकर अपने सिंहासन पर बैठ गया।[4] इस घटना के वर्णन के चमत्कृत होकर शिवजी पार्वती जी से कह रहे हैं कि राम जगदात्मा और सभी प्राणियों के प्राणों के पति हैं उनसे पराङ्मुख रहकर रावण कैसे विश्राम पा सकता था?[5] राम के भृकुटी-विलास से विश्व उत्पन्न होकर पुनः नष्ट हो जाता है और जो तृण से वज्र और वज्र से तृण कर सकते हैं उनके दूत का प्रण कैसे टल सकता था।[6] तुलसीदास ने यहाँ उमा-शंकर संवाद के प्रसंग में राम के अलौकिक स्वरूप एवं शक्ति का उद्गार प्रकट कर लोगों को उनसे पराङ्मुख नहीं होने का परामर्श दिया है।

वानर-निशिचर-युद्ध में निहित निशिचरों की मुक्ति से चमत्कृत होकर भगवान की कोमलचित्तता करुणाशीलता एवं वैर भाव से भी भजन और नाम-स्मरण का महत्व प्रदर्शित

---

१ मा० ६।३— "श्री रघुबीर प्रताप ते सिंधु तरे पाषान।
ते मतिमंद जे राम तजि भजहिं जाइ प्रभु आन॥"

२ मा० ६।३४।८—९

३ मा० ६।३४।११—१२

४ मा० ६।३५।२—३

५ मा० ६।३५।६— "जगदातमा प्रानपति रामा। तासु बिमुख किमि लह बिश्रामा॥"

६ मा० ६।३५।७—८

करते हुए[1] शिव का पार्वती से कथन है कि भगवान् राम का ऐसा शील सुनकर भी जो उनकी भक्ति नहीं करते वे मनुष्य बुद्धिहीन और परम अभागे हैं।[2] यहां तुलसी ने वैर भाव से भगवान का स्मरण करने वाले राक्षसों की मुक्ति की घोषणा शिव के मुख से निष्प्रमाण नहीं कराई है। श्रीमद्भागवत में भी शुकदेव जी ने राजा परीक्षित से यही बात कही है।[3]

आगे चलकर राम रावण संग्राम में निहित राक्षसों के मुक्त होने की चर्चा करते हुए शंकर पुनः पार्वती से कहते हैं कि जो निशिचर अधम तथा पाप की खान हैं उनको भी "निजधाम" देने वाले राम की जो भक्ति नहीं करते वे मनुष्य सर्वथा मतिमंद हैं।[4] यह उद्गार उपर्युक्त से सर्वथा अभिन्न है। अतः विस्तार भय से इसकी विशेष व्याख्या का लोभ संवरण किया जा रहा है।

भगवान राम के नाग-पाश से बांध जाने पर शंकर पार्वती से कहते हैं कि जिनका नाम जप करके मनुष्य कठोर भव-पाश से मुक्त होते हैं वे भगवान क्षुद्र नाग-पाश से कैसे बांधे जा सकते हैं?[5] अतः भगवान के सगुण चरित्रों का निर्णय बुद्धि और वाणी से करना असम्भव है।[6] इस तथ्य को हृदयंगम कर विरक्त जन सारे तर्कों को त्यागकर भगवान का भजन करते हैं।[7] इस उद्गार में भगवद्भक्ति के लिए तुलसी ने विश्वास और प्रेम पर अधिक बल दिया है और भक्ति-मार्ग में तर्क को सर्वथा अनावश्यक घोषित किया है।

रावण के मारे जाने पर ब्रह्मा राम की स्तुति करते हुए कहते हैं कि हे प्रभु! मुझसे तो अधिक कृतकृत्य ये वानर ही हैं जो सादर आपके मुखारविन्द का दर्शन कर रहे हैं। किन्तु मेरे देह शरीर को भी धिक्कार है जो मैं आपकी भक्ति के बिना इस सृष्टि के व्यापार में भटक रहा हूं।[8] इस उद्गार में तुलसी का यह मत स्पष्ट ध्वनित होता है कि भक्त वानर भी अच्छे हैं किन्तु भक्तिहीन ब्रह्मा नहीं। मानस में ही अन्यत्र उन्होंने अपने आराध्य राम के मुख से भी यही बात कहलायी है।[9]

रावण-वध के पश्चात् अयोध्या जाते समय मार्ग में निषाद राम मिलन प्रसंग में तुलसी ने यह उद्गार व्यक्त किया है कि जो प्रभु सब तरह से पतित निषादराज को भक्त

---

१ मा ६।४२।४—५

२ मा ६।४४।१— अस प्रभु सुनि न भजहिं भ्रम त्यागी।
नर मतिमंद ते परम अभागी ॥"

३ श्रीमद्भागवत स्कंध १० अ० २९, श्लो० १३—१५

४ मा ६।७१ 'निसिचर अधम मलाकर ताहि दीन्ह निज धाम।
गिरिजा ते नर मंदमति जे न भजहिं श्रीराम ॥

५ मा० ६।७३

६ मा० ६।७४।१

७ मा० ६।७४।१— 'अस बिचारि जे तग्य बिरागी। रामहिं भजहिं तर्क सब त्यागी ॥"

८ मा० ६।१११।१७—१८

९ मा ७।८६।९— 'भगति हीन बिरंचि किन होई। सब जीवहु सम प्रिय मोहि सोई ॥

जानकर अपने हृदय से आलिंगन कर लेते हैं उस परम कृपालु प्रभु को मैं मोह के कारण सर्वथा विस्मृत कर चुका हूँ।[1] इस उद्गार में प्रकारान्तर से अपनी भर्त्सना करते हुए तुलसी लोगों को राम भक्ति के लिए आमंत्रित कर रहे हैं।

गोस्वामी जी लंका-काण्ड के अन्तिम दोहे में अपने मन को समझाते हुए कहते हैं कि यह कलिकाल पापों का घर है और इसमें भगवान राम के नाम को छोड़कर कोई और सहारा नहीं है।[2] रामनाम के संबंध में तुलसी ने अपने ग्रन्थों में इस प्रकार के अनेक भाव व्यक्त किये हैं।[3] यथार्थ में उन्होंने नामी से नाम को ही अधिक महत्व प्रदान किया है।[4]

"उत्तर-काण्ड"

तुलसी ने 'मानस' के उत्तर-काण्ड में रामराज्याभिषेक के पश्चात् सर्वप्रथम वेदों से उनकी स्तुति करायी है। वेद परमात्मा के निःश्वास हैं। मानस में ही "जाकी सहज स्वास श्रुति चारी"[6] कहकर तुलसी ने इस तथ्य का प्रतिपादन किया है। वेद शब्द का अर्थ ज्ञान भी है। जड़-जगत् से भाव-जगत् सर्वथा स्वतन्त्र और पृथक है किन्तु दोनों ही परमात्मा के स्वरूप हैं। परमात्मा के स्वरूप को चराचर सृष्टि के कल्याण के लिए सर्वप्रथम उद्घाटित करने वाले वेद ही हैं। अतः राक्षस विध्वंस के पश्चात् राम-राज्य के प्रारम्भ में सर्वप्रथम वेदों से ही स्तुति कराकर तुलसी ने सत्य एवं काव्यगत औचित्य का बड़े ही कौशल से निर्वाह किया है। परमात्मा का यथार्थ स्वरूप ज्ञानमय और भावमय भी है जिनमें से प्रथम को निर्गुण और द्वितीय को सगुण कहते हैं। इस तथ्य की स्पष्ट घोषणा तुलसी ने वेद-स्तुति की प्रथम पंक्ति में राम को 'जय सगुन निर्गुन रूप'[6] कहकर की है। जो लोग ब्रह्म को केवल निर्गुण या केवल सगुण समझते हैं वे नितान्त भ्रम में हैं। तुलसी के यही शब्द नहीं वरन् उनकी अन्य पंक्तियाँ भी इसका पूर्ण समर्थन करती हैं।[7] वस्तुतः निर्गुण ब्रह्म केवल चिन्तन का विषय बन सकता है। उसका ध्यान भजन और कीर्तन सर्वथा असम्भव है। वह अवाङ्मनसगोचर और अव्यक्त है, उसका ग्रहण मन वाणी एवं नेत्र कैसे कर सकते हैं।

---

१ मा० ६।१२१।१७—१८

२ मा० ६।१२१ (ख)— 'यह कलिकाल मलायतन मन करि देखु बिचार।
श्री रघुनाथ नाम तजि नाहिन आन अधार ॥'

३ विनयपत्रिका पद १५६ २२६
कवितावली उत्तरकाण्ड पद ८९—९१

४ मा० १।२५ (पू०) १।२६।८

५ मा० १।२०।१ (पू०)

६ मा० ७।१३।१

७ 'हियँ निर्गुन नयननि्ह सगुन रसना राम सुनाम।
मनहुँ पुरट संपुट लसत तुलसी ललित ललाम ॥' —दोहावली दो० ७

अतः मनुष्य के पास भगवद्भजन के जितने साधन हैं निर्गुण ब्रह्म उनके द्वारा ग्राह्य नहीं। न मन उसका परिचय प्राप्त कर सकता है न वाणी उसके सम्बन्ध में कुछ कह सकती है और न नेत्र उसकी रूप-माधुरी का पान कर सकते हैं। अतः भावाकुल भक्त उसके निर्गुण रूप को स्वीकार करते हुए भी सगुण रूप की ही विशेष सेवा और भजन करते हैं। इसीलिए वेदों ने यहाँ स्पष्ट घोषणा की है कि जो अज अद्वैत अनुभवगम्य एवं मन से परे ब्रह्म का ध्यान और भजन करते हैं, वे कहें या जानें किन्तु हम तो आपके सगुण रूप के यश का ही नित्य गायन करते हैं।[1] इसीलिए तुलसी ने राम के निर्गुण रूप का स्मरण दिलाते हुए भी उनके अवतार को सगुण ही माना है।[2] वेद-स्तुति की प्रथम पंक्ति के अवशिष्ट अंश अर्थात् 'रूप अनूप भूप-सिरोमने' निर्गुण-सगुण ब्रह्म के रूप का अवतार राम को ही प्रमाणित करते हैं। इस वेद-स्तुति के अन्तिम छन्द में पूर्वार्ध में इसी तथ्य का पूर्णतः समर्थन किया गया है। यथार्थ में तुलसी के सिद्धान्तों का निचोड़ यही है और इसी सिद्धान्त को पल्लवित करने के लिए 'नाना पुराण निगमागमसम्मतं यद्रामायणे निगदितं' और क्वचिदन्यतोऽपि के सहारे से सम्पूर्ण 'मानस' के कलेवर की सृष्टि हुई है। तुलसीदास ने इस वेद-स्तुति में अपने इन सिद्धान्तों की चर्चा कर उन्हें वेद-विहित सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। मानस में भक्ति की प्रधानता सिद्ध करने के लिए वेद-स्तुति का तीसरा छन्द लिखा गया है। तुलसीदास का कथन है कि जो ज्ञान के मान से मतवाले होकर राम की भव-हरणी भक्ति का आदर नहीं करते वे सुरदुर्लभ पदों को प्राप्त करके भी वहाँ से च्युत हो जाते हैं।[3] अतः इस छन्द के उत्तरार्ध में सारी आशाओं का परित्याग कर विश्वासपूर्वक राम भक्त बनने की प्रबल प्रेरणा प्रदान की गयी है।[4] पुनः अन्तिम छन्द की अन्तिम पंक्ति में भी उपसंहार के रूप में यही बात दुहरायी गयी है। यहाँ मन वचन एवं कर्म से सारे विकारों को छोड़कर राम के चरणों में अनुरक्त होने का उपदेश दिया गया है।[5] वेद-स्तुति के इन उद्गारों से परमात्मा को निर्गुण-सगुण वेद शास्त्रपुराणानुमोदित प्रमाणित कर उनके चरणों में निर्विकार भक्ति रखने की प्रेरणा कूट-कूट कर भरी गयी है।

वेदों के पश्चात् ज्ञान मूर्ति शंकर[6] से राम की स्तुति करायी गयी है। शंकर भी ज्ञान स्वरूप हैं। पर तुलसी के अनुसार राम के समक्ष आकर वे पुलकित हो गए और उनकी वाणी गद्गद हो गयी।[7] उन्होंने मनुष्यों के बहुरोग वियोग का कारण भगवच्चरणों के निरादर का ही फल बतलाया।[8] और योग का भरोसा छोड़कर भगवान् राम का सेवक

---

१ मा० ७।१३।२१-२२
२ मा० १।३४।१— 'अगम अगुन सुगम सब ताकें। सगुन ब्रह्म सुन्दर सुत जाकें ॥"
३ मा० ७।१३।९-१०
४ मा० ७।१३।११-२२
५ मा० ७।१३।२४
६ मा० ३ श्लो० १ पंक्ति १, ७।१०८।१
७ मा ७।१३ (ख)
८ मा० ७।१४।९-११

बनने का ही आदेश दिया।[1] अन्त में उन्होंने भगवान् राम के चरणों में अनपायिनी भक्ति एवं सत्संग की बार-बार याचना की है।[2] राम-भक्ति को वेद-स्तुति में वेद-समर्थित सिद्ध कर और ज्ञान मूर्ति शंकर से राम भक्ति की याचना कराकर तुलसी ने अपने समकालीन हिन्दू समाज में ऐक्य एवं सद्भाव के विस्तार का स्तुत्य प्रयास किया है।

राम के समकालीन अयोध्यावासियों के उद्गारों में भी राम-भक्ति की महिमा का अलौकिक स्वरूप प्रस्फुटित हुआ है।[3] इसकी एक-एक पंक्ति भगवान् के सौन्दर्य एवं सद्गुणों का सूत्र है और भक्तों के हृदय-कानन को उल्लसित करने के लिए शीतल मन्द एवं सुगन्ध-पूर्ण मलय समीरण है। आराध्य के रूप-गुण वर्णन करने की शैली में तुलसी सचमुच बेजोड़ हैं।

वेद और शिव की स्तुतियों के पश्चात् तुलसी ने सतत् बाल-ब्रह्मचारी ज्ञान-मूर्ति परम-तपस्वी महर्षि सनक सनन्दन सनत्कुमार एवं सनातन द्वारा भगवान् राम की स्तुति करायी है। इस स्तुति में भी भगवान् को निर्गुण एवं गुण-सागर दोनों कहा गया है।[4] साथ ही एक तरफ 'इन्दिरा रमण' एवं 'भूधर' (शेष) तथा अनादि कहा गया है।[5] भगवान् को 'सर्व' 'सर्वगत' एवं सर्व उरालय कहकर उनके निर्गुण एवं सगुण स्वरूपों की झलक दी गयी है और उनसे कामादि को दूर कर हृदय में रहने की प्रार्थना की गयी है।[6] भगवान् के सर्वव्यापक सबके अन्तःकरण में रहने वाले सगुण-निर्गुण स्वरूप का इस उद्गार में विवेचन किया गया है। स्वयं ब्रह्मा के पुत्र भगवान् राम के प्रति जो भाव रखते हैं वह मानव को निश्चय ही रखना चाहिए। इस उद्गार से यही बात ध्वनित होती है।

भगवान् की भक्ति परम ज्ञानी लोगों के हृदयों में भी सदैव प्रदीप्त रहती है और अपनी तेजस्विता से उन्हें आह्लादित करती रहती है। इस तथ्य के स्पष्टीकरण के लिए कवि के हृदय से यह उद्गार फूट पड़ा है कि भगवान् राम के पास जाकर उनके चरित्र देख

---

१ मा० ७ १४ १४

२ मा० ७ १४ (क)

३ मा० ७ ३ १-१०

जहँ तहँ नर रघुपति गुन गावहिं। बैठि परसपर इहइ सिखावहिं॥
भजहु प्रनत प्रतिपालक रामहि। सोभा सील रूप गुन धामहि॥
जलज बिलोचन स्यामल गातहि। पलक नयन इव सेवक त्रातहि॥
धृत सर रुचिर चाप तूनीरहि। सन्त कंज बन रबि रन धीरहि॥
काल कराल ब्याल खगराजहि। नमत राम अकाम ममता जहि॥
लोभ मोह मृगजूथ किरातहि। मनसिज करि हरि जन सुखदातहि॥
संसय सोक निबिड़ तम भानुहि। दनुज गहन घन दहन कृसानुहि॥
बहु बासना मसक हिम रासिहि। सदा एकरस अज अबिनासिहि॥
मुनि रंजन भंजन महि भारहि। तुलसीदास के प्रभुहि उदारहि॥

४ मा० ७ १४ ३२

५ मा० ७ ३४ ४

६ मा ७ ३४ ७-८

कर महर्षि नारद जब ब्रह्मलोक में जाकर उनका वर्णन करते हैं तो ब्रह्मा अत्यन्त प्रसन्न हो जाते हैं और सनकादि ऋषि भी अपनी समाधि भूलकर भगवान् का गुणानुवाद सुनने लगते हैं।[1] जब जीवन्मुक्त एवं ब्रह्मलीन मुनि भी अपना ध्यान छोड़कर रामचन्द्र के चरितों का श्रवण करते हैं तब तो भगवान् की कथा से प्रेम न करने वाले हृदय को पाषाण ही कहना युक्ति संगत होगा।[2] यह उद्गार भगवद्भक्ति में अनुराग प्रदर्शित करने के लिए व्यक्त किया गया है।

तुलसीदास उत्तर-काण्ड में वेदों से शंकर से एवं सनक सनन्दन आदि से राम को परब्रह्म घोषित कराकर ब्रह्मर्षि वशिष्ठ से भी उनका परब्रह्मत्व स्वीकृत कराते हैं। एक बार महामुनि वशिष्ठ राम के घर पर जाते हैं और उनसे पूजित एवं समादृत होकर कहते हैं कि हे राम ! आप परब्रह्म होकर भी जो आदर्श मानव चरित्र दिखाते हैं उसके अवलोकन से हमारे हृदय में कभी-कभी मोह उत्पन्न हो जाता है अर्थात् मैं कभी-कभी आपको परब्रह्म को आदर्श मानव के रूप में देखकर भ्रम में पड़ जाता हूँ। मैंने अपने पितृदेव ब्रह्मा से पौरोहित्य कर्म लेने की अनिच्छा प्रकट की थी क्योंकि सारे वेद पुराण और स्मृतियाँ इसकी निन्दा करती हैं, किन्तु ब्रह्मा ने मेरी बात स्वीकार नहीं की। उन्होंने मुझसे कहा कि पौरोहित्य कर्म स्वीकार करने से तुम्हें आगे लाभ होगा क्योंकि इस वंश में स्वयं परब्रह्म परमात्मा मनुष्य में प्रकट होंगे। मैंने भी समझा कि जिस भगवान् के लिए अनेक प्रकार के जप-तपों की आवश्यकता है उनका दर्शन यदि मैं अपने यजमान के रूप में करूँ तो इससे बड़ा लाभ ही क्या है ?[3] संसार में जितने प्रकार के धर्म और शुभ कर्म बतलाये गये हैं तथा जितनी प्रकार की विद्याएं पढ़ने की बात कही गयी है, उन सबका एकमात्र फल आपके चरणों में प्रेम ही है।[4] वस्तुतः वही सर्वज्ञ है वही तत्त्वज्ञ है वही पण्डित है वही गुणों का भण्डार और अखंड विज्ञानी है वही चतुर और सब लक्षणों से युक्त है, जिसको आपके चरण-कमलों में प्रेम हो।[5] इसलिए हे स्वामी ! मैं आपसे एकमात्र यही वरदान माँगता हूँ कि किसी भी जन्म में आपके चरण कमलों से प्रेम नहीं छूटे।[6] स्वयं ब्रह्मा जी के पुत्र राम को पूर्णब्रह्म

---

१ मा० ७।४२।१–७

२ मा० ७।४२—"जीवन मुक्त ब्रह्म पर चरित सुनहिं तजि ध्यान।
जे हरि कथाँ न करहिं रति तिन्ह के हिय पाषान॥

३ मा० ७।४८।१—७।४८

४ मा० ७।४९।१—४

"जप तप नियम जोग निज धर्मा। श्रुति संभव नाना शुभ कर्मा॥
ग्यान दया दम तीरथ मज्जन। जहँ लगि धर्म कहत श्रुति सज्जन॥
आगम निगम पुरान अनेका। पढ़े सुने कर फल प्रभु एका॥
तव पद पंकज प्रीति निरंतर। सब साधन कर यह फल सुन्दर॥"

५ मा० ७।४९।७—८

'सोइ सर्बग्य तग्य सोइ पंडित। सोइ गुनगृह बिग्यान अखंडित॥
दच्छ सकल लच्छन जुत सोई। जाकें पद सरोज रति होई॥"

६ मा० ७।४९

मानकर उनसे अपनी भक्ति देने की प्रार्थना करते हैं इससे बढ़कर जनता के हृदय में राम के परमब्रह्मत्व पर विश्वास कराने का साधन और कौन-सा हो सकता है ?

ब्रह्मा के पुत्र सनकादि तथा वशिष्ठ से राम का परब्रह्मत्व स्वीकृत कराकर तुलसी उनके अन्य पुत्र नारद से भी यही कार्य कराते हैं। तुलसी ने भगवान् राम का प्रत्यक्ष स्वधामगमन का वर्णन नहीं किया है। नारद से स्तुति कराकर ही उन्होंने रामायण की कथा समाप्त कर दी है। नारद की स्तुति में भगवान के कार्यों एवं उनके स्वरूप का विशद विवेचन उपलब्ध होता है।[1] नारद ऋषि सप्रेम राम की स्तुति कर उन्हें हृदय में रखकर ब्रह्मलोक को प्रस्थान करते हैं,[2] और यहीं रामकथा समाप्त हो जाती है। यहाँ के भक्तिपूर्ण उद्गार में स्वयं देवर्षि नारद त्राहि त्राहि करके राम के चरणों पर गिर पड़ते हैं। तुलसीदास ने इस प्रसंग से यह सूचित किया है कि भगवान राम जिस प्रकार अपने अलौकिक विश्वरूप में अवतीर्ण हुए थे उसी प्रकार वे परमोत्तम महर्षियों के समक्ष उनसे स्तुत होते हुए अपने यथार्थ रूप में विलीन हुए। वे कालजयी सर्वव्यापक एवं अपनी माया से मानव-रूप धारण करने वाले हैं।

समग्र रामायण की कथा कहकर शिव पार्वती से रामचरित की अवर्णनीयता साक्षात् वेद तथा शारदा से भी उनके वर्णन की असमर्थता तथा उनकी भक्ति प्रदान करने की क्षमता की बड़े ही ओजस्वी एवं विश्वासप्रद शब्दों में व्यंजना करते हैं।[3] पार्वती भी शिव के इस विश्वास का समर्थन करती हुई कहती हैं कि जो लोग रामचरित सुनकर तृप्त हो जाते हैं वे उसके यथार्थ रस को नहीं जानते। जो लोग जीवन्मुक्त एवं महामुनि हैं, वे भी राम के गुणों का वर्णन एवं श्रवण किया करते हैं। यदि कोई मनुष्य भवसागर को पार करना चाहता है तो रामकथा ही उसके लिए एकमात्र दृढ़ नौका है। जो लोग सांसारिक गृहस्थी में हैं। उनके लिए भी रामकथा श्रवण-सुखद और मनोभिराम है। संसार में ऐसा कौन कान वाला है जो राम की कथा का सुनना पसंद न करे। वस्तुतः जिन्हें राम की कथा अच्छी नहीं लगती वे जड़ जीव निश्चय ही आत्मघाती हैं।[4] इस उद्गार में रामकथा से पराङ्मुख रहने वालों की भर्त्सना करते हुए जीवन्मुक्त महामुनियों को भी राम कथा में तल्लीन बतलाकर प्रकारान्तर से सांसारिक लोगों को राम कथा में प्रवृत्त होने की प्रबल प्रेरणा प्रदान की गयी है।

पक्षिराज गरुड़ से काकभुशुण्डि का कथन है कि हे गरुड़ ! आपके जो अपने मन में मोह उत्पन्न होने की बात कही इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। मनुष्यों की बात कौन कहे, नारद शिव ब्रह्मा सनकादि आदि जो आत्मवादी मुनि हैं, उनमें से भी मोह ने किसको अन्धा नहीं किया काम ने किसको नहीं नचाया तृष्णा ने किसको पागल नहीं किया और किसके हृदय को क्रोध ने नहीं जलाया ? लोभ ने किसकी हँसी नहीं करायी, धन-मद ने किसे

१ मा० ७।५१।१—२
२ मा० ७।५१
३ मा० ७।५२।१—५
४ मा० ७।५३।१—६

टेढ़ा नहीं बनाया प्रभुता ने किसे बधिर नहीं किया और मृगलोचनी के नेत्र-बाण किसके हृदय में नहीं लगे। इसी प्रकार गुणाभिमान मोहन-ज्वर ममता मत्सर, लोभ चिन्ता माया मनोरथ सुत वित्त एवं लोक-प्रतिष्ठा की आकांक्षा इन सबों ने किसके मन को मलिन एवं दूषित नहीं किया? ये सारे माया के परिवार हैं। औरों की बात कौन कहे, इनसे साक्षात् ब्रह्मा एवं शिव भी भयभीत रहते हैं। यह माया की प्रचण्ड सेना समस्त संसार में व्याप्त हो रही है। जिसके सेनापति काम दम्भ कपट एवं पाखंड हैं। यह माया राम की दासी है पर विचार करने पर तो मिथ्या ही ठहरती है। फिर भी मैं शपथ करके कहता हूँ कि यह राम की कृपा के बिना नहीं छूट सकती। जिसके भ्रू विलास से यह अपने सारे समाज के साथ नटी-सी नाच रही है, वही निखिल गुण-गुणों के समूह सच्चिदानंदघन राम हैं।[1] उनके समक्ष उपस्थित होने पर मोह नहीं रह पाता क्योंकि सूर्य के समक्ष अन्धकार नहीं जाता।[2] स्वयं वही भगवान राम भक्तों के कल्याण के लिए मनुष्य रूप धारण कर सामान्य मनुष्यों के ऐसा चरित्र करते हैं किन्तु इस मानव शरीर धारण से उनमें कोई दोष नहीं आता? जैसे नट अनेक वेष धारण कर नृत्य करता है और वेषानुकूल लीला दिखाता है किन्तु वह स्वयं वही नहीं बन जाता।[3] भगवान के सम्बन्ध में मोह निरर्थक है। इनमें अज्ञान का आरोप स्वप्न में भी सच्चा नहीं है।[4] जैसे बालक के शरीर में व्रण हो जाता है उसी तरह मनुष्यों के हृदय में मोह उत्पन्न हो जाता है और जैसे माता बालक के कल्याण के लिए उसके व्रण को चिरवाती है, उसी प्रकार भगवान् मोह उत्पन्न करके भक्तों के अभिमान को दूर करते हैं।[5] तुलसीदास भी कहते हैं कि ऐसे प्रभु को भ्रम त्यागकर सदा क्यों न भजा जाय।[6] इस उद्गार में माया की सेना और मोह की प्रचण्डता का सजीव वर्णन है। भगवान् अपने भक्तों के अभिमान को दूर करने के लिए अपनी माया से उनके हृदय में मोह उत्पन्न कर देते हैं और फिर उसे ज्ञान प्रदान कर उसका निराकरण भी कर देते हैं। ऐसे कृपालु भगवान् का भजन नितान्त आवश्यक है।

कागभुशुण्डि ने आत्ममोह की चर्चा कर रामचन्द्र की भक्ति के बिना ज्ञानी मनुष्य को भी बिना पूँछ-सींग का पशु घोषित किया है। उनकी सम्मति में सोलहों कलाओं से परिपूर्ण चन्द्र एवं समस्त तारागणों के उदित होने पर और सभी पर्वतों के ऊपर दावाग्नि लगाने पर भी जैसे सूर्य के उदय के बिना रात्रि का सघन अन्धकार दूर नहीं हो सकता वैसे

---

१ मा० ७।७० ६—७।७२ ३
२ मा० ७।७२ ८
३ मा० ७ ७२ (क), ७२ (ख)।
४ मा० ७।७३।७
५ मा० ७।७४ ८—७।७४ (क) पू
६ मा० ७।७४ (ख) उ०—

"तुलसिदास ऐसे प्रभुहि कसम भजहु भ्रम त्यागि।"

ही राम के भजन के बिना जीवों का क्लेश कथमपि दूर नहीं हो सकता।[1] इस उद्गार मे एकान्त रमणीय उपमा के द्वारा भगवान् की क्लेशहारिणी शक्ति में प्रगाढ़ विश्वास व्यक्त किया गया है और उनकी भक्ति करने का सन्देश दिया गया है।

कागभुशुण्डि की वाणी में अपनी अनुभूति प्रकट करते हुए तुलसी का कथन है कि भगवान् के भजन के बिना क्लेश दूर नहीं हो सकता है।[2] वेद और पुराण भी यही गाते हैं कि भगवान् की भक्ति के बिना क्या कभी कोई सुख पा सकता है?[3] अर्थात् नहीं।

तुलसीदास जी सतोष आदि सद्गुणों का वर्णन करते हुए कागभुशुण्डि से गरुड़ को कहलाते हैं कि बिना विश्वास के जैसे कोई सिद्धि नही मिल पाती वैसे ही भगवान् के भजन के बिना संसार का भय नष्ट नहीं होता।[4] बिना विश्वास के भक्ति नही होती और भक्ति के बिना राम कृपा नहीं करते और राम की कृपा के बिना स्वप्न में भी जीव को विश्राम नहीं मिलता।[5] अतः हे मतिधीर गरुड़! ऐसा विचार कर सारे कुतर्क एवं संदेह छोड़कर करुणाकर सुन्दर एवं सुखद रघुवंशी राम का भजन करो।[6]

कागभुशुण्डि गरुड़ को उपदेश देते हुए अपना उद्गार प्रकट करते हैं कि भगवान् भाव के वशीभूत हैं सुख के निधान हैं और करुणा के भवन हैं। अतः अपनी ममता मद एवं मान का परित्याग कर सदैव सीता-रमण भगवान् श्रीरामचन्द्र का भजन करना चाहिए।[8]

कागभुशुण्डि अपने काक शरीर की प्राप्ति का कारण बतलाते हुए गरुण से कहते हैं कि जप तप मख शम दम व्रत दान विरति विवेक योग एवं विज्ञान इन सबों का

---

१ मा० ७७८ (क)—७७९(क) १—

"रामचन्द्र के भजन बिनु जो चह पद निर्बान।
ग्यानवंत अपि सो नर पसु बिनु पूँछ बिषान॥
राकापति षोड्स उअहिं तारागन समुदाइ।
सकल गिरिन्ह दव लाइअ बिनु रबि राति न जाइ॥
ऐसेहिं हरि बिनु भजन खगेसा। मिटइ न जीवन्ह केर कलेसा॥

२ मा० ७८९ १— 'निज अनुभव अब कहउँ खगेसा। बिनु हरि भजन न जाहिं कलेसा॥

३ मा० ७८९ (क) उ०— 'गावहिं बेद पुरान सुख कि लहिअ हरिभगति बिनु॥

४ मा० ७९ १—७

५ मा० ७९०८—

"कवनिउ सिद्धि कि बिनु बिस्वासा। बिनु हरि भजन न भवभय नासा॥

६ मा० ७९० (क)

७ मा० ७९० (ख)—

"अस बिचारि मति धीर तजि कुतर्क संसय सकल।
भजहु राम रघुबीर करुनाकर सुन्दर सुखद॥"

८ मा० ७९२ (ख)—

"भाव बस्य भगवान सुख निधान करुना भवन।
तजि ममता मदमान भजिअ सदा सीता रवन॥

फल राम के चरणों में प्रेम से ही है क्योंकि इसके बिना किसी का कल्याण नहीं हो सकता।[1] इसी काम शरीर से मैंने राम की भक्ति पाई है। इसलिए इसमें मुझे बड़ी ममता है।[2] यहां सारे शुभ साधनों का फल राम के चरणों में प्रेम ही कहा गया है और उसी से जीवों का कल्याण होना बतलाया गया है। इस प्रकार में रामभक्ति की महिमा सर्वोपरि घोषित की गयी है। आगे चलकर इसी प्रसंग में कहा गया है कि जीव का सच्चा स्वार्थ मन वचन एवं कर्म से राम के चरणों में प्रेम करने में ही है।[3]

काकभुशुण्डि जी गरुड़ से विविध युगों के मोक्ष साधनों का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि कलियुग में योग यज्ञ एवं ज्ञान इनमें से कोई भी मुक्ति का आधार नहीं है। कलियुग में मुक्ति का एक मात्र साधन राम का गुणगान ही है। अतः जो सब भरोसा छोड़ कर राम का भजन करते हैं और सप्रेम उनके गुणों का गायन करते हैं निस्संदेह वे ही संसार को पार कर जाते हैं क्योंकि कलियुग में राम नाम का प्रभाव प्रत्यक्ष है।[4] यथार्थतः यदि मनुष्य विश्वास करे तो कलियुग के समान कोई दूसरा युग नहीं है क्योंकि इसमें राम के विमल गुणों का गान कर मनुष्य अनायास संसार को पार कर जाता है।[5]

काकभुशुण्डि गरुड़ से कहते हैं कि भगवान् की माया के दोषगुण बिना उनके भजन के नहीं जा सकते। इसलिए सभी कामनाओं को त्यागकर राम का ही भजन करना चाहिए।[6]

काकभुशुण्डि जब अयोध्या में शूद्र रूप में अवतीर्ण हुए थे और गुरु का अपमान *किया था तब शिव को प्रसन्न करने के लिए उनके गुरु ने यह उद्गार प्रकट किया था कि* हे उमानाथ! जब तक आपके चरणारविन्द का लोग भजन नहीं करते तब तक इस लोक में या परलोक में न तो उन्हें सुख और शान्ति ही मिलती है और न उनके सन्ताप का ही नाश होता है। इसलिए हे सभी जीवों में निवास करने वाले स्वामी! मेरे ऊपर कृपा कीजिए।[7] इस प्रकार में राम के परम भक्त शिव के भजन का माहात्म्य घोषित किया गया है।

महर्षि लोमश के निर्गुण ब्रह्म का उपदेश करने पर काकभुशुण्डि ने सगुण ब्रह्म राम की भक्ति के लिए हठ किया। लोमश के हृदय में क्रोध हो आया और वे निर्गुण ब्रह्म का

---

१ मा० ७ ९५ ५—६—
'जप तप मख सम दम व्रत दाना। बिरति बिबेक जोग बिग्याना॥
सब कर फल रघुपति पद प्रेमा। तेहि बिनु कोउ न पावइ छेमा॥

२ मा० ७ ९५-७ ७ ९६ ४

३ मा० ७ ९६ १—३
'स्वारथ साँच जीव कहुँ एहा। मन क्रम बचन राम पद नेहा॥
सोइ पावन सोइ सुभग सरीरा। जो तनु पाइ भजिअ रघुबीरा॥
राम बिमुख लहि बिधि सम देही। कबि कोबिद न प्रसंसहिं तेही॥

४ मा० ७ १०२ (ख)—७ १०३ ७

५ मा० ७ १०३ (क)

६ मा० ७ १०४ (क)—"हरि माया कृत दोष गुन बिनु हरि भजन न जाहिं।
भजिअ राम तजि काम सब अस बिचारि मन माहिं॥

७ मा० ७ १०८ १३—१४

ही समर्थन करते रहे। यह देखकर कागभुशुण्डि अपने मन में अनुमान करने लगे कि हरिभक्ति के समान लाभ क्या कुछ और हो सकता है क्योंकि हरि भक्ति की महत्ता तो वेद सन्त और पुराण भी एक स्वर से वर्णन करते हैं। मनुष्य शरीर को पाकर यदि राम का भजन न करे तो क्या इससे बढ़कर भी कोई हानि हो सकती है?[1] यहाँ भगवान् की अनुकूलता ही परमोत्तम लाभ कहा गया है और उनसे पराङ्मुखता ही सबसे बड़ी हानि कही गयी है।

कागभुशुण्डि गरुड़ से कह रहे हैं कि मैंने लोमश ऋषि के समक्ष भक्ति पक्ष के लिए हठ किया और महर्षि का अभिशाप पाया किन्तु भजन का प्रताप तो देखिये कि मैंने वह वरदान पाया जो कि मुनियों के लिए भी दुर्लभ है।[2] जो लोग ऐसी भक्ति का भी परित्याग कर केवल ज्ञान के लिए परिश्रम करते हैं वे मूर्ख घर की कामधेनु छोड़कर दूध के लिए आक खोजते फिरते हैं। हे गरुड़! भगवान् की भक्ति को त्याग कर जो दूसरे उपाय से सुख चाहते हैं वे दुष्ट बिना नौका के ही महासागर तैरकर पार करना चाहते हैं। उनका यह काम सर्वथा जड़तापूर्ण है।[3]

ज्ञान-दीपक प्रकरण का वर्णन कर कैवल्य मुक्ति का स्वरूप निश्चित कर कागभुशुण्डि गरुड़देव से कहते हैं कि हे गोस्वामी! कैवल्य पद परम दुर्लभ है। ऐसा ही सन्त पुराण वेद और शास्त्र कहते हैं। किन्तु राम का भजन करने से वही मुक्ति न चाहने पर भी जबर्दस्ती मिल जाती है। जैसे करोड़ों उपाय करने पर भी जल के बिना थल नहीं रह सकता उसी प्रकार हरि-भक्ति को छोड़कर मोक्ष का सुख कहीं अन्यत्र नहीं मिल सकता। यही समझ कर चतुर हरि-भक्त मुक्ति का निरादर करके भक्ति में लुभाये रहते हैं।[4] इसी प्रसंग में कागभुशुण्डि का जोरदार शब्दों में कथन है कि सेवक-सेव्य भाव के बिना संसार के पार नहीं जाया जा सकता। इस सिद्धान्त को समझकर राम के चरण-कमलों का भजन करो।[5] जो चेतन को जड़ और जड़ को चेतन करते हैं, ऐसे समर्थ भगवान् राम का जो भजन करते हैं, वे जीव धन्य हैं।[6]

---

१ मा० ७ ११२ ८—९—

"लाभु कि किछु हरि भगति समाना। जेहि गावहिं श्रुति सन्त पुराना॥
हानि कि जग एहि सम किछु भाई। भजिअ न रामहि नर तनु पाई॥"

२ मा० ७ ११४ (ख)

३ मा० ७ ११५ १—४—

"जे असि भगति जानि परिहरहीं। केवल ग्यान हेतु श्रम करहीं॥
ते जड़ कामधेनु गृह त्यागी। खोजत आकु फिरहिं पय लागी॥
सुनु खगेस हरि भगति बिहाई। जे सुख चाहहिं आन उपाई॥
ते सठ महासिन्धु बिनु तरनी। पैरि पार चाहहिं जड़ करनी॥"

४ मा० ७ ११९ ३—७

५ मा० ७ ११९ (क)—"सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिअ उरगारि।
भजहु राम पद पंकज अस सिद्धान्त बिचारि॥"

६ मा० ७ ११९ (ख)—"जो चेतन कहँ जड़ करइ जड़हि करइ चैतन्य।
अस समर्थ रघुनायकहि भजहिं जीव ते धन्य॥"

गरुड़देव के प्रश्न करने पर काकभुशुण्डि ने मानस रोगों का विवेचन किया और राम भक्ति को ही उन रोगों का औषध बतलाते हुए[1] वे कहते हैं कि शिव ब्रह्मा शुक, सनकादिक एवं नारद इत्यादि जो मुनि ब्रह्म विचार-विशारद हैं सबका मत यही है कि राम के चरण-कमलों में प्रेम कीजिए। श्रुति पुराण इत्यादि सभी ग्रन्थ कहते हैं कि रामचन्द्र की भक्ति के बिना सुख नहीं मिलता। कछुवे की पीठ पर बाल जम जायें तो जम जायें बन्ध्या का पुत्र बल्कि किसी की हत्या कर दे तो कर दे आकाश में बहुत तरह के फूल फूलें तो फूल जायें लेकिन भगवान् के प्रतिकूल होने पर जीव सुख नहीं प्राप्त कर सकते। मृगतृष्णा का पान करने से प्यास बुझे तो बुझे, खरहे के सिर पर सींग जमे तो जमें बल्कि अन्धकार सूर्य को नष्ट कर दे किन्तु राम से पराङ्मुख जीव को सुख नहीं मिलता। यदि हिम से अनल प्रकट हो तो हो, किन्तु राम विमुख मनुष्य को सुख नहीं होता। यदि जल के मन्थन से घृत की उत्पत्ति हो जाय तो हो जाय बालू से तेल निकल जाय तो निकल जाय किन्तु बिना हरि भजन के मनुष्य संसार को पार नहीं कर सकता यह सिद्धान्त अटल है। यदि प्रभु चाहें तो मच्छड़ को ब्रह्मा और ब्रह्मा को मच्छड़ से भी हीन कर सकते हैं। ऐसा सोचकर सन्देह त्यागकर जो राम का भजन करते हैं वे वास्तव में प्रवीण हैं।[2] मैं निश्चित रूप से कहता हूँ और मेरी यह वाणी कदापि असत्य नहीं हो सकती कि जो मनुष्य राम का भजन करते हैं वे अत्यन्त दुस्तर संसार-सागर को पार करते हैं।[3] अनेक असम्भव उदाहरणों के द्वारा इस उद्गार में सशक्त शब्दों में "राम भजन ही एक मात्र मनुष्य का कर्तव्य है, इस अटल सिद्धान्त का निरूपण किया गया है।

काकभुशुण्डि गरुड़देव से कहते हैं कि साधक सिद्ध, विमुक्त, उदासी कवि कोविद कृतज्ञ संन्यासी, योगी, शूर, तपस्वी ज्ञानी धर्मनिरत पण्डित एवं विज्ञानी ये सभी मेरे स्वामी राम की सेवा किये बिना भवसागर पार नहीं कर सकते। ऐसे राम को बारम्बार नमस्कार करता हूँ। उनकी शरण में आने पर मेरे जैसे पाप के समूह भी शुद्ध हो जाते हैं। इसलिए हे अविनाशी राम ! मैं आपको नमस्कार करता हूँ।[4]

शिव का पार्वती से कथन है कि तीर्थाटन योग, विराग ज्ञान कर्म धर्म व्रत, दान संयम दम जप तप, मख जीवों पर दया ब्राह्मण और गुरु की सेवा विद्या विनय एवं

---

१ मा० ७ १२१ २८–७ १२२ म

२ मा ७ १२२ १२–२ १२२ (ख)

३ मा ७ १२२ (ग)—"विनिश्चितं वदामि ते न अन्यथा वचांसि मे।
हरिं नरा भजन्ति येऽतिदुस्तरं तरन्ति ते ॥"

४ मा ७ १२४ ५–८—"साधक सिद्ध बिमुक्त उदासी। कबि कोबिद कृतग्य संन्यासी ॥
जोगी सूर सुतापस ग्यानी। धर्म निरत पंडित बिग्यानी ॥
तरहिं न बिनु सेएँ मम स्वामी। राम नमामि नमामि नमामी ॥
सरन गएँ मो से अघ रासी। होहिं सुद्ध नमामि अबिनासी ॥

विवेक की महत्ता जहाँ तक वेदों ने धर्म के साधन बतलाये हैं, उन सभों का फल भगवान् की भक्ति ही है।[1]

इसी प्रसंग में शिव ने पार्वती से कहा है कि सर्वज्ञ गुणी ज्ञाता पण्डित दाता धर्मपरायण एवं कुल का रक्षक है जिसका मन राम के चरणों में अनुरक्त है। वही नीति निपुण है वही परम चतुर है वही भली भाँति वेदों का सिद्धान्त जानता है, वही कवि कोविद एवं रणधीर है जो निश्छल होकर भगवान् राम का भजन करता है।[2] इसी क्रम में आगे शिव कहते हैं कि हे पार्वती वही कुल धन्य है जगत्पूज्य है, पवित्र है जिसमें रामचन्द्र के चरणों में भक्ति रखने वाला विनीत पुरुष उत्पन्न होता है।[3]

शिवजी आगे चलकर पार्वती से कहते हैं कि इस कलिकाल में योग जप तप आदि मुक्ति के दूसरे साधन नहीं हैं। अतः केवल राम का स्मरण कीजिए, उनका गुणगान कीजिए और सदैव उनका गुण-गान सुनिये। जिसका सबसे बड़ा स्वभाव पतितों को पवित्र करना ही है (ऐसी बात सभी वेद पुराण एवं सन्त कहते हैं) उसका भजन मन की सारी कुटिल चालों को त्याग कर कीजिए। भला राम का भजन करने से किसको सद्गति नहीं मिली? गणिका अजामिल व्याध गीध गजादि अनेक खल तथा आभीर यवन किरात खस और श्वपच जो पाप की मूर्ति थे वे सब जिस राम का नाम एक बार भी उच्चारण कर पवित्र हो जाते हैं मैं उस राम को नमस्कार करता हूँ।[4] भगवान् राम में पतित से पतित पुरुषों को तारने की शक्ति है। इस बात में विश्वास रखकर उनकी भक्ति करना ही मनुष्य का परम धर्म है। इस उद्गार में इसी तथ्य पर बल दिया गया है।

ग्रन्थ का उपसंहार करते हुए तुलसीदास अपने प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि हे प्रभो! मेरे ऐसा कोई दीन नहीं और आप के ऐसा कोई दीनोद्धारक नहीं। ऐसा सोचकर मेरा संसार का भयानक भय दूर कीजिए।[1] इसके अतिरिक्त जिस प्रकार कामी स्त्री को प्यार करता है और लोभी पैसे को उसी प्रकार तुम निरन्तर मेरे हृदय को प्रिय लगो।[2] तात्पर्य यह है कि भक्त का हृदय निरन्तर भगवान् में आसक्त रहे तो वह संसार के सारे पापों से बच जायेगा और परमानन्द की प्राप्ति करेगा।

"निष्कर्ष"

हमने यहाँ जो तुलसी के मानस में अभिव्यक्त अनेक उद्गार उद्धृत किये हैं उनसे

---

१ मा० ७ १२६ ४–७—तीर्थाटन साधन समुदाई। जोग बिराग ग्यान निपुनाई॥
नाना कर्म धर्म ब्रत दाना। संजम दम जप तप मख नाना॥
भूत दया द्विज गुर सेवकाई। बिद्या बिनय बिबेक बड़ाई॥
जहँ लगि साधन बेद बखानी। सब कर फल हरि भगति भवानी॥

२ मा० ७ १२६ १–४

३ मा० ७ १२७

४ मा ७ १३० ५–१२

५ मा० ७ १३० (क)

६ मा० ७,१३० (ख)

यह स्पष्टतः हृदयंगम किया जा सकता है कि राम की भक्ति उनके हृदय की प्रधान सम्पत्ति थी। मानस के प्रारम्भ में ही उन्होंने कारणों के भी कारण राम नामक परमात्मा के चरणों को भवाम्भोधि के पार जाने की इच्छा रखने वालों के लिए एक मात्र नौका कहा है। इसमें उन्होंने अपने आराध्य देव के रूप एवं गुण का विवेचन तो किया ही है, साथ ही भक्तों के लिए उसे उन्होंने एक मात्र सहारा बताया है। भक्त के लिए सबसे बड़े आकर्षण का सर्वोत्तम रूप उनके इस उद्गार में प्राप्त हो जाता है। जीवन-मरण और विविध दुःखों से परित्राण के लिए साधन भगवान् राम के चरणों में भक्ति ही है, इसका अवलम्ब बोध तुलसी के इस उद्गार से प्राप्त होता है। आगे के उद्गारों में कहीं उन्होंने इतिहास से भक्तों का भगवन्नाम जप से उद्धार होना बताया है तो कहीं भगवान् द्वारा काम क्रोधादि से भक्त की रक्षा की बात कही है। कहीं यज्ञ ज्ञान जप तप आदि साधनों को भगवद्भक्ति बिना भव बन्धन से मुक्त कराने में असमर्थ बताया है। किसी उद्गार में उन्होंने सोदाहरण इसे सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि स्वधर्म पालन से पवित्र प्राणी भी भक्ति के बल से ही पवित्र होता है। कहीं वे यह सिद्ध करते हैं कि राम के प्रेम में तल्लीन होकर मरने में भी परम सौभाग्य है। भगवान् की सतत कृपा से मनुष्य का जीवन सफल हो जाता है और उसकी माता यथार्थतः पुत्रवती बन जाती है। तुलसीदास को इसमें दृढ़ विश्वास है जो सुमित्रा के हृदय के उद्गार से स्पष्ट होता है। तुलसी अपने उद्गारों में बार बार दुहराते हैं कि राम के चरणों में प्रेम सारे पुण्यों का फल है और उसका यही परम परमार्थ है। भगवान् की भक्ति के बिना करोड़ों उपाय करने पर भी स्वप्न में भी सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती। भगवद्भक्ति करने से मनुष्य परमपूज्य एवं पण्डित हो जाते हैं। भगवान् का दर्शन ही अमोघ है। उनको भक्त से बढ़कर कोई भी प्रिय नहीं। वे केवल भक्ति का ही नाता मानते हैं। राम के चरणों में लीन होने वाले उसमें इतना स्वाद पाते हैं कि रमाविलास को वमन की तरह त्याग देते हैं। राम-भक्ति में बाधक सारे ऐश्वर्य जलने के लायक हैं। जो भक्ति नहीं है उसका जीवन सर्वथा निष्फल है। वह अपनी माता के यौवन के लिये कुठार तुल्य है। भक्ति के लिए जाति-पाँति कुल और धर्म की आवश्यकता नहीं। मानव मात्र भक्त हो सकते हैं। यहाँ तक कि श्वपच खर, यवन तथा किरात भी भक्ति के माध्यम से परम पावन बन जाते हैं। भक्ति के बिना योग साधना भी कुयोग है और ज्ञान भी अज्ञान है। वस्तुतः भक्ति के बिना जीव को त्रिलोक में भी कहीं शरण नहीं मिल सकती। यहाँ तक कि माता ही मृत्यु, पिता ही यमराज अमृत विष मित्र शत्रु तथा वैतरणी के तुल्य हो जाती है। इस माया मय संसार के बन्धन से मुक्त होने के लिए भगवान् की भक्ति ही सर्वोत्तम साधन है। ज्ञान परम महिमामय है पर उस पर भी माया उसी प्रकार अपना प्रभाव जमा सकती है जिस प्रकार पुरुष पर नारी। किन्तु भक्ति पर माया का प्रभाव उसी प्रकार नहीं पड़ सकता जिस प्रकार कोई स्त्री अन्य स्त्री पर कामासक्त नहीं हो सकती। संसार की सारी आशाएँ व्यर्थ हैं, केवल भगवान् का भजन ही एकमात्र सत्य है। उद्धृत उद्गारों से अभिव्यक्त इन भावों का उल्लेख यहाँ इसलिये किया जा रहा है कि भगवद्गीता के समान ही इस ग्रन्थ में भी ये उद्गार कवि के लक्ष्य को स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त हैं। गीता में जिस प्रकार निष्काम कर्मयोग की महिमा गायी गयी है उसी प्रकार रामचरित मानस में भक्ति की। लोकमान्य तिलक ने यदि गीता को कर्मयोग शास्त्र माना है तो हमें तुलसी के उद्गारों को देखते हुए उसे भक्तियोग शास्त्र ही मानना पड़ता है। प्रस्तुत परिच्छेद में मानस के कतिपय भक्त्यात्मक उद्गारों का विवेचन इसी तथ्य के स्पष्टीकरण के लिए किया गया है।

पाँचवाँ अध्याय

'मानस' में वर्णित भक्त

अहित करता है तो भी वह उसके कल्याण-साधन में ही संलग्न रहता है।[1] वह दूसरों के दुःख से दुःखी होकर उनपर दया करता है।[2] वह हरि-मन्दिर रामायुधों एवं तुलसी को देख कर आह्लादित हो उठता है।[3] वह भगवान् राम का स्मरण करके और उनके चरणों को हृदय में धारण करके ही सभी शुभकार्यों का श्रीगणेश करता है।[4] वह सबका भरोसा छोड़कर अनन्य भाव से भगवान् पर ही आश्रित रहता है[5] उनके ध्यान में उसका शरीर निरन्तर रोमांचित होता रहता है, उसकी जिह्वा भगवन्नाम की रट लगाती रहती है और उसकी आँखों से आनंद की अविरल अश्रु धारा प्रवाहित होती रहती है।[6] वह काम क्रोध लोभ अहंकार आदि अवगुणों से सर्वथा मुक्त रहता है।[7] वह त्याग की साक्षात् प्रतिमूर्ति होता है और विषय-वासनाओं से सदैव विमुख रहता है।[8] उसका चित्त पर-दुःखकातर एवं कोमल होता है।[9] वह "हेतु रहित उपकारी' होता है।[10] पर संसार को रिझाने की उसकी इच्छा नहीं होती।[11] काम क्रोधादि विकारों से रहित सारे जगत को वह 'निज प्रभुमय' देखता है और किसी से भी बैर भाव नहीं रखता।[12] इतने सद्गुणों से सम्पन्न होने के बावजूद वह अपने को 'कपटी कुटिल"[13] मानता हुआ यही गाता रहता है—

"जौं करनी समुझै प्रभु मोरी। नाहिं निस्तार कलप सत कोरी॥"[14]

वस्तुतः ऐसे उदार, सन्मार्गी सदाचारी परोपकारी विरागी 'विषय रस से रूखे" और भगवान् के अनन्य प्रेमी भक्त के दर्शन बड़े पुण्य एवं सौभाग्य से ही होते हैं।[15] इसके लिए घर और वन एक समान हैं। चाहे जंगल में निवास करें चाहे गृहस्थाश्रम में रहें, ऐसे भक्त दोनों दशाओं में भगवान् राम के प्रेम-पात्र बने रहते हैं।[16] यथार्थ में तुलसी ने भक्त का

---

१ मा० ५ ४१ ७
२ मा० २ २१९ (पू०)
३ मा० ५ ५८—५९
४ मा० १ १०० ४ (उ०) ५ ५ १ ६ १८ १, ६ १०० ८
५ मा० ७ ४६ ३
६ मा० १ २१५ ७ १ २४८ (पू०) २ १२६ १ ३ १६ ११ ६ ३५ (क) उ० ७ १ (क) दोहावली दो० ४१ ४४—४५, विनय-पत्रिका पद १००
७ कवितावली उत्तरकाण्ड पद ११८
८ मा० २ ८४ ८; २ १३१ २ १४०
९ मा० ३ २ ९
१० मा० ७ ४० ५
११ मा० १ १६२ २
१२ मा० ७ ११२ख
१३ मा० ७ १ ४
१४ मा० ७ १५
१५ मा० ५ ४८ ७ ४५ ६ (पू०)
१६ दोहावली दो० ६१—"जे जन रूखे विषय रस चिकने राम सनेह।
तुलसी ते प्रिय राम को कानन बसहिं कि गेह॥

लक्षण परमात्मा के चरणों में निश्छल प्रेम माना है। मनुष्य चाहे गृहस्थ हो, चाहे विरक्त, शर्त यही है कि वह परमात्मा के चरणों में तल्लीन हो जाय। वे (तुलसी) गृहस्थ और विरक्त दोनों को समान दृष्टि से देखते हैं। वे भक्त बनने के लिए किसी को घर छोड़कर विरागी बनने का उपदेश नहीं देते। उनकी तो यही शिक्षा है कि यदि मनुष्य गृहस्थाश्रम में निवास करते हुए भगवान् रामचन्द्र के चरणों मे लवलीन रहे तो इससे बढ़कर दूसरा कोई अच्छा जीवन नहीं है। मानस के राम-राज्य-वर्णन में इस गार्हस्थ्य जीवन का सुन्दर और सजीव चित्र मिलता है।[1] मानस के ही वर्षा-वर्णन प्रकरण मे लक्ष्मण के प्रति भगवान् राम का स्पष्ट कथन है—

> 'लछिमन देखु मोर गन नाचत बारिद पेखि।
> गृही बिरति रत हरष जस बिष्नु भगत कहुँ देखि॥'[2]

भगवान् राम ने श्रीमुख से जो भक्तों के लक्षण बताये हैं उनमें निर्वैरता आशा हीनता निर्भीकता अनारम्भता अनिकेतता अमानिता अनघता अरोषता दक्षता विज्ञान सत्संग वैराग्य भक्ति-मार्ग में एक निष्ठा अदुराग्रह भगवन्नाम-जप एवं गुण-कीर्तन आदि की प्रधानता है।[3]

वस्तुतः साधु, सन्त एवं सज्जन भी भक्त ही होते हैं और उनके गुण भी भक्तों के लक्षण के रूप में स्वीकार किये जा सकते हैं। पर भक्त मे जहाँ भगवत् प्रेम एवं हृदय की रागात्मिका वृत्ति की प्रधानता पायी जाती है वहाँ सन्त मे इनके अतिरिक्त मस्तिष्क की बोध वृत्ति की भी प्रधानता रहती है। ये सन्त ही वेद रूपी समुद्र का अपने ज्ञान रूपी मन्दराचल से मन्थन करके भगवत्कथा रूपी अमृत निकालने वाले देवता हैं।[4] इनका चरित्र कपास के समान शुभ्र है और ये स्वयं दुःख सहकर दूसरों के दोषों को ढकते हैं।[5] संसार को सुख प्रदान करने वाले चन्द्र और सूर्य की तरह सन्तों का उदय सन्तत सुखकारी होता है।[6] दूसरों के दुःख देखकर द्रवीभूत होने वाले सन्त का हृदय नवनीत से भी अधिक कोमल होता है।[7] जामवन्त और हनुमान् की भाँति कुवेषधारी सन्त भी संसार में सम्मानित हो होते हैं।[8] स्वतः भगवान् राम ने श्रीमुख से जो सन्तों के लक्षण बतलाये हैं उनमें निश्छल शरणागति

---

१ मा० ७ २४ ४–१
२ मा० ४ १६
३ मा० ७ ४६ १–७ ४६
४ मा० ७ १२० (क)
५ मा० १ २ १–६
६ मा० ७.१२१ २१
७ मा० ७.१२५ ८
८ मा० १ ७ ७

अपार महिमा का स्वीकार करते हुए अपना ऐसा विश्वास व्यक्त किया है कि राम के भक्त राम से भी बढ़कर हैं। यदि राम समुद्र हैं तो भक्त मेघ के समान है और यदि वे चन्दन के वृक्ष हैं तो वह पवन है।[1] समुद्र एवं चन्दन की भाँति विद्यमान भगवान् के अमित वैभव को जन-जन के जीवन में प्रवाहित प्रसारित एवं समुचित रूप से वितरित करने वाले मेघ एवं पवन के समान भक्त जन ही हैं। मेघ समुद्र से ही जल लाता है और ग्रीष्मकालीन प्रचण्ड दाहकता से सन्तप्त संसार में वर्षा कर जन जीवन को शीतलता प्रदान करते हुए धरित्री को शस्यश्यामला एवं उर्वरा बनाता है। पवन भी चन्दन-तरु से ही सुगन्धि लाकर लोक-जीवन को सुरभित बनाता है। यथार्थतः लोक जीवन का प्रत्यक्ष उपकार मेघ एवं पवन से सम्पन्न होता है न कि समुद्र एवं चन्दन-तरु से। समुद्र एवं चन्दन-तरु से प्रत्यक्ष सम्पर्क स्थापित करके लाभान्वित होने वाले लोगों की संख्या नगण्य है। अतः निश्चय ही समुद्र एवं चन्दन-तरु रूपी भगवान् की अपेक्षा मेघ एवं पवन रूपी भक्तजन का अधिक माहात्म्य है। भगवान् के ऐसे भक्तों की सेवा सैकड़ों कामधेनु की सेवा के समान श्रेयस्कर है।[2] कोई भगवान् का अपराध कर दे तो कर दे क्योंकि वे अपने प्रति किये जाने वाले अपराध पर क्रुद्ध नहीं होते। परन्तु जो ऐसे भक्तों के प्रति अपराध करता है वह राम के क्रोधानल में भस्मीभूत हो जाता है।[3] भक्त का काम बिगाड़ने की बात मन में लाने से लोक में अपयश और परलोक में दुःख होता है और लोक का समाज दिनों दिन बढ़ता ही चला जाता है।[4] भगवान् अपने भक्तों की सेवा से सुख मानते हैं और उनके साथ शत्रुता करने से घोर शत्रुता करते हैं।[5] भक्तों की अवज्ञा करने वाले अपने समस्त कल्याण-कर्मों से पतित हो जाते हैं।[6]

भगवान् भक्तों के संरक्षण में सदैव सचेष्ट रहते हैं और कोई करोड़ों उपाय करके भी भक्त का एक बाल भी बाँका नहीं कर सकता।[7] भगवान् राम उनकी चूक को ध्यान में नहीं लाते बल्कि उनके हार्दिक प्रेम को निरन्तर स्मरण करते रहते हैं।[8] भगवान् को भक्त ही सर्वाधिक प्रिय होता है।[9] राम सदा उनकी रुचि रखते हैं[10] और उनकी भक्ति के वशीभूत रहते हैं।[11] ऐसा कोई भी पदार्थ

---

१ मा० ७।१२० १६-१७
२ मा २।२१६।१
३ मा० २।२१८।४-५
४ मा २।२१८
५ मा० २।२१९।२
६ मा २।२१९।५
७ मा० १।१२१।८ विनयपत्रिका पद १३७ पंक्ति २
८ मा १।२९।२
९ मा० ७।१६।८ ७।८६।४-१०
१० मा० २।२१९।७ (पू)
११ मा० २।२१९।३ (उ)

नहीं है जो भगवान् द्वारा अपने भक्त को नहीं प्रदान किया जा सके।[1] सबका भरोसा त्याग भजन करने वाले अपने भक्तों की वे वैसी ही रक्षा करते हैं जैसे माता बालक की रक्षा करती है।[2] यदि ऐसे महान् भक्तों के अन्तःकरण में कभी अहंकार का अंकुर उग आता है तो भक्तों के हितकारी भगवान् अवश्य ही उसे उखाड़ फेंकते हैं।[3] जब किसी शिशु के शरीर में घाव हो जाता है तब माता कठोर होकर उसे चिरवा डालती है। यद्यपि बच्चा पहले दुःख पाता है और अधीर होकर करुण-क्रन्दन करता है तथापि माता रोग-नाश के लिए उस बच्चे की पीड़ा की चिन्ता नहीं करती। ठीक इसी प्रकार भगवान् राम भी अपने भक्तों के अभिमान को हर कर उसका हित किया करते हैं।[4] ये धर्मशील हरिभक्त संसार में उसी प्रकार सुख पूर्वक जीवन-यापन करते हैं जिस प्रकार अगाध जल में मछली सुखी रहा करती है।[5] ऐसे धर्मशील भक्तों के पास सुख-सम्पत्ति उसी प्रकार बिना बुलाये जाती रहती है जिस प्रकार कामना-रहित समुद्र के पास सरिताएँ स्वतः आया करती हैं।[6] गोस्वामी तुलसीदास जी तो प्रेमी एवं बड़भागी भक्तों के चरणों की जूतियों में अपने शरीर के चमड़े को लगाने में अपना सौभाग्य समझते हैं।[7] उनका विचार है कि बस चले तो भक्त-निन्दकों की जीभ काट लेनी चाहिए अन्यथा जहाँ भक्तों की निन्दा हो रही हो वहाँ से कान मूँद कर शीघ्र ही प्रस्थान कर जाना चाहिए।[8] भक्तों के माहात्म्य की अभिव्यंजना करने वाले अनेकानेक दोहे दोहावली में भी विद्यमान हैं।[9] वस्तुतः भक्त ही सर्वज्ञ गुणी एवं ज्ञानी है। वही पृथ्वी का भूषण पंडित दानी धर्मपरायण एवं कुल का रक्षक है। यथार्थ में निश्छल भक्त ही नीति निपुण परम बुद्धिमान वैदिक सिद्धान्तों का सम्यक ज्ञाता कवि, कोविद तथा रणधीर है।[10] अब मानस का एक भक्त माहात्म्य-व्यंजक दोहा उद्धृत करते हुए इस प्रसंग को समाप्त किया जा रहा है—

> "सो कुल धन्य उमा सुनु जगत पूज्य सुपुनीत।
> श्री रघुबीर परायन जेहिं नर उपज बिनीत॥"[11]

---

१ मा० १ ४२ १
२ मा ३ ४३ ४–४
३ मा० ७ २६ ८
४ मा० ७ ७४ १–७ ७४ (क) पू०
५ मा १ १६ (क) ४ १७ ?
६ मा० १ २६४ २–३
७ मा दोहावली दो ३९
८ मा० ६ ६४ ३–४
९ दोहावली दो० ११२ १४१
१० मा ७ १२७ १—४
११ मा० ७ १२७

"मानस" के भक्त पात्र—

तुलसीदास जी ने "मानस" के अधिकांश पात्रों को रामभक्त ही सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। विवेचन विश्लेषण में सुविधा के उद्देश्य से यहाँ उन्हें कुछ वर्गों में विभाजित कर लेना उचित प्रतीत होता है—

१ देवता—

शिव पार्वती ब्रह्मा, नारद इन्द्र,

२ आर्य—

(क) ऋषि—भरद्वाज वशिष्ठ विश्वामित्र अहल्या वाल्मीकि अत्रि शरभंग सुतीक्ष्ण अगस्त्य सनकादि।

(ख) राजे और रानियाँ—जनक दशरथ कौशल्या सुमित्रा कैकेयी, सीता।

(ग) राजकुमार—भरत लक्ष्मण शत्रुघ्न।

३ अनार्य

निषादराज गुह केवट शबरी हनुमान सुग्रीव बालि अंगद जामवंत।

४ पक्षी—

जटायु कागभुशुण्डि।

५ राक्षस—

रावण विभीषण कुम्भकर्ण मन्दोदरी त्रिजटा।

६ जनसामान्य—

देवगण अयोध्यावासी इत्यादि।

शिव

यों तो मानस के दशरथ कौशल्या भरत आदि सभी प्रमुख पात्र ही नहीं प्रत्युत साक्षात् भगवान् राम भी शिव के भक्त बनाये गये हैं पर शिव[1] स्वयं भगवान् राम के महान् भक्त हैं। भला उनसे टक्कर का राम का भक्त कौन हो सकता है जिन्होंने सीता का छद्म वेश धारण करके राम के परब्रह्मत्व की परीक्षा लेने के अपराध में सती जैसी स्त्री का भी परित्याग कर दिया।[2] सती के अपराध से महान् राम भक्त शिव का यह धारणा निश्चित कर ली थी कि—

"जौं अब करउँ सती सन प्रीती। मिटइ भगति पथ होइ अनीती॥"[3]

---

१ मा० १।१०८ (पू०) १।१०५ (उ०)

२ मा० १।१०४।७–८

३ मा० १।५६।८

राम-भक्ति की इस अग्नि-परीक्षा में शिव खरे सोने की भाँति चमक उठे हैं। 'मानस' में भरत को छोड़कर इनके अतिरिक्त अन्य किसी भी भक्त को भक्ति की ऐसी कठिन अग्नि परीक्षा में खरा उतरने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ है।

ऐसे तो शिव में होनहार को भी मिटाने का सामर्थ्य है[1] पर जिस होनहार में हरि की इच्छा सम्मिलित रहती है उसे वे कभी भी नहीं मिटाते हैं।[2] अपने अनुभव के आधार पर 'हरि भजन' को ही सत्य समझकर उन्होंने समस्त संसार को स्वप्नवत् असत्य निश्चित कर लिया है।[3] यही कारण है कि भगवान् राम को वे सर्वाधिक प्रिय हैं और जिस पर उनकी कृपा नहीं हो पाती वह राम की भक्ति से भी वंचित ही रह जाता है।[4] गोस्वामी जी की दृष्टि में तो वे राम के सेवक स्वामी सखा—सब कुछ है।[5] जब सती ने अपने पिता के यज्ञ में योगाग्नि से अपना शरीर भस्म कर लिया तब वे विरक्त होकर निरन्तर भगवान् राम का नाम जप करते हुए यत्र-तत्र उनके गुणों का गान श्रवण करते रहते थे।[6] जब भगवान् राम प्रकट होकर उन्हें हिमालय के घर पार्वती रूप में अवतीर्ण सती से पुन परिणय करने का निवेदन करते हैं तब वे इसे उचित नहीं समझते हुए भी परम धर्म मानकर उनके आदेश को शिरोधार्य करते हैं।[7] भगवान् राम के चरणों मे उनकी ऐसी प्रगाढ़ भक्ति है कि राम-जन्म-महोत्सव में सम्मिलित होने के लिए कागभुशुण्डि के साथ मनुष्य-रूप धारण कर वे अयोध्या चले जाते हैं।[8] और उनकी कथा सुनने के लिए मराल-वेष धारण कर नीलगिरि स्थित कागभुशुण्डि के आश्रम में निवास करते हैं।[9] ऐसे तो वे आशुतोष और अवढरदानी हैं,[10] किन्तु राम के परमब्रह्मत्व के सम्बन्ध में आशंका प्रकट करने वालो के प्रति वे अत्यन्त क्रुद्ध हो जाते हैं और[11] राम भक्ति-रहित प्राणी को तो मृतक के समान ही ही समझते हैं।[12] वे भगवान् के यथार्थ स्वरूप के सबसे बड़े ज्ञाता हैं। तभी तो भगवान् के अन्वेषण में प्रयत्नशील देवताओं के समाज में उन्होंने कहा था—

हरि व्यापक सर्बत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना॥
देस काल दिसि बिदिसिहु माहीं। कहहु सो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं॥

---

१ मा० १ ७ ५ (उ)
२ मा० १ ५९ १ (पू)
३ मा० १ ११ ५
४ मा० १ १३८ ६-७
५ मा० १ १५४ (पू०)
६ मा १ ७५ ७
७ मा १ ७७ १-४
८ मा० १ १९९ ४-५
९ मा० ७.५७ (पू०)
१० मा० २ ४४८ (पू)
११ मा० १ ११४ ७—११५ ४
१२ मा १ ११३ ५

को समझ कर वे प्रेम निमग्न हो गये।[1] रावण-वध के पश्चात् अत्यन्त प्रेम-पुलकित होकर उन्होंने भगवान् राम की जो स्तुति की है।[2] उसमें राम भक्ति से रहित देव जीवन को भी धिक्कारते हुए[3] उनके चरण-कमलों में अनन्य प्रेम होने का वरदान माँगा है।[4] उस समय तो शोभासिन्धु भगवान् राम के दर्शन करते-करते उनके नेत्र तृप्त ही नहीं होते थे।[5]

'नारद'

भगवान् राम के परम भक्त नारद भक्ति-मार्ग के आचार्यों के भी आचार्य हैं। वे ब्रह्मचर्य व्रतधारी हैं धीर-बुद्धि हैं[6] गान-विद्या में प्रवीण हैं और हाथ में सुन्दर वीणा लिए हुए भगवान् के गुणों के गायन में निरन्तर संलग्न रहते हैं।[7] वे राम के दर्शन के लिए बार-बार अयोध्या आते हैं[8] और आकर उनके पवित्र चरित्र गाते हैं। जब वे भगवान के नित्य नये-नये चरित्रों को देखकर ब्रह्मलोक में जाकर उनका वर्णन करते हैं तो उसे सुनकर ब्रह्मा एवं सनकादि आत्म-सुखि को देते हैं।[9] सुरम्य वन प्रान्तों को देखकर तो नारद का मन भगवान के चरणों में और भी अधिक अनुरक्त हो जाता है। उस समय उन्हें अनायास ही समाधि लग जाती है और एक स्थान पर दो घटे से अधिक देर तक नहीं ठहर सकने का दक्ष प्रजापति प्रदत्त अभिशाप की गति भी कुण्ठित हो जाती है।[1] विष्णु भक्त एवं ज्ञानी नारद [11] के महान रक्षक साक्षात् भगवान हैं। अतः उनकी सीमा पर अधिकार कर लेना किसी के भी बूते की बात नहीं है।[12] यही कारण है कि इन्द्र के द्वारा भेजे गये कामदेव की कला का उनपर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा था।[13] हाँ जब उनके मन में कामदेव को जीतने का अहंकार हो गया[14] तब उनके कल्याण के लिए निश्चय ही सेवक हितकारी करुणा निधान भगवान ने कौतुक करके उसे समूल नष्ट कर दिया।[15] इससे भगवान की भक्तवत्सलता एवं नारद के ऊपर उनकी असीम कृपा का ही परिज्ञान नहीं होता अपितु भगवान के चरणों में नारद की भक्ति की प्रगाढ़ता का भी परिचय मिलता है।

---

१ मा० ७ ६ १—२
२ मा० ६ ११२ (पू०)
३ मा० ६ ११२ १८— बिन सीवन देव सरीर हरे। तब भक्ति बिना भव भूलि परे ॥
४ मा० ६ ११२ २२
५ मा ६ ११२ (उ)
६ मा० १ १२६ २
७ मा १ १२८ ३ १ ४१८—१ ७ ५ ७ ५१ ७ ५१ (पू०)
८ मा० ७ ३७ १—२(पू०) ७ ४२ ४ (पू)
९ मा० ७ ४२ ४ (उ)—८
१० मा० १ १२५ १—४
११ मा० १ १२४ ६ (उ०)
१२ मा १ १२६ ८
१३ मा १ १२६ ७
१४ मा १ १२७ ५ (उ)
१५ मा १ १२९ ४—६

नारद भगवान राम के नाम के महान जापक ही नहीं बल्कि उसके प्रत्यक्ष प्रताप के बहुत बड़े ज्ञाता भी हैं।[1] उन्होंने अरण्य में "विरहवन्त भगवान के समक्ष उपस्थित होकर राम-नाम के सर्वाधिक प्रभावशाली होने का वरदान ले लिया है।[2] वहां पर राम के श्रीमुख से अपने विवाह रोकने के कारणों को सुनकर[3] और उसमे अपना परमहित समझकर उनका शरीर पुलकित हो जाता है और प्रेमाश्रुओं के जल से आँखें भर आती हैं।[4] सेवकों पर इस तरह ममत्व एवं प्रेम रखने वाले प्रभु की भक्ति से वंचित मनुष्यों की वे भर्त्सना करने लगते हैं।[5]

"इन्द्र

देवराज इन्द्र सर्वाधिक कुटिल एवं स्वार्थी हैं। महर्षि नारद को तपोभ्रष्ट करने के लिए वे कामदेव का उपयोग करते हैं[6] और देवमाया द्वारा चित्रकूट की सभा में उच्चाटन पैदा कर देते हैं।[7] पहले तो उन्होंने अपने गुरु बृहस्पति से यह प्रयत्न करने का आग्रह किया जिससे राम और भरत की भेंट ही न हो।[8] पर देवगुरु ने मुसकराकर भक्तों के अपराध पर राम की क्रोधाग्नि से उन्हें अवगत कराते हुए उनके इस आग्रह को अस्वीकार कर दिया।[9] पुनः भरत की मति को फेरने के लिए सरस्वती का आह्वान हुआ परन्तु इस बार वे भी इन्द्र को करारी फटकार बतलाती हुई ब्रह्मलोक को चली गयीं।[10] वस्तुतः "महामलीन" मघवा मरे हुए को मार कर भी अपना मंगल चाहते हैं।[11] इसीलिए तुलसी ने उनकी भर्त्सना करते हुए कहा है कि—

> कपट कुचालि सीव सुरराजू। पर अकाज प्रिय आपन काजू॥
> काक समान पाकरिपु रीती। छली मलीन कतहुं न प्रतीती॥"[12]

और कृपानिधान भगवान राम ने भी हँसते हुए इसकी पुष्टि की है।[13] फिर भी इन्द्र भगवान राम के परम भक्त हैं। रामोत्सवों पर देवताओं के साथ पुष्पवृष्टि करने में

---

१ मा० १ २११ (पू)
२ मा० १ ४२ ७—१ ४२ (क)
३ मा १ ४३ ४—१ ४४
४ मा १ ४५ १
५ मा १ ४५ २—३
६ मा० १ १२५ ५—१ १२५
७ मा २ २९५—२ २९५ १ २ १ २ ३—४ मा० २ ११६ (उ०)
८ मा २ २१७ ७—२ २१७
९ मा० २ २१८ १—२ २१८
१० मा० २ २९४—२ २९५ १—८
११ मा० २ १ १ (उ०)
१२ मा० २ १ २ १—२
१३ मा० २ ३०२ ८

वे भी सम्मिलित हैं।[1] और जनकपुर में राम विवाह के अवसर पर गौतम के शाप को अपने लिए परम हितकर मानकर अपने हजार नेत्रों से राम-दर्शन का सुन्दर लाभ उठा रहे हैं।[2] जनकपुर में उनके राम-दर्शन के इस सौभाग्य पर सभी देवताओं को ईर्ष्या भी हुई थी और उन्होंने एक स्वर से यह स्वीकार किया था कि आज इन्द्र के समान भाग्यवान् दूसरा कोई नहीं है।[3] लंका में राम रावण युद्ध के समय पदाति राम के पास अपना दिव्य अनुपम एवं तेजपुञ्ज रथ भेजकर[4] इन्द्र ने अपनी राम भक्ति का सुन्दरतम परिचय प्रदान किया है। इतना ही नहीं वहीं पर रावण-वध के पश्चात् भगवान् से आज्ञा लेकर उनके आदेशानुसार[5] उन्होंने अमृत की वृष्टि करके वानर भालुओं को जिलाकर भी अपनी प्रगाढ़ भक्ति प्रदर्शित की है।[6] रावण के निधनोपरान्त राम की स्तुति करते हुए इन्द्र ने तो स्पष्ट शब्दों में निर्गुण ब्रह्म की *उपासना की अपेक्षा सगुण ब्रह्म राम के कोशलराज-स्वरूप के प्रति ही अपनी सर्वाधिक प्रीति* घोषित की है। साथ ही उन्होंने अपने को भगवान् राम का दास बतलाकर उनसे भक्ति की याचना करते हुए सीता-लक्ष्मण सहित अपने हृदय में निवास करने की प्रार्थना की है।[7]

यहाँ यह निवेदन करना अप्रासंगिक नहीं होगा कि तुलसी ने इन्द्र आदि देवताओं का वैदिक रूप नहीं लेकर पौराणिक रूप ही लिया है। ब्रह्मपुराण में तो इन्द्र को अहल्या के साथ जारकर्म करने वाला कहा गया है।[8] यही कारण है कि उन्होंने इन्द्र को कामी लोलुप कुटिल स्वार्थी अविश्वासी काक के समान छली और मलिन तथा न जाने और क्या-क्या कहा है। पर ऋग्वेद की अधिकांश ऋचाएँ इन्द्र की महिमा से मुखरित हैं।[9] मेरी समझ में तुलसी भी इन्द्र के वैदिक रूप से अपरिचित नहीं थे। कदाचित् उनके उसी रूप को स्मरण करके ही उन्होंने लिखा है—

> राम सहित सीता सहित सोहत परम निकेत।
> जिमि बासव बस अमरपुर सची जयंत समेत॥[10]

---

१ मा० १ ३१३ ७ (पू०) २ २२० ४
२ मा० १ ३१७ ६
३ मा० १ ३१७ ७
४ मा ६ ८६ २ ३
५ मा ६ ११४ १ २
६ मा ६ ११४ ५
७ मा ६ ११३ ११ १७
८ ब्रह्म पुराण अ० ८७ श्लो० ४१ ६४
९ ऋग्वेद मण्डल १ सूक्त ४ मन्त्र ४ ६ सूक्त ४ मन्त्र १ १० सूक्त ५ मन्त्र १ १० इत्यादि।
१० मा० २ १४१

"भरद्वाज"

राम के चरणों के महान् प्रेमी महर्षि भरद्वाज प्रयाग-निवासी थे। वे तपस्वी निगृहीत चित्त जितेन्द्रिय दयानिधान एवं परमार्थ-पथ में परम प्रवीण थे।[1] यही कारण है कि तीर्थराज प्रयाग में मकर स्नान के लिए आये हुए परम ज्ञानी याज्ञवल्क्य मुनि के चरण पकड़ कर उन्होंने अपने अतिपावन एवं परम रम्य आश्रम पर उन्हें रख लिया और उनसे राम के यथार्थ स्वरूप की पूरी-पूरी जानकारी प्राप्त कर ली।[2] याज्ञवल्क्य मुनि ने उन्हें राम के यथार्थ स्वरूप से अवगत कराने के लिए 'उमा सम्भु संवाद' प्रारम्भ करने के पूर्व ही मुसकुराते हुए कहा था—

(जागबलिक बोले मुसुकाई।) तुम्हहि बिदित रघुपति प्रभुताई॥
राम भगत तुम्ह मन क्रम बानी। चतुराई तुम्हारि मैं जानी॥
चाहहु सुनै राम गुन गूढ़ा। कीन्हिहु प्रस्न मनहुँ अति मूढ़ा॥[3]

अपने आश्रम पर मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् राम का वनवासी वेष में दर्शन कर भरद्वाज मुनि को जिस अनिर्वचनीय आनन्द का अनुभव हुआ था उसकी कोई सीमा नहीं थी। उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ मानों ब्रह्मानन्द की राशि ही प्राप्त हो गयी हो।[4] विधाता ने आज सीता-लक्ष्मण-सहित भगवान् राम का शुभ दर्शन प्रदान कर उनके सम्पूर्ण पुण्यों के फल को लाकर उनकी आँखों के सामने प्रत्यक्ष कर दिया था।[5] राम का सादर सप्रेम पूजन एवं आतिथ्य-सत्कार सम्पन्न करके[6] उनके साक्षात्कार से अपने अन्तःकरण में निरन्तर विद्यमान समस्त शुभ साधनों की सफलता से आह्लादित होकर उन्होंने भगवान् से निवेदन किया था—

आजु सुफल तपु तीरथ त्यागू। आजु सुफल जप जोग बिरागू॥
सफल सकल सुभ साधन साजू। राम तुम्हहि अवलोकत आजू॥[7]

उनकी दृष्टि में भगवान् के दर्शन को छोड़कर लाभ की सीमा और सुख की सीमा दूसरी कुछ भी नहीं है। भगवान् के दर्शन से वे पूर्णकाम हो गये अर्थात् उनकी सारी आशाएँ पूरी हो गयीं।[8] इसीलिए उन्होंने भगवान् से उनके चरण-कमलों में सहज स्नेह अर्थात् अहैतुकी भक्ति का वरदान माँगा[9] क्योंकि भरद्वाज मुनि के हृदय का तो वह अविचल

---

१ मा० १४४-१२
२ मा० १४४१ १-४५४ १४६-६, १४७८ १४७
३ मा० १४७ २-४
४ मा० २१०६ ख
५ मा २११६
६ मा० २१०७-१४
७ मा० २१ ७१६
८ मा० २१०७७
९ मा० २१२७७

सिखाया था कि जब तक कर्म वचन और मन से छल छोड़कर मनुष्य भगवान् का भक्त नहीं हो जाता तब तक करोड़ों उपाय करने पर भी उसे स्वप्न में भी सुख नहीं मिलता।[1]

"वशिष्ठ"

यों तो महर्षि वशिष्ठ राम के गुरु[2] एवं कुलगुरु[3] हैं पर वे भी हृदय से उनके भक्त हैं। वस्तुतः उन्होंने वेद पुराण एवं स्मृति-निन्दित पुरोहिती कर्म को सूर्यवंश में ब्रह्मा के आदेश से इसी लोभ से स्वीकार किया था कि आगे चलकर साक्षात् ब्रह्म परमात्मा मनुष्य रूप धारण करके इस कुल में राजा के रूप में अवतीर्ण होंगे और जिनके लिए योग यज्ञ व्रत और दान किये जाते हैं उन्हें वे इसी पुरोहिती कर्म से प्राप्त कर सकेंगे।[4] उन्होंने राम आदि का नामकरण संस्कार करते समय राजा दशरथ से स्पष्ट ही कह दिया था कि तुम्हारे पुत्र वेद के तत्त्व अर्थात् साक्षात् भगवान् हैं।[5] महर्षि वशिष्ठ की दृष्टि में संसार में जितने प्रकार के धर्म बतलाये गये हैं और जितने प्रकार की विद्याएँ पढ़ने की बात कही गयी है उन सब का एकमात्र फल भगवच्चरणानुराग ही है।[6] उन्होंने अपना यही अन्तिम सिद्धान्त निश्चित कर लिया है कि—

> "सोइ सर्बग्य तग्य सोइ पंडित। सोइ गुन गृह बिग्यान अखंडित॥
> दच्छ सकल लच्छन जुत सोई॥ जाकें पद सरोज रति होई॥"[7]

और इसीलिए तो वे भगवान राम से जन्म जन्मान्तर के लिए उनके चरण-कमलों में प्रेम एवं भक्ति की ही याचना करते हैं।[8]

"विश्वामित्र"

बाल्यावस्था में ही भगवान राम के अतुल पराक्रम एवं ऐश्वर्य को उद्घाटित कर समस्त संसार के समक्ष उनकी दीप्ति प्रकाशित करने का श्रेय उनके गुरु महर्षि विश्वामित्र

---

१ मा २१०७

२ मा० २.९२ ७४८ १२

३ मा० ७.८६ (पू०)

४ मा० ७ ४८ १-७ ४८

५ मा० १ १९८ १

६ मा ७.४९.१४—

> जप तप नियम जोग निज धर्मा। श्रुति संभव नाना सुभ कर्मा॥
> ग्यान दया दम तीरथ मज्जन। जहँ लगि धर्म कहत श्रुति सज्जन॥
> आगम निगम पुरान अनेका। पढ़े सुने कर फल प्रभु एका॥
> तव पद पंकज प्रीति निरंतर। सब साधन कर यह फल सुंदर॥

७ मा० ७.४९.७—८

८ नाथ एक बर मागउँ राम कृपा करि देहु।
जन्म जन्म प्रभु पद कमल कबहुँ घटै जनि नेहु॥ मा० ७-४९

तो ही है।[1] वशिष्ठ की ही तरह विश्वामित्र भी राम के गुरु होकर भी हृदय से उनके भक्त हैं। जब उनके आश्रम में मारीच सुबाहु आदि राक्षसों के उपद्रव के कारण याज्ञिक-अनुष्ठान में व्यवधान उपस्थित होने लगा।[2] तब इसी बहाने रघुकुल में अवतीर्ण भगवान राम के दीवरणों के दर्शन का लोभ और भ्रातासहित उन्हें अपने साथ लाने के विचार से वे शीघ्र ही अयोध्याधिपति राजा दशरथ के दरबार में आ पहुँचे। मार्ग में जाते समय वे बहुत प्रकार के सुन्दर मनोरथ कर रहे थे और ज्ञान वैराग्य एवं सब गुणों के धाम प्रभु को नेत्र भरकर देखने की कल्पना से गद्गद हो जाते थे।[3] राज दरबार में पहुँचने पर जब राजा दशरथ ने अपने चारों पुत्रों को मुनि के चरणों पर डाल दिया तब राम को देखकर वे अपनी देह की सुधि भूल गए। वे राम के मुख की शोभा देखते ही ऐसे मग्न हो गए, मानो चकोर पूर्ण चन्द्रमा को देखकर लुभा गया हो।[4] जिस समय जनकपुर की सभा में धनुष भंग होने पर विश्वविजयी असाधारण योद्धा परशुराम राम के प्रभाव एवं परब्रह्मत्व से अपरिचित होने के कारण उनके सम्मुख सरमण से अनावश्यक प्रलाप कर रहे थे उस समय महर्षि विश्वामित्र ने हृदय में हँसकर जो विचार व्यक्त किया था[5] उससे भी स्पष्ट है कि राम के परब्रह्मत्व से वे पूर्णतः अवगत थे। महर्षि विश्वामित्र का राम में इतना स्नेह था कि वे राम विवाह के पश्चात् अयोध्या से चले जाने की इच्छा रखते हुए भी उनके स्नेह एवं विनय से रुक जाते जाते थे।[6] अयोध्या से अपने आश्रम को विदा होते समय वे मन-ही-मन राजा दशरथ की भक्ति चारों भाइयों के विवाह और सब के उत्साह एवं आनंद की तो सराहना कर ही रहे थे पर सर्व प्रथम सराहना वे राम के रूप की ही कर रहे थे।[7] इन सारी बातों से यह सुस्पष्ट है कि महर्षि विश्वामित्र भगवान राम के महान भक्त थे।

अहल्या[8]

रामचरितमानस में भगवान की कृपा साम्य भक्ति को प्राप्त करने वालों में गौतम ऋषि की पत्नी अहल्या का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।[8] अपने पातिव्रत्य से च्युत होने के कारण पति के अभिशाप वश वह प्रस्तर रूप में परिणत हो गयी थी। तुलसी ने

---

१ मा० १ २०१७—८ १ २११ (उ०) १ २२४५—६ १ २६५७ (पू०)

२ मा० १ २ ६२४

३ मा १ २ ६ ५ १ २ ६

४ मा० १ २ ७५ ६

५ मा० १ २७५—

'गाधि सुनु कह हृदय हँसि मुनिहि हरि अरइ सूझ।
अयमय खाँड न ऊखमय अजहुँ न बूझ अबूझ॥"

६ मा० १ ३६० ३

७ मा १ ३६

८ मा० १ २११ ५

'धीरजु मन कीन्हा प्रभु कहुँ चीन्हा रघुपति कृपा भगति पाई।

अत्यंत संक्षेप में उनकी कथा प्रस्तुत की है। महर्षि विश्वामित्र के साथ धनुष-यज्ञ को देखने के लिए जनकपुर जाते समय प्रभु के पूछने पर पत्थर बनी हुई गौतमनारी का सारी कथा सुनाते हुए महर्षि ने भगवान् से उसको कृपा करके अपना चरण कमल रज प्रदान कर उसकी आकांक्षा की पूर्ति का अनुरोध किया।[1] भगवान् के पवित्र एवं शोक का नाश करने वाले चरणों के स्पर्श होते ही प्रेम विह्वल होकर तपोमूर्ति अहल्या प्रकट हो गयी। भक्तों को सुख देने वाले भगवान् राम का दर्शन कर अहल्या करबद्ध उनके समक्ष खड़ी रही। आनन्दातिरेक से उसका शरीर पुलकित हो उठा और उसकी वाणी अवरुद्ध हो गयी। वह अत्यंत बड़ भागिनी अहल्या भगवान् के चरणों से लिपट गयी और उसकी दोनों आँखों से प्रेमानन्द की अश्रुधाराएँ प्रवाहित हो उठीं।[2] फिर धैर्य धारण कर प्रभु की स्तुति कर उनके चरणों में अविरल भक्ति की याचना करके वह सानन्द अपने पतिलोक को चली गयी।[3]

वाल्मीकि

त्रिकालदर्शी महर्षि वाल्मीकि[4] भगवान् राम के परम भक्त हैं। अपने आश्रम में इस प्राण-प्रिय अतिथि को पाकर वे कृतार्थ हो जाते हैं[5] और भगवान् की मंगलमूर्ति को अपने नेत्रों से देखकर उनके मनमें अपार आनंद होता है।[6] वे भगवान् के यथार्थ स्वरूप से पूर्णतः परिचित हैं और भगवान के द्वारा अपने निवास के उपयुक्त स्थान पूछे जाने पर[7] वे सीता-लक्ष्मण सहित उनके यथार्थ एवं तात्कालिक स्वरूप का सुन्दरतम स्पष्टीकरण करते हुए उन्हें सर्वत्र व्यापक घोषित करते हैं।[8] साथ ही सीता-लक्ष्मण सहित उनके निवास के उपयुक्त चौदह स्थान बतलाते हैं।[9] पर तत्कालीन आवश्यकता एवं सुविधा पर ध्यान देते हुए वे चित्रकूट पर्वत पर उन्हें निवास करने का परामर्श देते हैं।[10]

महर्षि वाल्मीकि के संबंध में यह प्रसिद्ध है कि वे पहले दस्यु थे और भगवान् राम का उलटा नाम जप करके शुद्ध ही नहीं हुए प्रत्युत ब्रह्म के समान पूज्य भी बन गए।[11] इस तरह भगवन्नाम जापकों में उनका अग्रगण्य स्थान है।

---

१ मा० १ २१० ६—१ २१०
२ मा० १ २११ १—४
३ मा० १ २११ ५—११
४ मा० २ १२५ ७
५ मा० २ १२५ २—३
६ मा २ १२५ ५
७ मा० २ १२६ २—६
८ मा० २ १२६ ६—२ १२८
९ मा २.१२७ ३—२ १३१
१० मा० २ १३२ ३
११ मा० १ १९ × ३— 'जान आदि कबि नाम प्रतापू। भयउ सुद्ध करि उलटा जापू॥
मा २ १९४ ८— उलटा नामु जपत जग जाना। बालमीकि भए ब्रह्म समाना॥

'अत्रि'

सीता-लक्ष्मण-सहित भगवान् राम ने जब महर्षि अत्रि के आश्रम में पदार्पण किया तो उनका आगमन सुनते ही महामुनि हर्षित हो गये।[1] उनका शरीर पुलकित हो गया और वे भगवान् की ओर दौड़ पड़े। दण्डवत् करते हुए भगवान् को उठाकर उन्होंने हृदय से लगा लिया और प्रेमाश्रुओं के जल से दोनों भाइयों को नहला दिया। भगवान के अनुपम सौन्दर्य का साक्षात्कार कर अत्रि मुनि की आँखें जुड़ा गयीं। भगवान का पूजन एवं आतिथ्य सत्कार सम्पन्न कर परम प्रवीण मुनिवर उनकी सस्तुति करने लगे।[2]

महर्षि अत्रि ने अपनी स्तुति में भगवान राम की भक्तवत्सलता कृपालुता आदि का सविस्तार कथन करते हुए निमत्सर होकर उनकी भक्ति करके ससार-सागर से उद्धार पाने का सदुपदेश प्रदान किया है।[3] इस महाघोर ससार-सागर को पार करने का यथार्थतः कोई दूसरा साधन है भी नहीं। यही कारण है कि मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान राम के समक्ष विनयावनत होकर उनकी स्तुति करने के पश्चात् अत्रि के भक्त हृदय ने भगवान से उनके चरण-कमलों में भक्ति का ही वरदान माँगा है।[4]

शरभंग''

शरभंग मुनि के आश्रम में जिस समय भगवान राम वनवासी वेश म अपने अनुज लक्ष्मण एवं पत्नी सीता समेत पहुँचे थे[5] उस समय—

> देखि राम मुख पंकज मुनिवर लोचन भृंग।
> सादर पान करत अति धन्य जन्म सरभंग॥[6]

मुनि ने भगवान् से कहा था कि व ब्रह्मलोक को जा रहे थे। इसी बीच इन्हें भगवान् राम के वन में आने का संवाद मिला। तबसे वे ब्रह्मलोक की यात्रा स्थगित कर अहर्निश उनके शुभागमन की प्रतीक्षा कर रहे थे। पर आज प्रभु के दर्शन कर उनकी छाती शीतल हो गयी है।[7] महर्षि शरभंग को अपनी दीनता एवं भगवान् की भक्तवत्सलता पर अखंड विश्वास था। तभी तो वे कहते हैं—

> नाथ सकल साधन मैं हीना। कीन्ही कृपा जानि जन दीना॥[8]

---

१ मा० ३ ३ ४
२ मा० ३ ३ ५—११
३ मा० ३ ४ १—१२
४ मा० ३ ४
५ मा ३ ७ ८
६ मा ३ ७
७ मा० ३ ८ २-३
८ मा० ३ ८ ४

अपने आश्रम में भगवान् के सान्निध्य से उनकी भक्ति अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच जाती है और उन्होंने योग यज्ञ जप तप व्रत आदि जो कुछ किया था सब प्रभु को समर्पण करके बदले में वे भक्ति का ही वरदान ले लेते हैं।[1] संसार की सारी आसक्तियों का परित्याग कर वे एक मात्र भक्ति में ही लीन हो जाते हैं।[2] यहाँ तक कि अपनी शरीर की आसक्ति को भी नहीं सह सकने के कारण वे उसे भी योगाग्नि से भस्म करके रामकृपा से स्वर्ग चले जाते हैं।[3] परमधाम वैकुण्ठ में भगवान् के साथ ही निवास करते हुए उनके शील सौन्दर्य का साक्षात्कार करना चाहते थे। इसीलिए भगवान् में लीन नहीं होकर उन्होंने सगुण रूप की भेद भक्ति को ही स्वीकार किया है।[4]

सुतीक्ष्ण

सुतीक्ष्ण ऋषि महर्षि अगस्त्य के शिष्य थे। वे मन वचन एवं कर्म से राम के ही अनन्य भक्त थे। इस रामभक्त को स्वप्न में भी किसी दूसरे देवता का भरोसा नहीं था।[5] सुतीक्ष्ण की दीनता नम्रता एवं भगवान् राम के चरणों में अनन्यता तथा उनकी प्रतीक्षा में विकलता और उनके मिलन की सम्भावना से हर्ष का जैसा अंकन तुलसी ने किया है वह सर्वथा अनुपम एवं अद्वितीय है।[6] राम के आने का समाचार पाते ही वे प्रेमानन्द में मग्न हो जाते हैं। राम प्रेम विह्वल इस महान् भक्त की भक्ति की पराकाष्ठा निम्नांकित पंक्तियों में द्रष्टव्य है—

> निर्भर प्रेम मगन मुनि ग्यानी। कहि न जाइ सो दसा भवानी॥
> दिसि अरु बिदिसि पंथ नहिं सूझा। को मैं चलेउँ कहाँ नहिं बूझा॥
> कबहुँक फिरि पाछें पुनि जाई। कबहुँक नृत्य करइ गुनगाई॥[7]

वस्तुतः सुतीक्ष्ण की भक्ति के अन्तर्गत ज्ञान एवं प्रेम की एकाकार परिणति परिलक्षित होती है। निर्भर प्रेम में मग्न इस ज्ञानी मुनि की स्थिति अनिर्वचनीय है। भगवान् के प्रति अपनी प्रगाढ़ प्रेमाभक्ति के कारण उन्हें दिशा-विदिशा एवं मार्ग आदि कुछ भी नहीं दृष्टिगोचर हो रहा है। मैं कौन हूँ कहाँ जा रहा हूँ, इसका भी उन्हें ज्ञान नहीं है। वे कभी पीछे घूमकर फिर आगे चलने लगते हैं और कभी भगवान् का गुणगान करते-करते नृत्य करने लगते हैं। उनके इस प्रेमाधिक्य एवं भक्ति की प्रेमोन्मत्त दशा का अवलोकन कर भगवान्

---

१ मा० ३।८।७-३।८

२ मा० ३।८।८ (ग०)—"बठे हृदय छाड़ि सब संगा।

३ मा० ३।९।१

४ मा० ३।९।२

५ मा० ३।१०।१-२

६ मा० ३।१० ३-६

७ मा० ३।१० १०-१२

उनके हृदय में ही प्रकट हो जाते हैं।[1] हृदय में भगवान् का दर्शन पाकर वे पुलकित हो मार्ग में ही अचल होकर बैठ जाते हैं। अपने अचल आसन पर आसीन होकर वे भगवान् राम के ध्यान जनित सुख की समाधि में इतने निमग्न हो जाते हैं कि निकट आकर साक्षात भगवान् के द्वारा बहुत प्रकार से जगाये जाने पर भी नहीं जागते। अत: विवश होकर उन्हें जाग्रत करने के लिए उनके हृदय में भगवान् राम को अपना भूप रूप छिपाकर 'चतुर्भुज रूप' दिखलाना पड़ा। अपने इष्ट-स्वरूप के अन्तर्धान होते ही सुतीक्ष्ण की मणि अपहृत फणी की सी व्याकुलता उनकी रामभक्ति की अनन्यता सूचित करती है।[2] यथार्थत: वे भगवान् के चतुर्भुज रूप के द्रष्टा ही नहीं थे बल्कि इस रूप की अपेक्षा द्विभुज दाशरथी राजा राम के अवतार रूप में ही उनकी विशेष आसक्ति थी और वे उसी रूप के अनन्य उपासक थे। यहाँ की पंक्ति से भी यह स्पष्ट ही है कि वे चतुर्भुज रूप के दिखाये जाने से नहीं बल्कि भूपरूप के छिपाये जाने से व्याकुल हैं। वस्तुत: अपने गुरु अगस्त्य[3] की तरह सुतीक्ष्ण भी ब्रह्म के निर्गुण एवं सगुण दोनों रूपों से सुपरिचित होने के बावजूद सगुण स्वरूप से ही अत्यधिक प्रेम करते हैं।[4] यही कारण है कि राम के निर्गुण एवं सगुण दोनों रूपों की स्तुति[5] कर अपने आत्यन्तिक प्रेम को सगुण रूप तक ही सीमित करते हुए वे भगवान् से वरदान माँगते हैं कि—

> अनुज जानकी सहित प्रभु चाप बान धरि राम।
> मम हिय गगन इन्दु इव बसहु सदा निहकाम॥[6]

और सुतीक्ष्ण के इस वरदान की याचना पर रमानिवास भगवान् राम को भी 'एवमस्तु' करना पड़ा है।[7]

भगवान राम के द्वारा भूप रूप छिपाकर हृदय में चतुर्भुज रूप प्रकट किये जाने पर व्याकुल होकर जैसे ही सुतीक्ष्ण जगे वैसे ही उन्होंने अपने समक्ष सीता-लक्ष्मण सहित सुखधाम राम को उपस्थित देखा। प्रेम मग्न भक्त प्रवर सुतीक्ष्ण आश्रम-सुधि खोकर उनके चरणों पर गिर पड़े। भगवान् राम ने अपनी विशाल भुजाओं से उठाकर उन्हें प्रेमपूर्वक हृदय से लगा लिया।[8] तत्पश्चात् सुतीक्ष्ण ने धैर्य धारण कर बार बार भगवान् राम के चरणों का स्पर्श किया और अपने आश्रम में लाकर अनेक प्रकार से उनकी पूजा की।[9] भगवान् की अमित महिमा का अवलोकन कर सुतीक्ष्ण में एक महान् भक्त की मर्यादा के अनुरूप दीन भाव सहित

---

१ मा ३ १० १४
२ मा ३ १० १५–१९
३ मा ३ ११ १२–१३
४ मा ३ ११ १७ २१
५ मा० ३ ११ ११–१२— 'निर्गुण सगुण विषम सम रूप। ज्ञान गिरा गोतीतमनूप॥
अमल अखिल मन अवद्य पार। नौमि राम भंजन महि भार॥
६ मा ३ ११
७ मा० ३ १२ १ (पू)— एवमस्तु करि रमा निवासा।"
८ मा० ३ १ २०–२२
९ मा० ३ १०

हो गया और उनके समक्ष वे अपने को सूर्य के सामने जुगनू की तरह बड़ा हीन अनुभव करने लगे। उन्होंने भगवान् के सौन्दर्य एवं विरद का प्रभावोत्पादक वर्णन करते हुए ऐसी दीनतापूर्ण स्तुति की है कि प्रत्येक चौपाई के अन्तिम चरण में एक बार नमस्कारात्मक "नौमि" और दूसरी बार रक्षात्मक 'पातु' शब्द की झड़ी लग गयी है।[1] वे भगवान् के अपरिमित सौन्दर्य के समक्ष नतमस्तक हैं और उनकी विरदावली की लम्बी सूची प्रस्तुत करते हुए सतत उनसे अपनी रक्षा के प्रार्थी हैं। परम प्रसन्न होकर भगवान् राम जब उनसे वर माँगने का आग्रह करते हैं तो वे दासों को सुख देने वाले भगवान् के ऊपर ही वर देने की बात छोड़ देते हैं और जब भगवान उन्हें प्रगाढ़ भक्ति, वैराग्य विज्ञान समस्त गुणों एवं ज्ञान के निधान होने का वरदान दे देते हैं तब वे स्वयं सीता-लक्ष्मण-सहित धनुष बाणधारी उनके राम रूप को अपने हृदय में सर्वदा निवास होने का वरदान माँगते हैं।[2] वस्तुतः सेवक सुतीक्ष्ण सदा एकमात्र भगवान् राम को अपना सेव्य समझते थे और इस सेव्य सेवक भाव के अभिमान को वे भूलकर भी छोड़ना नहीं चाहते थे।[3]

अगस्त्य

भक्त शिरोमणि सुतीक्ष्ण के गुरु महर्षि अगस्त्य एक महान् तपस्वी राष्ट्रोन्नायक एवं महोपदेशक ही नहीं थे बल्कि वे एक महान् राम भक्त भी थे। वे सीता-लक्ष्मण-सहित भगवान् राम का दिनरात जप करते रहते थे।[4] जब सुतीक्ष्ण ने उनके आश्रम पर जगदाधार भगवान् राम के पधारने का उन्हें शुभ संवाद दिया तो वे शीघ्र ही भगवान् की ओर दौड़ पड़े और प्रेमाधिक्य के कारण उनकी आँखों में आनन्द के आँसू छलछला आये।[5] भगवान् की बहुत प्रकार से पूजा करके उन्हें यह स्पष्ट अनुभूति हुई कि आज उनके समान भाग्यवान् दूसरा कोई नहीं है।[6]

यों तो भगवान् राम सामान्य मनुष्य की तरह सभी ऋषियों से प्रश्न करते हैं[7] पर सर्वज्ञ अगस्त्य से उन्हें कुछ "दुराव" नहीं था। उनके आगमन के कारणों से अगस्त्य अवगत थे। इसीसे उन्होंने उनसे समझाकर कुछ नहीं कहा।[8] पर फिर भी उन्होंने अगस्त्य से भी "मनुज की नाईं" यह प्रश्न पूछ ही दिया कि—

अब सो मंत्र देहु प्रभु मोही। जेहि प्रकार मारौं मुनि द्रोही ॥[9]

---

१ मा० ३ ११ १–१४
२ मा० ३ ११ २३–३ ११
३ मा० ३ ११ २१
४ मा० ३ १२ ८
५ मा० ३ १२ ७–६
६ मा० ३ १२ १२
७ मा० २ १०६ १ (उ०) २ १२६ ५
८ मा० ३ १३ १–२
९ मा० ३ १३ ३

महर्षि अगस्त्य ने भी इसके उत्तर में भगवान् को अच्छा उपालम्भ दिया[1] और अन्तत अपने हृदय-मन्दिर में सीता-लक्ष्मण-सहित उनके निवास का ही नहीं प्रत्युत उनकी प्रगाढ़ भक्ति, वैराग्य सत्संग एवं उनके चरण-कमलों में अटूट प्रेम का भी वरदान माँग लिया।[2]

महर्षि प्रवर अगस्त्य को निर्गुण ब्रह्म का पूर्ण ज्ञान है। वे इसका प्रतिपादन भी करते हैं पर उनके अन्त करण में सगुण ब्रह्म के प्रति उमंग भरा प्रेम तरंगित होता है। निर्गुण के ज्ञाता होते हुए भी सगुण से ही प्रेम करना उनके जीवन का लक्ष्य है। इसीलिए तो उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा है—

"जद्यपि ब्रह्म अखंड अनंता। अनुभव गम्य भजहिं जेहि संता॥
अस तव रूप बखानउँ जानउँ। फिरि फिरि सगुन ब्रह्मरति मानउँ॥"[3]

ब्रह्म के सगुण-स्वरूप राम के ऊपर अगस्त्य की ही नहीं बल्कि मानस के प्राय सभी भक्तों की ऐसी ही अनुरक्ति है।

'सनकादि'

सतत बाल ब्रह्मचारी ज्ञानमूर्ति परम तपस्वी सनक सनन्दन सनत्कुमार और सनातन नामक ब्रह्मा के मानस पुत्रों को सनकादि ऋषि कहा जाता है। इनकी अवस्था सर्वंव पाँच वर्ष के शिशु की सी रहती है। भक्ति के तो ये साक्षात् प्राण ही हैं। इनका चित्त भगवान् के चरणों को छोड़कर कभी भी अलग नहीं होता। ये अब भी निरन्तर भगवद्भजन में ही निरत हैं।[4]

भगवान् राम के चरणों में सनकादि की ऐसी प्रगाढ़ भक्ति है कि उनके दर्शन के लिए वे प्रतिदिन अयोध्या आते हैं।[5] यथार्थत इनके एक ही व्यसन है कि जहाँ कहीं भी भगवान् राम के चरित्र की कथा होती है वहाँ जाकर वे उसे अवश्य सुनते हैं।[6] मुनिश्वर अगस्त्य

---

१ मुनि मुसुकाने सुनि प्रभु बानी। पूछेहु नाथ मोहि का जानी॥

....
....
....
....

तैं तुम्हहि सकल लोकपति साईं। पूँछेहु मोहि मनुज की नाईं॥—मा० ३ १३ ४–८

२ मा० ३ १३ १०-११

३ मा ३ १३ १२–१३

४ विनयपत्रिका पद ८६ पं० ४—

"सुक-सनकादि मुकुत बिचरत तेउ भजन करत अजहूँ।"

५ मा० ७ ३२ १–२ (पू)

६ मा० ७.३२ ३

के मुख से राम की बहुत-सी कथाएँ श्रवण कर[1] राम राज्याभिषेक के पश्चात् अयोध्या आने पर[2] भगवान् राम के अतुलनीय सौन्दर्य का दर्शन कर वे आत्मसुधि भुला देते हैं और निर्निमेष नयनों से उन्हें एकटक देखते ही रह जाते हैं। उनकी इस प्रेमविह्वल स्थिति का अवलोकन कर साक्षात् भगवान् राम का भी शरीर पुलकित हो गया और उनकी आँखों से प्रेम की अश्रु धाराएँ प्रवाहित हो पड़ीं।[3] भगवान् राम की स्तुति करते हुए उनके सगुण निर्गुण स्वरूप का सुन्दरतम स्पष्टीकरण कर सनकादि ऋषियों ने उनसे कामादि को दूर कर अपने हृदय में निवास करने की प्रार्थना की है।[4] अन्त में उन्होंने सर्वान्तर्यामी राम से "अनपायनी" प्रेम भक्ति की ही याचना की है।[5] भक्ति की याचना एवं भगवान् की पुनः-पुनः स्तुति करके सनकादि सानन्द ब्रह्मलोक को चले गये।[6] पर जब महर्षि नारद भगवान् राम के पास अयोध्या आकर उनके चरित्र देखकर ब्रह्मलोक में जाकर उनका वर्णन करते हैं तब उनकी प्रभूत प्रशंसा करते हुए जीवन्मुक्त एवं ब्रह्मलीन सनकादि मुनि भी ध्यान एवं समाधि के सर्वोत्तम सुख को तिलांजलि देकर भगवान् का गुणानुवाद श्रवण करने लगते हैं।[7] अतः निर्विवाद रूप से सनकादि ऋषि भगवच्चरित्र के सर्वाधिक प्रेमी हैं।

जनक

परम योगी एवं ब्रह्मज्ञानी मिथिलाधिप जनक भी भगवान् राम के महान् भक्त थे। उनका हृदय राम के चरणों के प्रति प्रच्छन्न रूप से प्रगाढ़ प्रेम परिपूरित था। तुलसी ने इसीलिए परिजनों सहित उनकी वन्दना की है[8] और यह भी लक्ष्य किया है कि उन्होंने अपनी गूढ़ रामभक्ति को योग और भोग रूपी डिब्बे में छिपा रखा था जो राम को देखते ही प्रकट हो गयी।[9] जब महर्षि विश्वामित्र ने राम-लक्ष्मण के साथ उनकी पुरी में पदार्पण किया उस समय उक्त महर्षि एवं ब्राह्मण मण्डली के प्रति जो उनका व्यवहार हुआ वह एक महान् भक्त के आचरण के ही अनुकूल था।[10] उस समय भगवान् की मनोहर एवं मधुर मूर्ति का दर्शन करते ही विदेह जनक, सचमुच ही विदेह हो गये।[11] भगवान् के दर्शन में अत्यन्त

---

१ मा० ७ १२ ७–८
२ मा ७ १२ ८ (पू)
३ मा० ७ ३३ २–५
४ मा० ७.३४ १–८
५ मा ७ ३४
६ मा० ७ ३५ १–७.३५
७ मा० ७ ४२.४–७ ४२ (पू०)
८ मा० १ १७.१
९ मा० १ १७ २
१० मा० १ २१४ ८–१ २१५ २
११ मा १ २१५ ८

प्रेममग्न होकर और उसे ही सर्वश्रेष्ठ मानकर उनके मन ने ब्रह्म सुख बरबस परित्याग कर दिया।[1] उन्हें राम और लक्ष्मण दोनों आनन्द को भी आनन्द देने वाले प्रतीत हुए[2] और उनमें उन्होंने ब्रह्म और जीव की तरह स्वाभाविक स्नेह का साक्षात्कार किया।[3] उनका चित्त ऐसा विवश हो गया कि वे पुनः-पुनः भगवान् का दर्शन करने लगे। उनका शरीर पुलकित हो गया और हृदय में अत्यधिक उत्साह छा गया।[4] इस तरह वे निर्गुण ब्रह्म की उपासना से उदासीन होकर सगुण ब्रह्म की उपासना की ओर उन्मुख हो गए। निर्गुण ब्रह्म के विराट महत्त्व का चिन्तन करने वाले राजा जनक ने उसके सगुण रूप पर अपने आप को सर्वतोभावेन समर्पित कर दिया।

विवाह के बाद अपने जामाता परब्रह्म राम से विदा होते समय उन्होंने जो प्रेममयी बातें की हैं उनमें उनकी प्रगाढ़ भक्ति का प्रवाह ही फूट पड़ा है।[5] उनकी दृष्टि में भगवान् ने उन्हें सब तरह से बड़ा बना दिया और अपना सेवक समझकर अपना लिया।[6] अतः वे बारम्बार भगवान् से यही करबद्ध याचना करते हैं कि उनका मन भगवच्चरणों को स्वप्न में भी न भूले।[7]

अयोध्या के घटना-चक्र से अवगत होते ही राजा जनक अपने नगर की सुरक्षा का प्रबन्ध करके तत्काल चित्रकूट के लिए प्रस्थान करते हैं। भक्ति के आवेश में अपने राज कर्त्तव्य से वे च्युत नहीं होते। मार्ग में वे कहीं भी विश्राम नहीं करते।[8] राम के दर्शन की लालसा एवं उत्साह से उन्हें रास्ते की थकावट एवं तकलीफ नहीं मालूम पड़ती। उनका मन चित्रकूट में राम और सीता के पास चला गया है और मन के बिना तन के सुख-दुःख की स्मृति नहीं हो रही है।[9] भगवान् राम के सम्पर्क से राजा जनक चित्रकूट को भी महाकवि कालिदास की तरह परम पवित्र एवं वन्दनीय मानते हैं।[10] अतः दूर से ही पर्वत के दर्शन हो जाने पर अपनी राम भक्ति एवं चित्रकूट की पवित्रता की भावना के कारण वे पर्वत को प्रणाम करके रथ त्यागकर पैदल ही चलने लगते हैं।[11]

---

1 मा १ २१६ ४
2 मा० १ २१७ २
3 मा १ २१७ ४
4 मा १ २१७.५
5 मा १ ३४१ ३—१ ३४१
6 मा० १ ३४२ १
7 मा० १ ३४२ ५
8 मा २ २७२ ४—५
9 मा २ २७५ ३—४
10 वन्द्यैः पुंसां रघुपतिपदैरंकितं मेखलासु।
—मेघदूत (पूर्व मेघ) श्लो० १२ दूसरा चरण
11 मा० २ २७५ २ —
गिरिबरु दीख जनक पति जबहीं। करि प्रनामु रथ त्यागेउ तबहीं॥

महाराज दशरथ को संसार में अद्वितीय महापुरुष घोषित करते हुए उनके गुण को अवर्णनीय कहा है।[1]

राम के विरह में शरीर त्याग कर दशरथ "सुरधाम" गये थे।[2] भगवद्भक्ति करने वाले सगुणोपासक रामभक्त वहीं जाते हैं क्योंकि वे मोक्ष नहीं लेते।[3] रावण-वध के पश्चात् 'सुरधाम' से राजा दशरथ लंका में राम के पास आये थे और अपने पुत्र को सामने देख कर तथा कैकयी के वचन और वनवास के प्रसंग को स्मरण कर उनकी आँखें सजल हो आयी थीं और शरीर रोमांचित हो गया था।[4] उस समय भगवान् ने उनके उसी पहले पुत्र विषयक प्रेम का अनुमान कर उन्हें दृढ़ ज्ञान दिया।[5] जिससे उन्हें भगवान् के यथार्थ ऐश्वर्य का परिज्ञान हो गया और बार-बार भगवान् को प्रणाम करके वे हर्षित होकर पुनः सुरधाम चले गये।[6] यह प्रसंग भी महाराज दशरथ के महान् रामभक्त होने का ही सूचक है।

"कौशल्या"

अयोध्याधिपति महाराज दशरथ की राजमहिषी कौशल्या ने अपने पात स्वायम्भुव मनु सहित शतरूपा के शरीर में ही कठोर तपस्या के परिणामस्वरूप भगवान् राम को पुत्र रूप में माँगा था।[7] पर उस समय वर-याचना में वे अपने पति से दो कदम और आगे बढ़ गयी थीं। उन्होंने यह भी माँगा था कि—

जे निज भगत नाथ तव अहहीं। जो सुख पावहिं जो गति लहहीं॥
सोइ सुख सोइ गति सोइ भगति सोइ निज चरन सनेहु।
सोइ बिबेक सोइ रहनि प्रभु हमहि कृपा करि देहु॥[8]

इस तरह शतरूपा के मन में उस समय जितनी इच्छाएँ हो रही थीं उन सबों को भगवान् ने प्रदान कर दिया था। उन्होंने यह भी वरदान दे दिया था कि मेरे अनुग्रह से तुम्हारा

---

१ मा० २।२०६।८–२२ १
२ मा० २।१५५ (पू०)
३ मा० ६।११२।६–७ —ताते उमा मोच्छ नहिं पायो। दसरथ भेद भगति मन लायो॥
सगुनोपासक मोच्छ न लेहीं। तिन्ह कहुँ राम भगति निज देहीं॥
४ मा० ६।११२।१–४ —तेहि अवसर दसरथ तहँ आए। तनय बिलोकि नयन जल छाए॥
....
....
सुमिरि सुत बचन प्रीति अति बाढ़ी। नयन सलिल रोमावलि ठाढ़ी॥
५ मा० ६।११२।५ —रघुपति प्रथम प्रेम अनुमाना। चितइ पितहि दीन्हेउ दृढ़ ग्याना॥
६ मा० ६।११२।८ —बार बार करि प्रभुहि प्रनामा। दसरथ हरषि गए सुरधामा॥
७ मा० १।१५०।१–४
८ मा० १।१५०।८–१।१५०

अलौकिक विवेक कभी नहीं मिटेगा।[1] मन को वात्सल्य प्रेम में अवलीन होने पर भगवान् राम के प्रति उनकी भक्ति सदैव विवेक से नियन्त्रित रही। इसी विवेक के बल पर उन्होंने भगवान् का चौदह वर्षकालीन दीर्घ वियोग भी सहन किया।

दीनों पर दया करने वाले जब कौसल्या के हितकारी कृपालु भगवान् चतुर्भुज रूप में प्रकट हुए तो पूर्व वरदान के परिणामस्वरूप उन्हें भगवान् को पहचानने में देर नहीं लगी। वे "जन अनुरागी" "श्री कंता" की करबद्ध स्तुति करने लगीं।[2] माता को ज्ञान उत्पन्न हुआ देखकर भगवान् मुस्कुराये। वे बहुत प्रकार के चरित्र करना चाहते थे। अतः उन्होंने पूर्व जन्म के वरदान की सुन्दर कथा कहकर माता को समझाया जिससे उन्हें भगवान् के प्रति पुत्र का वात्सल्य प्रेम हो जाय।[3] भगवान् के समझाने पर माता की वह बुद्धि बदल गयी और उसके पश्चात् उनकी प्रार्थना करने पर भगवान् बालक रूप ग्रहण करके रुदन करने लगे।[4] पर पुत्र के वात्सल्य प्रेमाधिक्य के कारण वे 'जगतपिता' के वास्तविक स्वरूप को विस्मृत करके उन्हें सदैव "सुत" ही नहीं समझती रहें, इसीलिए भगवान् ने एक ही समय वात्सल्य में अपना दो रूप करके दिखाकर कौसल्या को अपना अद्भुत और अखंड रूप भी दिखाया। भगवान् के एक एक रोम में करोड़ों ब्रह्माण्ड देखने के साथ ही कौसल्या ने अगणित सूर्य चन्द्रमा पर्वत नदियाँ काल कर्म आदि के अतिरिक्त वे पदार्थ भी देखे जो कभी सुने भी न थे। वहीं उन्होंने भगवान के सम्मुख भयभीत हाथ जोड़े खड़ी जीव को नचाने वाली बलवती माया को और जीव को माया के बन्धन से मुक्त करने वाली भक्ति को देखा। कौसल्या ने इस घटना में अपने इष्ट देव राम को पहचाना और उनकी भक्ति का रहस्य समझा। वस्तुतः यह भगवान के नरवत् बालचरित्र से सर्वथा भिन्न विवेकादि संबंधी सुखपूर्ण लीला थी जिसमें पूर्व वरदान के अनुसार भाग लेने का अधिकार केवल कौसल्या को ही था। यही कारण है कि भगवान ने इस रहस्य को उन्हें दूसरों को बतलाने से रोक दिया था।[5] वस्तुतः भगवान के आदेश[6] के कारण ही "मानस" में अन्य माताओं की तरह महारानी कौसल्या भी उनके प्रति वात्सल्य प्रेम प्रदर्शित करती हुई पायी जाती हैं।[7] ऐसे स्थलों को लेकर कुछ लोगों को यह भ्रान्ति हो गयी है कि वहाँ उन्हें भगवान के वास्तविक स्वरूप का विस्मरण हो गया है और ऐसे महानुभावों की दृष्टि में तो कौसल्या राम का भक्त भी नहीं है।[8]

---

१ मा १ १२१ २–३
२ मा० १ १९२ १–८
३ मा० १ १९२ ११–१२
४ मा० १ १९२ १३–१४
५ मा० १ २०१ १–१ २०२ ८
६ मा १ १९२ १२
७ मा १ ३५९ ६—१ ३५७ १ ७७७–८
८ मानस-दर्शन श्रीकृष्ण लाल पृ० ९८

कौशल्या का राम प्रेम विवेक से पूर्णतः अनुशासित है। वन-गमन के अवसर पर जब राम उनसे आज्ञा माँगते हैं तब धर्म और स्नेह दोनों ने उनकी बुद्धि को घेर लिया पर धर्म और स्नेह के संघर्ष में धर्म की ही विजय होती है। कौशल्या राम को वन-गमन के लिए प्रोत्साहित ही करती हैं। उनकी दृष्टि में उनका सगा पुत्र राम तथा सौतेला पुत्र भरत दोनों एक समान हैं। इसी तरह राम के मातृत्व पद के सबंध में भी वे अपने में और कैकयी में कोई अन्तर नहीं मानतीं। राम को पिता ने राज देने का वचन देकर जो वन दे दिया इसकी उन्हें लेशमात्र भी चिन्ता नहीं है परन्तु राम के बिना भरत भूपति एवं प्रजा के भावी प्रचंड क्लेश से वे चिन्तित हैं।[1] भगवान के चरणों में राजा दशरथ के पत्र विषयक "सत्य प्रेम" की वे प्रभूत प्रशंसा करती हैं[2] और पश्चात्ताप करती हुई राम के प्रति अपने स्नेह को झूठा बतलाती हैं।[3] राम को सुखपूर्वक वन-गमन का आदेश प्रदान कर बहुत तरह से विलाप करती हुई अपने को परम अभागिनी जानकर वे उनके चरणों में लिपट जाती हैं और उनके (कौशल्या के) हृदय में भयानक दुःसह संताप छा जाता है।[4] राम का वन-गमन उनकी आँखों के सामने सम्पन्न हुआ फिर भी उनके अभागे प्राण शरीर से गमन विच्छेद नहीं कर सके इसके लिए वे क्षुब्ध हैं।[5] इतना ही नहीं चित्रकूट के प्रसंग में जब अवध और मिथिला के रनिवास का सम्मिलन हुआ तब सीता की माता के समक्ष कौशल्या जो कर्म की गति एवं विधाता से प्रपंच का विवेचन करती हैं वह अध्यात्मभाव से सर्वथा ओतप्रोत है।[6] उपयुक्त सारी बातें उन्हें एक महान् भक्त प्रमाणित करती हैं।

'सुमित्रा'

लक्ष्मण जैसे भगवान राम के अनन्य सेवक एवं भक्त की माता सुमित्रा की राम भक्ति की प्रगाढ़ता का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि उनकी सम्मति में इस संसार में वही युवती पुत्रवती कहलाने की अधिकारिणी है जिसका पुत्र रामभक्त हो "राम विमुख सुत" से सदैव हित की हानि होती है और ऐसे पुत्र के प्रसव की अपेक्षा बन्ध्या रहना ही अच्छा है।[7] राम-राज्याभिषेक के अवसर पर सुमित्रा की क्रियाशीलता दर्शनीय है। वे मणियों के बहुत प्रकार के अत्यंत सुन्दर और मनोहर चौकें पूरती हैं।[8] जिस समय

---

१ मा २ ५५ ३—२ ५६ २

२ जिऐ मरे भल भूपति जाना। मोर हृदय सत कुलिस समाना ॥

—मा० २ १६६ ८

३ यह बिचारि नहिं करउ हठ झूठ सनेहु बढ़ाइ।

—मा० २ ५६ (पू०)

४ मा २ ५७४ ६ ७

५ मा० २ १६६ ५—६

६ मा २ २८२ ३—७

७ मा० २ ७५.१—२

८ मा० २ ८ ३— 'चौकें चारु सुमित्रा पूरी। मनिमय बिबिध भाँति अति रूरी ॥"

भगवान राम के साथ वन जाने की आज्ञा लेने के लिए लक्ष्मण उनके समक्ष उपस्थित होते हैं उस समय अपने परम प्रिय पुत्र के प्रति उन्होंने जो शिक्षापूर्ण एवं सारगर्भित उद्गार व्यक्त किया है उसके अध्ययन से उनकी राममक्ति की अनन्यता का और भी स्पष्टीकरण हो जाता है। आदिकवि वाल्मीकि की सुमित्रा[1] के स्वर में स्वर मिलाकर तुलसी की ममता भी लक्ष्मण को वन जाने के लिए प्रोत्साहित करती है।[2] उनकी दृष्टि में लक्ष्मण के सौभाग्य से ही राम का वन गमन हो रहा है अन्यथा दूसरा कोई कारण नहीं है।[3] वे सामने ही देख रही हैं कि दूसरे के अधिकार का अपहरण कर कैकेयी अपने पुत्र भरत को बलात् राजसिंहासन पर आसीन करा रही है पर फिर भी उनकी निष्ठा में किसी तरह का अन्तर नहीं आता। वे आह्लादित होकर लक्ष्मण की निश्छल राममक्ति के दृढ़ संकल्प के लिए उन्हें बधाई देती हैं और इसमें अपना भी गौरव समझती हैं।[4] उनकी दृष्टि में राम समस्त जीवों के जीवन और सबके प्राणों के प्राण हैं। वे जीव मात्र के स्वार्थ रहित सखा हैं। अतः संसार में जहाँ तक पूजनीय और परम प्रिय लोग हैं उन सबों को राम के नाते ही पूजनीय और परम प्रिय मानना चाहिए।[5] रामचरणों में स्वाभाविक प्रेम को ही सुमित्रा सम्पूर्ण पुण्यों का सबसे सुन्दर फल समझती थीं।[6] यही कारण है कि अपने परम प्रिय पुत्र लक्ष्मण को भगवान की सेवा में सहर्ष समर्पित कर उन्होंने अपना मातृत्व धन्य किया है। इतना ही नहीं वन से लक्ष्मण के अयोध्या लौटने पर भी वे राम के चरणों में उनकी भक्ति जान कर ही उनसे मिलती हैं।[7]

कैकेयी

कैकेयी भी राम के भक्तों में से एक हैं। वस्तुतः उसे राम प्राणों से भी अधिक प्रिय थे।[8] पर होनहारवश[9] नीच मंथरा की कुसंगति[10] में आकर वह अपने प्राणप्रिय राम को वन भेज देती है और इस तरह अनन्त काल तक के लिए अपयश का पात्र बन जाती है।

---

१ वाल्मीकीय रामायण अयोध्या काण्ड सर्ग ४० श्लो० ९

रामं दशरथं विद्धि मां विद्धि जनकात्मजाम्।
अयोध्यामटवीं विद्धि गच्छ तात यथा सुखम्॥

२ मा० २ ७४ २—४

३ मा० २ ७५ ३

४ मा० २ ७४

५ मा० २ ७४ ६—७

६ मा २ ७५ ४

७ मा ७१ (क) पू०

८ मा ९ १२८ (पू०)

९ मा २ ११ १

१० मा० २ २४ ८ (पू०)

जब कुमति का प्रभाव दूर हो जाता है तब वह काफी ग्लानि एवं पश्चात्ताप करती है।[१] और आजीवन रामद्रोह का फल भोगती रहती है। लेकिन यथार्थतः राम-वनवास में कैकेयी का कोई अपराध नहीं है। उसका मूल कारण तो देवताओं का षड्यंत्र और सरस्वती द्वारा मंथरा की मति फेरना है।[२] तुलसी ने कैकेयी के कठोर व्यापारों को देवताओं से सम्बद्ध कर दिया है और राम-वन-गमन के लिए उसको नहीं किन्तु देवमाया को ही दोषी ठहराया है।

जब मन्थरा उसे अपने प्रिय वचनों से उभाड़ती है[३] तो वह उसे फटकार कर घरफोरी शब्द से सम्बोधित करती हुई यह कठोर चेतावनी देती है कि यदि वह फिर भविष्य में ऐसी बात कहेगी तो उसकी जीभ निकलवा ली जायेगी।[४] कैकेयी की दृष्टि में सुन्दर सुमंगलदायक दिन वही है जिस दिन राम का राज्याभिषेक हो।[५] यदि सचमुच कल ही राम का तिलक है तो वह इस शुभ संवाद की सूचना के लिए मन्थरा को मनोनुकूल वस्तुएं प्रदान करने के लिए प्रस्तुत है।[६] उसकी तो यही हार्दिक कामना है कि यदि उसे विधाता पुनः जन्म दें तो राम को पुत्र एवं सीता को पुत्रवधू के रूप में अवश्य दें।[७] कैकेयी के ये सारे कथन राम के प्रति उसकी भक्ति एवं पुत्र प्रेम के ही परिचायक हैं। उसे उपदेश देती हुई अयोध्यावासिनी स्त्रियों के निम्नांकित वचनों से भी इसी तथ्य की पुष्टि हो रही है—

भरतु न मोहि प्रिय राम समाना। सदा कहहु यहु सबु जग जाना॥
करहु राम पर सहज सनेहू। केहिं अपराध आजु बनु देहू॥[८]

सच पूछिये तो कैकेयी ने संसार के कल्याण के लिए ही भगवान् राम को वन में भेजा था। यदि उन्होंने भगवान को वन में न भेजा होता तो उनका भू-भार भंजन का प्रधान कार्य कदापि सम्पन्न नहीं हो पाता। अतः अपने यश को तिलांजलि देकर सांसारिक अपमान की कुछ भी परवा न करके स्वयं महान अपयश का भागी बनकर कैकेयी ने राम को वन भेजकर प्रकारान्तर से अपनी कठोर भक्ति का ही प्रदर्शन किया है। उस पर राम के वन-गमन का दोषारोपण करने वालों की भर्त्सना तुलसी ने साक्षात् राम के ही मुख से करायी है—

दोसु देहिं जननिहि जड़ तेई। जिन्ह गुर साधु सभा नहिं सेई॥[९]

---

१ मा० २।२०१।१, ७१ (क) उ० ७१।१ (पू०)
२ मा० २।१२
३ मा० २।१४।२—४
४ मा० २।१४।८
५ मा० २।१५।२
६ मा० २।१५।४
७ मा० २।१५।७
८ मा० २।४६।१—४
९ मा० २।२६१।८

वस्तुतः भरत जैसे महान् भक्त को जन्म देने वाली माता यदि राम को सौ बार भी वन में भेजे तो भी उसकी भक्ति पर आँच नहीं आ सकती। भरत ने ठीक ही कहा है—

फरइ कि कोदव बालि सुसाली। मुकता प्रसव कि संबुक काली॥[1]

साकेतकार के राम का भी यही कथन है—

सौ बार धन्य वह एक लाल की माई,
जिस जननी ने है जना भरत-सा भाई।[2]

अवध-समाज के चित्रकूट पहुँचने पर राम माताओं में सर्वप्रथम कैकेयी से ही मिलते हैं और अपने सरल स्वभाव से उनकी बुद्धि को भक्ति से तर कर देते हैं।[3] वन से अयोध्या आने पर भी वे सबप्रथम कैकेयी के ही गृह में गये थे। इस तरह देव प्रेरित अपराध-जनित अपने भक्त की आत्मग्लानि को दूर करके भगवान् ने निश्चय ही उन्हें अपना लिया।

"सीता"

वस्तुतः सीता परब्रह्म भगवान् राम की आदिशक्ति[4] या परमशक्ति[5] या माया[6] हैं। राम से उनका उसी प्रकार अभेद-सम्बन्ध है जिस प्रकार वाणी का अर्थ से तथा जल का मधुर से होता है।[7] यदि राम "भानु" या "चन्द्र" हैं तो सीता क्रमशः उनकी "प्रभा" या "चन्द्रिका" हैं।[8] मानस के प्रारम्भिक मंगलाचरण प्रकरण में रामवल्लभा सीता का अभिवादन करते हुए तुलसी ने उन्हें संसार का सर्जन पालन एवं संहार करने वाली शक्ति के रूप में देखा है।[9] फिर भी वे भगवान् राम की भक्त हैं और मन कर्म एवं वचन से उनके चरणों में अनुरक्त हैं।[10] भगवान् के बिना संसार में उन्हें कहीं कुछ भी सुख नहीं मालूम होता।[11] राम की वनयात्रा के प्रसंग में उनके वियोग जनित भीषण दुःख की सम्भावना करके उन्होंने जो उनके साथ चलने का उत्कट आत्म-निवेदन किया है उससे उनकी प्रगाढ़ भक्ति

---

१ मा २।२६१।४
२ साकेत सर्ग ८ पृ० १८०, पं० ५—६
३ मा० २।२४४।७ —प्रथम राम भेंटीं कैकेयी। सरल सुभायँ भगति मति भेई॥
४ मा० १।१४८।२ १।१५२।४
५ मा० १।१८७।६ (उ०)
६ मा० २।१२६।१ २।१२१।२
७ मा० १।१८ (पू०)
८ मा २।६७।६
९ मा० १ श्लो० ५ २।१२६।१०
१० मा० ५।११४ (पू०)
११ मा० २।६५।६

की सूचना मिलती है।[1] इतना ही नहीं वन-मार्ग में तो वे भूमि पर अंकित प्रभु के पद चिह्नों के बीच-बीच में पैर रख इसलिए डरती हुई चलती हैं कि कहीं उन पद चिह्नों पर पैर न पड़ जाय।[2] जब रावण ने उन्हें अपहृत करके अशोकवाटिका में बन्दिनी बना लिया तब वे अहर्निश भगवान् राम के ध्यान में मग्न होकर उनका नाम रटती रहती हैं।[3] रावण के असंख्य प्रलोभनों[4] एवं आतंकों[5] के बावजूद वे राम प्रेम-पथ से विचलित नहीं होतीं। तुलसी ने तो उन्हें भक्ति का प्रतिरूप ही माना है और मानस के अनेक स्थलों पर उन्हें भक्ति से उपमित भी किया है।[6] वन से अयोध्या लौटकर राजरानी बनने पर भी उनकी भक्ति में कोई व्यवधान उपस्थित नहीं होता। उनकी दिनचर्या की ओर दृष्टिपात करने से राम के प्रति उनकी भक्ति का स्पष्टीकरण हो जाता है। बहुत-सी कुशल दास-दासियों की उपस्थिति पर भी वे अपने आराध्य का प्रत्येक कार्य स्वतः अपने हाथों सम्पन्न करती हैं। भक्ति का शाब्दिक अर्थ सेवा होता है और राम की सेवा ही सीता का परम कर्तव्य है।[7] यथार्थतः सीता की राम भक्ति में त्याग संयम कष्ट-सहिष्णुता मृदुशीलता पातिव्रत्य आदि गुणों का समष्टि रूप दृष्टिगोचर होता है। यही कारण है कि "जनक सुता जग जननि जानकी" करुणा निधान को अतिशय प्रिय हैं।[8] उनकी रामभक्ति की अनन्यता को प्रकट करने के लिए निम्नांकित दोहा ही पर्याप्त होगा—

> जासु कृपा कटाच्छु सुर चाहत चितव न सोइ।
> राम पदारबिंद रति करति सुभावहि खोइ॥[9]

"भरत"

यों तो मानस के प्रायः सभी पात्र किसी न किसी रूप से राम के भक्त ही हैं पर भरत निर्विवाद रूप से उनमें सर्वश्रेष्ठ हैं। मानस के सभी भक्त मिलकर भी भरत की बराबरी कदापि नहीं कर सकते। वस्तुतः भक्तशिरोमणि भरत तुलसी की कल्पना की अन्यतम्

---

१ मा० २ ६५–२ ६७ ६

२ मा० २ १२३ ५

३ मा० ३ २६ (ग) ५ ३० (पू०)

४ मा ५ ९ १–७

५ मा० ५ १० १–४

६ मा० २ २१६, २ ३२१

७ मा० ७ २४ ५–७ —

> जद्यपि गृह सेवक सेवकिनी। बिपुल सदा सेवा बिधि गुनी॥
> निज कर गृह परिचरजा करई। रामचंद्र आयसु अनुसरई॥
> जेहि बिधि कृपासिंधु सुख मानइ। सोइ कर श्री सेवा बिधि जानइ॥

८ मा १ १८ ७

९ मा० ७ २४

विभूति हैं। मानस के अनेक स्थलों पर उन्हें राम प्रेम की प्रतिमूर्ति कहा गया है।[1] भाइयों में सर्वप्रथम भरत के चरणों की वन्दना करते हुए तुलसी ने उनके 'नेमव्रत' को अवर्णनीय बताया है और यह भी कहा है कि इनका मन राम के चरण-कमलों में भौंरे की तरह लुभाया रहता है कभी उनका पास ही नहीं छोड़ता।[2]

भरत ने भगवान् से सर्वदा दूर रह कर ही उनके चरणों में अपनी प्रगाढ़ भक्ति प्रदर्शित की है। उनकी अनुपस्थिति म ही भगवान् राम का वनगमन होता है। महाराज दशरथ के निधन के बाद जब उन्हें ननिहाल से अयोध्या बुलाया जाता है तो माता कैकेयी के द्वारा प्रारम्भ से अन्त तक उन्हें सारी बातें मालूम होती हैं। राम का वन-गमन सुनकर भरत पिता का मरण भूल गये और हृदय में इन सारे अनर्थों का कारण अपने को ही जान कर वे मौन होकर सह रह जाते हैं।[3] राम को वन दिखाकर उन्हें राज्य दिलाना मानो पेड़ काटकर पल्लव का सिंचन करना था या मछली को जीने के लिए सरोवर के जल को उलीच डालना था।[4] कैकेयी की ओर से उनका मातृ भाव तिरोहित हो जाता है और वे उसके लिए कठोर वचनों का भी प्रयोग करने लगते हैं।[5] कैकेयी की कुत्सित म कहीं माता कौशल्या उनका भी सहयोग नहीं समझें इस अनुमान से आशंकित होकर वे अपने को निर्दोष सिद्ध करते हुए बहुत तरह की कसमें खाते हैं।[6] पिता प्रदत्त अयोध्या का राज्य ग्रहण करने के लिए गुरु वशिष्ठ[7] उन्हें बहुत समझाते हैं सचिवगण[8] एवं माता कौशल्या[9] भी उसका समर्थन करती हैं पर भरत किसी की एक भी सुनते नहीं। अपनी प्रगाढ़ रामभक्ति से परिपूरित दीनतापूर्ण 'उचित उत्तर' के द्वारा उनके प्रस्ताव को अस्वीकार करते हुए वे सभी को निरुत्तर कर देते हैं।[10] उन्होंने तो यही दृढ़ संकल्प कर लिया है कि—

एकहि आँक इहइ मन माहीं। प्रात काल चलिहउँ प्रभु पाहीं॥[11]

और किसी को साहस नहीं है कि उनके इस अन्तिम निर्णय से उन्हें कोई विचलित करे।

---

१ मा० २ १८४ ४ २ २ ८८

२ मा० १ १७ ३–४

३ मा० २ १६०

४ मा० २ १६१ ८

५ मा २ १६१ २ १६२ ८

६ मा० २ १६७.५ २ १६७ ८

७ मा २ १७४ २ २ १७५ ८

८ मा २ १७४

९ मा० २ १७३ १ ६

१० मा० २ १७७ १ २ १८२

११ मा० २ १८३ २

बल्कि भरत के द्वारा उनके प्रस्ताव को ठुकराये गये वचन राम के प्रेमामृत में पगे हुए होने के कारण सब को प्रिय ही लगे।[1]

वन-गमन के समय भरत सारी राजकीय सम्पत्ति की सुरक्षा का पूरा-पूरा प्रबन्ध करके ही आगे बढ़ते हैं।[2] वे भक्ति के आवेश में अपने कर्त्तव्य-भाव से च्युत नहीं होते। उनकी दृष्टि में तो सारी सम्पत्ति भगवान् की ही है और उसकी रक्षा करना भक्त का परम धर्म है। साथ ही निर्दोष रहते हुए भी भरत जो कौशल्या के समक्ष शपथ खाते हैं और राम के पास चित्रकूट जा पहुँचते हैं इसका यही रहस्य है कि वे संसार के सामने भी अपने को निर्दोष प्रमाणित करना चाहते हैं। भक्त अपने आपको तो शुद्ध एवं पवित्र बनाये रखता ही है। पर अपने सम्बन्ध में संसार की धारणा को भी विस्तृत नहीं होने देता। 'लोग प्रायः कहा करते हैं कि अपना मन शुद्ध है तो संसार के कहने से क्या होता है? यह बात केवल साधना की एकान्तिक दृष्टि से ठीक है लोक-संग्रह की दृष्टि से नहीं।'[3]

भरत की भक्ति की पराकाष्ठा तो वन-मार्ग में गमन करते हुए उस समय दृष्टि गोचर होती है जिस समय उनके अंग प्रत्यंग अपने आराध्य के सम्पर्क प्राप्त पदार्थों को परम पवित्र जानकर अत्यन्त प्रेम मग्न हो जाते हैं और वे सादर दण्डवत् प्रणाम करके उनकी परिक्रमा करने लगते हैं।[4] वे राम के चरण-चिह्नों की रज को अपनी आँखों में लगाते हैं और सीता के वस्त्राभूषणों से गिरे पड़े दो चार स्वर्णकणों को साक्षात् सीता के ही समान समझकर सिर पर धारण कर लेते हैं।[5] अपने इष्ट से सम्बन्धित प्रत्येक वस्तुओं के प्रति भक्तों की ऐसी ही पूज्य बुद्धि होती है। यह सब भरत सभी को विश्राम कराकर पथ प्रदर्शक निषादराज के साथ एकाकी जाकर करते हैं। उन्हें सबों के समक्ष अपनी इस प्रकार भक्ति का प्रदर्शन अभीष्ट नहीं है।

यमुना पार करने के बाद गंगा को प्रणाम करके लक्ष्मण सहित सीता राम का स्मरण कर वे पाँव-पैदल ही चल देते हैं। उनके साथ बिना सवार के घोड़े बागडोर से बंधे हुए चल रहे थे और उनके 'सुसेवक' बार बार घोड़े पर सवार होने के लिए उनसे आग्रह कर रहे थे।[6] यद्यपि उनके पैरों में छाले पड़ गये थे[7] तथापि वे पैदल चलना नहीं छोड़ते। जिस मार्ग से उनके आराध्य पैदल ही गये हैं उस मार्ग से रथ हाथी एवं घोड़े पर जाने की तो बात ही क्या पैदल जाना भी उन्हें अनुचित प्रतीत हो रहा है। उन्हें तो यथायत सिर के बल पर ही जाना चाहिए था क्योंकि सेवक का धर्म सर्वाधिक कठिन होता है।[8]

---

१ मा० २ १८४ १
२ मा० २ १८६ २ ६
३ गोस्वामी तुलसीदास—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल पृ० १२० २१
४ मा० २ १९७ १ २ १९७ ४ २ १९८–२ १९९ १ २ २१६ ७ २ २२१ ८ २ २२८ १ ४
५ मा० २ १९९ २–३
६ मा० २ २०३ ३–५
७ मा० २ २०४ १
८ मा० २.२०३ ६–७

प्रयाग में पदार्पण करने पर त्रिवेणी के संगम पर जाकर जब भरत ने यमुना की श्याम एवं गंगा की धवल लहरों को देखा तो उनका शरीर पुलकित हो उठा। उस समय आर्त बनकर अपने क्षत्रिय-धर्म का परित्याग करते हुए उन्होंने हाथ जोड़कर समस्त काम नाओं को पूर्ण करने वाले तीर्थराज से भीख मांगी था—

> अरथ न धरम न काम रुचि गति न चहउँ निरबान।
> जनम-जनम रति राम पद यह बरदानु न आन ॥[1]

भरत को अपने प्रति भगवान् की दुर्भावनाओं की बिलकुल चिन्ता नहीं है। उनका तो एक पक्षीय प्रेम है जो बदले में कभी भी किसी प्रतिदान की अपेक्षा नहीं रखता। राम चाहे उन्हें कुटिल ही समझें, दुनिया उन्हें गुरु एवं स्वामी का द्रोही ही समझे पर फिर भी उनका भगवच्चरणानुराग दिन प्रतिदिन बढ़ता ही जाए, यही उनकी तीर्थराज से याचना है। उन्होंने प्रेम के आदर्श रूप का दर्शन चातक के जीवन में किया है। मेघ चाहे जन्म भर चातक का स्मरण न करे और जल मांगने पर उसके ऊपर चाहे वज्र और ओला ही क्यों न गिरावे पर फिर भी उसकी रटन घटती नहीं है। अपने ऐसे निर्मम आराध्य के प्रति भी उसकी पुकार निरन्तर बनी रहती है और इसी में उसके प्रेम की वृद्धि एवं गौरव भी है। जिस तरह तपने से सोने पर अधिक चमक आ जाती है, ठीक उसी तरह स्वार्थों की बलि देकर अपने जीवन को तपाते हुए प्रियतम के चरणों में प्रेम का नियम निबाहने से प्रेमी का गौरव बढ़ जाता है।[2]

प्रयाग में भरद्वाज के आश्रम में प्रवेश करने पर उनकी आज्ञा से अपने स्वागत के लिए प्रस्तुत सम्पूर्ण भोग-सामग्रियों के साथ रात भर रहते हुए भी वे मन से भी उनका स्पर्श तक नहीं करते।[3] इस प्रकार कठोर व्रत का पालन करते हुए भरत मार्ग में चले जा रहे हैं। उनकी प्रेममयी दशा देखकर मुनि और सिद्ध लोग भी सिहाते हैं। जब वे "राम" का नाम लेकर लम्बी साँस लेते हैं तब मानों चारों ओर प्रेम उमड़ पड़ता है। उनके प्रेमपूर्ण एवं दीनता से ओत-प्रोत वचनों को सुनकर वज्र और पत्थर भी पिघल जाते हैं।[4] वे अपनी माता कैकेयी के कृत्यों को स्मरण कर संकोच में पड़ जाते हैं और मन में करोड़ों कुतर्क करते हुए सोचने लगते हैं कि मेरा नाम सुनकर राम लक्ष्मण और सीता कहीं अपने स्थान को छोड़कर दूसरी जगह उठकर न चले जायें।[5] उन्हें अपनी माता के कुकृत्य सौटाते हैं पर अपनी भक्ति के बल पर ही वे मार्ग में अग्रसर होते हुए चले जा रहे हैं। जब वे भगवान्

---

१ मा० २२०४
२ मा २२०५ १–५
३ मा० २२१५
४ मा० २२२ ५–७
५ मा २२३१ ७–८

राम के स्वभाव को स्मरण करते हैं तब मार्ग में उनके पैर जल्दी-जल्दी पड़ने लगते हैं।[1] वस्तुत: भरत अपनी कुटिलता[2] एवं भगवान् की भक्तवत्सलता[3] को कभी नहीं भूलते हैं।

चित्रकूट में भगवान् राम के समस्त सुमंगलों के धाम सुन्दर एवं पवित्र आश्रम पर पहुँचते ही उनका दुःख और दाह मिट जाता है।[4] वे भगवान् को देखते ही 'पाहि नाथ' "पाहि गोसाईं" कहते हुए पृथ्वी पर दण्ड की तरह गिर पड़ते हैं।[5] भरी सभा के बीच जब वे अपने अन्त:करण की बात भगवान् राम के सम्मुख खोलकर रखने के लिए खड़े होते हैं तब उनका शरीर पुलकित हो जाता है और आँखों में प्रेमाश्रुओं की बाढ़ आ जाती है।[6] वे राम को बचपन की बातों को स्मरण कराते हैं जब वे खेल में हारे हुए भरत को विजयी बनाते थे।[7] भरत के भक्ति से परिपूरित एवं करुणापूर्ण निवेदन को सुनकर राम का अन्त:करण भी द्रवित हो उठता है और अन्तत: उन्हें कहना पड़ता है—

मनु प्रसन्न करि सकुच तजि कहहु करौं सोइ आजु॥[8]

पर भरत तो भगवान् की आज्ञा को शिरोधार्य करने में ही अपना गौरव समझते हैं। भरत जैसे भक्त भगवान् की रुचि के प्रतिकूल कदापि आचरण नहीं करते बल्कि अपनी रुचि को भगवान् की रुचि में ही मिला दिया करते हैं। भरत को भली भाँति मालूम है कि भगवान् के अयोध्या लौटने में सभी का स्वार्थ है पर उनकी आज्ञा-पालन करने में करोड़ों प्रकार से कल्याण है। उनकी आज्ञा का पालन करना ही स्वार्थ एवं परमार्थ का सार है समस्त पुण्यों का फल और सम्पूर्ण शुभ गतियों का शृंगार है।[9] अत: उनकी दृष्टि में जगत् के कल्याण के लिए यही एक उपाय है[10] कि—

प्रभु प्रसन्न मन सकुच तजि जो जेहि आयसु देब।
सो सिर धरि-धरि करिहि सब मिटिहि अनट अवरेब।[11]

भगवान् उन्हें चौदह वर्षों तक भारी संकट सह कर भी प्रजा और परिवार को प्रसन्न रखते हुए अयोध्या का राज्य सँभालने का आदेश देते हैं और वे उनकी चरणपादुका लेकर

१　मा० २ २१४ ५–६
२　मा　२ १७६ ३　२ १७६ ५　७ १ ५
३　मा　२ १८२ ३　२ १८३　२ २६　५–७ १ ६
४　मा० २ २३९ २–३ (पू)
५　मा० २ २४ २
६　मा　२ २६ ३
७　मा० २ २६ ८–६
८　मा　२ २६४ (पू०)
९　मा० २ २६८ ५–६
१०　मा　२ २६६.८ (उ)
११　मा　२ २६९

सानन्द अयोध्या चले जाते हैं। राज्य का परित्याग करके वे अपने जिस आराध्य की ओर अग्रसर हुए थे उसी आराध्य के द्वारा वे पुनः राज्य के संरक्षण में नियोजित कर दिये गये पर इससे उनका भव्य चरित्र और भी अधिक प्रदीप्त हो उठा। राम से अधिक राम के दास की प्रशंसा होने लगी। नन्दि ग्राम में तपस्वी का कठोर जीवन यापन करने वाले भरत के सम्बन्ध में जन-जन के कण्ठ से यही ध्वनि निःसृत हो रही थी—

लखन राम सिय कानन बसहीं। भरतु भवन बसि तपतनु कसहीं।
दोउ दिसि समुझि कहत सब लोगू। सब बिधि भरत सराहन जोगू।[1]

यही नहीं भगवान् को मानने के लिए वन जाते समय भी यह भक्त भगवान् से अधिक बढ़ गया था।[2]

चित्रकूट से भगवान् की चरणपादुका लेकर प्रसन्नचित्त अयोध्या लौटने पर उनको एक शुभ मुहूर्त में राजसिंहासन पर अधिष्ठित करके भरत नन्दिग्राम में पर्णकुटी बनाकर अपनी ऐकान्तिक प्रेम साधना में तल्लीन हो जाते हैं। उनके कठिन ऋषि धर्म के सप्रेम आचरण का तुलसी ने अयोध्याकाण्ड की अन्तिम पंक्तियों में जिस मनोयोग के साथ मूल्यांकन किया है वह सर्वथा अपूर्व है।[3] भरत के व्रत एवं नियमों को सुनकर साधु-सन्त भी सकुचा जाते थे और उनकी उस स्थिति को देखकर मुनिराज भी लज्जित हो जाते थे।[4] तभी तो साधारण जन से लेकर ऋषि-महर्षियों तक एक स्वर से भरत के अलौकिक गुणों की प्रभूत प्रशंसा की है। यह दूसरी बात है कि भक्त प्रवर भरत उस प्रशंसा को उनकी उदारता एवं महानुभावता मात्र समझते हैं। भरद्वाज की दृष्टि में तो सब साधनों का सुन्दर फल लक्ष्मण राम और सीता का दर्शन है पर उस महान् फल का परम फल भरत का दर्शन है।[5] सुरगुरु बृहस्पति के विचार में तो भरत के समान राम का कोई भक्त हो ही नहीं सकता क्योंकि सारा संसार राम को जपता है और राम भरत को जपते हैं।[6] रघुकुल गुरु वशिष्ठ ने तो उनके सम्बन्ध में अपना यह स्पष्ट उद्‌गार व्यक्त किया है कि—

समुझब कहब करब तुम्ह जोई। धरम सारु जग होइहि सोई।।[7]

---

१ मा २।३२५।२।१

२ मा० २।२१६।८-२।२१७।२

देखि दसा सुर बरिसहिं फूला। भइ मृदु महि मगु मंगल मूला।।
किएँ जाहिं छाया जलद सुखद बहइ बर बात।
तस मगु भयउ न राम कहँ जस भा भरतहि जात।।
जड़ चेतन मग जीव घनेरे। जे चितए प्रभु जिन्ह प्रभु हेरे।।
ते सब भए परम पद जोगू। भरत दरस मेटा भव रोगू।।

३ मा० २।३२१।२-३२६।१

४ मा० २।३२६।४

५ मा० २।२१०।४।५

६ मा २।२१८।७

७ मा १।१२१।८

'भगत-सुखदाता' हैं और स्वभावतः शीतल हैं।[1] वे समस्त जगत के आधार हैं राम के प्यारे हैं और शुभ लक्षणों के धाम हैं।[2] ऐसे "सच्चरित्र शत्रुघ्न" लक्ष्मण अकारण एवं व्यर्थ उग्रता को कदापि प्रश्रय प्रदान नहीं कर सकते। यथार्थ में उन्हें राम के अपमान की कल्पना भी असह्य है। उनकी उग्रता राम के उत्कट अनुराग से अनुप्रेरित है। वस्तुतः राम के प्रति लक्ष्मण की भक्ति की अनन्यता एवं प्रगाढ़ता ने उनकी चारित्रिक उग्रता चपलता एवं असहिष्णुता को भी एक अपूर्व मोहकता प्रदान कर दिया है।

'शत्रुघ्न'

लक्ष्मण के छोटे भाई शत्रुघ्न भी राम के अनन्यतम भक्त हैं। भरत के साथ ननिहाल से लौटने पर माता कैकेयी की कुटिलता सुनकर उनके सारे अंग क्रोध से जल उठे थे पर उनका कुछ वश नहीं चला था।[3] किन्तु अपने श्रेष्ठ परिवार को अनाथ बनाने में कैकेयी को प्रोत्साहित करने वाली मंथरा की उन्होंने खूब खबर ली।[4] मंथरा के कूबड़ पर लात मारना एवं उसकी 'झोंटी' पकड़ पकड़ कर उसे घसीटना उनके राम प्रेम का ही परिणामक है। राम को मनाने के लिए चित्रकूट जाते समय भरत के साथ-साथ शत्रुघ्न भी कठोर तपस्वी का जीवन व्यतीत करते चल रहे हैं।[5] राम के परम भक्त भरत के चरणों में सेवक की तरह शत्रुघ्न की प्रीति थी।[6] वे अपने भाई भरत के साथ उपवनों में जाकर हनुमान् से राम के गुणों की कथाएँ पूछते थे। हनुमान् के मुख से राम के निर्मल गुणों को सुनकर वे परम प्रसन्न हो जाते थे और पुनः-पुनः उन्हीं गुणों को कहने की उनसे प्रार्थना करते थे।[7] ये सारी बातें शत्रुघ्न को एक महान् भक्त प्रमाणित करती हैं। यथावत मानसकार ने इनके चरित्र को विकसित नहीं किया है।

'निषादराज गुह'

निषादराजगुह भगवान् राम के अपनाये हुए अन्तरंग सखा एवं महान् भक्त थे। वनयात्रा के क्रम में सीता लक्ष्मण एवं सचिव सहित राम के शृंगबेरपुर पहुँचने पर उनके प्रति किये गये सेवा-सत्कार से उनकी भक्ति का हमें परिज्ञान होता है। राम के आगमन का समाचार पाते ही वे सहर्ष अपने प्रिय बन्धुओं के साथ फल-मूल लेकर उनके स्वागत में प्रस्तुत हो जाते हैं। सष्टांग दण्डवत् प्रणाम करके भगवान् के आगे अपनी भेंट रखकर वे अत्यधिक अनुराग से उनके दर्शनानन्द में निमग्न हो जाते हैं। सहज-स्नेह से वश में हो जाने वाले

---

१ मा १ १७ ५
२ मा० १ ११७ (पू०)
३ मा २ १६३ १
४ मा० २ १६३ २-७
५ मा० २ २२१ ६
६ मा १ १९८ ४
७ मा० ७ २१ ४ १

भगवान् राम उन्हें निकट बैठाकर उनकी कुशल पूछते हैं।[1] उसके उत्तर में निषादराज जो कुछ निवेदन करते हैं उसमें उनकी प्रगाढ़ रामभक्ति प्रकट होती है।[2] वे भगवान् राम से अपने नगर में बसने की प्रार्थना भी करते हैं पर उनकी विवशता से अवगत होकर अत्यन्त दुःखी हो जाते हैं।[3] तदनन्तर भगवान् के शयन करने के लिए अशोक के एक मनोहर वृक्ष के नीचे वे कुश और पत्तों की अत्यन्त कोमल और सुन्दर शय्या बिछाते हैं।[4] राम-सीता को भूमि पर शयन करते देख उनके प्रेमवश निषादराज को भारी विषाद होता है। उनका शरीर पुलकित हो जाता है और आँखों से अश्रु धाराएँ प्रवाहित हो उठती हैं।[5] वे विधाता कर्म एवं "मंदमति" कैकेयी नन्दिनि को कोसते हैं।[6] और सुप्त भगवान् की सुरक्षा के लिए अत्यन्त प्रेम से विश्वास-पात्र पहरेदारों को ठौर-ठौर पर नियुक्त कर देते हैं।[7] वे स्वयं भी उसी विचार से कमर में तरकस कसकर तथा धनुष पर बाण चढ़ाकर लक्ष्मण के पास बैठ जाते हैं[8] और उनके साथ भगवान् का गुणानुवाद करते-करते सबेरा हो जाता है।[9]

भगवान् राम का सहज स्नेह प्राप्त निःस्वार्थ भक्त निषादराज गुह गंगा पार करके आगे बढ़ने के समय भी उनका साथ नहीं छोड़ते हैं। प्रभु से घर लौटने का आदेश पाकर उनकी स्थिति चिन्तनीय हो जाती है। एक महान् भक्त की तरह अपने दैन्य भाव का प्रदर्शित करते हुए वे कहते हैं कि मैं नाथ के साथ रहकर वन का मार्ग दिखाऊँगा और जिस वन में जाकर आप रहेंगे वहाँ सुन्दर पर्णकुटी बनाऊँगा। फिर आपकी जैसी आज्ञा होगी वैसा ही करूँगा। उनके स्वाभाविक स्नेह को देखकर जब राम उन्हें साथ ले लेते हैं तब वे हृदय से प्रसन्न हो जाते हैं।[10] प्रयाग पहुँचकर भगवान् श्रीमुख से अपने इस भक्त को तीर्थराज का माहात्म्य सुनाते हैं[11] और यमुना पार करने के पश्चात् तापस-मिलन प्रसंग के समय उन्हें अनेक तरह से समझा-बुझाकर घर के लिए विदा करते हैं।[12]

---

१ मा० २८८.१४

२ मा० २८८.५-६ —

'नाथ कुसल पद पंकज देखें। भयउँ भाग भाजन जन लेखें॥
देव धरनि धनु धामु तुम्हारा। मैं जनु नीचु सहित परिवारा॥

३ मा० २८८.७-२८८

४ मा० २८९.४ २८९.७

५ २९०.५-६ (पू०)

६ मा० २९१.७-२९१

७ मा० २९०.३

८ मा० २९०.४

९ मा० २९४.२ (पू०)

१० मा० २१४.२-७

११ मा० २१०.६.३

१२ मा० २१११

राम को यमुना के पार तक पहुँचाकर लौटने पर उनके मन्त्री सुमन्त्र की व्याकुलता को देखकर उन्हें अपार दुःख होता है।[1] वे सुमन्त्र को बहुत तरह से धैर्य एवं सांत्वना प्रदान करते हुए जबर्दस्ती रथ पर बैठाते हैं[2] और अयोध्या तक पहुँचाने के लिए अपने चार श्रेष्ठ सेवकों को भी बुलाकर उनके साथ लगा देते हैं।[3]

राम को मनाने के लिए बहुत बड़े समाज सहित भरत को चित्रकूट जाते देख निषाद राज गुह को उनपर कुछ सन्देह उत्पन्न हो जाता है और वे राम-काज के लिए अपनी जाति वालों को सावधान कर अपने क्षणभंगुर शरीर को भी समर्पित कर देने के लिए प्रस्तुत हो जाते हैं। भक्तराज गुह की दृष्टि में साधुओं के समाज में जिसकी गिनती नहीं है और राम के भक्तों में जिसका स्थान नहीं है वह संसार में पृथ्वी का भार होकर बेकार ही जीता है। यथार्थतः वह जननी के यौवन-रूपी वृक्ष के लिए कुठार के समान है।[4] वस्तुतः निषादराज का राम पर आक्रमण करने का भरत के प्रति सन्देह सर्वथा निराधार था और यही कारण है कि वस्तुस्थिति से अवगत हो जाने के उपरान्त भरत के शील-स्नेह को देखकर प्रेममुग्ध हो वे आत्मसुधि खो देते हैं[5] तथा रात भर में इतनी नावें इकट्ठा करा देते हैं कि भरत का सारा समाज एक ही खेवे में यमुना पार कर जाता है।[6] भरत-सरीखे भक्त शिरोमणि भी इनकी अतुलनीय रामभक्ति के कारण इनके सामने रथ पर नहीं चलते हैं[7] और इनकी जाति गत अपवित्रता का विचार नहीं करके वे आनन्दातिरेक में पुलकित होकर इन्हें हृदय से लगा लेते हैं।[8] अपनी अपवित्र जाति एवं कुल की मर्यादानुसार दूर से ही दण्डवत् प्रणाम करने वाले नीच केवट को वशिष्ठ जैसे महर्षि भी बरबस हृदय से लगा लेते हैं मानो भूमि पर गिरकर धूल में बिखरे हुए स्नेह को किसी ने समेट लिया हो। वस्तुतः यह प्रकरण निषाद राज की प्रगाढ़ रामभक्ति के अद्भुत प्रताप एवं प्रभाव का ही परिचायक है जिससे शूद्र एवं ब्राह्मण तुच्छ एवं महान् अपने भेद भाव को दूर कर दोनों समान बन जाते हैं।[9]

एक महान् भक्त की तरह गुह अपनी दीनता-हीनता एवं भगवान् की अहेतुकी कृपा तथा भक्तवत्सलता को कभी विस्मृत नहीं कर पाते हैं। तभी तो उन्होंने भरत से कहा था—

---

१ मा० २ १४२ ५-६
२ मा० २ १४३ १-३
३ मा० २ १४३
४ मा० २ १८९.२-२ १९ ८
५ मा २ १९५ ४-५
६ मा० २ ६२० ३
७ मा० २ १९३ ७
८ मा २ १९३-२ १९४ ३-४
९ मा० २ २४३ ५-३ २४३

समुझि मोरि करतूति कुल प्रभु महिमा जियँ जोइ।
जो न भजइ रघुबीर पद जग बिधि बंचित सोइ॥[1]

वे भरत एवं उनके समाज को मार्ग-निर्देश करते हुए उनके साथ-साथ चित्रकूट तक जाते हैं और भगवान का दर्शन कर उन्हीं लोगों के साथ लौट भी आते हैं।

रावण-वध के पश्चात् सखा ने भगवान् के अयोध्या आते समय पुष्पक विमान के गंगा पार कर तट पर उतरने का समाचार पाते ही प्रेमाकुल होकर दौड़ पड़ते हैं और सीता सहित भगवान् राम का ध्यान कर पृथ्वी पर गिरकर प्रेमामग्न समाधि में निमग्न हो जाते हैं। उनका परम प्रेम देखकर भगवान् उन्हें उठाकर सहर्ष हृदय से लगा लेते हैं।[2] निषाद राज को अयोध्या में राम का राजतिलक देखने का भी सौभाग्य प्राप्त हुआ था और राम राज्य के पश्चात् अपने इस "सखा" को विदा करते हुए भगवान् ने श्रीमुख से इन्हें भरत के समान प्रिय घोषित किया था[3] जो इनकी प्रगाढ़ राम भक्ति का प्रबल प्रमाण है।

'केवट'

शृंगबेर से सुमन्त्र को "बरबस" लौटाकर गंगा के किनारे आने पर[4] भगवान् को अपनी नाव पर गंगा पार उतारने वाले और उनका चरणोदक पान करने वाले केवट का प्रसंग प्रारम्भ होता है। जिस भगवान् के मर्म को "बिधि हरि सम्भु" भी नहीं जानते[5] उसी मर्म को जानने का दावा करने वाला यह केवट भगवान् के माँगने पर अपनी नाव लाने को तैयार नहीं होता क्योंकि उसे मालूम है कि उनकी चरण रज मनुष्य बना देने वाली कोई जड़ी है। उनके चरण-रज के स्पर्श से पत्थर की शिला सुन्दर स्त्री बन गयी है। पत्थर से काठ तो कठोर होता नहीं। अतः उसका अन्तिम निश्चय है कि वह अपनी नाव पर उनकी चरण-रज कदापि पड़ने नहीं दे सकता अन्यथा भगवान् के चरण-रज पड़ने से कहीं उसकी नौका भी मुनि की स्त्री बन कर उड़ गयी तो उसका बड़ा अहित होगा। उसकी रोजी मारी जायगी। इसी के द्वारा वह अपने सारे परिवार का पालन-पोषण करता है। दूसरा कोई भी उद्यम वह नहीं जानता। अतः यदि प्रभु को अवश्य ही पार जाना है तो उसे पहले उनके चरण-कमलों को पखारने की अनुमति मिलनी चाहिए। वह इतना ही चाहता है उतराई नहीं चाहता। अपने इस कथन की दृढ़ता एवं सत्यता प्रमाणित करने के लिए वह राम की ही नहीं प्रत्युत उनके पिता दशरथ की भी सौगन्ध खाता है। भले ही लक्ष्मण उसे तीर मार दें तो मार दें पर जब तक वह भगवान् के पाँव पखार नहीं लेगा तबतक उन्हें पार उतारने को नहीं। केवट के 'प्रेमलपेटे अटपटे' वचनों को सुनकर भगवान् राम ने प्रसन्न हो

१ मा० २।१९९
२ मा० ६।१२१।६–७ ६।१२१।१०–१२
३ मा० ७।२०।१–३
४ मा० २।१००।२
५ मा० २।१२७।१–२

मुस्कराकर उसे पाँव पखारने की अनुमति प्रदान कर दी ।[1] उन्हें अन्ततः एक क्षुद्र नाविक की जिद एवं भोले-भाले निश्छल भावों के सामने झुकना ही पड़ा । राम की आज्ञा पाते ही कठौते में जल लाकर वह जिस प्रेमानन्द की समाधि में मग्न होकर उनके पाँवों को पखारा, वह अवर्णनीय है । ऐसा सौभाग्य केवट जैसे किसी विरले बड़भागी को ही प्राप्त हो पाता है । पुष्पवृष्टि करके उसके भाग्य पर सिहाते हुए सभी देवताओं ने भी यह स्वीकार किया कि इसके समान पुण्यपुंज कोई नहीं है । इस प्रकार वह केवट प्रभु के चरणों को धोकर और सारे परिवार सहित स्वयं उस चरणोदक को पीकर उस महान् पुण्य के द्वारा पहले अपने पितरों को भवसागर से पारकर फिर आनन्दपूर्वक भगवान् को भी गंगा के पार ले गया ।[2]

गंगा पार करने के बाद जब भगवान् सीता की मणि-मुद्रिका को उसे नाव की उतराई के रूप में देने लगे तब उसने प्रेमविह्वल होकर उनके चरणों को पकड़ लिया । अब उसे कुछ भी पाना बाकी नहीं रह गया था । आज तो उसके सारे दोष दुःख और दारिद्र्य की आग बुझ चुकी थी । बहुत समय से वह मजदूरी करता आ रहा था पर आज विधाता ने उसे बहुत अच्छा भरपूर मजदूरी दे दी थी । भगवान् की कृपा से अब उसे कुछ नहीं चाहिए । हाँ, लौटती बार में उसे जो कुछ दिया जायेगा वह उसे अवश्य प्रसाद रूप में शिरोधार्य कर लेगा । यों तो राम लक्ष्मण और सीता ने बहुत आग्रह किया पर केवट ने कुछ भी नहीं लिया । अन्ततः करुणासागर भगवान् राम ने उसे अपनी निर्मल भक्ति का वरदान देकर विदा किया ।[3] रामचरितमानस में अहिल्या के अतिरिक्त यह एक मात्र दूसरा भक्त है जिसे भगवान् ने अपनी ओर से ही भक्ति का वरदान दिया है । वस्तुतः भगवान् की कृपा पात्रता के लिए जाति-कुल विद्या-बुद्धि एवं ऐश्वर्य-वैभव का कोई महत्त्व नहीं है । उसके लिए तो असभ्य केवट के निश्छल हृदय की ही सर्वाधिक आवश्यकता है । इस तरह "मागी नाव न केवटु आना । से जो केवट प्रकरण प्रारम्भ हुआ था वह "बिदा कीन्ह करुनायतन भगति बिमल बरु देई ॥ पर आकर समाप्त हो जाता है ।

'गुह और केवट'

मानस का यह केवट प्रसंग जितना ही संक्षिप्त एवं सारगर्भित है उतना ही मनोरंजक एवं जिज्ञासापूर्ण भी । यहाँ यह निवेदन करना अप्रासंगिक नहीं होगा कि कुछ विद्वानों के विचार में निषादराज गुह और केवट दोनों एक ही व्यक्ति हैं,[4] किन्तु कुछ विद्वान् इन्हें दो

---

1 मा० २ १०० ३–२ १ १ २

2 मा० २ १ १५–२ १०१

3 मा० २ १ २२–२ १०२

4 "फिर तो निषादराज राम का बहुत बड़ा भक्त हो गया । उसके 'प्रेम लपेटे अटपटे' वचन सुनकर भगवान् ने प्रसन्न हो उसे चरण पखारने की अनुमति दी और वह—

अति आनन्द उमगि अनुरागा । चरन सरोज पखारन लागा ॥
बरषि सुमन सुर सकल सिहाहीं । एहि सम पुन्य पुंज कोउ नाहीं ॥

(शेष अग्रिम पृष्ठ पर)

भिन्न-भिन्न व्यक्ति मानते हैं।[1] वस्तुतः मानस के इस प्रसंग को ध्यानपूर्वक देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि निषादराज गुह और केवट दोनों दो भिन्न भिन्न व्यक्ति ही हैं। ऐसे इन दोनों की जाति एक ही है। पर गुह निषादों या केवटों के राजा हैं और केवट एक गरीब एवं साधारण भाव लेने वाला निषाद या मल्लाह है। निषादराज गुह के लिए जो 'केवट' शब्द का प्रयोग मानस में हुआ है वह उनके जातिगत नाम के कारण ही। यह निषादराज गुह शृंगबेरपुर से ही भगवान् की सेवा में संलग्न हैं। गंगा पार करने के बाद भी ये भगवान के साथ आगे जाते हैं और यमुना पार करने पर तापस-मिलन प्रसंग के बाद ही इनके घर लौटने का प्रमाण मिलता है।[2] फिर रावण-वध के पश्चात् अयोध्या लौटते हुए भगवान का इन्हें साक्षात्कार होता है।[3] राम के राज्याभिषेक में ये अयोध्या भी गए थे और वहाँ से इनकी विदाई का भी वर्णन मिलता है[4] पर भगवान् को अपनी नौका से गंगा पार करने वाले केवट का सम्बन्ध गंगा के इस पार से उस पार तक ही है। गंगा पार करने पर गुह और केवट का अलग-अलग उतरना स्पष्ट है।[5] केवट को भक्ति का वरदान देकर विदा करने के पश्चात्[6] पुनः निषादराज गुह को भी विदा करने की बात आती है[7] पर उनके 'दीन वचन' को सुनकर तथा उसके सहज स्नेह को देखकर भगवान् राम उसे अपने साथ ले लेते हैं।[8] इस तरह मानस की पंक्तियाँ ही निषादराज गुह एवं केवट के दो भिन्न-भिन्न व्यक्ति होने का पुष्ट प्रमाण प्रस्तुत करती हैं। पर यहाँ यह जिज्ञासा अन्त-अन्त तक बनी रह जाती है कि जिस भक्त प्रवर निषादराज ने भगवान् की सरस भक्तिपूर्ण सेवाएँ की शृंगबेरपुर में उनके लिए कन्द-मूल-फल लाया पृथ्वी पर पत्तों की शय्या बिछायी उनके शयन करने पर

(पिछले पृष्ठ का शेष)

पद पखारि जलु पान करि आपु सहित परिवार।
पितर पारु करि प्रभुहि पुनि मुदित गयउ लेइ पार॥

और उतराई के रूप में भगवान् ने उसे अपनी विमल भक्ति का वरदान दिया। इतना ही नहीं उसका सहज स्नेह देखकर भगवान् ने उसे वन-मार्ग दिखाने के लिए अपने साथ भी ले लिया।"

—मानस-दर्शन—श्रीकृष्णलाल, पृ १४

१ यह केवट निषादराज गुह से भिन्न एक अत्यन्त साधारण भाव लेने वाला दीन-हीन गँवार था।

—मानस-माधुरी—डा० बलदेव प्रसाद मिश्र पृ० १८६ द्वितीय परिच्छेद की पंक्ति १

२ मा २।१११

३ मा० ६।१२१।६ ६।१२१।१०-११

४ मा० ७।२ १-२

५ मा० १।१०२।१-२ (पू०)

६ मा २।१०२

७ मा० २।१०४।१

८ मा० २।१०४।६-७

प्रहरी का कार्य किया यमुना पार तक उन्हें पहुँचाया फिर लौटकर उनके साथी सुमन्त्र को भी धैर्य दिलाकर अपने चार सुसेवकों के साथ अयोध्या भेजा लंका से लौटते गंगा तट पर भगवान् का दर्शन कर प्रेमाकुल हो गया और अयोध्या आकर उनके राज्याभिषेक में सम्मिलित हुआ—वह भगवान् के पाँव पखारने एवं चरणोदक लेने से क्यों वंचित कर दिया गया ? अमात्य केवट भी चरणोदक प्राप्ति के सौभाग्य के समक्ष निषादराज की सारी सेवा एवं भक्ति कुण्ठित प्रतीत हो रही है। इतना ही नहीं उनकी उपस्थिति के बावजूद भगवान् के द्वारा नाव माँगने पर केवट की नाव न लाने की धृष्टता भी युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होती। साथ ही इस केवट की मानस में पुनः कहीं चर्चा नहीं आती। भरत के चित्रकूट जाते समय या रावण-वध के पश्चात् भगवान् के अयोध्या आते समय इसका कोई पता नहीं है जबकि गंगा पार करने पर भगवान् के द्वारा उतराई के रूप में दी जाती हुई सीता की मणिमुद्रिका को अस्वीकार करते हुए उसने कहा था—

फिरती बार मोहि जो देबा। सो प्रसादु मैं सिर धरि लेबा ॥[1]

पर केवट सम्बन्धी इस जिज्ञासा की पूर्ति नहीं हो पाती। अतः मानस में इस केवट प्रसंग की अवतारणा से तुलसी की कला एवं निषादराज की भक्ति दोनों में कुछ कमी आ गयी है। निषादराज गुह एवं केवट को एक मान लेने से निश्चय ही तुलसी की कला एवं निषादराज की भक्ति दोनों में एक भव्य प्रदीप्ति आ जाती है पर दोनों को एक मानना का अर्थ है मानस की पंक्तियों को खींच-तान करके उसके स्वाभाविक अर्थ को विकृत करना। 'मानस रहस्य" कार पं० जयराम दास 'दीन" की सम्मति मे केवट को भगवान् के चरणोदक की प्राप्ति की युक्ति निषादराज गुह के द्वारा ही बतलायी थी अन्यथा उनकी उपस्थिति में भगवान् के साथ नाव न लाने की बेअदबी करने की उसकी मजाल न थी। अतएव श्री चरण प्रक्षालन के सौभाग्य भाजन भी निषादराज ही थे केवट नाविक तो एक ओट बनाया गया था।[2] उसको अगुआ बनाने वाले निषादराज श्रीगुह थी तथा और भी जो बन्धुवर्ग वहाँ उपस्थित थे सबने पद पखारे तथा पादोदक पान करने का सौभाग्य प्राप्त किया।"[3] महाकवि तुलसी की कला एवं निषादराज की भक्ति की एकान्त रमणीयता की रक्षा के लिए वस्तुस्थिति का इससे सुन्दर समाधान सम्भव नहीं है पर ये सारी बातें अनुमान पर ही आधारित हैं। ऐसे 'दीन' जी के इस सुन्दर समाधान से मैं व्यक्तिगत रूप से असहमत नहीं हूँ पर इतना तो कहना ही होगा कि "मानस" की पंक्तियाँ इसकी सम्पुष्टि नहीं कर पा रही हैं।

शबरी"

भक्तिमती भीलनी शबरी तुलसी की लेखनी की महान् देन है। "मानस" में कबन्ध[4]

---

१ मा० २।१०१।४

२ मानस-रहस्य—पृ० १६६

३ वही पृ १६४

४ मा० ३।३४।४

को परम गति प्रदान करने के पश्चात् इसके आश्रम पर भगवान् राम के पधारने का प्रसंग आता है। वस्तुतः शबरी नारी जाति को हेय समझने वाले संकीर्ण एवं कट्टर धार्मिक ठेकेदारों के लिए एक बहुत बड़ी चुनौती है। नारी-जाति का नेतृत्व करती हुई भक्ति के क्षेत्र में वह एक उच्चासयुक्त गौरवमय सिंहासन पर आसीन है। वह मिलनी भगवान् राम की अद्वितीय भक्त है। उनके सामने ही वह योगाग्नि से शरीर त्यागकर उस दुर्लभ हरिपद में लीन हो जाती है जहाँ से पुन: लौटना नहीं पड़ता।[1]

शबरी निवृत्तिमार्गी भक्त थी और विरक्त होकर 'आश्रम' में निवास करती थी। मानस में उसका प्रसंग अत्यन्त संक्षिप्त है किन्तु है सारगर्भित। ऐसे गीतावली[2] कवितावली[3] एवं विनयपत्रिका[4] में भी उसके प्रसंग आये हैं। इन सभी प्रसंगों से यह स्पष्ट है कि वह स्वभावत मैली-कुचैली निकम्मी असभ्य मतिमन्द एवं नीच जाति की एक अधमातिअधम गँवार नारी है। भगवान् की कैसे स्तुति की जाती है यह भी वह नहीं जानती थी[5] किन्तु समस्त साधन-विहीन होने पर भी वह मन वचन एवं कर्म से भगवान् के निश्छल एवं विशुद्ध प्रेम में सराबोर थी। अपने गुरु मतंग मुनि के निर्देशानुसार अपने भगवान् के आगमन की वह बड़ी विकलता के साथ प्रतिदिन प्रतीक्षा करती हुई उनके स्वागत का आयोजन कर रही है।[6] भगवान् को अपनी कुटिया में पदार्पण करते देख अपने गुरु मतंग मुनि के वचनों को स्मरण कर उसका मन प्रसन्न हो जाता है और प्रेम से विह्वल होकर वह उनके चरणों में लिपट जाती है। प्रेमातिरेक से उसकी वाणी अवरुद्ध हो जाती है और वह बार-बार भगवान् के चरण कमलों में नतमस्तक होती रहती है।[7]

इस शूद्रा नारी शबरी के प्रेम एवं दैन्य पर रीझ कर जाति-पाँति आदि को प्रश्रय नहीं देकर एकमात्र भक्ति का ही नाता मानने वाले भगवान्[8] उसे नवधा भक्ति[9] का उपदेश देते हैं तथा उसे विश्वास दिलाते हैं कि इन नौ भक्तियों में से एक भी जिसे प्राप्त हो वह उन्हें अतिशय प्रिय है। फिर भला शबरी की तो बात ही क्या जो इन नौ प्रकार की भक्तियों की प्रत्यक्ष मूर्ति ही है। उसमें तो उक्त सभी प्रकार भक्तियाँ परिपक्वता एवं दृढ़ता प्राप्त

---

१ मा ३।३६।४।५
२ गीतावली अरण्य काण्ड पद १७ भाग ३ पंक्ति ४
३ कवितावली उत्तर काण्ड पद १८, पंक्ति ३ ४
४ विनयपत्रिका पद २१५ पंक्ति ७
५ मा० ३।३५।२ ३
६ गीतावली अरण्य काण्ड पद १७ भाग १ पंक्ति २ भाग २ पं० १ भाग ३ पंक्ति १ ५
७ मा ३।३४।६ ८
८ मा० ३।३५.४–६
९ मा ३।३५।७–३।३६।५

कर चुकी है।[1] अत इसका सुपरिणाम यह हुआ कि जो गति बड़े-बड़े योगियों को भी दुर्लभ है वह उसे अनायास ही सुलभ हो गयी।[2] उसके प्रेम के वशीभूत होकर उसके समक्ष साक्षात् परब्रह्म परमेश्वर उपस्थित हो गये जिनके दर्शन का परम अनुपम फल यह है कि जीव अपना सहज स्वरूप प्राप्त कर लेता है।[3] वस्तुत शबरी को भगवान् से प्रेम एव उनके नाम का स्मरण करते रहने के कारण ही उसे 'जोगी वृन्दा दुर्लभ गति' एवं सहज स्वरूप की प्राप्ति होती है। लोक-वेद से बाहर नीच जाति की जड़ स्त्री शबरी के प्रेम को पहचान कर ही भगवान् ने उसे दर्शन देकर उसका उद्धार किया।[4] जब भगवान् राम के नाम के प्रभ व से पत्थर में भी कमल उत्पन्न हो सकता है तब उसके श्रवण एवं स्मरण से भीलनी शबरी का भी परम भाग्यवती पुण्यमयी बन जाना सर्वथा स्वाभाविक ही है।[5]

यथार्थ में शबरी की भक्ति वात्सल्यभाव की है।[6] वह जल लेकर सादर भगवान् के चरणों को पखारती है और पुन उन्हें सुन्दर आसनों पर बैठाती है। वह अत्यन्त मधुर एव स्वादिष्ट कन्द मूल एवं फल लाकर भगवान् को देती है जिसे वे बार-बार प्रशंसा करके प्रेमसहित खाते हैं।[7] तत्पश्चात् प्रेमातिरेक के कारण वह प्रभु के समक्ष करबद्ध खड़ी हो जाती है।

पानी जोरि आगें भई ठाढ़ी। प्रभुहि बिलोकि प्रीति अति बाढ़ी ॥[8]

उसके प्रेम की इस बाढ़ में मर्यादा पुरुषोत्तम की मर्यादा की सीमाएँ अदृश्य हो जाती हैं और कदाचित् इसीलिए उसे दीन-हीन मैली-कुचैली वृद्धा में सूक्ष्म सौन्दर्य का साक्षात्कार कर वे उसे 'भामिनी' एव करिवरगामिनी' शब्द से सम्बोधित करते हैं।[9] शबरी के इस प्रसंग को मानव-समाज के समक्ष उपस्थित कर अनेकानेक कर्मकाण्डों एव नाना पथों को शोकप्रद घोषित करते हुए उन्हें त्याग कर तुलसी विश्वासपूर्वक भगवान राम के चरणों में प्रेम करने का ही उससे आग्रह करते हैं।[1] जब शबरी के समान नितान्त साधनहीन नारी भगवान् के प्रति गूढ़ स्नेह धारण करके उनका स्मरण करती हुई उनके अनुग्रह की अधिकारिणी हो सकती है तो कोई कारण नही है कि दूसरों के लिए वह असम्भव हो। वस्तुत तुलसी की

---

१ मा ३।३६।६–७
२ मा ३।३६।८
३ मा ३।३६।९
४ विनयपत्रिका पद १६६ पंक्ति ११–१२
५ वही पद २२८-पंक्ति ५–६
६ गीतावली पद १७ भाग ३ पंक्ति ३ ४ भाग ४ पं० ५, भाग ८ पंक्ति ४
७ मा० ३।३४।१०–३।३४
८ मा० ३।३२।१
९ मा ३।३६।१०
१ मा० ४।३६।१६–१७

शबरी शूद्रों अछूतों एवं असहाय अबलाओं को भी भक्ति-मार्ग पर अग्रसर होने की प्रबल प्रेरणा प्रदान करने वाली एक प्रकाशस्रोत है। अत मानव-समाज को लक्ष्य कर तुलसी अपने 'महामन्द-मन' को भी समझाते हैं—

> जाति हीन अघ जन्म महि मुक्त कीन्हि असि नारि।
> महामन्द मन सुख चहसि ऐसे प्रभुहि बिसारि॥[1]

यथार्थत उनकी वाणी में वर्णित शबरी की प्रणति और करुणासागर रघुवर की प्रकृति का जितना ही गायन श्रवण किया जाय और उसे जितना ही समझा जाय उतनी ही हृदय में भगवच्चरणों के प्रति नित्य नूतन भक्ति की उत्पत्ति होती रहेगी।[2]

"हनुमान"

मानस के बाल काण्ड में अंशों सहित नर रूप में भगवान् राम के अवतीर्ण होने की आकाशवाणी[3] सुनकर ब्रह्मा ने देवताओं को वानरों का शरीर धारण कर पृथ्वी पर जाकर उनके चरणों की सेवा करने का आदेश दिया था।[4] वस्तुत हनुमान् वानर शरीर में शिव के अवतार थे।[5] इनका प्रथम दर्शन हमें मानस के किष्किन्धाकाण्ड में ऋष्यमूक पर्वत पर सुग्रीव के सचिव के रूप में होता है।[6] भगवान् राम से प्रथम मिलन में ही भगवान् के प्रति उनकी अनन्य भक्ति सूचित होती है। उनके साथ वार्तालाप से यह स्पष्ट है कि भगवान् के कोमल चरणों के प्रति हनुमान् का जन्मजात स्वाभाविक प्रेम है।[7] वे भगवान् को पहचान कर उनके चरणों से लिपट कर आत्मविस्मृत हो जाते हैं। प्रेमातिरेक से उनका शरीर पुलकित हो जाता है और वाणी अवरुद्ध हो जाती है।[8] पुन धैर्य धारण करके वे भगवान् की जो संस्तुति करते हैं[9] उससे उनकी गहरी दीनता निश्छल शरणागति एवं प्रगाढ़ प्रेम का पता चलता है—

> एकु मन्द मैं मोहबस कुटिल हृदय अग्यान।
> पुनि प्रभु मोहि बिसारेउ दीनबन्धु भगवान॥

---

१ मा० ३ ३५

२ तुलसी भनित सबरी प्रनति रघुबर प्रकृति करुना मई।
गावत सुनत समुझत भगति हिय होय प्रभु पद नित-नई॥
—गीतावली अरण्य पद १७ भाग ८ अन्तिम पंक्तियाँ

३ मा० १ १८६–१ १८७.२

४ मा० १ १८७

५ दोहावली दो १४२ १४३

६ मा० ४ १ १–२ (पू०)

७ मा ४ १ ८–४ १

८ मा० ४ २ ५–६ (पू०)

९ मा ४ २७ (पू)

जदपि नाथ बहु अवगुन मोरें। सेवक प्रभुहि परै जनि भोरें॥
नाथ जीव तव मायाँ मोहा। सो निस्तरइ तुम्हारेहिं छोहा॥
ता पर मैं रघुबीर दोहाई। जानउँ नहिं कछु भजन उपाई॥
सेवक सुत पति मातु भरोसें। रहइ असोच बनइ प्रभु पोसें॥
अस कहि परेउ चरन अकुलाई। निज तनु प्रगटि प्रीति उर छाई॥[1]

हनुमान् के इस आत्म-समर्पण से आह्लादित होकर भगवान् ने उन्हें हृदय से लगा लिया और अपने नेत्रों के प्रेमाश्रुओं से सिंचित कर कृतकृत्य कर दिया। साथ ही उनकी ग्लानि का निराकरण करते हुए उन्हें लक्ष्मण से भी द्विगुणित प्रिय होने का आश्वासन दिया।[2] हनुमान् भगवान् को कितने अधिक प्रिय हुए इसके लिए इतना ही प्रमाण पर्याप्त होगा कि राम-राज्य के पश्चात् सभी सखाओं को विदा करके उन्होंने इनको अपने ही पास रहने दिया था। जब कभी भरत लक्ष्मण और शत्रुघ्न ये तीनों भाई प्रभु से कुछ पूछना चाहते थे तो उन्हें हनुमान् की सहायता लेनी पड़ती थी।[3] भगवान् के प्रथम दर्शन में ही उन्होंने जो उनसे "लिए दुऔ जन पीठि चढ़ाई"[4] वाले सेव्य-सेवक सम्बन्ध का संस्थापन किया उसमें अन्त-अन्त तक कभी भी कोई अभाव नहीं आने पाया।[5]

हनुमान् ने तो यही सिद्धान्त निश्चित कर लिया था कि भगवान् का स्मरण एवं भजन ही सम्पत्ति है। इसका सम्यक निर्वाह नहीं होना ही विपत्ति है।[6] और इस विपत्ति से बचने के लिए वे भगवान् के इतने बड़े दास बन गये थे कि संसार के सभी जीव उन्हें उनका दास ही दृष्टिगोचर होते थे। भगवान् के कथनानुसार[7] जब चन्द्रमा के श्यामत्व पर अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार सब लोग अनुमान लगा चुके थे तो हनुमान् ने अपना यही विचार व्यक्त किया था कि चन्द्रमा भगवान् का प्रिय दास है। उसके हृदय में भगवान् की सुन्दर श्याम मूर्ति सदैव विराजमान रहती है और इसीसे उसमें श्यामता की झलक दिखाई पड़ती है।[8] भक्त शिरोमणि हनुमान् अपनी दीनता एवं भगवान् की भक्तवत्सलता को कभी भी भूल नहीं पाते थे। तभी तो उन्होंने विभीषण से भी कहा था—

---

१ मा० ४२–४।१
२ मा ४।३।६–७
३ मा० ७।३६।२—पूछत प्रभुहि सकल सकुचाहीं। चितवहिं सब मारुत सुत पाहीं॥
४ मा० ४।४।५ (उ०)
५ मा० ६।११७—बड़ भागी अंगद हनुमाना। चरन कमल चापत बिधि नाना॥
मा० ७।५०।७ (पू०)—मारुत सुत तब मारुत करई।
६ मा० ५।३२।३
७ मा० ६।१२४
८ मा० ६।१२ (क)

कहहु कवन मैं परम कुलीना। कपि चंचल सबहीं बिधि हीना॥
प्रात लेइ जो नाम हमारा। तेहि दिन ताहि न मिले अहारा॥
अस मैं अधम सखा सुनु मोहू पर रघुबीर।
कीन्ही कृपा सुमिरि गुन भरे बिलोचन नीर॥[1]

यही कारण है कि उनके 'हृदय आगार' में धनुष-बाण धारण किये हुए भगवान् राम निरन्तर निवास करते हैं।[2] यथार्थ में कपीश्वर हनुमान कवीश्वर वाल्मीकि की तरह सीता राम के गुण समूह रूपी पवित्र वन में विहार करने वाले विशुद्ध विज्ञान सम्पन्न हैं।[3]

वस्तुतः भगवान् राम के कार्यों को सम्पन्न करने के लिए ही हनुमान् का अवतार हुआ था।[4] अतः उनमें सदैव राम के कार्यों के सम्पादन की चिन्ता एवं तत्परता बनी रहती थी। राम का काम किये बिना इन्हें विश्राम कहाँ था?[5] जब राम की कृपा से राज्य की प्राप्ति हो जाने पर सुग्रीव राम के सीतान्वेषण सम्बन्धी काम को विस्मृत कर देते हैं तो हनुमान् ही उन्हें समझाते हैं[6] और उनकी अनुमति से दूतों को बुलाकर वानरों को लाने के लिए यत्र-तत्र भेजते हैं।[7] भगवान् के कार्य-साधन में उन्हें अपने मानापमान का जरा भी ध्यान नहीं रहता। जब अशोक वाटिका-विध्वंस एवं अक्षयकुमार आदि राक्षसों के वध के अपराध में उन्हें नाग-पाश में बाँधकर मेघनाद रावण के पास ले जाता है[8] और वह उन्हें देखकर दुर्वचन कहता हुआ खूब हँसता है[9] तो वे उससे स्पष्ट कहते हैं कि मुझे अपने बाँधे जाने की कुछ भी लज्जा नहीं है। मैं तो अपने प्रभु का काम सम्पन्न करना चाहता हूँ।[10] भगवान् राम को भी इस भक्त की सेवा, बल-बुद्धि एवं ज्ञान पर इतना विश्वास था कि उन्होंने इन्हें ही अभिज्ञान के रूप में अपने हाथ की मुद्रिका उतारकर दी थी और सीता के लिए सन्देश भी कहा था।[11]

भक्त हनुमान् के हृदय में अभिमान का तो नामोनिशान भी नहीं था। अपने अभिमान् राहित्य के कारण ही 'अतुलित बलधाम' होकर भी वे अपने अतुलित बल को भूले रहते

---

१ मा० ५ ७ ७—५ ७
२ मा० १ १७ (उ०)
३ मा० १ श्लो० ४
४ मा० ४ १० १ (पू०)
५ मा० ५ १ (उ०)
६ मा० ४ १९ १–२
७ मा० ४ १९.६–७
८ मा० ५ २० २ (उ०)
९ मा० ५ २० (पू०)
१० मा० ५ २२,६
११ मा० ४ २३ ९–११

थे। समुद्र पार करने के समय ऋक्षराज जाम्बवान् को उनकी अपार शक्ति की याद दिलानी पड़ी थी।[1] वे समुद्र संतरण कर सीता का अन्वेषण करते हैं, नभ अस पथ की कमल सुरसासिंहिका एवं लंकिनी जैसी बाधक स्त्रियों को पराजित करते हैं। अक्षयकुमार जैसे असंख्य श्रेष्ठ योद्धाओं का वध करते हैं रावण-पालित लंकापुरी का दहन करते हैं और सीता से चिह्न के रूप में चूड़ामणि प्राप्त कर नतमस्तक भाव से राम और सुग्रीव के समक्ष उपस्थित होकर पीछे रहते हैं। इतने महान् कार्यों को सम्पन्न करके भी उनके हृदय में अभिमान का जरा भी आविर्भाव नहीं हुआ और जब भगवान् ने उनसे यह प्रश्न पूछा कि तुमने किस प्रकार लंका जलाई तो उन्होंने अभिमान रहित होकर अपनी आतिमत दीनता एवं भगवान् की अनुकूलता की अपार शक्ति को व्यक्त करते हुए अपनी सफलता को उनकी कृपा का ही प्रसाद बतलाया।[2] सुतीक्ष्ण[3] की तरह हनुमान् को यही बहुत बड़ा अभिमान था कि मैं भगवान् का सेवक हूँ और वे मेरे स्वामी हैं। तभी तो भगवान् एवं उनके भक्तों के सामने इतने दीन हीन बन रहने वाले हनुमान् अशोक वाटिका से रावण की सभा में पकड़ कर ले जाये जाने पर उसके अद्भुत प्रभाव को देखकर भी सर्पों के समूह में गरुड़ की तरह निर्भीक बने रहते हैं।[4] वेदशास्त्र की मर्यादा का किसी भी स्थिति में अतिक्रमण उन्हें अभीष्ट नहीं था और इसीलिए अशोकवाटिका में मेघनाद के द्वारा ब्रह्मास्त्र का प्रयोग किये जाने पर उसकी अपार महिमा की रक्षा के विचार से वे नागपाश में आबद्ध हो जाते हैं।[5]

हनुमान् जी रामचरित के इतने बड़े रसिक हैं[6] कि लंका में थोड़ी देर के लिए विभीषण से मिलने पर भी वे उनके साथ भगवान् के गुणानुवाद में तल्लीन हो जाते हैं।[7] भगवान् राम के शुभागमन का सन्देश देने के लिए अयोध्या में जाकर राम-वियोग में भरत विह्वलता एवं प्रगाढ़ भक्ति[8] को देखकर उनका अंग-प्रत्यंग हर्ष से पुलकित हो जाता है और आँखों से अविरल अश्रु धाराएँ प्रवाहित हो उठती हैं।[9] वस्तुतः हनुमान् ने सुषेण वैद्य एवं संजीवनी बूटी लाकर लक्ष्मण को सीता का अन्वेषण कर राम को विजय-सन्देश प्रदान कर सीता को और लंका से राम के अयोध्या आने का समाचार देकर भरत एवं समस्त अयोध्या वासियों को सुखी बना दिया है।

---

१ मा० ४ ३० ३-५
२ मा० ५ ३३ ६-५ ३३
३ मा० ३ ११ २१
४ मा० ५ २० १-८
५ मा ५ १६-५ २० २
६ विनयपत्रिका पद २६ पंक्ति १—जयति रामायण-श्रवण-संजात रोमांच लोचन सजल शिथिल वाणी।
७ मा० ५ ६
८ मा ७ १ (क)
९ मा० ७ २ १

यही कारण है कि उनपर आशीर्वादों एवं वरदानों की झड़ी-सी लग जाती है। अधिक क्या कहा जाय उनके बल-बुद्धि की परीक्षा लेने के लिए देवताओं के द्वारा भेजी गयी सर्पों की माता सुरसा को भी प्रसन्न होकर उन्हें आशीर्वाद देना पड़ा था।[1] पर एक महान् एवं सात्त्विक भक्त के नाते भक्ति के अतिरिक्त उन्होंने और किसी भी वस्तु की कभी भी याचना नहीं की। भगवान् से भी उन्होंने यही कहा था—

नाथ भगति अति सुखदायिनी। देहु कृपा करि अनपायनी ॥[2]

और भगवान् को भी 'एवमस्तु' कहना पड़ा था।[3] यथार्थ में भगवान् की कृपा के अतिरिक्त हनुमान् और कुछ भी नहीं चाहते थे। तभी तो "राम तुम पर बहुत कृपा करें" सीता के इस अमोघ आशीर्वाद को पाकर वे पूर्ण प्रेममग्न एवं कृतकृत्य हो गये थे।[4] हनुमान् की भक्ति एवं सेवा से प्रसन्न होकर उनके आराध्य[5] एवं आराध्या[6] दोनों ने ही उन्हें 'सुत' शब्द से सम्बोधित किया है। मानस भर में ऐसा सौभाग्य कुछ इने-गिने भक्तों को ही प्राप्त हो सका है।[7] वाल्मीकीय रामायण में भी राम ने श्रीमुख से अपने प्यारे भक्त हनुमान् का गुणानुवाद किया है।[8] जाम्बवंत[9] एवं सुग्रीव[10] ने भी इनकी रामभक्ति की प्रभूत प्रशंसा की है और शिव ने तो पार्वती से यहाँ तक कह दिया है कि—

हनुमान् सम नहिं बड़ भागी। नहिं कोउ राम चरन अनुरागी ॥
गिरिजा जासु प्रीति सेवकाई। बारबार प्रभु निज मुख गाई ॥[11]

अतः कृपा सिन्धु भगवान् राम के मन कर्म एवं वचन से पास बने रहने वाले हनुमान्[12] निश्चय ही भक्तों के मुकुटमणि हैं।

"सुग्रीव"

विश्व-विश्रुत योद्धा किष्किन्धाधिपति बालि का अनुज सुग्रीव भी भगवान् राम का सच्चा भक्त था। अपने भ्राता से प्रताड़ित सुग्रीव को सर्वप्रथम ऋष्यमूक पर्वत पर राम-

---

१ मा० ५.२.१२
२ मा० ५.३३.१
३ मा० ५.३४.२
४ मा० ५.१७.२–३
५ मा० ५.३२.७
६ मा० ५.१७.३, १०७
७ मा० ३.३१.११
८ वाल्मीकीय रामायण उत्तरकाण्ड, सर्ग ३५, श्लो० १–१०
९ मा० ५.३०.५
१० मा० ७.१६.६
११ मा० ७.५०.८–९
१२ मा० ५.११ (छं०)

लक्ष्मण के दर्शन प्राप्त होते हैं।[1] वहीं राम का दर्शन कर सुग्रीव ने अपने जन्म को अत्यन्त धन्य समझा था और उनके चरणों में मस्तक नवाकर उनसे सादर मिला था।[2] वहीं दोनों ओर की सब कथा सुनाकर अग्नि को साक्षी देकर हनुमान् ने दोनों में मैत्री करवायी थी।[3] सुग्रीव ने राम को जानकी के मिलने का आश्वासन दिया और आकाश-मार्ग से उनके द्वारा गिराये गये वस्त्रों को भी दिखलाया। उनकी इस सेवा परायणता को देखकर एवं सीता की खोज में तत्परता का आश्वासन पाकर भगवान् राम प्रसन्न हो गये और उनसे वन में निवास करने का कारण पूछा।[4] जब सुग्रीव ने अपने अग्रज बालि के विरोध के कारणों का सविस्तार निरूपण किया तो अपने सेवक के दुःख को सुनकर उनकी दोनों विशाल भुजाएँ फड़क उठीं और उन्होंने एक ही बाण में बालि के वध का भार ले लिया।[5] सुग्रीव को चिन्तामुक्त करते हुए राम ने यह घोषणा की—

सखा सोच त्यागहु बल मोरें। सब बिधि घटब काज मैं तोरें॥

जब सुग्रीव के दिखलाने पर राम ने दुन्दुभि राक्षस की हड्डियाँ और तालवृक्षों को अनायास ही धराशायी कर दिया तब उनके अमित बल का अवलोकन कर वे उनके पर ब्रह्मत्व से अवगत हो गए।[6] सुग्रीव के अन्तःकरण में पारमार्थिक ज्ञान का आविर्भाव हो गया और उनके मन की चंचलता नष्ट हो गयी। मन की ऐसी परिवर्तित स्थिति में उनके वचनों से भक्ति की बड़ी ही पवित्र एवं मार्मिक व्यंजना होने लगी। वे भगवान् राम से कहने लगे कि अब मैं सुख सम्पत्ति परिवार और बड़ाई को छोड़कर आपकी ही सेवा करूँगा। ये सब आपकी भक्ति के बाधक तत्त्व हैं। वस्तुतः संसार के भासित होने वाले शत्रु मित्र, सुख दुःख अज्ञानजन्य एवं मायाकृत हैं। इनमें वास्तविकता नहीं है। आज तो बालि को ही मैं अपना परम हितैषी समझ रहा हूँ, जिसके प्रसाद से विषाद को शमन करने वाले साक्षात् आप परब्रह्म भगवान् राम मुझे मिले। अब तो यदि स्वप्न में भी उसके साथ लड़ाई हो तो जागने पर उसे समझकर मन में यह संकोच ही होगा कि ऐसे अनन्य शुभचिन्तक से स्वप्न में भी मैं क्यों लड़ा। अतः हे भगवान्! अब तो ऐसी ही कृपा हो कि मैं सब कुछ छोड़कर दिन रात केवल आपके भजन में ही लग जाऊँ।[7] इस तरह राम के परब्रह्मत्व से सुपरिचित होने पर उनके सखा सुग्रीव उनके परम भक्त बन गये। उनकी मैत्री की सुन्दरतम परिणति भक्ति में हो गयी। अपने बड़े भाई बालि के द्वारा राज-सिंहासन से अपदस्थ कर दिये जाने

---

१ मा० ४।१।१–२

२ मा० ४।४।६–७ (पू०)

३ मा० ४।४

४ मा० ४।५।९–४।५

५ मा० ४।६।१–४।६

६ मा० ४।७।१०

७ मा० ४।७।१९–१४

८ मा० ४।७।१५–२१

पर जिस सुख सम्पत्ति, परिवार एवं बड़ाई की पुनः प्राप्ति के लिए वे दिनरात शोकाकुल रहते थे उन्हीं को भगवान् के शरणापन्न होने पर वे दृढ़ निश्चयपूर्वक अपने भक्ति-पथ का बाधक मानने लगे थे पर भला भगवान् का वचन मिथ्या कैसे हो सकता था ?[1] अन्ततः बालि मारा गया और भगवान् का कार्य सम्पन्न करने के पूर्व ही सुग्रीव को राज्य मिला। पर राज्य पाकर सुग्रीव सुख-विलास में फँसकर भगवान् राम के कार्य को बिलकुल भूल गये।[2] उनकी शिथिलता देखकर उन्हें भयभीत करके सुधारने के लिए भगवान् को क्रोध प्रदर्शन की लीला करनी पड़ी और उन्होंने सखा सुग्रीव को भय दिखाकर लाने के लिए लक्ष्मण को किष्किन्धापुरी में भेजा।[3] इधर हनुमान् ने भी सुग्रीव को समझाया और तब वे बहुत भयभीत होकर अपने कर्तव्य में दत्तचित्त हुए।[4] क्रोध में किष्किन्धापुरी को जलाकर भस्मीभूत करने के लिए उद्यत लक्ष्मण[5] को देखकर भय से अत्यन्त व्याकुल होकर सुग्रीव ने तारा को हनुमान् के साथ भेजकर उनका क्रोध शान्त कराया और अन्ततः स्वयं भी उनके चरणों पर गिरकर अपनी भूल स्वीकार करते हुए क्षमायाचना की।[6] इतना ही नहीं भगवान् राम के पास आकर भी उन्होंने बड़ी विनम्रता के साथ दीनतापूर्ण सारगर्भित विनती की।[7] उससे प्रसन्न होकर भगवान् को उन्हें भरत के समान प्रिय घोषित करना पड़ा।[8]

वस्तुतः राम के परब्रह्मत्व से परिचित होने के पश्चात् ज्ञानोदय होते ही भक्तराज सुग्रीव दृढ़ निश्चयपूर्वक सब प्रपंचों को त्याग कर दिनरात केवल भगवद्भजन में ही संलग्न रहने का संकल्प कर चुके थे।[9] पर पीछे भगवान् की आज्ञा से ही उन्हें विषयों में प्रवृत्त होना पड़ा था।[10] फिर भी कहीं भी वे इसके लिए भगवान् को उलाहना नहीं देते बल्कि एक महान् भक्त की तरह अपने को ही सदैव सदोष समझते हुए सभी अपराधों का भाजन अभागी एवं

---

१ मा० ४७२१–२३

२ मा० ४१८.४

३ मा० ४१८१–४१८

४ मा० ४१९१–५

५ मा० ४१९ (पू०)

६ मा० ४२०२–७

७ अतिसय प्रबल देव तव माया। छूटइ राम करहु जौं दाया॥
बिषय बस्य सुरनर मुनि स्वामी। मैं पावँर पसु कपि अति कामी॥
नारिनयन सर जाहि न लागा। घोर क्रोध तम निसि जो जागा॥
लोभ पाँस जेहिं गर न बँधाया। सो नर तुम्ह समान रघुराया॥
यह गुन साधन तें नहिं होई। तुम्हरी कृपा पाव कोई-कोई॥
—मा० ४२१२–६

८ मा० ४२१७

९ मा० ४७१५–१७ ४७२१

१० मा० ४७२३

कामी स्वीकार करते हैं।[1] सुग्रीव के मतानुसार भगवत्सेवा ही संसार की सार वस्तु थी। तभी तो सीता के अन्वेषण में प्रयाण करने को उद्यत वानरों को उन्होंने मन वचन एवं कर्म से तल्लीन होकर रामचन्द्र के कार्य को सँवारने का सदुपदेश दिया था।[2] भक्तशिरोमणि सुग्रीव का तो यही निश्चित सिद्धान्त था कि—

देह धरे कर यह फलु भाई। भजिअ राम सब काम बिहाई॥
सोइ गुनग्य सोई बड़भागी। जो रघुबीर चरन अनुरागी॥[3]

यही कारण है कि भगवान् राम भी अपने इस परम भक्त वानरराज से यथा-कथा परामर्श लेते हैं[4] उनकी गोद में सिर रखकर विश्राम करते हैं,[5] और राज्याभिषेक के पश्चात् सखाओं को विदा करते समय इन्हें ही सबसे पहले वस्त्राभूषण पहनाते हैं।[6]

'बालि'

विश्वविश्रुत योद्धा किष्किन्धाधिपति बालि भगवान् राम के परम भक्त सुग्रीव का अग्रज एवं शत्रु ही नहीं था परन्तु स्वयं भी भगवान् का भक्त था। जब भगवान् ने उसके हृदय में बाण मारकर उसे आहत कर दिया[7] और उसी अवस्था में उसके समक्ष शरचापधारी एवं तपस्वी रूप में उपस्थित हो गये तो बालि ने बार-बार उनका दर्शन कर उनके चरणों में अपने चित्त को केन्द्रित कर अपना जीवन सफल कर लिया—

स्याम गात सिर जटा बनाएँ। अरुन नयन सर चाप चढ़ाएँ॥
पुनि-पुनि चितइ चरन चित दीन्हा। सुफल जन्म माना प्रभु चीन्हा॥[8]

यहाँ 'प्रभु चीन्हा" शब्द से यह स्पष्ट है कि बालि भगवान् राम के ईश्वरत्व से पूर्ण त परिचित हो गया था। जिस समय राम ने सुग्रीव को अपना बल देकर बालि से युद्ध करने के लिए भेजा था[9] उसी समय बालि पत्नी तारा ने उसे राम-लक्ष्मण की अपरिमित शक्ति से अवगत कराते हुए उसे रोका था।[1] बालि ने अपनी पत्नी तारा से राम की समदर्शिता की चर्चा करते हुए यही कहा था कि यदि कदाचित् वे मुझे मारेंगे ही तो मैं सनाथ हो जाऊँगा।[11]

---

१ मा० २।११।१ (पू०) ४।२१।१ (उ०)
२ मा० ४।२३।१-३
३ मा० ४।२३।६-७
४ मा० ६।४१।४-७
५ मा० ६।११।३ (पू०)
६ मा० ७।१७।६
७ मा० ४।८ (उ)—४।९।१ (पू०)
८ मा० ४।९।२-३
९ मा० ४।७।२६
१० मा ४।७।२७-२९
११ मा० ४।७

जब भगवान् ने बाण मारकर उसे धराशायी कर दिया था तब भी उसके हृदय में भगवच्चरणों के लिए पूर्ववत् प्रीति बनी ही हुई थी।[1] पर मुख में कठोर वचनों को लाकर उसने भगवान् से दो प्रश्न किये थे। पहला तो यह कि उन्होंने धर्म-हेतु अवतार लेकर भी उसे व्याध की तरह क्यों मारा और दूसरा यह कि उन्होंने उसे किस अवगुण के कारण मारा।[2] भगवान् से इन दोनों प्रश्नों का उत्तर पाकर[3] उसने जो अत्यन्त कोमल वाणी में अपनी दीनता प्रदर्शित की है[4] उससे भी उसकी रामभक्ति की अनन्यता सूचित होती है। भक्त के दैन्य से प्रभावित होकर भगवान् ने उसके सिर को अपने हाथों से स्पर्श किया और कहा कि मैं तुम्हारे शरीर को अचल कर देता हूँ तुम प्राणों को रखो।[5] पर भक्त बालि तो इस तथ्य से भलीभाँति परिचित था कि मुनिगण प्रत्येक जन्म में अनेकानेक प्रयत्न एवं साधन करते रहते हैं, फिर भी अन्तकाल में उनके मुख से राम-नाम नहीं निकल पाता। जिन भगवान् राम के नाम के बल पर शंकर काशी में सबको समान रूप से अविनाशिनी गति प्रदान करते हैं वे भगवान् राम साक्षात् उसकी आँखों के समक्ष समुपस्थित हैं। ऐसा सुअवसर क्या फिर कभी सम्भव है।[6] ऐसी स्थिति में इस नश्वर शरीर की रक्षा की कामना तो मानों हठपूर्वक कल्पवृक्ष को काटकर उससे बबूर के बाग लगाने के समान मूर्खतापूर्ण होगा।[7] एक महान् भक्त की तरह बालि की तो भगवान् से अब एकमात्र यही याचना है कि—

जेहिं जोनि जन्मौं कर्मबस तहँ राम पद अनुरागऊँ ॥

भक्त बालि ने अपना ही जीवन कृतार्थ नहीं किया प्रत्युत् अपने पुत्र को भी भगवान् राम के श्रीचरणों में समर्पित करके उसका भी जीवन कृतकृत्य कर दिया।[8] और अन्ततः भगवान् राम के चरणों में 'दृढ़ प्रीति' करके उसने अपने तन को त्याग दिया।[9] यहाँ 'दृढ़ प्रीति' शब्द से यह स्पष्ट ध्वनित होता है कि अन्तकाल में अपना प्राणान्त करते समय उसे एक भगवान् राम के चरणों के सिवा स्त्री पुत्र कलत्र ऐश्वर्य-वैभव आदि किसी का भी स्नेह, स्मरण नहीं रहा। ऐसे बालि को भक्त नहीं मानना उसके साथ घोर अन्याय होगा।

---

१ मा० ४।९।४

२ मा० ४।९।५-६

३ मा० ४।९।७-१०

४ मा० ४।९—सुनहु राम स्वामी सन चल न चातुरी मोरि।
प्रभु अजहूँ मैं पापी अंत काल गति तोरि॥

५ मा० ४।१०।१-२ (पू०)

६ मा० ४।१०।३-५

७ मा० ४।१०।६

८ मा० ४।१०।११

९ मा० ४।१०।१२-१३

१० मा० ४।१० (पू०)

"अंगद"

मानस के वानर-दल के भक्तों में बालिपुत्र अंगद का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। महान् पराक्रमी पिता के पुत्र होने के नाते अंगद को बल बुद्धि एवं विक्रम तो पिता से उत्तराधिकार के रूप में मिला ही था पर साथ ही भगवान् राम के चरणों में इनकी भक्ति-भावना भी अत्यधिक बलवती थी। यही कारण है कि रावण की राजसभा में दूत भेजे जाने के लिए अंगद ही उपयुक्त पात्र चुने गये थे।[1] राक्षसराज रावण को समझाने के लिए लंका जाते समय अंगद के प्रति भगवान् राम के कथन उनके बल एवं बुद्धि के सूचक हैं,[2] साथ ही भगवान् राम के प्रति अंगद का विनम्र व्यवहार एवं निवेदन उनकी अगाध राम भक्ति के परिचायक हैं।[3] रावण से वाद-विवाद के क्रम में भी अंगद ने बड़े गौरव के साथ अपने को राम के सेवक का दूत ही घोषित किया है।[4] बातचीत के सिलसिले में जब रावण भगवान् राम की निन्दा करता है[5] तब अंगद अत्यन्त क्रुद्ध हो जाते हैं।[6] वे भगवान् राम के प्रताप की महिमा का स्मरण कर अपने अखण्ड विश्वास के बल पर उसकी सभा में यह प्रण करके पैर रोप देते हैं कि—

जौं मम चरन सकसि सठ टारी। फिरहिं रामु सीता मैं हारी॥[7]

वस्तुतः रावण की भरी-सभा में अंगद का यह व्यापार भगवच्चरणों में उसके अटल विश्वास का ही परिचायक है।[8] जब अपनी अद्भुत वीरता एवं कौशल से प्रतिपक्षियों को परास्त कर, अंगद पुलकित शरीर एवं सजल नयनों के साथ राम के चरणों में आ गिरे[9] तब राम

---

१ मा० ६।१७।८–९

२ मा० ६।१७।६–७ —

बालितनय बुधि बल गुन धामा। लंका जाहु तात मम कामा॥
बहुत बुझाइ तुम्हहि का कहऊँ। परम चतुर मैं जानत अहऊँ॥

३ प्रभु अग्या धरि सीस चरन बंदि अंगद उठेउ।
सोइ गुनसागर ईस राम कृपा जा पर करहु॥
—मा० ६।१७ (क)

स्वयं सिद्ध सब काज नाथ मोहि आदरु दियउ।
अस बिचारि जुबराज तन पुलकित हरषित हियउ॥
—मा० ६।१७(ख)

बंदि चरन उर धरि प्रभुताई। अंगद चलेउ सबहि सिरु नाई॥
—मा० ६।१८।१

४ मा० ६।१।७

५ मा० ६।१ (क) तथा (ख),

६ मा० ६।३२

७ मा० ६.३४।९

८ दोहावली दो० १६७

९ मा० ६।३५ (क)

ने उनसे यही प्रश्न किया कि राक्षसराज रावण के चार मुकुट जो तुमने यहाँ फेंके, वे तुम्हें किस प्रकार प्राप्त हुए थे।[१] इस प्रश्न के उत्तर में अंगद ने जो भगवान् से निवेदन किया उससे भी भगवच्चरणों में उनकी अपार निष्ठा व्यंजित होती है।[२]

वस्तुतः मरते समय स्वयं बालि ने ही इन्हें भगवान् का दास बनाकर उनसे न इनकी बाँह गहवा दी थी।[३] इसी बाँह गहने के कारण ही सुग्रीव को राजतिलक देते समय अंगद को भी युवराज का पद प्रदान किया गया था।[४] अंगद को भगवान् राम के काम को सम्पन्न करने की अपार चिन्ता थी और उन्हें यह अखंड विश्वास था कि मेरे एकमात्र शरण्य एवं रक्षक वे ही हैं।[५] भगवान् की सेवा में इनकी अटल श्रद्धा थी और हनुमान के साथ इस बड़भागी को भी उनके चरण-कमलों को चाँपने का सौभाग्य उपलब्ध था।[६] अंगद को राम के परब्रह्मत्व का पूर्ण ज्ञान था और यह ज्ञान उन्हें ऋक्षराज जाम्बवान् ने कराया था—

तात राम कहुँ नर जनि मानहु। निर्गुन ब्रह्म अजित अज जानहु॥[७]

दूत रूप में लंका भेजे जाने पर उन्होंने रावण के समक्ष राम के परब्रह्मत्व की बारबार चर्चा की है।[८] राम कार्य को सम्पन्न करने के लिए अंगद सर्वदा प्राणार्पण करने को प्रस्तुत रहते थे और उसके लिए ही तन त्यागकर परम धाम प्राप्त करने वाले बड़भागी जटायु के प्रति उनके हृदय में अपार श्रद्धा थी।[९] जब सारी वानरी सेना समुद्र पार करने के सम्बन्ध में हिम्मत हार बैठी थी तब अपनी सामर्थ्य में सन्देह होने के बावजूद भगवान् राम के काज साधन के लिए, वे समुद्र पार जाने के लिए तत्पर थे।[१०] परन्तु जाम्बवान के रोकने एवं हनुमान के तैयार होने पर उन्हें लाचार होकर रुकना पड़ा था।[११] सीता की सुधि लेकर लंका से हनुमान् के लौटने पर वानरदल को "मधुबन" के मधुर फलों को खिलवाने के क्रम में रखवाला को उजाड़ देने से, रामकार्य की पूर्ति पर अंगद की अपार प्रसन्नता का परिचय प्राप्त होता है।[१२]

---

१ मा० ६।१८।१–७
२ मा० ६।१८८–६।१८ (क)
३ मा० ४।१०।१२–१३
४ मा० ४।११ (उ०)
५ मा० ४।२६।१–२
६ मा० ६।११७
७ मा० ४।२६।१२
८ मा० ६।२६।२ (पू०) ६।२७।२ ६।३३।८ ६।३३ (क) पूर्व
९ मा० ४।२७।७–८
१० मा० ४।३०।१
११ मा० ४।३०।९–१
१२ मा० ५।२८।७–८ ५।२८

राज्याभिषेक के पश्चात् जिस समय भगवान् राम अपने सभी भक्त सखाओं को अयोध्या से उनके घर के लिए विदा करने लगे[1] उस समय तो अंगद की भक्ति की अगाधता देखते ही बनती है। विदा होने की बात सुनते ही उनकी विचित्र दशा हो गयी। वे चित्रवत् अपने स्थान पर बैठे ही रहे अपनी जगह से हिले तक नहीं और उनका उत्कट एवं प्रगाढ़ प्रेम देखकर प्रभु को भी उनसे विदाई की चर्चा करने की हिम्मत नहीं हुई।[2] जब "जामवंत नीलादि" भगवान् के चरणों में मस्तक नवाकर चले[3] तब अंगद अत्यन्त प्रेम विह्वल[4] होकर भगवान् से अनुनय विनय करने लगे कि

सुनु सर्बग्य कृपा सुख सिंधो । दीन दयाकर आरत बन्धो ॥
मरती बेर नाथ मोहि बाली । गयउ तुम्हारेहि कोंछें घाली ॥
असरन सरन बिरदु संभारी । मोहि जनि तजहु भगत हितकारी ॥
मोरें तुम्ह प्रभु गुर पितु माता । जाउँ कहाँ तजि पद जलजाता ॥
तुम्हहि बिचारि कहहु नरनाहा । प्रभु तजि भवन काज मम काहा ॥
बालक ग्यान बुद्धि बल हीना । राखहु सरन नाथ जन दीना ॥
नीचि टहल गृह कै सब करिहउँ । पद पंकज बिलोकि भव तरिहउँ ॥
अस कहि चरन परेउ प्रभु पाही । अब जनि नाथ कहहु गृह जाही ॥[5]

इतने मनोयोगपूर्वक एवं विस्तार के साथ भगवान् से किसी भी भक्त की विदाई का वर्णन नहीं किया गया है। अंगद के विनीत एवं करुणापूर्ण निवेदन को सुनकर करुणा की सीमा भगवान राम के हृदय में भी वात्सल्यस्नेह उमड़ आया। उनकी आँखें सजल हो आयीं और उन्होंने अंगद को उठाकर हृदय से लगा लिया।[6] पुनः उन्हें अपने गले की माला एवं वस्त्राभूषणों को पहनाकर और बहुत प्रकार से समझाकर विदा किया।[7] इतना ही नहीं अपने अपार प्रेम के कारण जाते समय भी अंगद राम के गुणों को स्मरण करते हुए बार-बार फिर-फिर कर उनकी ओर देखते और दण्डवत् प्रणाम करते थे ताकि वे कृपा करके उन्हें अपनी सेवा के लिए रोक लें। पर भगवान् का विदा करने का ही रुख देखकर वे उनके चरण-कमलों को हृदय में धारण कर अन्यमन विदा हुए।[8] अन्तिम सन्तोष के रूप में वे भगवान् को बार-बार अपनी याद दिलाते रहने का हनुमान् से करबद्ध अनुरोध करते

---

१ मा० ७ १६
२ मा ७ १७ ८
३ मा० ७ १७ (क)
४ मा० ७ १७ (ख)
५ मा० ७.१८-१-८
६ मा० ७ १८ (क)
७ मा० ७ १८ (ख)
८ मा० ७ १९ २-५

हैं[1] और तत्पश्चात् अपने गृह के लिए विदा होते हैं। जब हनुमान् ने लौटकर प्रभु से अंगद के उक्त प्रेम का वर्णन किया तब उसे सुनकर वे प्रेममग्न हो गये।[2] वस्तुतः अंगद की अपार भक्ति एवं प्रगाढ़ प्रेम के कायल होते हुए भी भगवान् ने जो उन्हें अपनी सेवा में रखने की उनकी पवित्र आकांक्षा एवं प्रार्थना को स्वीकार नहीं किया इसका कदाचित् एक मात्र रहस्य यही था कि इन्हें अंगद से किष्किन्धापुरी के युवराज पद के कर्त्तव्य का भी पालन करवाना था। यथार्थ में अपने कर्त्तव्य का सम्यक निर्वाह करते हुए भगवद्भक्ति करने में ही भक्ति-मार्ग की चरितार्थता है।

"जामवन्त"

वयोवृद्ध ऋक्षराज जामवन्त या जाम्बवान् भी भगवान् राम के प्रमुख भक्त एवं अनुचर थे। भगवान् के यथार्थ स्वरूप का इन्हें पूर्ण ज्ञान था और उनके सेवक एवं भक्त होने का इन्हें गर्व भी था।[3] इन्होंने ही वानरी सेना के योग्य नायक अंगद को समुद्र पार जाने से रोका था और राम-कार्य के लिए अवतार धारण करने वाले पवन पुत्र हनुमान् के प्रसुप्त बल को जाग्रत किया था।[4] हनुमान् के पूछने पर अनुभवी भक्त जामवन्त ने उन्हें उचित सीख भी दी थी[5] और अंगद के कुल को देखकर इन्होंने विशेष उपदेश की कथाएँ नहीं की।[6] अधिक क्या कहा जाय कठिन समय आने पर भगवान् को भी मन्त्रणा देने का इन्हें गौरव प्राप्त है।[7] अपनी तरुणावस्था में जामवन्त ने दो घड़ी में ही त्रिविक्रम भगवान् की सात प्रदक्षिणाएँ करके अपनी प्रगाढ़ भक्ति का परिचय दिया है।[8] पर अब वृद्ध ऋक्षराज के शरीर में प्रथम बल का लेश भी नहीं रहा। यही कारण है कि महारानी सीता की सुधि लाने के लिए समुद्र पार जाने में वानरी सेना के बीच इन्होंने अपनी विवशता प्रकट की थी।[9]

"जटायु"

"मानस" के अरण्यकाण्ड में गृध्रराज जटायु की कथा अत्यन्त संक्षेप में कही गयी है। अपहृता सीता के अन्वेषण के क्रम में भगवान् राम ने रावण की चंगुल से सीता की रक्षा के प्रयास में उसको उसकी तलवार से पंख कटी हुई मरणासन्न अवस्था में पृथ्वी पर पड़े-पड़े

१ मा० ७ ११ (क)
२ मा० ७१ ९ (ख)
३ मा० ४ २६ १३–४ २६
४ मा० ४ ३ १–६
५ मा० ४ ३० १०–११
६ मा० ४ २६ ११
७ मा० ६ १७ १–४
८ मा० ४ २९ ८–४ २९
९ मा० ४ २९ ७

अपने चरणों की रेखाओं को स्मरण करते हुए देखा था।[1] सीता की रक्षा के लिए रावण के साथ भयंकर युद्ध कर जटायु ने अपने अद्भुत पराक्रम को ही प्रदर्शित नहीं किया प्रत्युत अपनी प्रगाढ़ राममक्ति का भी परिचय दिया। कृपा सिन्धु रघुवीर ने अपने 'कर सरोज' को उनके सिर पर स्पर्श कर दिया और भगवान् राम के "छविधाम मुख" का साक्षात्कार कर जटायु की सारी पीड़ा जाती रही।[2] वे भगवान् के दर्शन के लिये ही प्राण रोके रहे थे।[3] वे दुष्ट रावण द्वारा सीता-हरण एवं सीता के करुण विलाप से भगवान् को अवगत कराते हैं।[4] राम ने जब जटायु से शरीर को बनाये रखने का आग्रह किया तब उसके उत्तर में उसने मुसकराते हुए जो भगवान् से निवेदन किया वह असार-संसार से उसके अद्भुत वैराग्य का सूचक तो है ही साथ ही वह राम के चरणों में उसकी प्रगाढ़ भक्ति-भावना का भी परिचायक है।[5] वस्तुतः जटायु मन वचन एवं कर्म से पूर्णतः रामभक्त हैं और उन्होंने अपने पवित्र कर्मों के बल पर ही सद्गति प्राप्त की है। तभी तो साक्षात् भगवान् राम ने सजल नयनों से श्रीमुख की वाणी में इस तथ्य की पुष्टि करते हुए कहा है—

जल भरि नयन कहहिं रघुराई। तात कर्म निज तें गति पाई॥
परहित बस जिन्ह के मन माहीं। तिन्ह कहुँ जग दुर्लभ कछु नाहीं॥
तनु तजि तात जाहु मम धामा। देउँ काह तुम्ह पूरन कामा॥[6]

यथार्थतः गृध्रराज जटायु राममक्तों के एक महान् स्तम्भ थे। साक्षात् भगवान् राम के अंक में लेटकर उनकी आँखों से प्रवाहित अश्रु धाराओं में स्नान एवं उनके मुख-कमल का दर्शन तथा उनका वचनामृत पान करते हुए उन्होंने अपने क्षणभंगुर शरीर का परित्याग किया। उनकी इस मृत्यु की प्रभुता प्रशंसा[7] करते हुए तुलसी ने ठीक ही लिखा है

मुए, मरत मरिहैं सकल घरी पहर के बीच।
लही न काहूँ आजु लौं गीधराज की मीच॥[8]

अपनी प्रगाढ़ भक्ति एवं पवित्र कर्मों के बल पर भगवत्कृपा से जटायु ने गीध का देह त्यागकर हरि का रूप धारण कर लिया और नेत्रों में प्रेमानन्द के आँसुओं का जल भरकर

---

१ मा० ३।३०।१८

२ मा० ३।३१

३ मा० ३।३१।४

४ मा० ३।३१।२–३

५ मा० ३।३१।५–७—राम कहा तनु राखहु ताता। मुख मुसुकाइ कही तेहिं बाता॥
जाकर नाम मरत मुख आवा। अधमउ मुकुत होइ श्रुति गावा॥
सो मम लोचन गोचर आगें। राखौं देह नाथ केहि खाँगें॥

६ मा० ३।३१।८–९

७ मा० दोहावली—दो० २२२ २२३ २२५

८ दोहावली, दो० २२४

भगवान् की स्तुति करके[1] तथा उनसे अखण्ड भक्ति का वरदान माँगकर वह 'हरिधाम' में चला गया। भक्तवत्सल भगवान् ने अपने हाथों से ही उसका अन्त्येष्टि-संस्कार सम्पन्न किया।[2] भक्ति का ऐसा सुन्दरतम पुरस्कार का सौभाग्य मानस के अन्य किसी भी भक्त को उपलब्ध नहीं हो सका है। भक्ति के प्रभाव से भगवान् ने मांसाहारी अधम पक्षी जीव को भी वह दुर्लभ गति प्रदान की जिसकी याचना योगिगण भी किया करते हैं।[3]

"काक भुशुण्डि"

काकभुशुण्डि किसी कलियुग में अयोध्या के शूद्र थे।[4] उस समय वे मन वचन एवं कर्म से शिव भक्त होते हुए भी दूसरे देवताओं के निन्दक थे। उनके हृदय में बड़ा भारी दम्भ था। यद्यपि वे राम की राजधानी अयोध्या में निवास कर रहे थे पर फिर भी उसकी महिमा से पूर्णतः अपरिचित थे।[5] एक बार वहाँ दुर्भिक्ष पड़ने पर वे "दीन मलीन दरिद्र" एवं दुःखी होकर उज्जयिनी चले गये।[6] वहीं पर एक महान् उदार एवं "परम साधु" "वेद वैदिक ब्राह्मण"[7] से शिवमन्त्र की दीक्षा लेकर शिव मन्दिर में वे जाप जपने लगे।[8] पर पापमयी मलिन बुद्धि एवं साम्प्रदायिक संकीर्णता के कारण भगवान विष्णु एवं उनके भक्तो तथा ब्राह्मणों से वे द्वेष करते थे।[9] एक बार तो उन्होंने अपने गुरु को भी अपमानित कर दिया[10] जिसके परिणामस्वरूप शिव से अभिशप्त[11] होकर उन्हें सर्प आदि हजार जन्मों मे भटकना पड़ा।[12] पर गुरु की याचना पर शंकर के आशीर्वाद से किसी भी जन्म में इनका ज्ञान नहीं मिटा सर्वत्र इनकी "अप्रतिहत गति' रही और अन्ततः राम-भक्ति की भी प्राप्ति हुई।[13] इसी रामभक्ति की प्राप्ति के लिए लोमश मुनि से उत्तर प्रत्युत्तर करने के कारण उन्हें उनके शाप से चाण्डाल पक्षी कौवा होना पड़ा।[14] पर उनकी 'सहज सीलता' एवं रामचरणों

---

१ मा० ३ ३२ १–२

२ मा० ३ ३२

३ मा० ३ ३३ २

४ मा० ७ ९६ (ख)—७ ९७.१

५ मा० ७ ९७ २–४

६ मा० ७ १०४ (ख)—७ १ ५.१

७ मा० ७ १०५ ३–४

८ मा० ७ १०५.७–८

९ मा० ७ १०५ (क)

१ मा० ७ १०६ (क)

११ मा० ७ १०६ (ख)

१२ मा० ७. १०७ ७–८ ७ १०९ १

१३ मा० ६ १०९ ८ ७ १ ९ १५ ७ १०९.१० ७ ११० १

१४ मा० ७ ११२ १२–१६

में अखण्ड विश्वास देखकर लोमश मुनि काफी प्रभावित हुए और उन्हें सहर्ष "राम मन्त्र प्रदान कर "शम्भु प्रसाद" से प्राप्त रामचरितमानस के रहस्य से अवगत कराया।[1]

काकभुशुण्डि के इष्टदेव बालक रूप राम हैं।[2] लोमश मुनि ने उन्हें भगवान् राम के बालक रूप के ध्यान की ही दीक्षा दी थी।[3] इसीलिए भगवान राम जब-जब मनुष्य का शरीर धारण करते हैं तब-तब वे उनकी बाल-लीलाओं को देखने के लिए अयोध्या जाते हैं और लुभाकर पाँच वर्ष तक वहाँ रुक जाते हैं।[4] लड़कपन में भगवान् जहाँ-जहाँ फिरते हैं वहाँ-वहाँ वे उनके साथ-साथ उड़ते हैं और आँगन में उनकी जो जूठन पड़ती है, वही उठाकर खाते हैं।[5]

काकभुशुण्डि रामकथा के परम प्रेमी हैं। वे नित्य सादर सप्रेम भगवान् राम की कथा कहते रहते हैं।[6] उन्होंने उसे ऐसा सरस एवं मनोरम रूप का प्रदान कर दिया है कि मानस के आदि प्रवक्ता भगवान् शंकर ने भी 'मराल का शरीर धारण कर रामकथा सुनने के लिए उनके आश्रम में निवास किया था।[7] इतनी ही नहीं परम ज्ञानी पक्षिराज गरुड़ के मोह के निराकरण के लिए भी उन्होंने उन्हें उनके ही पास भेजा था।[8] अपने काक शरीर से आज भी भुशुण्डि नीलगिरि पर विराजमान हैं।[9] जब गरुड़ अपनी शंका-निवृत्ति के लिए उनके पास गये थे, उस समय तक उस नीलमणि पर्वत पर रहते-रहते उन्हें सत्ताईस कल्प बीत चुके थे।[10] इस सत्ताइस कल्प का अनुभव बतलाते हुए उन्होंने पक्षिराज गरुड़ से कहा था कि भगवान् के भजन के बिना क्लेश दूर नहीं होते।[11] वस्तुतः उनकी दृष्टि में तो भक्ति से रहित सब गुण और सब सुख वैसे ही फीके हैं जैसे नमक के बिना बहुत प्रकार के भोजन के पदार्थ फीके होते हैं।[12] यही कारण है कि भगवान् राम के द्वारा दिये जाते हुए एक से एक महान् वरदानों[13] को भी अस्वीकार करके उन्होंने भक्ति की ही याचना की थी।[14]

---

१ मा० ७।११३।४-५ ७।११३।९-१२
२ मा० ७।७५।७
३ मा० ७।११३।७
४ मा० ७।७५।२-४ ७।८२।१-४
५ मा० ७।७५ (ख)
६ मा० ७।५६।४
७ मा० ७।५७
८ मा० ७।१२२।१
९ मा० ७।१२२
१० मा० ७।११४।१०
११ मा० ७।८९।५
१२ मा० ७।८४।५
१३ मा० ७।८३ (ख)—७।८४।२
१४ मा० ७।८४ (क)—८४ (ख)

और उनकी चतुराई देखकर राम भी रीझ गये थे।[1] यदि काकभुशुण्डि चाहें तो अपना काक शरीर त्याग सकते हैं पर इसी शरीर के द्वारा राम भक्ति की प्राप्ति होने के कारण वे इसे नहीं त्यागते हैं।[2]

"रावण"

रावण 'मानस' का प्रतिनायक है। वह वीर धीर, नीतिज्ञ पण्डित एवं तपस्वी ही नहीं प्रमुख पापी कामी अभिमानी, हठी एवं असत्प्रवृत्तियों की साक्षात् प्रतिमूर्ति भी है। उसका वध करके उसके अत्याचार से प्रपीड़ित पृथ्वी के परित्राण के लिए ही परब्रह्म राम को मनुष्य रूप में अवतरित होना पड़ा था। पर भगवान् राम का आमरण प्रबल शत्रु बने रहने के बावजूद वह हृदय से उनका परम भक्त भी था। हाँ उसकी भक्ति वैर भाव की थी। यथार्थतः उसे भगवान् राम के अवतार का पता था और उसने यह दृढ़ निश्चय कर लिया था कि—

सुर रंजन भंजन महि भारा। जौं भगवंत लीन्ह अवतारा॥
तौ मैं जाइ बैरु हठि करऊँ। प्रभु सर प्रान तजें भव तरऊँ॥
होइहि भजनु न तामस देहा। मन क्रम बचन मंत्र दृढ़ एहा॥[3]

रावण ने अपने इस दृढ़ निश्चय के अनुसार भगवान् राम के प्रति आमरण वैरभाव की भक्ति का पूर्ण निर्वाह किया है। यही कारण है कि परमब्रह्म राम से शत्रुता न करने के लिए मारीच शुक विभीषण माल्यवन्त प्रहस्त कालनेमि कुम्भकर्ण मन्दोदरी के सत्परामर्शों पर वह कभी भी विचार नहीं करता है। वैर भाव से स्मरण करने वाले तामसी स्वभाव के राक्षसों को भी भगवान् ने परम पद प्रदान कर स्वतः उन्हें अपना भक्त स्वीकार किया है। अपने समस्त शत्रुओं को उन्होंने वही गति दी है जो भक्तों को मिलती है। यों तो रावण शिव और ब्रह्मा का निर्विवाद रूप से महान् भक्त था ही। उनकी प्रगाढ़ भक्ति एवं कठोर तपस्या के बल पर ही उसे उनसे मनुष्य एवं वानर के अतिरिक्त और किसी के हाथ से नहीं मारे जाने का वरदान प्राप्त था।[4] उसके वैरभाव की भक्ति से प्रसन्न होकर भगवान् राम ने भी अन्ततः उसे वह गति प्रदान की जो योगिवृन्द को भी दुर्लभ रहती है।[5] इतना ही नहीं मरने पर उसका तेज भगवान् राम के मुख में समाहित हो गया।[6] "सत् से निकल कर जो शक्ति असत् रूप हो गई थी वह फिर सत् में विलीन हो गयी।[7]

---

१ मा ७ ८१ ५
२ मा० ७ ११ ७ ७ ११-४ ५
३ मा० ३ २३ ३-५
४ मा० १ १७७ २-५
५ मा० ६ १०४ (छं०) ६ ११८ १०
६ मा० ६ १०३ ६ (पू०)
७ गोस्वामी तुलसीदास आचार्य शुक्ल, पृ० १२६

राम के प्रति वैर भाव की भक्ति के कारण ही रावण में हमें दीनता के दर्शन नहीं होते। राम के परब्रह्म एवं पुरुषार्थ से पूर्णतया परिचित होकर भी अपने व्यापारों एवं कथनों से उसने यह कभी प्रकट नहीं होने दिया कि वह किसी भी तरह राम की श्रेष्ठता स्वीकार करता है। जो कोई भी उसके सामने राम के अद्भुत पराक्रम एवं परब्रह्मत्व की चर्चा करता है उससे वह अपने पराक्रम एवं पौरुष की प्रशंसा करते हुए राम को अपने सामने नगण्य प्रमाणित करने लगता है। वैरभाव की भक्ति के कारण ही वह अपने मुख से भगवान राम का नाम नहीं लेकर उन्हें 'नृप बालक' या "तपसी" शब्द से ही सम्बोधित करता रहता है। हाँ अन्तिम समय में भगवान राम के हाथों से मारे जाते समय वह उनका नाम स्मरण करता है पर वहाँ भी वह अपने वैरभाव को विस्मृत नहीं होने देता।[1] कुम्भकर्ण एवं मेघनाद जैसे महान योद्धाओं के निधन के पश्चात् निराश निशाचर-सैन्य को उसने साभिमान सूचित किया था—

जिन्ह भुजबल मैं बयरु बढ़ावा। देहउँ उतरु जो रिपु चढ़ि आवा।।[2]

रावण ने वैरभाव से सतत स्मरण करते हुये भगवान राम के प्रति ही अपनी भक्ति प्रदर्शित नहीं की है प्रत्युत जगज्जननी भगवती सीता के चरणों में भी अपनी श्रद्धा भक्ति अर्पित की है। तभी तो उनका अपहरण करते समय उनके दृढ़ पातिव्रत को देखकर उसने मन ही मन प्रसन्न होकर उनके चरणों की वन्दना की थी।[3] उसने अपने हृदय-मन्दिर में महारानी जानकी को स्थापित कर लिया था और इसीलिए उसके हृदय में भगवान राम को भी बाण मारने में कठिनाई हो रही थी।[4]

यथार्थ में अत्याचारी एवं हिंसक त्रिलोक-विजेता राजा रावण के समान भक्त और पण्डित कदापि पूज्य नहीं माना जा सकता। भक्ति एवं पाण्डित्य तो उन महर्षियों के प्रसाद नीय हैं जिन्होंने राक्षसों को शरीर अर्पित कर दिये पर अपने अहिंसक स्वभाव से पराङ्मुख नहीं हुये।

विभीषण

पूर्वजन्म के राजा प्रतापभानु का धर्मरुचि नामक सचिव ही राक्षसराज रावण का सौतेला छोटा भाई विभीषण हुआ था। यह विष्णु-भक्त एवं ज्ञान-विज्ञान का भण्डार था।[5] उन्होंने तप करके ब्रह्मा से भगवान के चरणों में निर्मल प्रेम रखने का वरदान माँगा था।[6] इसी से विभीषण बिना हरि मन्दिर एवं भगवत्पूजा के नहीं रह सकते थे। लंका में रावण के भवन के समीप ही इनका भी भवन था जो भगवान राम के आयुध अर्थात् धनुष-बाण के चिह्नों से अंकित था और वहाँ पर नवीन-नवीन तुलसी के वृक्ष-समूह भी लगे हुए थे।[7]

---

१ पर्जेव भरत घोर रन भारी। कहाँ रामु रन हतौं पचारी।।

—मा० ६ १०३ ४

२ मा ६ ७८ ६
३ मा ३ २८ ११ (उ०)
४ मा० ६ ९९.११
५ मा १ १७६ ४-५
६ मा० १ १७७
७ मा० ५ ५ ८–५ ५

विभीषण राम नाम का स्मरण करता रहता था।[1] जब हनुमान उस राम की सारी कथा कहकर अपना नाम बताते हैं तब वह प्रेमानन्द में मग्न हो जाता है और दांतों के बीच में बेचारी जीभ की तरह लंका में अपनी रहनी से उन्हें अवगत कराते हुए भगवान राम की कृपा प्राप्ति की उद्दाम आकांक्षा व्यक्त करता है। विभीषण का कथन है कि तामसी शरीर होने के कारण उससे भजन के साधन नहीं बन पाते और न उसके मन में राम के चरण-कमलों में प्रेम ही है पर अब हनुमान के मिलने से अब उसे विश्वास हो गया है कि भगवान राम की उस पर अवश्य ही कृपा है। तभी तो हनुमान ने उसे स्वयं आकर दर्शन दिया है।[2] वस्तुतः एक महान भक्त की तरह विभीषण को भी अपने साधन एवं प्रभु के पद सरोज में प्रीति का भरोसा न होते हुए भी अनाथों पर उनकी अकारण कृपा का पूर्ण भरोसा था। अतः इससे स्पष्ट है कि राम के शत्रु-पक्ष में रहते हुये भी वे उच्च महान भक्त थे।

यों तो विभीषण को राष्ट्र, कुल एवं भाई का द्रोही भी माना जाता है क्योंकि विपत्ति की बेला में इनसे सम्बन्ध विच्छेद कर के राम से जा मिले पर यथार्थ उनका यही व्यापार उनकी सच्ची भगवद्भक्ति का सुन्दरतम उदाहरण है। तुलसी का निश्चित सिद्धान्त है कि वही व्यक्ति सर्वश्रेष्ठ है जो राम के चरणों में अनुरक्त है।[3] वे सबसे बड़ा नाता राम का ही मानते हैं। ऐसी स्थिति में विभीषण का यह व्यापार तो सर्वथा उचित एवं प्रशंसनीय था। यदि किसी व्यक्ति के लिये माता, पिता, गुरु बन्धु, राष्ट्र, कुल आदि रामभक्ति की प्राप्ति में बाधक सिद्ध हो रहे हैं तो वे 'परम सनेही' होने के बावजूद "कोटि बैरी सम" त्याज्य हैं।[4] विभीषण ने पहले अपने अग्रज रावण को काफी समझाया। उसने रावण के सामने राम के परब्रह्मत्व का निरूपण करते हुए नीति धर्म की ये बातें कहने की हिम्मत की कि वह राम के चरणों में सीता को समर्पित कर स्वयं काम क्रोध, मद लोभ जैसे नरक के पथों का त्याग कर उनका भजन करे। साथ ही यह भी बतलाया कि पुलस्त्य मुनि ने भी उसे ऐसी ही अनुमति प्रदान की है। विभीषण की इस शुभ सम्मति का मन्त्रीप्रवर माल्यवान ने समर्थन भी किया पर रावण ने कोपाक्रान्त होकर दोनों को सभा भवन से निष्कासित कर दिया। इस पर माल्यवान तो अपने घर चला गया पर मानापमान को समान समझने वाले भक्तशिरोमणि विभीषण ने पुनः हाथ जोड़कर एवं उसका चरण पकड़ कर उसे बहुत तरह से समझाया कि सीता को राम के अर्पण करने में ही आपका हित है। विभीषण के पुनः प्रार्थना करने पर रावण क्रुद्ध होकर अनेक कटु वचन कहते हुए उन पर चरण प्रहार भी किया पर एक सच्चे सन्त की तरह बार-बार उसके चरण पकड़ कर विभीषण यही निवेदन करते रहे कि तुम मेरे पिता के तुल्य हो। यदि मुझे मारा तो अच्छा ही किया पर तुम्हारा कल्याण राम के भजन से ही होगा।[5] रावण के द्वारा बार बार तिरस्कृत होकर भी उसे समझाते रहने से यह स्पष्ट है कि

---

१ मा० ५ १ १ (पू०)
२ मा० ५ ६—५ ७ ७
३ मा० ७ ४६.७—८ ७ १२७ १–२
४ विनयपत्रिका पद १७४
५ [illegible]

विभीषण की यही उत्कट अभिलाषा थी कि रावण भी किसी तरह रामभक्त हो जावे जिससे उसका सर्वनाश न हो। वे रावण के राज्य को हस्तगत करने के लोभ से राम की शरण में नहीं गये थे। रावण के द्वारा चरण-प्रहार किये जाने पर भक्त विभीषण के हृदय में नाम मात्र के लिये भी क्रोध का आविर्भाव नहीं हो सका था। अतः वे क्रोधावेश में आकर भी राम के शरणापन्न नहीं हुए थे। वस्तुतः साधु विभीषण अपहृता सीता को राम को लौटाने के बदले उनसे युद्ध करने को उद्यत रावण की अमानुषता की पराकाष्ठा का अवलोकन कर उसकी सभा को काल के वशीभूत समझकर सत्य संकल्प एवं सर्वसमर्थ प्रभु राम के शरणापन्न हुये थे। राम की शरण में जाते समय उन्होंने यह स्पष्ट घोषणा भी की थी कि—

रामु सत्यसंकल्प प्रभु सभा कालबस तोरि।
मैं रघुबीर सरन अब जाउँ देहु जनि खोरि॥[1]

'देहु जनि खोरि' से कदाचित् यही ध्वनित हो रहा है कि अब मुझे कोई राष्ट्र कुल एवं बन्धु द्रोही होने का दोष न दे। रावण के द्वारा ठोकर मार कर लंका से निकाल दिये जाने पर[2] अपने आराध्य की शरण में जाने के अतिरिक्त विभीषण के पास अन्य कोई मार्ग शेष भी नहीं रह गया था। जब उसने देख लिया कि सभी तरह से समझाने पर भी रावण अनीति के पथ का किसी प्रकार परित्याग नहीं करता तब वह भी राम के शरणापन्न हो अपनी आँखों अपने रामद्रोही वंश का संहार देखते हुये भी राममक्ति पथ से विचलित नहीं हुआ।

रावण के द्वारा लंका से निकाल दिये जाने पर सहर्ष राम की शरण में जाते समय जितने मनोरथ विभीषण के मन में उदित होते हैं उनसे उनकी अगाध राममक्ति की सूचना मिलती है।[3] वानरराज सुग्रीव भी इस महान भक्त को भगवान राम के दर्शन से वंचित रखने में सफल नहीं हो सके।[4] जब वानरों के द्वारा सादर विभीषण भगवान के समक्ष उपस्थित किये गए तब दूर से ही उन्होंने नेत्रों को आनन्द का दान देने वाले दोनों भाइयों को देखा। फिर शोभाधाम राम का दर्शन कर वे ठिठक गए और उन्हें निर्निमेष नयनों से एकटक देखते ही रह गए।[5] भगवान के सौन्दर्य को देखकर विभीषण के नेत्रों में प्रेमाश्रुओं का जल भर आया और शरीर अत्यन्त पुलकित हो गया। फिर मन में धैर्य धारण कर अपनी

---

१ मा० ५.४१
२ मा० ५.४१.५
३ मा० ५.४२.४—५.४२—

देखिहउँ जाइ चरन जलजाता। अरुन मृदुल सेवक सुखदाता॥
जे पद परसि तरी रिषि नारी। दंडक कानन पावन कारी॥
जे पद जनकसुताँ उर लाए। कपट कुरंग संग धर धाए॥
हर उर सर सरोज पद जेई। अहोभाग्य मैं देखिहउँ तेई॥
जिन्ह पायन्ह के पादुकन्हि भरतु रहे मन लाइ।
ते पद आजु बिलोकिहउँ इन्ह नयनन्हि अब जाइ॥

४ मा० ५.४३.२—८
५ मा० ५.४५.१—३

दीनता एवं भगवान की शरणागत वत्सलता का निवेदन करते हुए कोमल वचनों में वे कहने लगे—

नाथ दसानन कर मैं भ्राता। निसिचर बंस जनम सुर त्राता॥
सहज पाप प्रिय तामस देहा। जथा उलूकहि तम पर नेहा॥

श्रवन सुजसु सुनि आयउँ प्रभु भंजन भव भीर।
त्राहि त्राहि आरति हरन सरन सुखद रघुबीर॥[१]

वस्तुतः विभीषण को सर्वत्र अपनी दीनता[२] एवं राम के परमप्रभुत्व एवं उनकी भक्त-वत्सलता[३] की पूरी पूरी यादगारें बनी रहती हैं। जब विभीषण भगवान के शरणापन्न हो 'त्राहि त्राहि' करते हुए उनके चरणों पर साष्टांग गिर पड़े तब शरणागतवत्सल भगवान ने उनके दीन वचन को सुनकर उन्हें हृदय से लगा लिया और लंकेश शब्द से सम्बोधित कर उनसे कुशल पूछने लगे।[४] भगवान के कुशल पूछने पर उसके उत्तर में विभीषण ने जो भक्ति पूर्ण उद्गार व्यक्त किया है, वह भी उन्हें एक महान भक्त सिद्ध करता है।[५] राम ने भक्त विभीषण को अपने सखा-रूप में गणना करते हुए उन्हें अपने स्वभाव से अवगत कराया।[६] और श्रीमुख से सकल गुण सम्पन्न घोषित कर उन्हें प्राण समान अतिशय प्रिय होने का प्रमाण-पत्र भी दिया।[७] भगवान के चरणों की सन्निधि प्राप्त होते ही विभीषण के हृदय में जो कुछ वासना थी वह प्रभु के चरणों की प्रीति रूपी नदी में प्रवाहित हो गई। फिर भक्त ने भगवान से उसकी पवित्र भक्ति का ही वरदान माँगा और 'एवमस्तु' कहकर भगवान ने भी भक्त की इच्छा न रहते हुए भी अपने अमोघ दर्शन की मर्यादा का निर्वाह करते हुए उसे लंका का राज्य प्रदान ही कर दिया।[८]

भक्त विभीषण बड़े ही कृपालु, न्यायप्रिय एवं नीति कुशल[९] तो थे ही साथ ही विनम्र एवं सहिष्णु भी थे। अपने अग्रज रावण के प्रति पग-पग पर उन्होंने अपनी विनम्रता एवं सहिष्णुता का परिचय दिया है। यह जानते हुए भी कि भगवान राम का बाण 'कोटि सिन्धु सोषक' है। उन्होंने समुद्र के पार सेना ले जाने के लिए उन्हें विनम्र होकर समुद्र से प्रार्थना करने का ही परामर्श दिया था।[१०] ऐसे साधु विभीषण की अवज्ञा के परिणामस्वरूप रावण के अखिल कल्याण की हानि होने में और लंका से सम्बन्ध विच्छेद कर राम की शरण में

---

१ मा० ५.४५ ७–५.४५
२ मा० ५.७ २–३
३ मा० ५.३९.१–२
४ मा ५.४६ १–४
५ मा ५.४६ ८–५.४७
६ मा ५.४८ १–७
७ मा० ५.४८ ८–५.४९.१
८ मा० ५.४९ ६–१
९ मा० ५.२४ ७
१० मा० ५.५० ७–८

उनके चले जाने पर सभी राक्षसों के आयुहीन होने में कोई आश्चर्य नहीं है।[1] मेघनाद[2] और रावण[3] के द्वारा राम-पराजय की कामना से किए जाते हुए यज्ञ के विध्वंस का परामर्श देकर विभीषण ने अपने आराध्य के द्वारा दिए गये "सखा" सम्बोधन को भी चरितार्थ किया है। वस्तुतः काल के वशीभूत कुम्भकर्ण जैसे महान् रावण ने भी अपने कुलभूषण विभीषण की रामभक्ति की जो प्रभूत प्रशंसा की है, वह अक्षरशः सत्य प्रतीत होती है—

> धन्य धन्य तैं धन्य बिभीषन। भयहु तात निसिचर कुल भूषन॥
> बंधु बंस तैं कीन्ह उजागर। भजेहु राम सोभा सुख सागर॥
> बचन कर्म मन कपट तजि भजेहु राम रनधीर।
> जाहु न निज पर सूझ मोहि भयउँ कालबस बीर॥[4]

यथार्थ में भक्त शिरोमणि विभीषण ने अपनी रामभक्ति के बल पर सम्पूर्ण राक्षसकुल को देदीप्यमान कर दिया है।

कुम्भकर्ण

रावण के द्वारा जगाये जाने पर उसके मुख से सीता-हरण एवं संग्राम आदि की सारी कथा सुनकर उसकी भर्त्सना करने वाला कुम्भकर्ण भी भगवान राम का पूर्ण भक्त प्रतीत होता है।[5] उसकी दृष्टि में जगज्जननी जानकी का अपहरण करके राक्षसराज रावण ने कोई अच्छा कार्य नहीं किया है। वह अब भी रावण के कल्याण के लिए उसे अभिमान छोड़कर राम भजन करने का परामर्श प्रदान करता है।[6] राम के परब्रह्मत्व से वह पूर्णतः परिचित है। तभी तो रावण से वह कहता है—

> हैं दससीस मनुज रघुनायक। जाके हनूमान से पायक॥
> अहह बंधु तैं कीन्हि खोटाई। प्रथमहिं मोहि न सुनाएहि आई॥
> कीन्हेहु प्रभु बिरोध तेहि देवक। सिव बिरंचि सुर जाके सेवक॥[7]

रावण से विदा लेकर रणभूमि में भवतापमोचन भगवान राम से लड़ने के लिए जाते समय उनके दर्शन की कल्पना से वह गद्-गद् हो जाता है।[8] इतना ही नहीं राम के रूप और गुणों का स्मरण करके वह एक क्षण के लिए प्रेम-मग्न भी हो जाता है।[9] उसकी

---

१ मा ५.४२ १-३
२ मा० ६.७५ ३-५
३ मा० ६.८५ १-३
४ मा ६.६४ ८—६.६४
५ मा० ६.६२
६ मा० ६.६३ १-२
७ मा० ६.६३ ३-५
८ मा० ६.६३ ७-८—
> अब भरि अंक भेंटु मोहि भाई। लोचन सुफल करौं मैं जाई॥
> स्याम गात सरसीरुह लोचन। देखौं जाइ ताप मम मोचन॥

९ मा० ६.६३ (पू०)

यह प्रेम-मग्नता शिव की प्रेममग्नता से कदापि कम नहीं है।[१] रणभूमि में विभीषण से साक्षात्कार होने पर उसे राम के परमात्मा होने का ज्ञान एवं उनका भजन करने के कारण वह उसे अपने राक्षसकुल का देदीप्यमान करने वाला भूषण घोषित करते हुए धन्यवाद प्रदान देता है[२] तथा मन वचन एवं कर्म से कपट छोड़कर उनका आश्रय भी भक्ति करने का परामर्श देता है।[३] पर वह स्वयं शत्रु भाव से राम की भक्ति करता है और अन्ततः मरने पर उसके शत्रु भाव की भक्ति का सुपरिणाम यह हुआ कि—

तासु तेज प्रभु बदन समाना। सुर मुनि सबहिं अचंभव माना ॥[४]

मंदोदरी

"रामचरित मानस में रावण की परिणीता पत्नी मंदोदरी भी एक महान् रामभक्त के रूप में चित्रित है। एक ओर तो वह अनंद पतिव्रता है और दूसरी ओर राम की महत्ता एवं परब्रह्मत्व से पूर्णतया परिचित है। वह अपने जीवन में सत्य, धर्म, नीति एवं न्याय जैसे उदात्त गुणों को प्रश्रय प्रदान करने वाली भक्त नारी है। उसके विशुद्ध भक्त हृदय में प्रतिफलित होने वाले इन उदात्त गुणों का मानसकार ने बार-बार मूल्यांकन किया है। मंदोदरी सदैव रावण के सीतापहरण-कर्म की भर्त्सना करती है और उसे सदुपदेश प्रदान करती हुई भगवान् राम से विरोध न करने का बार-बार आग्रह करती है। पर रावण उसकी एक भी नहीं सुनता। वह क्रोधावेश में आकर अपशब्दों[५] एवं कटूक्तियों का प्रयोग कर अपने पति को अपमानित भी करती है पर विभीषण की तरह रावण से सम्बन्ध विच्छेद कर राम के पक्ष में सम्मिलित नहीं होती। उसके व्यक्तित्व में राम एवं रावण दोनों के प्रति प्रेम की विरोधी मनोवृत्तियों का सफल निर्वाह हुआ है। उसका चरित्र अपनी सीमाओं के भीतर ही काफी ऊँचा उठा हुआ है। यों रावण उसके उपदेशों, तर्कों एवं कटूक्तियों को हँस कर टाल देता है पर यथार्थ में वह उन्हें सुनकर निरुत्तर हो जाता है।

जब राम के बाणों से रावण के छत्र और मुकुट एवं मन्दोदरी के ताटंक धराशायी हुए थे तब भयंकर अपशकुन समझ कर उसने रावण के समक्ष भगवान् राम के 'विश्वरूप का[६] विशद वर्णन किया था। इससे स्पष्ट है कि वह राम के वास्तविक रूप से सुपरिचित थी। वह भली भाँति जानती है कि राम नर-वेष में साक्षात् परब्रह्म परमेश्वर हैं। रावण के मारे जाने पर मन्दोदरी ने अपने विलाप[७] में और उसके पहले[८] भी राम को स्पष्ट शब्दों में जग नाथ स्वीकार किया है। जन्मजात परद्रोहरत एवं पापमय रावण को

१ मा १ १११
२ मा ६ ६४ ८—९
३ मा० ६ ६४ (पू०)
४ मा ६ ७१ ८
५ मा० ६ ३६ ६
६ मा ६ १४ ६—६ १५ (क)
७ मा ६ १०४ ११ — काल बिबस पति कहा न माना।
अग जग नाथु मनुज करि जाना ॥
८ मा० ६ ३६ ८ पति रघुपतिहि नृपति जनि मानहु। अग जग नाथ अतुल बल जानहु ॥'

स्वधाम प्रदान करने वाले निर्विकार ब्रह्म राम के समक्ष मन्दोदरी सदा नतमस्तक है।[१] उसकी दृष्टि में राम के समान कृपा का समुद्र दूसरा कोई नहीं है।[२] यही कारण है कि भक्त मन्दोदरी अपने मन में भगवान् राम के गुणगणों का सदैव वर्णन करती रहती है।[३]

त्रिजटा

त्रिजटा राक्षसी भी भगवान् राम की परम भक्त थी।[४] स्त्री होने के नाते त्रिजटा का महारानी सीता से हम विशेष संबंध पाते हैं। वह विरहिणी सीता की विपत्ति की संगिनी है और सीता भी उसे माता शब्द से संबोधित करती है।[५] राक्षसराज रावण के आदेशानुसार जिस समय राक्षसियों के समूह बहुत से बुरे रूप धरकर सीता को डराने आये थे उस समय त्रिजटा ने ही उन सबों को अपने भयावह स्वप्न से अवगत कराकर सीता के चरणों पर गिरने के लिये विवश किया था।[६] राम के असह्य विरह में जब सीता ने अपना प्राणान्त करने के लिए त्रिजटा से चिता सजाने का आग्रह किया तब उसने ही सीता के चरणों को पकड़कर उन्हें समझाया और प्रभु के प्रताप बल एवं सुयश को सुनाकर उन्हें आश्वस्त किया।[७] इसी तरह जब रावण बहुत दिनों तक युद्ध में मारा नहीं गया तो सीताजी व्याकुल होकर नाना प्रकार से विलाप करने लगी थीं।[८] उस समय भी सीता के समक्ष रावण-वध में विशेष विलम्ब के रहस्य का उद्घाटन करते हुए त्रिजटा ने ही उन्हें बहुत प्रकार से समझाया था।[९] वह बीच-बीच में भी सीता के पास जाकर उन्हें राम रावण-युद्ध की स्थिति से अवगत कराया करती थी। इस तरह मानस की त्रिजटा भी निर्विवाद रूप से एक भक्त ही है।

उपसंहार

इस तरह रामचरितमानस भक्तों की एक सुन्दर एवं वृहद् मंदाकिनी ही है। इसमें प्रायः जितने भी नर-नारी देवता-राक्षस साधु-सन्यासी, राजा रंक पशु-पक्षी आदि पात्र हैं वे किसी न किसी रूप में भगवान् राम के भक्त हैं। भले ही वे सांसारिक दृष्टि से लौकिक धरातल पर उनके माता पिता गुरु-पुरोहित, भाई-बन्धु, मित्र-शत्रु आदि भी हैं, परन्तु यथार्थतः वे उनके भक्त ही हैं। इन्हीं भक्तों में से कोई आर्त्त भक्त है, तो कोई जिज्ञासु, कोई अर्थार्थी भक्त है तो कोई ज्ञानी। इन्हीं में से कोई वात्सल्य भाव से भगवान् की भक्ति करता है तो कोई वैर भाव से उन्हें स्मरण करता है। भगवान् ने इन्हीं भक्तों को अपनी लीला का आनन्द प्रदान करने के लिए अवतार धारण किया था[१०] और इनके अभाव में उनकी कोई सार्थकता भी सम्भव नहीं थी। वस्तुतः प्रस्तुत परिच्छेद की सीमित परिधि में मानस के सभी भक्तों का

१ मा० ६.१०४.१६.१७
२ मा० ६.१०४ (पू०)
३ मा० ६.१०६
४ मा० ५.११.१ — 'त्रिजटा नाम राक्षसी एका। राम चरन रति निपुन बिबेका।।"
५ मा ५.१२.१— त्रिजटा सन बोलीं कर जोरी। मातु बिपति संगिनी तैं मोरी।।"
६ मा० ५.१०.५.११.८
७ मा० ५.१२.१.६
८ मा० ६.९९.२.११
९ मा० ६.९९.१२.६.१००.१
१० मा० ७.७२ (क) ७.७२.२

सांगोपांग अध्ययन उपस्थित करना न सम्भव ही था और न कदाचित् आवश्यक ही। अतः कुछ प्रमुख भक्तों के चरित्र का ही सविस्तार मंथन करके अध्ययन को सीमित रखा गया है। पर अब तक मानस में वर्णित जिन भक्तों की चर्चा हुई है वे अलग अलग व्यक्ति थे। मानसकार ने भगवान् राम के प्रति समष्टि रूप से जन-समूह की भक्ति की भी चर्चा की है। यहाँ संक्षेप में उसका दिग्दर्शन करा देना भी अप्रासंगिक नहीं होगा।

देवगण[1]

समवेत रूप से "मानस' के देवगण भी भगवान् राम के परम भक्त हैं। "मानस' के सभी महत्वपूर्ण अवसरों पर वे सपत्नीक नाचते-गाते एवं दुन्दुभि बजाते हैं और भगवान् राम एवं उनके भक्तों पर पुष्पवृष्टि करते हुये उनकी जय जयकार करते रहते हैं।[1] वे भगवान्[2] एवं उनके भक्तों[3] की प्रभूत प्रशंसा ही नहीं करते परन्तु कामान्ध होकर पथभ्रष्ट होते हुये भक्त को आकाशवाणी द्वारा करणीय-अकरणीय का विवेक भी प्रदान करते हैं।[4] वस्तुतः भगवान् राम के अवतार का एक प्रमुख कारण "सुररंजन'[5] भी था और उन्होंने पहले ही 'देव समुदाई' को अपने भावी कार्यक्रम का सविस्तार निर्देश कर दिया था।[6] अतः देवताओं का भगवान् का परम भक्त होना स्वाभाविक ही है। परन्तु तुलसी ने इन्हें सदा का स्वार्थी घोषित कर इनकी बड़ी भर्त्सना की है।[7] उनके विचार में देवताओं का निवास तो उच्च है किन्तु उनकी करतूती नीच है। वे दूसरों की विभूतियों को नहीं देख सकते।[8] वे स्वार्थी एवं मलिन हैं और मनुष्यों में प्रबल प्रपंच एवं माया रचकर भय भ्रम शोक आदि का संचार करते रहते हैं।[9] चित्रकूट में राम भरत-मिलाप के अवसर पर तो उन्हें कुचकी होने लगती है।[10] यथार्थतः इन देवताओं का वैदिक रूप नहीं लेकर पौराणिक रूप लेने के कारण ही तुलसी ने इनकी इतनी भर्त्सना की है। रावण के निधनोपरान्त भगवान् राम की स्तुति[11] करते हुये देवताओं ने 'परम अधिकारी' होकर भी स्वार्थ परायण हो भगवान् की भक्ति को भुलाकर निरन्तर भवसागर के प्रवाह में पड़े रहने के कारण स्वतः अपने आप पर क्षोभ प्रकट किया है और प्रभु के शरणागत हो उनसे अपनी रक्षा की प्रार्थना की है।[12] ऐसे देवताओं ने बृहस्पति, सरस्वती, गणेश आदि अलग-अलग भी राम के भक्त हैं पर इनका चरित्र विकसित नहीं हो पाया है।

---

१ मा० १ १६१ ५—७ १ ३१४ १—३ १ ३१६.७—१ ३१५ १ ३१७ २—१०
२ मा० २ २१२ ७ ११० ७—८
३ मा० २ २११ १
४ मा० २ २१० १—२ २११ ५
५ मा० १ १३६ (छ०) १ २१ ३ ६ १११ १६
६ मा० १ १८७ १—८
७ मा० ७ ११० २
८ मा० २ १२ ६
९ मा० २ २९५
१० मा २ २४१ ७
११ मा ७ ११० २—८
११२ मा० ७ ११० ११—१२

अयोध्यावासी

अयोध्यावासी भगवान् राम को अत्यन्त ही प्रिय हैं।[1] अवध-धाम के सामान्य निवासियों पर भी उनकी अपार ममता है। उन्होंने 'तिय निन्दक मतिमन्द' रजक ऐसे महापापी को भी अपना धाम प्रदान किया है।[2] यथार्थतः अयोध्या में निवास करने वाले पुरुष और स्त्री सभी कृतार्थ स्वरूप हैं।[3] मानसकार ने समष्टि रूप से राम के समकालीन अयोध्यावासियों की रामभक्ति का भी सुन्दरतम् निदर्शन किया है। राम वन-गमन के समय अयोध्या को अनाथ देखकर वे सब व्याकुल होकर उनके साथ हो लेते हैं। राम के बार-बार बहुत तरह से समझाने पर वे अयोध्या की ओर लौट जाते हैं पर फिर प्रेमवश उनके साथ हो लेते हैं।[4] उनका तो यही विचार था—

> सबहि बिचारु कीन्ह मन माहीं। राम लखन सिय बिनु सुखु नाहीं॥
> जहाँ रामु तहँ सबुइ समाजू। बिनु रघुबीर अवध नहिं काजू॥[5]

और इसीलिए

> चले साथ अस मंत्रु दृढ़ाई। सुर दुर्लभ सुख सदन बिहाई॥[6]

यद्यपि भगवान् राम ने प्रेमयुक्त कोमल एवं सुन्दर वचन कहकर बहुत प्रकार से उन्हें समझाया और बहुतेरे धार्मिक उपदेश दिये तथापि वे लौटाये नहीं लौटे।[7] अन्त में लाचार होकर लोगों के सो जाने पर राम के आदेशानुसार सुमन्त्र को 'खोज' मारकर रथ हाँकना पड़ा।[8] इस प्रकार राम के चले जाने पर खिन्न एवं प्रेम विह्वल होकर प्रलाप करते हुए वे अयोध्या आकर भगवान् के दर्शन के लिए नियम और व्रत करते हुए अवधि की आशा से ही प्राणों को रखने लगे।[9] ननिहाल से भरत के लौटने के बाद वे सब भी उनके साथ-साथ राम दर्शनार्थ चित्रकूट को प्रस्थान करते हैं।[10] जब राम के लौटने की अवधि का एक ही दिन बाकी रह जाता है तब उनके वियोग में कृशांग अयोध्यावासी चिन्ताग्रस्त एवं अधीर हो जाते हैं।[11] पर सुन्दर शकुन उनके मन की प्रसन्नता एवं नगर की रमणीयता से ही उन्हें भगवान् शुभागमन की सूचना मिल जाती है।[12] वे परम प्रसन्न हो देवदुर्लभ भोग भोगते हुए विधाता ब्रह्मा को मनाकर उनसे राम के चरणों में प्रीति की ही आकांक्षा करते हैं।[13] उनके मे पुराणों

---

१ मा० ७४७ (पू०)
२ मा० विनयपत्रिका पद १६६, प० ८ मा० १ १६ ३
३ मा० ७४० (पू०)
४ मा० २ ८३ १—४
५ मा० २ ८४ ५—६
६ मा० २ ८४ ७
७ मा० २ ८५ १ ४
८ मा० २ ८५ ८—२ ८६
९ मा० २ ८६ १—२ ८६ (पू०)
१० मा० २ १८६ १—२ २ १८६ ५ २ १८६ १ २ १८७ २ १८७
११ मा० ७ मंगलाचरण के बाद का दोहा
१२ मा० ७ मंगलाचरण के बाद का दोहा
१३ मा० ७ २६ ४ ५

और अनेक प्रकार के पवित्र रामचरितों की कथा होती रहती है। स्त्री-पुरुष सभी भगवान् राम का गुणगान करते रहते हैं और इस आनन्द में वे दिन रात का बीतना भी नहीं जान पाते।[1] सभी लोग अपने घर घर की सुन्दर चित्रशालाओं में भगवान् राम के चरित्र को बड़ी सुन्दरता के साथ सँवार कर अंकित किये हुए हैं।[2] अन्य भी 'सुकसारिका' को भगवन्नाम-जप का पाठ पढ़ाते रहते हैं।[3] मानस के उत्तर काण्ड के उनतीसवें दोहे के बाद की पंक्तियों में तो तुलसी ने अयोध्यावासियों की प्रगाढ़ भक्ति का यथातथ्य अंकन कर दिया है। यथार्थ में उसकी एक-एक पंक्ति भगवान् के सौन्दर्य एवं सद्गुणों का सूत्र है और भक्तों के हृदयकानन को उल्लसित करने के लिए शीतल, मन्द एवं सुगन्धपूर्ण मलय समीरण है।[4]

इसी तरह जनकपुर का जन समूह[5] वन मार्ग के ग्रामीण[6] चित्रकूट के कोल किरात[7] भी समष्टि रूप से भगवान् राम के परम भक्त हैं। जिस समय राम समुद्र पर सेतु बाँधकर ससैन्य लंका जा रहे थे उस समय समुद्र के सभी जीव पारस्परिक वैमनस्य को विस्मृत कर उनके अलौकिक रूप को देखकर प्रेममग्न हो गये थे। मानसकार ने बड़ी मार्मिकता के साथ सम्मिलित रूप से समुद्र के इन जलचरों की भक्ति का भी वर्णन किया है।[8] सामान्य पशु-पक्षी भी राम के भक्त हैं और वे उनके वियोग का कटु अनुभव करते हैं।[9] अधिक क्या कहा जाय 'मानस में बादल[10] एवं वृक्ष[11] भी अपनी सेवाएं अर्पित कर भगवान् राम के प्रति अपनी प्रगाढ़ भक्ति प्रदर्शित करते हैं। संक्षेपतः मानस के जड़-चेतन समस्त पात्रों में राम भक्ति की अपूर्व व्याप्ति है।

"मानस' के भक्त चरित्रों के निर्माण का उद्देश्य

महाकवि तुलसी ने मानस के इन भक्त चरित्रों को एक निश्चित उद्देश्य एवं निर्धारित योजना के अनुसार निर्मित किया है। वे अपने रामचरितमानस जैसे अमर एवं अद्वितीय महाकाव्य के द्वारा लोक जीवन में रामभक्ति के व्यापक प्रचार प्रसार का जो सत्य सिद्ध करना चाहते थे उसके सबसे बड़े साधक उनके ये भक्त पात्र ही हैं। इन भक्त पात्रों की महानता के कारण ही 'मानस' का भारतीय जन-जीवन में इतना समादर एवं प्रचार प्रसार है। अशिक्षित जनता भले ही 'मानस' के काव्य वैभव से अपरिचित हो, पर वह मानस में वर्णित भक्तों की कथा से पूर्णतः परिचित है और उन्हीं को मानदंड बनाकर वह सामाजिक व्यक्तियों के जीवन का मूल्यांकन करती है। वस्तुतः समाज को गहराई से प्रभावित करने के कारण 'मानस' में वर्णित भक्तों के चरित्र विश्व-साहित्य में अतुलनीय हैं।

---

१ मा० ७ २६ ७-८
२ मा० ७ २७
३ मा० ७ २८ ७
४ मा० ७ ३० १-७ ३०
५ मा० १ २२० ३-१ २२४ १ २२५ ४ १ २४४ १
६ मा० २ १२२ १-२ १२२
७ मा० २ १३५.१ ६.१३७ ३
८ मा० ६ ४ ४ ८
९ मा० २ ८३ ९.८४ १ २ ९९,२ १४२ ८ २ १४२
१० मा० ३ ७ ५
११ मा० ६ ५.५

छठा अध्याय

हिन्दी राम-भक्ति काव्य एवं भारतीय जीवन पर 'मानस' की भक्ति का प्रभाव

(क) हिन्दी राम-भक्ति काव्य पर 'मानस' की भक्ति का प्रभाव

यों तो रामचरितमानस की भक्ति का प्रभाव प्रायः परवर्ती समग्र भक्ति-काव्यों पर पड़ा है, पर प्रस्तुत परिच्छेद की सीमित परिधि में तुलसी परवर्ती सभी रामभक्ति-काव्यों पर भी विचार करना संभव नहीं है। यथार्थतः अपने आप में यह अनुसंधान का एक स्वतंत्र विषय होने की क्षमता रखता है। अतः यहाँ पर कुछ प्रतिनिधि राम-भक्ति-काव्यों पर ही मानस की भक्ति के प्रभाव को स्पष्ट करने का प्रयास किया जायगा। हाँ, इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है कि तुलसी के पीछे उनका अनुकरण करने वाले तो बहुत से कवि हुए पर उनसे बढ़कर होना तो दूर की बात है, कोई उनकी समकक्षता भी नहीं प्राप्त कर सका। हिन्दी राममक्ति-काव्य के नन्दन-वन में तुलसी ही कल्पवृक्ष हुए और उनका स्थान निर्विवाद रूप से सर्वोपरि है। उनके रामचरितमानस में भक्ति की परम्परा और उसका उत्कर्ष पराकाष्ठा पर पहुँच गया है। उनके परवर्ती काव्यों में भक्ति-विशेषतः राममक्ति की धारा उतनी प्रशस्त नहीं रह गयी पर क्षीण रूप में ही सही वह सतत् प्रवाहित होती रही। यहाँ क्रमानुसार तुलसी परवर्ती प्रतिनिधि राम भक्ति काव्य उनके रचयिता उनका काल एवं उन काव्यों पर पड़े मानस की भक्ति के प्रभाव का उल्लेख किया जा रहा है।

१ ध्यान मंजरी

ध्यान मंजरी एक सौ साठ पंक्तियों की एक छोटी-सी सुन्दर पुस्तिका है जिसकी रचना केवल रोला छंद में हुई है। इसमें भगवान् राम का महारानी सीता के साथ प्रस्फुटित होने वाले सौन्दर्य का वर्णन है। इसके प्रणेता स्वामी अग्रदास जी हैं। ये तुलसी के समसामयिक थे। इनका जन्म १६ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में हुआ था।[1] ये कृष्णदास पयहारी के शिष्य थे।[2] आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में इनकी बनाई चार पुस्तकों का पता है

१ हितोपदेश उपखाणां बावनी।
२ ध्यान मंजरी।
३ राम ध्यान-मंजरी।

---

१ रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय—डा० भगवती प्रसाद सिंह, पृ० १७६
२ हिन्दी-साहित्य का इतिहास—पं० रामचन्द्र शुक्ल—पृ० १४९

४ कुण्डलिया।[1]

पर डा० भगवतीप्रसाद सिंह के विचार में अग्रदास जी की हिन्दी में दो रचनायें मिलती हैं— ध्यान-मंजरी और "कुण्डलिया"। इनमें प्रथम की 'राम ध्यान मंजरी' और द्वितीय की "हितोपदेश उपखाणा बावनी" नाम से भी कतिपय पांडुलिपियाँ खोज में प्राप्त हुई हैं।[2]

संवत् १६३१ में तुलसी ने रामचरितमानस का प्रणयन प्रारम्भ किया था।[3] अतः १६ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में ही प्रभूत रामभक्ति के महान् साधक के नाते स्वामी अग्रदास जी की साधना पर मानस की भक्ति का प्रभाव पड़ना सर्वथा संभव है। स्वामी अग्रदास जी मानस पूजा करने वाले सिद्ध भक्त थे और इनकी ध्यान मंजरी से राम भक्ति को पर्याप्त बल मिला है। उन्हें अपने ध्यान मंजरी में सीता राम के युगल स्वरूप के सौन्दर्य वर्णन के लिए कोई उपमा ही नहीं मिलती। वस्तुतः सारी उपमाएं सीमित सौन्दर्य वाली हैं और सीता-राम के सौन्दर्य में वे अपने अनन्त रूप में प्रकट हो गया है।[4] सीताराम के इस अनुपम सौन्दर्य के ध्यान से ब्रह्मा और शिव भी अपने को पवित्र करते हैं। इस ध्यान से साधक का जन्म सफल एवं कृतकृत्य हो जाता है।[5] अपने आराध्य एवं आराध्या के सौन्दर्य वर्णन में मानसकार की जैसी तन्मयता एवं निर्विकार सौन्दर्य भावना दृष्टिगोचर होती है वैसी ही स्वामी अग्रदास की भी।[6] इतना ही नहीं अग्रदास जी ने मानस की शब्दावली भी अपने ग्रन्थ में यत्र-तत्र ग्रहण की है।[7] अग्रदास जी ने सीता के सौन्दर्य में जो कुछ लिखा

---

१ वही

२ रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय—पृ० २८१

३ मा० १।३४।४

४ ध्यान मंजरी प० सं० ६५—अतुलित युगल स्वरूप कवन अस उपमा जिनकी।
 जदपि उपमा दीप्त कथित करि भासित तिनकी॥

५ ध्यान मंजरी प० स० ७१

६ (क) मा० १।२४२।१ (पू०)—चितवहिं प्रभु चित्रवमय सीता।
 (ख) योगिन्ह परम तत्वमय भासा। सांत सुद्ध सम सहज प्रकासा॥—मा० १।२४२।४
 (ग) ध्यान मंजरी प० सं० ४८—अस राजत रघुवीर वीर भासित सुखकारी।
 रूप सच्चिदानन्द धाम सिय जनक कुमारी॥

७ (क) मा० १।२११।६—पुर नरनारि सुभग सुचि संता। धरम सील ग्यानी गुनवंता॥
 ध्या० मं० प० सं० ६ (उ)—धर्मशील नरनारि सबै प्रभु सुयश परायन॥
 (ख) मा० १।२११।८ (पू०) १।२४३।२ (पू०)—चितवनि चारु भृकुटि बर बाँकी।
 ध्यान मंजरी प० सं० १६ (पू)—चितवनि चारु कृपाल रसिक जन मन आकर्षत।
 (ग) मा० १।१४७।६—उर श्री बत्स रुचिर बन माला। पदिक हार भूषन मनि जाला॥
 ध्या० मं० प० सं० ३८ (उ०) उरश्रीवत्स सुचिन्ह कण्ठ कौस्तुभ मणि भावे॥
 (घ) मा० १।२४८।१ (पू०)—भूषन सकल सुदेस सुहाए।
 ध्या० मं० प० सं० ४१ (पू०)—भूषण विविध सुदेश पीतपट शोभित भारी।
 (ङ) मा० ७।७६।७ (पू०)—ललित अंक कुलिसादिक चारी।
 ध्या० मं०, प० सं० ४२ (पू०)—युगल अरुण पद पद्म चिन्ह कुलिशादिक मंडित।

है यह तुलसी की इस उक्ति 'भूपन सकल सुदेस सुहाए । अंग अंग रचि सखिन्ह बनाए ॥'[1] की व्याख्या सी प्रतीत होती है। उदाहरणार्थ—

> नयन भरे छवि भरे विविध भूषण अस सोहैं ।
> सुन्दर अंग उदार विदित चामीकर कोहैं ॥
> मस्तक मलयरता श्याम पीठ संमित कस वेनी ।
> सुन्दरता की सींव किधौं राजति अलिश्रेनी ॥
> हरित मखम कर चरित भूमस के हरि अस राजै ।
> तिन पर घुंघुरु और अग्र बिछिया जु विराजै ॥
> तिन पर नग जु अमोल ललित चूनी मन भावे ।
> चरण चारु दल अरुण सहज ही जगत सुहावे ॥[2]

ध्यान मंजरी में अयोध्या का ध्यान[3] वहाँ के धर्मशील नरनारी[4] एवं सरयू[5] के वर्णन भी रामचरितमानस से सर्वथा प्रभावित हैं। जिस प्रकार तुलसी ने रामचरितमानस नाम की महिमा घोषित करते हुए उसे कानों से सुनते ही विश्राम देनवाला बतलाया है[6] उसी प्रकार अग्रदास जी ने ध्यान मंजरी नाम श्रवण करने से मन में मोद की अभिवृद्धि के अनुभव का उल्लेख किया है।[7] अपने अपने ग्रंथ के अध्ययन के अधिकारियों के दोनों कवियों ने जो लक्षण दिये हैं उनमें भी बहुत कुछ साम्य है।[8] भगवान् के चरित श्रवण से होने वाले फल भी दोनों ने एक समान ही बतलाये हैं।[9] श्री सीताराम के ध्यान को दोनों ने परम कल्याण कारी कहा है।[10] जिस तरह तुलसी ने राम को अजादि देवताओं से सेव्य एवं वन्दनीय कहा है[11] उसी तरह ध्यान मंजरीकार ने भी 'भव चतुरानन आदि' देवताओं के लिये वन्द्य माना है।[12] जिस प्रकार सुतीक्ष्ण-राम मिलन प्रसंग में तुलसी ने सुतीक्ष्ण की भगवान् के ध्यान में

---

१ मा० १ २४८ १
२ ध्यानमंजरी प० सं० ४१ ६४
३ (उ०) १२ ११
४ वहीं प० सं १ (उ)
५ वहीं प० सं १८
६ मा० १ ३५ ७
७ ध्या० मं० प० सं० ८० (पू०)
८ मा ७ १२८ ३ ५— 'यह न कहिअ सठ हठ सीलहि । जो मन लाइ न सुन हरि लीलहि ॥
द्विज द्रोहिहि न सुनाइअ कबहूँ । सुरपति सरिस होइ नृप जबहूँ' ॥
ध्या० मं० प सं० ७५— जिन्हें भूमि जनि कहौ कुटिलता पंक मलिन मन ।
यह उज्ज्वल मणिमाल पहिरिहैं परम रसिक जन ॥
९ मा० ७ १२६ १ (उ) ५.६०— सुनत श्रवन छूटहि भव पासा ।
ध्या० मं० प सं० ७४ (पू)—' परम सार यह चरित सुनत भवबन्धन अपहारी ।
१० दोहावली दो० १
ध्या० मं० प० सं० ७४ (उ)
११ मा० १ ४१ (उ) १ १४६ १ (उ)
१२ ध्या० मं०, प सं० ७१ (उ)

अतुलनीय रसिकता का वर्णन किया है।[१] उसी प्रकार अग्रदास ने भी सीताराम के ध्यान का हृदयंगम करना रसिकता से ही संभव माना है।[२] जिस प्रकार तुलसी ने ज्ञान, तप एवं याग से भक्ति को अधिक महत्त्व प्रदान किया है[३] उसी प्रकार ध्यान मंजरीकार ने भी।[४] उपर्युक्त बातों के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अग्रदास जी इस ग्रंथ की रचना में तुलसी के मानस से बहुत कुछ प्रभावित थे। आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल के द्वारा उद्धृत अग्रदास के एक पद से भी यह स्पष्ट है कि उनका भक्त हृदय तुलसी के समान ही निश्छल होकर नम्रता प्रदर्शित करते हुए एकमात्र भगवान् राम के आधार का ही अनन्य आकांक्षी था।[५]

२ रामाष्टयाम

'रामाष्टयाम' के रचयिता परम राम भक्त नाभादास जी हैं। ये उपर्युक्त महात्मा स्वामी अग्रदास जी के शिष्य एवं सहचर थे तथा इनका स्थूल देह संबंधी नाम नारायण दास था।[६] ये संवत् १६५७ के लगभग वर्तमान थे और गोस्वामी तुलसीदास जी की मृत्यु के बहुत पीछे तक जीवित रहे।[७] इनके रामाष्टयाम में राममक्ति संबंधिनी कविता है। यह रामचरितमानस की शैली[८] पर दोहा चौपाइयों में ब्रजभाषा पद में रचित है। इसमें राम एवं सीता के विहाराम की दिनचर्या तथा उनकी मानसिक पूजा एवं सेवा का वर्णन है। रामचरितमानस का क्षेत्र विस्तृत है किन्तु रामाष्टयाम का अत्यंत संकुचित। पर फिर भी मानस में भगवान् राम के सौन्दर्य वर्णन की जो शब्दावली है, वह इस ग्रंथ में भी प्राय उसी रूप में या थोड़ा हेर-फेर करके ले ली गयी है। उदाहरणार्थ नीचे कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की जाती हैं—

(क) कटि किंकिनी उदर त्रय रेखा।

—मा १ १९९ ४ (पू०)

---

१ मा० १ १० १० १३
२ ध्या० मं प० सं० ७२ ७३ (पू)
३ मा० २ २९१ १ २
४ ध्या मं० प सं ७३ (उ)
५ हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ० १४९—पीरनि के बस अगत पुकार।
अगरदास के राम अधार॥
६ सहचर श्री गुरुदेव के नाम नारायण दास।
—रामाष्टयाम दो० ४ (पू०)
७ हिन्दी साहित्य का इतिहास आचार्य शुक्ल पृ० १४७
८ (क) मा० १ १८ ७—जनक सुता जग जननि जानकी।
अतिसय प्रिय करुना निधान की॥
रामाष्टयाम चौ० ११४—सीस कमल कर धरे जानकी।
सखिन सहित हित सुख निधान की॥
(ख) मा १ २२८ ४—भूरि समीप गिरिजा गृह सोहा।
बरनि न जाइ देखि मनु मोहा॥
रामाष्टयाम चौ० २७९—सो आराम भवन सुठ सोहा।
जो त्रिलोक ऋतुपति मन मोहा॥

कोउ हटि किंकिनि ललित निहारें।
उवरेख कोउ दृष्टि न टारें ॥   —रामाष्टयाम चौ० १३४

(ख) उर मनिहार पदिक की सोभा। बिप्र चरन देखत मन लोभा ॥
कंबु कंठ अति चिबुक सुहाई।   —मा० १ १६६. ६-७ (पू०)
उर श्रीवत्स रुचिर बनमाला। पदिक हार भूषन मनि जाला ॥
—मा० १ १४७ ६

कोउ भृगुपद कोउ माल सुहाये।
कोउ श्रीवत्स जिन्ह मन भाये ॥
कोउक पदिक की रचना चितवें।
कम्बुकंठ रेखा अति हितवें ॥
— रामाष्टयाम चौ० १३५ १३६

(ग) उर मनि माल कम्बु कल ग्रीवा। काम कलभ कर भुज बल सींवा ॥
—मा० १ २३३ ७

कोउ भुज युगल देखि मति मोहैं।
काम कलभ करमा सम सोहैं ॥
— रामाष्टयाम, चौ० १३७

(घ) पीत जनेउ महाछवि देह।
—मा० १ ३२७ ५ (पू०)
यज्ञोपवीत चारु मुठि सोहा।
—रामाष्टयाम, चौ० १७५ (पू)

(ङ) पियर उपरना काखासोती।
—मा० १ ३२७ ७ (पू)
श्वेत उपरना काखासोती।
—रामाष्टयाम चौ० १७८ (पू)

भगवान के दर्शन के लिए लोगों की विह्वलता एवं आतुरता का वर्णन रामाष्टयाम-कार ने ठीक मानसकार की तरह ही किया है।[1] तुलसी की तरह ही नाभादास ने भी

१ (क) धाए धाम काम सब त्यागी।
—मा १ २२० २ (पू)
बाल वृद्ध सब देखन धाईं ॥
—रामाष्टयाम चौ० १२८ (उ०)
निज निज टहल काज बिसराईं।
—वही चौ १२५ (पू०)

(ख) जे जैसेहि तैसेहि उठि धावहिं।
—मा० ७ ३ ७ (पू०)
लेकि विह्वल तनु सुधि कछु नाहीं।
—रामाष्टयाम चौ १११ (उ०)

(ग) जुबतीं भवन झरोखन्हि लागीं। निरखहिं राम रूप अनुरागीं ॥
—मा १ २२० ४
ते बहु सबत अटारिन भरी।
सभी झरोखा आनन्द भरी ॥
—रामाष्टयाम चौ० ६० द्रष्टव्य चौ० ११५ (पू०) ११८

भगवान राम के 'शील' की चर्चा की है।[1] जिस तरह मानस में महारानी कैकेयी[2] एवं अयोध्या के नागरिक[3] राम की अत्यधिक निकटता के प्रार्थी हैं। कुछ उसी तरह की प्रार्थना रामाष्टयाम में सखियाँ भी करती हैं।[4] राजा जनक के सम्बन्ध में भी तुलसी की मान्यता से नाभादास की मान्यता मिलती-जुलती है। यहाँ तुलसी ने उनके सम्बन्ध में लिखा है—'जोग भोग महँ राखेउ गोई।'[5] वहाँ नाभादास भी लिखते हैं— जोग भोग करि भावन कीन्हा।[6] तुलसी की भाँति नाभादास ने भी अपनी दासता की चर्चा कर गुरु की वन्दना करते हुए उनसे अपने निर्वाह की प्रार्थना की है।[7] अपनी रचना के सम्बन्ध में तुलसी कहते हैं—

छमिहहिं सज्जन मोरि ढिठाई। सुनिहहिं बाल बचन मन लाई ॥[8]

नाभादास भी कहते हैं—

चूक छमा कीजो सुजन सुनियो प्रीति लगाय।[9]

अयोध्या[10] एवं गुरु[11] के सम्बन्ध में भी मानसकार के कथन के रामाष्टयामकार के कथन साम्य रखते हैं। इतना ही नहीं इस तरह की और भी बहुत सी "रामाष्टयाम" की पंक्तियाँ शब्दावलियाँ एवं भावों का 'मानस' की पंक्तियाँ, शब्दावलियाँ एवं भावों से साम्य है। उदाहरणार्थ कुछ समानान्तर पंक्तियाँ यहाँ उद्धृत की जा रही हैं—

---

१ को रघुबीर सरिस संसारा। सील सनेह निबाहनिहारा ॥

—मा० २ २४४

सखि प्रभु शील अथैया लेही।

—रामाष्टयाम चौ० ४०१ (उ)

२ यहि बिधि जनमु देइ करि छोहू। होहुँ राम सिय पूत पुतोहू ॥

—मा० २ १६.७

३ जेहि जेहि जोनि करम बस भ्रमहीं। तहँ तहँ ईसु देउ यह हमहीं।
सेवक हम स्वामी सिय नाहू। होउ नात यह ओर निबाहू ॥

—मा० २ २४ ५-६

४ कहँ कि जन्म जहाँ प्रभु देहू।
यह सुख हमहिं देहु करि नहू ॥
हम परिजन तुम मुख्यमूल होहू।
यहि बिधि बचन करत प्रभु पाहू ॥ —रामाष्टयाम चौ० ४०२ ४०३

५ मा १ १७२ (पू)

६ रामाष्टयाम चौ० ४१७ (उ०)

७ मा० १ १४ (ख)
रामाष्टयाम चौ १

८ मा० १ ८८

९ रामाष्टयाम दो ५१८ (उ)

१० रामाष्टयाम, चौ० ७

११ बंदउ गुरु पद कंज कृपा सिंधु नर रूप हरि।

—मा १ सो० ५ (पू)

राम कृपा को रूप, बन्दौ या गुरु हरि स्वयम्।

—रामाष्टयाम, दो० १ (पू०)

(क) जनक भवन कै सोभा जैसी । गृहगृह प्रतिपुर देखिय तैसी ।।
—मा० १ २८९ १

जनकपुरी की सोभा जैसी । कहि न्हिं सकहिं सेष श्रुति तैसी ।।
—रामाष्टयाम चौ० ७

(ख) कहहु बिदेह कवन बिधि जाने ।
—मा १ २११ ८ (पू०)

नृप बिदेह किम जानों तुमही ।
—रामाष्टयाम चौ० १४१ (उ)

(ग) भरि भरि हेम थार भामिनि ।
—मा० ७ १ ६ (पू०)

हेम थार भरि मधुर मिठाई ।
रामाष्टयाम चौ ३४४ (पू०)

(घ) तुम्ह गुर बिप्र धेनु सुर सेवी । तसि पुनीत कौसल्या देवी ।।
—मा० १ २६४ ४

कोउ कह धन्य कौसल्या देवी ।
कोउ कह नृप दसरथ गुरु सेवी ।।
—रामाष्टयाम चौ० १४७

(ङ) बार बार मुख चुम्बति माता ।
—मा० २ ५२ १ (पू०)

पावहु कहि मुख चुम्बति माता ।
बार बार कहि पावहु ताता ।।
—रामाष्टयाम चौ० ४१७

(च) हम सब सकल सुकृत के रासी ।
हमहूँ भई सुकृति के रासी ।
—मा० १ ३१० ४ (पू)
—रामाष्टयाम चौ० ४४१ (उ०)

(छ) माता भरत गोद बैठारे ।
—मा० २ १६५ ४ (पू०)

माता सियहि गोद बैठरत ।
—रामाष्टयाम चौ० ४२६ (पू०)

बल्कि क्या कहा जाय एक स्थल पर तो नाभादास ने इस ग्रन्थ में मानस की पूरी अर्धाली ही ग्रहण कर ली है।[1] इस तरह मानसकार का रामाष्टयामकार पर स्पष्ट प्रभाव है।

नाभादास ने ब्रजभाषा गद्य में भी रामाष्टयाम की रचना की है। शुक्ल जी के अनुसार रामचरित सम्बन्धी इनके पदों का एक छोटा-सा संग्रह भी प्राप्त हुआ है।[2] 'किन्तु परीक्षा करने पर वह ब्रजभाषा पद्य में रचित अष्टयाम के कतिपय छन्दों का एक

१ मा० १ २४८ ३ (उ०)
रामाष्टयाम चौ० २१४ (उ०)
२ हिन्दी-साहित्य का इतिहास पृ० १४८

आन्तरिक अशान्ति का वर्णन करते हैं। इन्हें स्वप्न में आदिकवि वाल्मीकि का दर्शन होता है और ये उनसे सार सुख की प्राप्ति के मार्ग की जिज्ञासा प्रकट करते हैं।[1] वाल्मीकि केशव से यही कहते हैं कि जबतक तू रामदेव की चर्चा नहीं करेगा तबतक तू देवलोक को प्राप्त नहीं कर सकता।[2] राम के शील का सविस्तार उल्लेख करते हुए वे उन्हें दो अवतारों में सर्वश्रेष्ठ परब्रह्म घोषित करते हैं[3] तथा कविवर केशव को उनके चरित्र का छन्दों में वर्णन करने का आदेश देते हैं। और

'मुनि पति यह उपदेश दै जबहीं भये अदृष्ट।
केशवदास तहीं करयो रामचन्द्र जू इष्ट॥"[4]

वस्तुतः केशव भी तुलसी की तरह निर्गुण एवं सगुण दोनों रूपों को स्वीकार करते हैं।[5] तुलसी की तरह उनके राम भी अन्तर्यामी निर्गुण सगुण अनिर्वचनीय असीम अनादि, अनन्त और अरूप है। एक होते हुए भी वे अनेक रूप धारण कर सकते हैं। रजोगुण सतोगुण एवं तमोगुण सब उन्हीं के रूप हैं जिनसे ब्रह्मा विष्णु एवं शिव क्रमशः संसार का सृजन संरक्षण एवं संहार किया करते हैं। जब वे संसार को मर्यादाविहीन देखते हैं तब सगुण रूप में अवतीर्ण होकर उसे मर्यादित कर जाते हैं। कच्छप मीन वाराह नृसिंह वामन परशुराम, राम कृष्ण बुद्ध और कल्कि सब उन्हीं के रूप हैं।[6] केशव के राम भी आदिदेव एवं सर्वज्ञाता हैं। ब्रह्मा विष्णु, शिव सूर्य और चन्द्र आदि सब उन्हीं के अंशावतार हैं। ब्रह्म से लेकर परमाणु तक सब अनन्त राम को ही वे व्याप्त देखते हैं।[7] ब्रह्मा राम के गुणों को ही देखते रहते हैं, सरस्वती उन्हीं के गुणों को गिनती करती रहती हैं शेष अपने सहस्र मुखों से उन्हीं के गुणों का वर्णन करते हैं पर अंत नहीं पाते।[8] तुलसी के परशुराम की तरह केशव के परशुराम पर भी राम के शील का ऐसा अमोघ प्रभाव पड़ता है कि वे भी उन्हें 'शीश समुद्र के रूप में स्वीकार कर लेते हैं।[9] तुलसी की तरह केशव के अनुसार भी एकमात्र राम ही काम के साधक हैं और शेष सब व्यर्थ हैं।[10] जिसका मन राम के चरणों में लीन रहता है उसके शरीर का मृत्यु नाश नहीं कर सकती। प्रतिक्षण उसके दुख नाश होते जाते हैं।

---

१ रामचन्द्रिका प्रकाश १ छन्द ७
२ वहीं छंद ११
३ वही छंद १७
४ रामचन्द्रिका प्रकाश १, दो १८
५ मा १ १९८—व्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुन बिगत बिनोद।
सो अज प्रेम भगति बस कौसल्या के गोद॥
रा० च० प्र० २१ छंद—४५—जाके रूप न रेख गुण जानत वेद न गाथ।
रघनन्दन रघुनाथ ये रामश्री के साथ॥
६ रामचन्द्रिका प्रकाश प्रकाश २० छंद १५, २४
द्रष्टव्य, मा ७ १ ५ १ ७३ १ ४ ११२१ ९ ८ ९ ११ ७-८
७ रामचन्द्रिका प्र० २० छद २४ ४४
८ वही प्रकाश १ छद १५
९ वही प्रकाश ७ छंद २७१
१० वही प्रकाश, ११ छंद २६ विनयपत्रिका १९८

और उनके हृदय में अनंत आनंद का आविर्भाव होता जाता है। इस तरह भक्त भगवान् के आनंद-स्वरूप में निमग्न हो जाते हैं।[१]

मानसकार[२] की तरह ही रामचन्द्रिकाकार ने भी राम के नाम को सभी सद्गुणों का उद्गम स्थल माना है।[३] वस्तुतः राम के रूप से उनके नाम का ही अधिक महत्व है। तुलसी ने इस तथ्य को हृदयंगम कराने के लिए नाम को समस्त क्षेत्रों में उद्धार-भाव करते हुए दिखाया है और यहाँ तक कह दिया है कि 'रामु न सकहिं नाम गुन गाई।'[४] केशव ने भी राम की वन्दना के क्रम में 'नाम देहि मुक्ति' कहकर इसी तथ्य की ओर इंगित किया है। नाम की महत्ता का ज्ञान प्राप्त कर लेने के उपरान्त जीव अपने क्षुद्र स्वार्थों की परिधि का अतिक्रमण कर मुक्त हो जाता है।[५]

तुलसी की तरह ही केशव ने भी राम और शिव का सुन्दर समन्वय किया है।[६] केशव के शिव राम के आदर्शों के अनन्य उपासक हैं और वे उस अनंत शील सम्पन्न भगवान् राम का सतत् ध्यान किया करते हैं।[७] उन्होंने राम को गोमीश शिव के स्वामी की तरह ही नहीं देखा है[८] प्रत्युत सेतुबन्ध प्रकरण में उनको शिव भक्ति का भी बड़ा ही सुन्दर चित्रांकन किया है।[९]

गोस्वामी जी की तरह केशव ने भी इसी सिद्धान्त को स्वीकार किया है कि सर्व व्यापी अनन्त पूर्ण पुरुष परमात्मा की आदि शक्ति ही जगमाता सीता के रूप में अवतरित

---

१ रामचन्द्रिका प्रकाश २४ छंद २१

२ (क) चहुँ जुग चहुँ श्रुति नाम प्रभाऊ। कलि बिसेषि नहिं आन उपाऊ ॥
मा० १ २२ ८

(ख) नहिं कलि करम न भगति बिबेकू। राम नाम अवलंबन एकू ॥
—मा० १ २७ ७

(ग) कलिजुग केवल हरिगुन गाहा। गावत नर पावहिं भव थाहा ॥
नहिं भव तर कछु संसय नाहीं। नाम प्रताप प्रगट कलि माहीं ॥
—मा० ७ १०३ ४-७

३ (क) सोई जो कहिये सारु दहि जो न सह सो नाम।
भव को भावन एक जग राम तिहारो नाम ॥
—रामचन्द्रिका प्रकाश २५ छंद ४०

(ख) वत सब वेद पुराण गनैहैं। जप तप तीरथहू मिटि जैहैं।
द्विज सुरभी नहिं कोउ बिचारे। तब जग केवल नाम उधारे ॥
—वही प्रकाश २६ छंद ८

४ मा० १ २६ ८

५ रामचन्द्रिका प्रकाश १ छंद १

६ वही प्रकाश १ छंद २

७ वही प्रकाश १ छंद १४

८ वही प्रकाश २०, छंद ११४ ... गोमीश ईश गुण हो—

९ वही, प्रकाश १५ छंद १४,१५

होती है। उन्होंने सीता को योगमाया की तरह भी देखा है[1] और रावण के द्वारा छाया सीता के अपहरण का ही उल्लेख किया है।[2] लक्ष्मण को भी शेषावतार मानते हैं[3] और वानरों को देवताओं की समुच परिणति के रूप में स्वीकार करते हैं।[4]

तुलसी की तरह केशव को भी भगवान राम की जन्मभूमि अयोध्या एवं वहाँ के निवासियों की पवित्रता का पूरा-पूरा ध्यान है।[5] उनकी रामचन्द्रिका में भी अयोध्या के नर-नारी ही नहीं प्रत्युत पशु-पक्षी भी भगवान् राम के गुणगान करने में तत्पर हैं।[6] राम की सुन्दर जन्मभूमि अयोध्यापुरी के संबंध में ही नहीं प्रत्युत उत्तर दिशा में प्रवहमान पावन सरयू नदी के संबंध में भी तुलसी की मान्यता से केशव की मान्यता सर्वथा मिलती-जुलती है पर उनके युग की सहज प्रवृत्ति एवं उनकी व्यक्तिगत अभिरुचि के कारण उसके वर्णन में अलंकारप्रियता का दर्शन होना स्वाभाविक है।[8]

भक्ति की साधना के अन्तर्गत तुलसी की भाँति केशव ने भी दैन्य को महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया है। यही दैन्य निरभिमानता की पवित्रता से समस्त पापों को जलाकर, खाक कर देता है।[9] यथार्थतः अभिमान का परित्याग कर देने वाला साधक संसार के समस्त सन्तापों से मुक्त हो जाता है।[10] उनकी दृष्टि में वही जीवन्मुक्त होता है जिसका अन्तःकरण कर्म और धर्म की पवित्रता के अन्तर्गत स्वार्थों से अनासक्त हो जाता है। अहंभाव से मुक्ति को ही व सच्ची मुक्ति मानते हैं और विवेक के द्वारा गुण-दोषों से आसक्ति रहित हो

---

१ (क) वही, प्रकाश २, छंद ११
(ख) मा॰ १ १५२ ४
(ग) मा॰ २ १२६ १

२ (क) रामचन्द्रिका प्रकाश १२ छंद २०
(ख) मा॰ १ २४ ४

३ (क) वही प्रकाश २०, छंद ५२ १
(ख) मा॰ २ १२६ ११

४ (क) वही प्रकाश १८ छंद ११ १
(ख) मा॰ १ १८७-१८८ १ २

५ (क) रामचन्द्रिका, प्रकाश १ छंद २१
(ख) वही छंद ५०—सागर नगर अपार महा मोह तम मित्र से।
तृष्णा लता कुठार लोभ समुद्र अगस्त्य से॥

६ (क) वही छंद ४४
(ख) मा॰ ७ ३० १ ७ ३
(ग) मा॰ ७ २८ ७

७ मा॰ ७ ४५ ६

८ (क) रामचन्द्रिका प्रकाश १ छंद ४८ ४९
(ख) वही छंद २६ २७

९ रामचन्द्रिका प्रकाश १५, छंद २४

१० वही प्रकाश २५, छंद १८

पाने वाले व्यक्ति को ही वे जीवन्मुक्त कहते हैं।[१] सत्संग, समता, संतोष और विवेक की महिमा केशव भी स्वीकार करते हैं। मानस में ये चारों मुक्ति नगरी के द्वार के कुशल रक्षक हैं।[२] केशव की दृष्टि में भी जीव जब माया, मोह, मद और काम के वशीभूत हो जाता है तब वह अपने सहज स्वरूप को विस्मृत कर इन्हीं से बाधित होता रहता है।[३] केशव ने भी मानव-जीवन में उत्पन्न होने वाले गर्भावस्था से लेकर वृद्धावस्था तक के सभी कष्टों का अपनी पैनी दृष्टि से भलीभाँति अवलोकन किया है और काम, क्रोध, मोह, लोभ एवं अभिमान में मग्न होते हुए मानव-मन का का प्रमुख कारण तृष्णा को ही माना है।[४] उन्होंने इस संसार को असार स्वीकार किया है। वस्तुतः इस संसार में आकर निष्कलंक बाहर निकल आने वाले ही साधु हैं और विषयों के अन्तर्गत स्थित होकर भी उनसे अछूते रहने वाले ही वन्दनीय एवं अनुकरणीय हैं।[५] मानसकार की तरह केशव ने भी नाम की उपासना पर काफी बल दिया है।[६] राजा हरिश्चन्द्र के सत्य प्रेम का उन्होंने बड़े ही सम्मान एवं प्रतिष्ठा के साथ स्मरण किया है।[७] तुलसी की तरह वे भी वर्णाश्रम धर्म की मर्यादा को स्वीकार करते हुए भी भक्ति के क्षेत्र में उसे बाधक नहीं मानते हैं।[८]

मानसकार की तरह रामचन्द्रिकाकार भी अपने ग्रन्थ के मंगलाचरण में विपत्तियों को दूर कर मंगल का विधान करने वाले गणेश की स्तुति करते हैं[९] और राम राज्याभिषेक के पश्चात् ब्रह्मा इत्यादि के द्वारा की गई राम की स्तुतियों में ठीक उसी तरह उनके परब्रह्मत्व पर भी प्रकाश डालते हैं।[१०]

---

१ (क) वही प्रकाश २५ छंद १७ से १९ तक
(ख) मा० ७ ४१
२ रामचन्द्रिका प्रकाश २५ छन्द ६
३ वही छंद ९ (पू०)
४ (क) वही प्रकाश २४, छंद १ से २० तक
(ख) मा० ७७०८ (पू०)
५ वही, प्रकाश २५ छंद १ १२
६ (क) वही प्रकाश ६ छंद ४१ (पू)
(ख) मा० २२८४६
(ग) मा २१०७
(घ) मा० २२६४६ (पू०)
७ वही प्रकाश २ छंद २१
८ (क) वही प्रकाश ११ छंद १८
(ख) मा० २१९४
(ग) मा० ७-११० ६ १२
९ (क) मानस, बालकाण्ड, श्लोक १
(ख) रामचन्द्रिका प्रकाश १ छन्द १
१० रामचन्द्रिका, प्रकाश २७ छन्द १-२४

केशव ने अपने ग्रन्थ की रचना के प्रारम्भ[1] एवं अन्त[2] में जो विचार व्यक्त किए हैं वे भी मानस के प्रारम्भ एवं अन्त में व्यक्त विचार से सर्वथा मिलते जुलते हैं। इस तरह केशव की रामचन्द्रिका पर तुलसी के मानस की भक्ति के पर्याप्त प्रभाव दृष्टिगोचर होते हैं। पर यथार्थतः केशव की इस कृति में तुलसी की सहृदयता भावुकता एवं भक्ति की तन्मयता का नितान्त अभाव है। वे स्वभावतः भक्त नहीं हैं बल्कि काव्य में अलंकार को स्थान प्रधान समझने वाले चमत्कारवादी शृंगारी कवि एवं आचार्य हैं। सम्भवतः मानस का बढ़ता हुआ प्रचार एवं उसका अमोघ प्रभाव देखकर तथा अपनी शृंगारी साहित्य-साधना से ऊबकर ही वे रामचन्द्रिका की रचना में प्रवृत्त हुए थे। परन्तु उनमें जन्मजात भक्तकवि की स्वाभाविक सरसता तन्मयता एवं प्रेम-विह्वलता का सर्वथा अभाव था। यही कारण है कि केशव की रामचन्द्रिका का सामान्य हिन्दी भाषा भाषी जनता के हृदय-मन्दिर में कोई स्थान नहीं है और न उसने चार भी वर्गों के नाक लोगों को ही किसी प्रकार प्रभावित किया है। सम्पूर्ण रामचन्द्रिका के गम्भीर अध्ययन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि राम जैसे मर्यादा पुरुषोत्तम परब्रह्म को इस काव्य का नायक बनाकर भी उनके महच्चरित्र का गुण-गान करना केशव का उद्देश्य नहीं है। यथार्थतः उनका उद्देश्य छन्द[3] अलंकार विषयक अपनी विलक्षण प्रतिभा एवं प्रकाण्ड पाण्डित्य का प्रदर्शन करना है। स्वभावतः भक्त नहीं होने के कारण तथा अपनी अनावश्यक अलंकारप्रियता के लोभ को संवरण नहीं कर सकने के कारण रामचन्द्रिका के स्थल स्थल पर उनसे भयंकर भूलें हुई हैं। राम को परब्रह्म का अवतार मानकर भी उन्होंने उनका जो चित्रण किया है वह सर्वथा वैशिष्ट्यहीन एवं निष्प्राण प्रतीत होता है। केशव के राम में तुलसी के राम की तरह चरित्रगत

---

१ (क) जिनको यश हंसा जगत प्रशंसा, मुनिजन मानस रन्ता।

... ...

तिनके गुण कहिहौं सब सुख लहिहौं पाप पुरातन भाजै ॥

—रामचन्द्रिका, प्रकाश १ छन्द २०

(ख) स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा।

—मा० १, श्लोक ७

(ग) निज सन्देह मोह भ्रम हरनी। करउँ कथा भव सरिता तरनी ॥

—मा० १।३१।४

२ (क) लहै सुभुक्ति लोक लोक अन्त मुक्ति होहि ताहि।
कहै सुनै पढ़ै गुनै जु रामचन्द्र चन्द्रिकाहि ॥

—रामचन्द्रिका, प्र० ३६ छन्द ३६ (उ०)

(ख) रघुबंस भूषन चरित यह नर कहहिं सुनहिं जे गावहीं।
कलिमल मनोमल धोइ बिनु श्रम राम धाम सिधावहीं ॥

—मा० ७।१३०।१३-१४

(ग) मा० ७।१३० दो० के बाद के श्लोक २ की अन्तिम दो पंक्तियाँ।

(घ) मा० १।१२।१०-११

३ रामचन्द्र की चन्द्रिका बर्णत हौं बहुछन्द।

—रामचन्द्रिका, प्रकाश, १ छन्द २१ (उ०)

महानता एवं विराटता दृष्टिगोचर नहीं होती है। "रामचन्द्रिका म वनगमन के समय राम अपनी माता कौशल्या को पातिव्रत धर्म का उपदेश देते हुए पाये जाते हैं।[1] वे भरत के ऊपर सन्देह प्रकट करते हुए लक्ष्मण ग अयोध्या म रहकर उनके कामों का सूक्ष्म दृष्टि से देखने को कहते हैं।[2] राम आदि का मत को मार्ग में पड़ने वाले लोगों से केशव यही कहलाते हैं कि—

"किधौं मुनि साप हत किधौं ब्रह्म दोषरत।

..

किधौं कोउ ठग हौ " " — ।[3]

एक स्थल पर तो उन्होंने राम की उपमा उल्लू से दे डाली है।[4] ये सारी बातें असंगत हैं।

तुलसी के राम की तरह ही केशव की सीता भी तुलसी की सीता से कुछ भिन्न है। केशव के राम जहाँ वन-यात्रा म वल्कल वस्त्र के अंचल से सीता पर पंखा झलते रह हैं वहाँ वे उत्तर रूप म अपने "चंचल चारु दृगंचल से केशव उनकी ओर निहार लेती हैं।[5] पर तुलसी की सीता वन यात्रा में पूर्ण स्त्रियोचित गुणों को प्रदर्शित कर पातिव्रत धर्म की अमिट छाप छोड़ती हुई दृष्टिगोचर होती है।[6] वन मार्ग में चलती हुई भी तुलसी की सीता वहाँ वहाँ पैर नहीं रखती जहाँ-जहाँ राम पैर रखते हैं[7] क्योंकि उन्होंने अपनी भावभूमि में अपने प्रियतम के पद चिह्नों को मार्ग रूप प्रदान कर रखा है। परन्तु आलंकारिक कवि केशव को सीता वनमार्ग में अपने प्रियतम के पैरों से दबी हुई भूमि पर सानन्द पैर रखती जाती है।[8] वस्तुत केशव की आलंकारिक चमत्कार प्रदर्शन की प्रवृत्ति ने उनकी रामचन्द्रिका को सर्वाधिक विकृत एवं उनकी भक्ति-भावना को अवविकृत एवं कुण्ठित कर डाला है। अत उसमें 'रामचरितमानस' की सी जीवनीशक्ति एवं प्राणवत्ता नहीं आ सकी है और वह

---

१ रामचन्द्रिका प्रकाश ९ छन्द ११ १७

२ वही छन्द २७ है— आव भरत कहाँ धौं कर जिय भाय गुनी।

३ वहीं, छन्द १४ ६–७

४ 'दासर की सम्पत्ति उलूक ज्यों न चितवत

—वही प्रकाश ११ छन्द ८८ पंक्ति ३

५ रामचन्द्रिका प्रकाश ९, छन्द ४४ (उ०)

मग को श्रम श्रीपति दूर करें सिय को शुभ वाकल अंचल सों।
श्रम तेऊ हरें तिनको कहि केशव चंचल चारु दृगंचल सों।।

६ मा० २ ६७ १–६

७ मा० २ १२३ ५

८ रामचन्द्रिका प्रकाश ९, छन्द ३८—

मारग की रज तापित है अति।
केशव सीतहि सीतल लागति।।
प्यौ पद पंकज ऊपर पायनि।
देयु चले तेहि ते सुख दायनि।।

साक-हृदय में अपना स्थान बनाने में असफल रही है। पर फिर भी इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि तुलसी परवर्ती रामभक्ति-काव्यों में 'रामचन्द्रिका' का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है और वह "मानस" की भक्ति से बहुत कुछ प्रभावित भी है।

४ 'रहिमन विलास'

'रहिमन विलास' अब्दुर्रहीम खान-खाना के सभी ग्रन्थों का पूरा संग्रह है। इसमें उनकी रहीम दोहावली या सतसई, बरवै नायिका-भेद शृंगार-सोरठ मदनाष्टक, "रामपचाध्यायी" नगर शोभा फुटकल बरवै फुटकर कवित्त सवैये सभी कृतियाँ संग्रहीत हैं।

रहीम का जन्म संवत् १६१०[1] और मृत्यु संवत् १६८३[2] माना जाता है। यों तो रहीम निर्विवाद रूप से कृष्ण भक्त कवि हैं[3] पर स्थान-स्थान पर उन्होंने रामभक्ति सम्बन्धी दोहों की भी रचना कर अपने परम रामभक्त होने का परिचय दिया है।[4] राम भक्ति-शिरोमणि गोस्वामी तुलसीदास जी के साथ रहीम की प्रगाढ़ मैत्री भी उनके रामभक्त होने का एक प्रमुख कारण है। रहीम की रामभक्ति सम्बन्धी रचनाएं रामचरितमानस में प्रतिपादित भक्ति से प्रभावित भी प्रतीत होती हैं।

तुलसी[5] की तरह रहीम की भक्ति-भावना भी जाति कुल धर्म और देश की परिधि का अतिक्रमण कर सार्वदेशिक एवं सार्वभौम बन गयी थी। यही कारण है कि उनके विशाल एवं उदार हृदय ने मुसलमान होते हुए भी उन्हें कृष्ण एवं राम की भक्ति की ओर उन्मुख कर दिया था। मानसकार की तरह रहीम भी अपनी रचनाओं में गणेश[6] कृष्ण[7], सूर्य[8] शिव[9] हनुमान[10] एवं गुरु के चरण कमलों[11] की वन्दना करते हैं। ब्राह्मण जाति के प्रति उनका भी पूज्य भाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है।[12] वे भी त्याग के आदर्श की अनुपम झांकी प्रस्तुत करने वाले भक्तशिरोमणि भरत को भगवान राम की अपेक्षा अत्यधिक महत्त्व देते हैं।[13]

---

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास प० शुक्ल पृ २१६
२ वही पृ० २१८
३ (क) रहिमन विलास दोहावली दोहा १
(ख) वही बरवै, दोहा ११ १६
(ग) वही पृष्ठ ९८ से ७२ तक
(घ) उनका रास पचाध्यायी ग्रन्थ तो पूर्णतः कृष्णभक्ति से सम्बद्ध है।
४ रहिमन विलास दोहावली दोहा १० १५५ २०६ बरवै दोहा ११
५ मा ३ ११.५-६ कवितावली पद १०६ १०७
६ से ११ तक के उदाहरण रहिमन विलास बरवै छन्द १ से ६ तक
१२ (क) वही दोहावली नगर शोभा, दोहा ३—
उत्तम जाती है बाह्मनी, देखत चित्त लुभाय।
परम पाप पल में हरत परसत वाके पाय ॥
(ख) मा० १ २ ३—बन्दउ प्रथम महीसुर चरना। मोह जनित संसय सब हरना ॥
१३ रहिमन विलास दोहावली दोहा—६

रहीम राम के ईश्वरत्व को पूर्णतः पहचान चुके थे। उनकी दृष्टि में सच्चा रामोपासक राम के जीवन के आदर्शों को अपने जीवन में उतार लेता है। अन्यथा राम के आदर्शों के समीप नहीं पहुँच सकने वाले साधक की रामोपासना निरर्थक ही है।[1] राम के आदर्शों से प्रभावित होकर रहीम ने अपने अन्तःकरण में समग्र शुभ गुणों का समाहित कर लिया था। महादानी राम के स्वभाव को तो पूर्णतः आत्मसात् करके वे महादानी ही बन गये थे। अपने व्यक्तिगत जीवन को राममय बनाकर तुलसी की तरह अपनी रचनाओं के माध्यम से जन-जन के जीवन को राममय बनाने का रहीम ने स्तुत्य एवं प्रशंसनीय प्रयास किया है।

रहीम के राम दीन-दुखियों के सहायक हैं। उन्होंने अपने नारायण रूप में यहाँ आकर ग्राह से गजेन्द्र की रक्षा की है। अच्छे दिनों में तो बहुत से मित्र हो जाते हैं पर विपत्ति के दिनों में एकमात्र मित्र राम ही होते हैं।[2] साधारण मनुष्य तो दुःखी व्यक्ति के दुःख को सुनकर मखौल उड़ाते हैं पर भगवान् राम तो उसके दुःखों को दूर ही करके दम लेते हैं।[3] जहाँ और लोग याचना करने पर अस्वीकार कर देते हैं तथा विपत्ति की बेला में संबन्ध-विच्छेद कर लेते हैं वहाँ भगवान् राम याचना करने के पूर्व ही याचक को मनोभिलषित वस्तु प्रदान कर देते हैं और एक बार ग्रहण कर लेने पर फिर उसे कभी भी नहीं छोड़ते।[4] वस्तुतः परम रामभक्त रहीम की ये सारी उक्तियाँ उनकी निजी अनुभूति पर ही आधारित हैं और इसीलिए वे अपने मन से बार-बार 'दीनबन्धु दुःख टारन भगवान् राम की भक्ति करने का आग्रह करते हैं।'[5]

तुलसी की तरह रहीम ने भी राम के नाम की अमोघ शक्ति को स्वीकार किया है। उनका कथन है कि कामादि से आत प्रोत व्यक्ति यदि धोखे से भी राम का नाम स्मरण कर ले तो उसे निश्चय ही परमगति की प्राप्ति हो जायेगी।[6] भक्त रहीम ने भी तुलसी की तरह ही अपनी दीनता प्रदर्शित करते हुए भगवान् राम से अपने उद्धार की आशा प्रकट की है।[7] उनका यह अखण्ड विश्वास है कि राम और संसार दोनों की समानान्तर ढंग से

---

१ रहिमन विलास दोहावली दोहा २४५
२ रहिमन विलास दोहावली छंद ७१ उत्तरार्द्ध
मा० ७।१४८ ५४०४
३ वही, छंद १०२
४ वही छंद १२०
५ रहिमन विलास दोहावली बरवै छंद ११—भज मन राम सियापति रघुकुल-ईस।
दीनबन्धु दुखटारन कौसलधीस ॥
६ रहिमन विलास दोहावली छंद २०६—
'रहिमन धोखे भाव से मुख से निकसे राम।
पावत पूरन परम गति कामादिक को धाम॥
मा १।२८।१ वैराग्य-संदीपनी दो १७ (सिद्धान्त-तिलक पृ० ४१)
७ (क) रहिमन विलास दोहावली छंद १५५
'मनि नारी पाषान ही, कपि पसु गुह मातंग।
तीनों तारे राम जू, तीनों मेरे अंग ॥
) मा० ७।११ (क)

सिद्ध कर लेना महाकठिन कार्य है क्योंकि सदा सत्य के व्यवहार से ही राम की प्राप्ति होती है पर सदा सत्य के व्यवहार से संसार के कार्य सम्पन्न नहीं हो सकते।[1] राम ने भी सत्य के व्यवहार से ही अपनी संसार सागर रूपी नौका को गन्तव्य स्थान तक पहुँचाया था और उनके शरणापन्न होने से प्रत्येक मनुष्य की संसार सागर रूपी नौका अपने लक्ष्य तक पहुँच जाती है। पर राम की शरणागति का वास्तविक स्वरूप या स्वार्थों से पूर्ण अनासक्ति है। राम स्वयं स्वार्थों से अनासक्त हैं और रहीम की दृष्टि में ऐसे राम के शरणापन्न होकर मनुष्यों को स्वार्थों से अनासक्त हो जाना सर्वथा स्वाभाविक ही है। इसी अनासक्ति की नौका पर आरूढ़ होकर मनुष्य आसक्ति रूपी संसार-सागर का संतरण करता है, अन्यथा इस संसार-सागर का संतरण करने का अन्य कोई परिहार नहीं है।[2] गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी इसी तथ्य का रहीम से पूर्व ही निरूपण किया है।[3]

तुलसी की तरह रहीम जितने बड़े सहृदय भक्त थे उतने ही बड़े विलक्षण-दृष्टि-सम्पन्न कवि भी। उनकी रामभक्ति की तन्मयता एवं पैनी कवि-दृष्टि की विलक्षणता को प्रदर्शित करने के लिए उनके एक दोहे को उद्धृत करना अप्रासंगिक न होगा—

> धूर धरत नित सीस पै, कहु रहीम केहि काज।
> जिहि रज मुनि पत्नी तरी, सो ढूंढ़त गजराज।[4]

प्रथम चरण में रहीम प्रश्न करते हैं कि गजराज अपने मस्तक पर सूंड से पृथ्वी की धूल उठा-उठा कर क्यों डालता है? दूसरे चरण में वे इसी का उत्तर देते हुए कहते हैं कि इस प्रकार हाथी मानों भगवान् राम के चरणों की वह धूलि ढूंढ़ता रहता है जिसके द्वारा गौतम ऋषि की पत्नी अहल्या तर गई थी ताकि वह भी उसी के समान तर जाय। तुलसी ने भी मानस में भगवान् राम के चरणों की पवित्र धूलि से मुनि पत्नी अहल्या के उद्धार का उल्लेख किया है।[5] इसी तरह सम्पूर्ण रहीम की रचनाओं में भावमकार की मार्मिकता एवं भावुकता टपकती है। रहीम के इस तरह के भक्तिपरक तथा अन्यान्य नीतिपरक दोहे आज भी शिक्षित अशिक्षित लोगों के मुख से बराबर निकलते रहते हैं। आचार्य शुक्ल के शब्दों में 'तुलसी के वचनों के समान रहीम के वचन भी हिन्दी भाषी भूभाग में सर्वसाधारण के मुंह पर रहते हैं।'[6]

---

१ रहिमन विलास दोहावली छंद ७
 तुलसी सतसई प्रथम सर्ग दो० ८४
२ रहिमन विलास दोहावली छंद ५ —
 "गहि सरनागति राम की भवसागर की नाव।
 रहिमन जगत उधार कर, और न कछू उपाय॥
३ मा० ३।४।११।११—
 त्वदंघ्रि मूल ये नरा। भजंति हीन मत्सरा॥
 पतंति नो भवार्णवे। वितर्क वीचि संकुले॥
 निरस्य इंद्रियादिकं। प्रयांति ते गतिं स्वकं॥
४ रहिमन विलास दोहावली छंद ११२
५ मा० १।२१०
६ हिन्दी-साहित्य का इतिहास [illegible]

उन्होंने संसार से विरक्त होकर वृन्दावन के कुंजों में निवास करने की अपनी उद्दाम आकांक्षा को व्यक्त करते हुए कहा था—

आवै मन ऐसी घरबार परिवार तजौं
डारौं लोक लाज के समाज बिसराइ के।
हरिजन पुंजनि में वृन्दावन कुंजनि में
रहौं बैठि कहूँ तरवर तर जाइ के ॥[1]

यथार्थ सेनापति ने सभी अवतारों के प्रति अपनी भक्ति प्रदर्शित की है। उन्हें सभी देवताओं की अभेदोपासना में विश्वास था। परन्तु भगवान् राम को अपने जीवन का केन्द्रबिन्दु बना कर उन्हीं की भक्ति में वे सर्वाधिक तल्लीन हो गये थे। ऋक्षराज जाम्बवान की चर्चा के क्रम में उन्होंने स्वयं इसी तथ्य की ओर स्पष्टतः इंगित किया है।[2] 'कवित्त रत्नाकर' की पाँचवीं तरंग 'राम रसायन वर्णन' में उन्होंने अपने उपास्य राम के साथ ही साथ कृष्ण, विष्णु, गंगा एवं शिव की भी प्रशस्तियाँ प्रस्तुत की हैं। कहीं एक स्थल पर व्याजस्तुति अलंकार के द्वारा विष्णु, राम और कृष्ण की निन्दा करते हुए उनके आन्तरिक अभेद का प्रतिपादन कर सेनापति ने बड़े ही मधुर ढंग से उनकी समन्वयोन्मुखी स्तुति की है और उन मूर्त अघमुनी की आराधना के लिए अपनी उद्दाम आकांक्षा व्यक्त की है।[3] जब वे अपने आराध्य राम का अधीर होकर आवाहन करते हैं तब उनका उत्कट आत्म-निवेदन अपार विश्वास मर्मस्पर्शी काव्य एवं भावावेश देखते ही बनता है।[4]

---

१ कवित्त रत्नाकर, परिशिष्ट कवित्त ७

२ कवित्तरत्नाकर, चौथी तरंग, रामायण वर्णन कवित्त ७०—

कीनी परिकरमा छलत बलि वामन को
पीछे जामदगनि कों दरसन पायौ है।
पाइक भयौ है सक नाइक दसन हू कों
दै कै जामवंती जनी कान्हु कों मनायौ है ॥
ऐसे मिलि औरौ अवतारन कौं जामवत
अति प्रिय मन ही कों सेवक कहायौ है।
सेनापति जानी यातें सब अवतारन मैं
एक राजा राम गुन-धाम करि गायौ है ॥

३ कवित्त रत्नाकर, पाँचवीं तरंग राम रसायन वर्णन, कवित्त १६—

"धीवर कौं सखा है, सनेही बन चरन कौं
भीख हू कों बंधु सबरी को मिहमान है।
पंडव को दूत सारथी है अरजुन हू कौं
ऐसो छाती बिप्र-लात कौं धरैया अभिमान है ॥
व्याध अपराध-हारी स्वान समाधान कारी,
करै छरीदारी, बलि हू कौं दरबान है।
ऐसो अघमुनी ! ताके सेइबे कौं तरसत
जानिये न कौन सेनापति के समान है ॥

४ वहीं कवित्त ३ की अंतिम पंक्तियाँ—

'ऐसे रघुबीर कौं अधीर ह्वै सुनावो पीर
मधु नीर आग सेनापति जसी मीन है।
साँवरे बरन ताही सारंग-धरन बिन,
दुखी दुख-हरन हमारो और कौन है ॥

तुलसी की तरह सेनापति के राम भी अपरिमित शक्ति-सम्पन्न, धर्म की धुरी धारण करने वाले राक्षसों की सेनाओं का संहार करने वाले, कलि के कलुषों को विध्वंस करने वाले देवताओं ब्राह्मणों एवं दीनों के कष्ट को दूर करने वाले, संसार भर में सुन्दर महा राजाधिराज एवं पूर्णब्रह्म के अवतार हैं।[१] 'कवित्त रत्नाकर' की पाँचवीं तरंग 'रामरसायन वर्णन' के मंगलाचरण में उन्होंने राम के सगुण-निर्गुण दोनों रूपों की वन्दना की है। उनकी दृष्टि में आँखों से देखने पर राम का अनुपम विश्व रूप दृष्टिगोचर होता है पर बुद्धि से विचार करने पर वह निराकार ही प्रतीत होता है। वस्तुतः वे राम के सगुण रूप को दृष्टि का तथा निर्गुण रूप को चिन्तन का परिणाम मानते हैं। सेनापति का यह विचार तुलसी के विचार के सर्वथा अनुकूल है।[२] उनके राम 'रघुवर बंस भूषित' हैं 'मुनि-जन मानस हंस' हैं, त्रिभुवन पावन धीर हैं 'भक्तवत्सल' हैं और अपने भक्तों के स्वार्थ एवं अभिमान को समाप्त कर उनके सांसारिक बन्धन को खंडित कर देते हैं। उनकी अपरिमित शक्ति ने त्रिलोक विजयी रावण के मद को भी मर्दित कर दिया है। उनके अवतार का एकमात्र ध्येय अपने परिजनों का रक्षण एवं रंजन ही है।[३]

राम के तेज प्रताप एवं सौन्दर्य युक्त व्यक्तित्व का सेनापति ने भी अपने ढंग से बड़ा ही सुन्दर चित्राङ्कन किया है।[४] कवि के अनुसार राम की दोनों भुजाएँ अपूर्व शक्ति के कोष हैं।[५] तुलसी की तरह इनके राम के व्यक्तित्व के अन्तर्गत भी अपरिमित शक्ति के साथ ही साथ अनंत शील का भी समाहार है। यही कारण है कि अपरिमित शक्तिसम्पन्न होते हुए भी परशुराम की उग्रता से वे जरा भी विचलित नहीं होते।[६]

राम की अद्भुत शक्ति एवं शील के साथ ही साथ उनके अनंत सौन्दर्य का भी सेनापति ने मुक्त हृदय से अंकन किया है। राजा जनक की राज-सभा में सीता-स्वयंवर के अवसर पर राम के पदार्पण करते ही वहाँ उपस्थित सभी देवताओं राजाओं एवं राक्षसों की कांति कुण्ठित हो जाती है और वे सब लिखित चित्र की तरह राम को देखने लग जाते हैं। राम रूपी सूर्य के उदय होते ही वहाँ कोई अन्य प्रकाश एवं अप्रकाश शेष नहीं रह जाता।[७] तुलसी ने भी इस अवसर पर इससे मिलती जुलती बात कही है।[८]

तुलसी की तरह सेनापति भी राम की मुसकान को चन्द्र की किरणों से अधिक उज्ज्वल मानते हैं।[९] उनकी दृष्टि में राम का तेज करोड़ों सूर्यों से उनकी शक्ति करोड़ों कामदेवों

---

१ कवित्त रत्नाकर चौथी तरंग रामायण वर्णन कवित्त ७
२ कवित्त रत्नाकर पाँचवीं तरंग राम रसायन वर्णन कवित्त १
दोहावली दो० ७
३ कवित्त रत्नाकर, चौथी तरंग रामायण वर्णन कवित्त ३
४ ,, कवित्त ६
५ कवित्त रत्नाकर चौथी तरंग रामायण वर्णन कवित्त १०
६ वही कवित्त २८
७ वही कवित्त ११
८ मा० १।२५४
९ मा० १।२४३।१ (पू०)

से और उनकी दानशीलता करोड़ों कामधेनुओं से भी अधिक प्रभावशाली है। अस्तु उन्हें ये सारे उपमान भी असत्य प्रतीत होने लगते हैं और उन्हें कोई ऐसी युक्ति ही प्रतीत नहीं होती जिससे वे अपने उपास्य की ईयत्ता का यथार्थ वर्णन कर सकें।[1] यही निश्चय ही तुलसी की उक्ति "निरुपम न उपमा आन राम समान रामु निगम कहै"[2] की ओर ही सेनापति ने भी प्रकारान्तर से इंगित किया है।

वस्तुतः सेनापति के राम राजाधिराज हैं। उनका साम्राज्य समस्त संसार भर में सदैव कायम है। कष्टों को दूर करने में वे सर्वथा समर्थ हैं। कोई भी देवता उनकी समकक्षता नहीं कर सकता है। राम के आश्रय का परित्याग कर किसी अन्य देवी देवता का अवलम्बन ग्रहण करना मानो अमृत के समुद्र का परित्याग कर कूप का अवलम्बन लेना है।[3] जो चौदह भुवनों का एकच्छत्र सम्राट है जिसका आश्रय ग्रहण करने पर मनुष्य सभी प्रकार के तापों से परित्राण पा जाता है जिसकी ओर हृदय अपने आप आकर्षित हो जाता है वही भगवान राम के सेनापति के सहायक हैं।[4] वे उन्हीं के कृपापात्र हैं और उन्हीं के दरबार का जूता उठाने वाले सेवक हैं।[5] भगवान राम के चरणों में अपनी प्रगाढ़ भक्ति के बल पर ही अपने ऊपर प्रभाव डालने में प्रयत्नशील कलियुग को भी उन्होंने फटकारा है।[6] उनका भक्त हृदय सदैव परम कृपालु एवं विश्वरक्षक के रूप में भगवान राम का ध्यान करता है। राम की शरणागति स्वीकार करने वाले रावण के अनुज विभीषण की चर्चा के क्रम में उन्होंने भगवान राम की दया एवं दान सम्बन्धी बड़े ही मर्मस्पर्शी चित्र अंकित किए हैं।[7] उनके आराध्य राम का ध्यान सनकादि ऋषि करते हैं। वेद उन्हीं की कीर्ति का गायन करते हैं। धूप सूर्य चन्द्र एवं पवन अपनी आराधना से उन्हें ही प्रसन्न करना चाहते हैं। अपने उसी उपास्य राम को सेनापति अपनी पीड़ा से परिचित कराना चाहते हैं और दूसरे लोगों को भी यही नेक सलाह देते हैं। उनका तो यही निश्चित सिद्धान्त है कि श्याम वर्ण धनुर्धर राम के अतिरिक्त अन्य कोई भी संसार के कष्टों से जीव को कदापि मुक्त नहीं कर सकता।[8]

---

१ कवित्त रत्नाकर, चौथी तरंग रामायण वर्णन कवित्त ४—

मंद मुसकान कोटि चंद तें अनंद राजै,
　　　　दीपति दिनेस कोटि हू तें अधिकानिये।
　　　　…　　　　…
…　　　　…　　　　…
ऐसी अति उकति बनति मो बतावो जासों
　　　　राजाराम तीनि लोक नायक बखानिये॥

द्रष्टव्य-मा० ७।११७—७।१२ (क) पू०

२ मा० ७।९२।१

३ मा० १।२४१।१

४ कवित्त रत्नाकर, चौथी तरंग रामायण वर्णन कवित्त ७१

५ मा० २।२१४।२ (पू०)

६ कवित्त रत्नाकर पाँचवी तरंग राम रसायन वर्णन कवित्त २१

७ 　　　　चौथी तरंग रामायण-वर्णन कवित्त ११, ४०

८ वही पाँचवी तरंग राम रसायन वर्णन कवित्त १

तुलसी की तरह सेनापति का भक्त हृदय भी परम मंगलमय के उद्गमस्थल भगवान राम के नाम की अमोघ एवं अनन्त शक्ति से पूर्णत परिचित था। उनकी दृष्टि में राम का नाम अमृत के समान है। शिव, हनुमान, विभीषण वाल्मीकि प्रह्लाद सनकादि इसी नाम का आश्रय ग्रहण कर इसी का यशोगान करते हुए इसी के प्रभाव से नर-नारी, को मूर्तियों पर पूर्णाधिपत्य करके अमर बन गये हैं। यह नाम मुक्ति एवं मुक्ति दाता कहा जाता है। यथार्थत मनुष्य की कामनाओं को पूर्ण करने के लिए यह साक्षात् कामधेनु है। सेनापति के अनुसार राम का नाम ही जिह्वा का विश्राम एवं संसार में सम्पूर्ण धर्मों का केन्द्रबिन्दु है।[१]

मति मन्द तुलसीदास[२] की तरह मतिमन्द सेनापति की भक्ति साधना में भी दीनता का स्वर स्पष्टत परिलक्षित होता है। वस्तुत सेनापति का भी हित-साधन राम के चरणों की कृपा से ही हुआ है।[३] भगवान राम के शरणापन्न होकर अपने अटल विश्वास एवं अपार आशा के बल पर उन्होंने भी अपने उद्धार के लिए उनसे निश्छल आत्म निवेदन किया है।[४] भगवान राम के चरणों के प्रति प्रगाढ़ भक्ति अपना अटल विश्वास अपार आशा एवं निश्छल शरणागति ने भक्त सेनापति के व्यक्तित्व को एक अपूर्व शक्ति से मण्डित कर दिया है। वे कभी चिन्ता नहीं करते मन को दुखी नहीं बनाते। दुर्जनों से सहायता की याचना नहीं करते और सदैव रामभक्ति के अपार आनन्द में सराबोर रहते हैं।[५] सेनापति भक्ति के भीतर जो दैन्य है उसमें पवित्र ओज के भी दर्शन होते हैं। तभी तो राजा राम के दरबार का जूता उठाने वाला यह दीन सेवक महान्ध कलिकाल को ओज भरी फटकार भी सुनाता है।[६]

तुलसी की तरह सेनापति भी सच्चा भक्त उसे ही मानते हैं जो स्वार्थों के संसार को विवेक के प्रकाश में स्वप्नवत समझ लेता है। स्वार्थों की संकुचित परिधि का अतिक्रमण कर जो भक्तमानन्दी मूर्ति विश्वरूप रघुवंशमणि भगवान राम की सेवा अपने आपको समर्पित कर दे वस्तुत वही सच्चा भक्त है। ऐसे भक्त समस्त संसार को भगवान का रूप समझकर उसकी सेवा में संलग्न रहते हैं और सारा संसार उनकी सेवा में संलग्न रहता है। भक्त रूपी भगवान की सेवा करके सभी लोग अपनी मनोभिलषित वस्तुएं प्राप्त कर लेते हैं। सेनापति का भक्त हृदय भजन के अमोघ प्रभाव से पूर्णत परिचित था। तभी तो उन्होंने भजन के आनन्द एवं माधुर्य को अनिर्वचनीय घोषित किया है।[७]

---

१ कवित्त रत्नाकर, चौथी तरंग रामायण वर्णन कवित्त ७१
मा १ १६ १—१ २८ १ ४ श्लोक २ की अन्तिम पंक्ति—
'धन्यास्ते कृतिनः पिबन्ति सततं श्री रामनामामृतम् ॥'

२ मा० १ १ १ (छ०) १ १२१ १८ ७ ११ १६

३ कवित्त रत्नाकर, चौथी तरंग रामायण वर्णन कवित्त २

४ वही

५ कवित्त रत्नाकर, पाँचवी तरंग राम रसायन-वर्णन कवित्त ७

६ कवित्त ४
मा ७ ४६ १

७ कवित्त रत्नाकर, पाँचवी तरंग राम रसायन वर्णन कवित्त २१

८ कवित्त-रत्नाकर, चौथी तरंग रामायण-वर्णन कवित्त ६६
मा० १ १६ ५ १ ८ २ ७ ११२ (ख) ७ ४७ ५

तुलसी की तरह सेनापति के हृदय में भी भगवान राम की जन्मभूमि अयोध्या एवं वहाँ की प्रजाओं के प्रति प्रभूत आकर्षण है। उनकी दृष्टि में राम को राजा के रूप में प्राप्त करने वाली अयोध्या की तुलना किसी अन्य राजधानी एवं राजा के प्रेम से नहीं की जा सकती है। त्रिलोकाधिपति भगवान राम ने इस अयोध्या को एक शाश्वत दिव्य धाम के रूप में परिणत कर दिया है। सेनापति के अनुसार यह धाम नगरी भी सांसारिक बन्धनों से मुक्त होकर अपने पति राम के साथ दिव्य भाकों में जाकर निवास करती है। उसके अन्तःकरण में राम के प्रति अपार मधुर भाव सुरक्षित है।[1]

सेनापति ने राम के हृदय में विद्यमान अपनी प्रजाओं के प्रति प्रेम का भी बड़ा ही मार्मिक अंकन किया है। अयोध्या में निवास करने वाली प्रजाओं का तो सारी मनोकामनाएं पूरी हो गयीं। भगवान राम के भक्त होने के कारण वे इन्द्र और यमराज से भी भयभीत नहीं होते थे। यथार्थतः अयोध्या में निवास करने वाले जीव ही सच्चे सनाथ हैं और राजा राम की स्वामिता ही सच्ची स्वामिता है—

> साँचि हैं सनाथ एक साकेत निवासी जीव
>
> साँची है रजाई एक राजा रघुनाथ की ॥"[2]

मर्यादावादी भक्त सेनापति ने भी तुलसी की तरह रावण के द्वारा छाया-सीता के अपहरण का ही उल्लेख किया है।[3]

तुलसी के भक्त शिरोमणि हनुमान से सेनापति के हनुमान का भी काफी साम्य है। लंका जाते समय रामबाण का तीव्रगति से वे भी अमोघ यात्रा करते हैं। अनन्त शक्ति सम्पन्न भगवान राम के चरणों की सेवा एवं स्पर्श से उनमें भी अनन्त तेज एवं शक्ति का प्रादुर्भाव हो गया है। उनके द्वारा लंका दहन का दृश्य इसी तथ्य का परिचायक है।[4]

तुलसी की तरह सेनापति की भी यही मान्यता है कि राम का वर्णन करते हुए ब्रह्मा भी थक जाते हैं और उनके रहस्य से अवगत नहीं हो पाते। ऐसी स्थिति में वे मौन रहना ही अच्छा समझते हैं। पर वाणी के वरदान के बावजूद राम के सौन्दर्य एवं प्रभुता का वर्णन किये बिना उनसे रहा भी नहीं जाता।[5] सेनापति ने भी गोस्वामीजी के स्वर में स्वर मिलाकर राम कथा की अनन्तता के सिद्धान्त को स्वीकार किया है और उन सबके वर्णन में अपनी विवशता

---

१ कवित्त रत्नाकर, चौथी तरंग रामायण वर्णन कवित्त ७१
मा० ७४ १४ ७४७

२ कवित्त-रत्नाकर, चौथी तरंग रामायण-वर्णन कवित्त ७२

३ कवित्त ११
द्रष्टव्य मा० ३ २४ ३-४

४ वही कवित्त ३२–३८
द्रष्टव्य मा० ५ १ ८

५ कवित्त रत्नाकर, चौथी तरंग रामायण-वर्णन कवित्त ५
मा० १ ११ १

उसी प्रकार अयोध्या एवं सरयू को रामसखे जी ने भी मंगलमय कहा है[1] और उन्हीं की तरह अयोध्यावासियों की महिमा का गायन किया है।[2] जिस तरह तुलसी ने भगवान् के समर-विजय चरित के श्रवण से भगवान् द्वारा विजय विवेक एवं विभूति प्रदान किये जाने की बात कही है,[3] उसी तरह रामसखे जी ने सीताराम के प्रातःकालीन ध्यान के पठन एवं श्रवण से उनकी कृपा प्राप्ति की चर्चा की है।[4] तुलसीदास जी के समान रामसखे जी ने भी गुरु-महिमा का बखान किया है।[5] जिस प्रकार राम प्रेमियों के हृदय में सांसारिक ऐश्वर्यों के प्रति वैराग्य होने का वर्णन तुलसीदास जी करते हैं, उसी प्रकार रामसखे भी।[6] जिस प्रकार तुलसीदास शिवजी को अपने हृदय में राम का ध्यान करने वाला बतलाते हैं। उसी प्रकार की बात रामसखे जी भी करते हैं।[7] वस्तुतः तुलसी के समान ही रामसखे भी राम के प्रेम में मस्त और उनकी गंभीर भक्ति के प्रचारक हैं। अन्तर बस इतना ही है कि तुलसी जहाँ सेव्य सेवक भाव पर विशेष बल देते हैं वहाँ राम सखे शृंगार भाव पर। उदाहरणार्थ निम्नांकित पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

> कहुँ रघुपति संग चरि मनवाहीं। नृत्यत रंग महल के माहीं ॥
> सिय क्यौं करत केलि प्रभु संग। चूकन मिलन आदि केते रंग ॥[8]

कहीं-कहीं कवि ने अपनी इस कृति में तुलसी के 'मानस' की शब्दावली भी ग्रहण की है। दोनों ग्रन्थों की कुछ समानान्तर पंक्तियाँ यहाँ उद्धृत की जा रही हैं—

(क) बेलमनि रघ्छक बहु पासा।
—मा० १ १०८ ६ (पू०)

---

१ मंगल प्रमोदवन सरयू तट रत्नाद्रि चिंतामणि भूमि अवध मंगल की खानी है।
—नृ० रा० मि० पृ० ७

२ धनि दशरथ धनि अवध पिय धनि रघुबंशिन मौर।
... ...
काम कर्म वन अवध निवासी।
—नृ० रा० मि० पृ० ११

३ मा० ६ १२१ (क)

४ प्रात ध्यान सिय लाल को मंगल मदन्क नाम।
पढ़े सुने तिनपै सदा द्रवैं जानकी राम ॥
—नृ० रा० मि पृ० ७ दो० १

५ गुरु संपति महि अरस भासा। सून्य जिम शरीर प्रमाणा ॥
—नृ० रा० मि० पृ० ६

६ मा० २ १२४ ८
नृ० रा० मि० पृ० २६
यह छवि राम जासु उर जागी। सो सब त्यागि भये वैरागी ॥

७ मा० १ १११ ७-१ १११
नृ० रा० मि० पृ० २६—
राम रूप रघुनाथ को सब रसन को राय।
रामसखे शिव मगन नित तासु ध्यान उरलाय ॥

८ नृ० रा० मि० पृ० ११४ ११५

वैतयानि रक्षक रामय प्रेम नियम गम्यन्य ॥

—म० रा० मि० पृ ११ दोहा २ (उ०)

(ख) काज नम नाहिं निमाना। वेय बपु नाथहि करि माना ॥

मा० १ २६२ ४

करिसहि सुमन जनाय हि सेवा ॥

—मा० १ २६६ ३ (उ०)

द्रष्टव्य मा० १ १६१ ७, १ ३०६ ४ १ १०६ (क) ७ १२६ १०

माजा यर्जे नर्वे देव बपु मम नाम जनायै सेवा पुराणहु भार।

—मू० रा० मि पृ ११

(ग) कतहुँ विरिद वंदी उच्चरहीं। कतहुँ वेद धुनि भूसुर करहीं ॥

—मा० १ २९७ ६

ब्राह्मण वेद अनीप पढ़े कहूँ यश प्रबराम्ह भाट सुनावैं ॥

—म० रा० मि० पृ० १४

(घ) करुणामय मृदु रामसुभाऊ

—मा २ ४० १ (पू०)

कृपाकंत रघुनाथ सुभावा ॥

—मू रा० मि० पृ० १११

(ङ)... .. — उरन्हि तुलसिका माल।   —मा० १ २४१ (पू०)

तुलसी की मालहि ललामा   —मू० रा० मि० पृ० १११

(च) मंत्र राजु नित जपहिं तुम्हारा। पूजहिं तुम्हहि सहित परिवारा ॥

—मा० २ १२९ ६

राममंत्र पद अक्षर काना। करै यही उपदेश प्रमाना ॥

—मू रा०मि० पृ० १११

(छ) जोग भोग महँ राखेउ गोई। राम बिलोकत प्रगटेउ सोई ॥

—मा० १ १७ २

योग भोग दोउ सम करि लखै। रामरूप बिनु एक न पखै ॥

—मू० रा मि० पृ १२१

उपयुक्त अध्ययन मूल्य रामच मिलन पर मानस' की भक्ति के प्रभाव का स्पष्टत परिचायक है।

● "राम मंगल

'राम मंगल' की रचना काष्ठजिह्वा स्वामी ने की है। यों तो वे सन्यासी थे फिर भी राम भक्तों में उनका अग्रगण्य स्थान है। कहा जाता है कि एक बार गुरु से इनका किसी बात पर विवाद हो गया। स घटना के पीछे गुरु अवज्ञा का इन्हें इतना पश्चाताप हुआ कि आजन्म मौन रहने का व्रत ले लिया और जिस इन्द्रिय (जिह्वा) के द्वारा ऐसे 'पाप में इन्हें प्रवृत्त होना पड़ा था उस पर काठ की एक खोल चढ़ा ली। काष्ठजिह्वा स्वामी नाम इनका इसलिए पड़ा।[1] डा० भगवतीप्रसादसिंह जी की दृष्टि में स्वामीजी का

[1] डा भगवतीप्रसाद सिंह, रामभक्ति म रसिक सम्प्रदाय पृ० ४६०

समय संवत् १८६७ माना जा सकता है[1] किन्तु यह सम्भव नहीं प्रतीत होता क्योंकि "राम मंगल" जो उनके 'भाषातरंग' नामक ग्रन्थ का एक भाग है सन् १८५२ ई० में बनारस के सुधारक प्रेस में छपा था।[2] सन् १८५२ ई० का अर्थ है विक्रम संवत् ११६ और यह सम्भव नहीं है कि स्वामी जी ने केवल १२ वर्ष की अवस्था में ही इस ग्रन्थ की रचना की होगी। अतः उनका जन्म संवत् १८६७ से पन्द्रह बीस वर्ष पूर्व होना चाहिए। राम मंगल के अतिरिक्त 'श्री जानकी मंगल' 'जानकी बिन्दु' "अयोध्या बिन्दु", 'मथुरा बिन्दु', 'स्याम रंग' "स्याम सुधा" कृष्णसहस्र परिचर्या वैराग्य प्रदीप आदि प्रभृति उनकी रचनाएं हैं[3] पर उनमें 'राम मगन' विशेष महत्त्वपूर्ण है। इस ग्रन्थ में स्वामी जी ने भगवान राम के रूप का ध्यान पुनः नाम लीला गुण और धाम की दिव्यता पर प्रकाश डाला है और इस दृष्टि से इस ग्रन्थ पर 'मानस' की भक्ति का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। यद्यपि इनका सम्बन्ध रसिक-सम्प्रदाय से जोड़ा जाता है तथापि इनकी उपासना माधुर्य भाव से न होकर दास्य भाव से होती थी।[4]

काष्ठजिह्वा स्वामी भी गोस्वामी तुलसीदास की तरह राम को सगुण एवं निर्गुण दोनों ही मानते हैं। उदाहरणार्थ—

> आरत मन बस साँवर रावर रंग है।
> सगुन अगुनहूँ लगावत लखि मन रंग है॥[5]

स्वामी जी भगवान राम को सत्स्वरूप लक्ष्मण को ज्ञान रूप तथा सीता को भक्ति रूप मानते हैं।[6] इनकी यह मान्यता बहुत कुछ तुलसीदास से मिलती-जुलती है। अन्तर केवल इतना ही है कि जहाँ वे भगवान को सत्स्वरूप तथा लक्ष्मण को ज्ञान रूप मानते हैं वहाँ तुलसी ने भगवान को ज्ञान और लक्ष्मण को वैराग्य रूप कहा है।[7]

---

१ वही

२ इसकी एक प्रति अयोध्या निवासी पं० रामकुमार दास जी के श्री रामग्रन्थागार में आज भी वर्तमान है।

३ डा० भुवनेश्वर नाथ मिश्र माधव रामभक्ति-साहित्य में मधुर उपासना पृ० ३३६-३४०

४ वैराग्य प्रदीप पृ ८५, पद—१ २—

> चरण शरण में आई सिय जू को खबर करो।
> कर्म ज्ञान वैराग्य बहाये इनते कुछहू सार न पाये।
> एक दीनता सई सहाये सन्तन यही सिखाई।
> जहँ भाव को धूप बनायो मन्दिर में महमह महकायो।
> दास भाव तन मन में छायो गव बसि राह बताई॥

५ राम मं रूप विचार, पृ० १ पं० सं २

६ वही पृ ३ पं० सं० १४

७ मा० २ ३२१

जिस प्रकार तुलसी ने नाम महिमा गायी है, उसी प्रकार इन्होंने भी नाम पर विचार किया है।[1]

तुलसी ने राम विमुख की भर्त्सना की है और स्वामी जी भी 'सियाराम विमुख' का मुख नहीं देखना चाहते।[2] कहीं-कहीं तो इनकी पंक्तियाँ किंचित हेर-फेर के साथ 'मानस' से सीधे ले ली गई प्रतीत होती हैं। जैसे मानसकार का कथन है— 'जस काछिअ तस चाहिअ नाचा ॥'[3] इसी तथ्य को रामसंग्रहकार ने यों व्यक्त किया है— 'जैसी काछन काछिये तैसोई नाचिये।'[4] इस तरह उपर्युक्त अध्ययन से यह स्पष्ट है कि 'रामसंग्रह' 'मानस' की भक्ति से प्रभावित है।

च 'विश्राम सागर'

'विश्राम सागर' के रचयिता अयोध्या के एक सुप्रसिद्ध महात्मा बाबा रघुनाथदास रामसनेही जी हैं। 'रामचरितमानस' के बाद लोक प्रचार की दृष्टि से 'विश्राम सागर' का भी एक विशिष्ट स्थान है। इस ग्रन्थ की रचना सम्वत् १९११ में हुई थी।[5] इसमें तीन खण्ड हैं—

इतिहासायन, कृष्णायन और रामायण।

इतिहासायन खण्ड में अनेक पुराणों से संगृहीत कथाएँ संक्षेप में कही गई हैं। कृष्णायन खण्ड में भगवान कृष्ण का तथा रामायण खण्ड में भगवान राम का चरित्र वर्णित है। 'विश्राम सागर' का 'मानस' से मिलाकर पाठ करने पर इसके पृष्ठ-पृष्ठ पर तुलसी का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। यह प्रभाव केवल भक्ति ही पर नहीं है अपितु काव्य कला पर भी है। यथार्थतः भाव, भाषा एवं शैली सभी दृष्टियों से विश्रामसागरकार मानसकार से पूर्णतया प्रभावित हैं। इस ग्रन्थ की रचना में मानस से ही नहीं बल्कि अन्यान्य रामायणों से भी कवि ने काफी सहायता ली है।[6] जिस तरह मानसकार ने अपने ग्रन्थ के

---

१ रा० सं० नाम विचार पृ० २५, प० सं० १८

नाम प्रतिष्ठा ब्रह्मज्ञान को मूल है ॥
ताको मापिक बोमत यह तो भूल है ॥४॥
सब्द ब्रह्म को ज्ञान नाम तहँ मनु भने ॥
नामहिं को बल पाई विधाता जग जने ॥५॥
नामहिं के बस भेंटत सीताराम हैं ॥८॥

२ राम सं० पृ० ६, पं० सं० ११

३ मा० २।१२७।८ (उ०)

४ राम सं० पृ० ५— अथ सीता मुख नाम विचार —पं० सं० १ (पू०)

५ आचार्य शुक्ल हिन्दी-साहित्य का इतिहास पृ० ४७८

६ (क) यह मैं भिन्नहीं कौन मिलाई। बृहद रामायण में सो पाई ॥
वाल्मीकि मुनि मुनि कछु भाषी। मध्य काण्ड में कह्यो बखानी ॥
—वि० सा०, पृ० ५४१

(ख) बृहद्रामायण केर मत कह्या कछुक रघुनाथ ॥
(ग) ब्रह्मोत्तम परबोध मत मूल सार शुभ गाथ। —वि० सा०, पृ० ५९१
बरन्यो सुन्दरकांड शुभ सुखप्रद जन रघुनाथ ॥ —वि० सा०, पृ० ५७२

प्रारम्भ में ही 'मुनिन्ह प्रथम हरि कीरति गाई। तेहि मग चलत सुगम मोहि भाई।'[1] का उपयोग किया है, उसी तरह विश्रामसागरकार भी कहते हैं।

"आये मुनिन कथन जो कीन्हा।
सोई मैं भाषा करि दीन्हा॥
बहु प्रन्थन मा एहै जा बाता।
सो एकै मा धरी सोहाता॥"[2]

वस्तुतः इस ग्रन्थ के प्रणयन में बाबा रघुनाथदास ने तुलसी के कथन 'मधुकर सरिस सन्त गुनग्राही।'[3] को अक्षरशः चरितार्थ कर दिया है।[4]

अपने ग्रन्थ के इतिहासायन खण्ड के प्रारम्भ में कवि ने राम सीता सन्त गुरु, गणेश सरस्वती, शिव आदि तथा अवध, 'अवधपुरवासी' 'सरयू' आदि की जो वन्दना की है वह मानस के वन्दना प्रकरण से सर्वथा प्रभावित है।[5] इस ग्रन्थ मे ग्रन्थकार ने प्रायः उन्हीं देवी-देवताओं को ग्रहण किया है जो तुलसी की वन्दना में आ चुके हैं। मानसकार की तरह ही विश्राम सागरकार ने भी बार-बार अपनी दीनता एवं विनम्रता प्रदर्शित की है।[6] तुलसी की तरह वे भी 'राम चरित' की अपारता स्वीकार करते हैं।[7] तथा उससे अपनी वाणी को पवित्र करने का साधन मानते हैं।[8] इनके राम-नाम वन्दना प्रकरण पर भी मानस

---

१ मा० १ ११ १०
२ वि० सा० पृ० १२
३ मा० १ १० १६ (उ)
४ विविध ग्रन्थ बहु विधि सुमन मम मति माली नाम।
विश्रामोदधि ग्रन्थ मधु, कीन्ह इकट्ठे आनि॥
—वि० सा० पृ० १२१
५ मा० १ श्लो० १ ६ १ सो० १-५, १ १६ १ १ १८ १०
वि० सा० पृ० ३ ६, ७ ८
६ मा० १ ८ ३-६, १ १२ ३-६
वि सा०, पृ० ५— 'मोहि न ज्ञान बुद्धि बल चतुराई।
कीन्ह चही हरि कथा सुहाई॥
... ...
जिमि बालक बोलत तुतराई।
सुनत मातु पितु अति हरषाई॥'
७ रामचरित सत कोटि अपारा। श्रुति सारदा न बरनै पारा॥
—मा ७ ५२ २
रामचरित विचित्र अपारा। पावत निगम न पावत पारा॥
—वि० सा०, पृ० ५
८ निज गिरा पावनि करन कारन...... ....
—मा० १ ३६१ ६
९ करन पवन गिरा अघहारी।
—वि० सा०, पृ० ४

जिस प्रकार तुलसी ने नाम महिमा गायी है, उसी प्रकार इन्होंने भी नाम पर विचार किया है।[1]

तुलसी ने राम विमुख की भर्त्सना की है और स्वामी जी भी 'सियाराम विमुख' का मुख नहीं देखना चाहते।[2] कहीं-कहीं तो इनकी पंक्तियाँ किंचित हेर-फेर के साथ 'मानस' से सीधे ले ली गई प्रतीत होती हैं। जैसे मानसकार का कथन है— 'जस काछिय तस चाहिय नाचा'।।[3] इसी तथ्य को रामरसिकसंकार ने यों व्यक्त किया है— 'जैसी काछन काछिये तैसाई नाचिये।' इस तरह उपर्युक्त अध्ययन से यह स्पष्ट है कि 'रामरसिक' 'मानस' की भक्ति से प्रभावित है।

८ 'विश्राम सागर'

'विश्राम सागर' के रचयिता अयोध्या के एक सुप्रसिद्ध महात्मा बाबा रघुनाथदास रामसनेही जी हैं। 'रामचरितमानस' के बाद लोक प्रचार की दृष्टि से 'विश्राम सागर' का भी एक विशिष्ट स्थान है। इस ग्रन्थ की रचना सम्वत् १९११ में हुई थी।[4] इसमें तीन खण्ड हैं—

इतिहासायन, कृष्णायन और रामायण।

इतिहासायन खण्ड में अनेक पुराणों से संगृहीत कथाएं संक्षेप में कही गई हैं। कृष्णायन खण्ड में भगवान कृष्ण का तथा रामायण खण्ड में भगवान राम का चरित्र वर्णित है। 'विश्राम सागर' का 'मानस' से मिलाकर पाठ करने पर इसके पृष्ठ-पृष्ठ पर तुलसी का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। यह प्रभाव केवल भक्ति ही पर नहीं है अपितु काव्य कला पर भी है। यथार्थतः भाव, भाषा एवं शैली सभी दृष्टियों से विश्रामसागरकार मानसकार से पूर्णतया प्रभावित हैं। इस ग्रन्थ की रचना में 'मानस' से ही नहीं बल्कि अन्यान्य रामायणों से भी कवि ने काफी सहायता ली है।[5] जिस तरह मानसकार ने अपने ग्रन्थ के

---

१ रा० र० नाम विचार, पृ० १४, पं० सं० १-८

नाम प्रतिष्ठा ब्रह्मनाम को मूल है।।
ताको मापिक मोमत बहु तो मूल है।।४।।
सब्द ब्रह्म की आन नाम तहँ मनु भने।।
नामहि को बल पाई विधाता जग जने।।५।।
नामहि के बस मेटत सीताराम हैं।।८।।

२ राम र० पृ० ६ पं० सं० १२

३ मा० २।१२७।८ (उ०)

४ राम र० पृ० ४— अथ सीता मुख नाम विचार' —पं० सं० १ (पू०)

५ आचार्य शुक्ल हिन्दी-साहित्य का इतिहास पृ० ४७८

६ (क) यह मैं मिलती जोन गिनाई। वृहद रामायण में सो पाई।।
वाल्मीकि पुनि मुनि कछु भाखी। युद्ध काण्ड में कह्यो बखानी।।
—वि० सा० पृ० ५४१

(ख) बृहद्रामायण केर मत कहा कछुक रघुनाथ।।
(ग) चन्द्रोदय परवाव मत सुख सार पुक गाथ। —वि० सा०, पृ० ५११
बरन्यो सुन्दरकांड शुभ सुखप्रद जन रघुनाथ।। —वि० सा०, पृ० ५७२

प्रारम्भ में ही 'मुनिन्ह प्रथम हरि कीरति गाई। तेहि मग चलत सुगम मोहि भाई।'[1] का उपयोग किया है, उसी तरह विश्रामसागरकार भी कहते हैं।

'आगे मुनिन बखान जो कीन्हा।
सोई मैं भाषा करि दीन्हा॥
बहु ग्रन्थन मा रही जो बाता।
सो एक मा करी सोहाता॥'[2]

वस्तुत इस ग्रन्थ के प्रणयन में बाबा रघुनाथदास ने तुलसी के कथन 'मधुकर सरिस सन्त गुनग्राही।'[3] को अक्षरश चरितार्थ कर दिया है।[4]

अपने ग्रन्थ के इतिहासायन खण्ड के प्रारम्भ में कवि ने राम सीता सम्भु, गुरु गनेश सरस्वती, शिव आदि तथा अवध अवधपुरवासी 'सरयू' आदि की जो वन्दना की है वह मानस के वन्दना-प्रकरण से सर्वथा प्रभावित है।[5] इस ग्रन्थ में ग्रन्थकार ने प्राय उन्हीं देवी-देवताओं को ग्रहण किया है जो तुलसी की वन्दना में आ चुके हैं। मानसकार की तरह ही विश्राम सागरकार ने भी बार-बार अपनी दीनता एवं विनम्रता प्रदर्शित की है।[6] तुलसी की तरह वे भी 'राम चरित्र' की अपारता स्वीकार करते हैं।[7] तथा उससे अपनी वाणी को पवित्र करने का साधन मानते हैं।[8] इनके राम-नाम वन्दना प्रकरण पर भी मानस

---

१ मा० १ ११ १०
२ वि० सा० पृ० १२
३ मा० १ १ १६ (ज०)
४ 'विविध ग्रन्थ बहु विधि सुमन मम मति माली जान।
विश्रामोदधि ग्रन्थ मधु, कीन्ह इकट्ठे आनि॥'
—वि० सा०, पृ० १२१
५ मा० १ श्लो० १ ६, १ सो० १-५, १ १६ १ १ १८ १०
वि० सा० पृ० ३-५, ७ ८
६ मा० १ ८ ३-६ १ १२ ३ ६
वि० सा० पृ ५— 'मोहि न ज्ञान बुद्धि बल चतुराई।
कीन्ह चहौं हरि कथा सुहाई॥
... ...
जिमि बालक बोलत तुतराई।
सुनत मातु पितु अति हरषाई॥'
७ रामचरित सत कोटि अपारा। श्रुति सारदा न बरनै पारा॥
—मा० ७ ५२ २
रामचरित विचित्र अपारा। आवत निगम न पावत पारा॥
—वि० सा० पृ० ५
८ निज गिरा पावनि करन कारन...
—मा० १ १६१ ६
९ करन पवन गिरा अघहारी।
—वि० सा०, पृ० ४

की नाम वन्दना का पूरा-पूरा प्रभाव है ।[1] राम-नाम की अपार महिमा की घोषणा इन्होंने इस प्रकरण के अतिरिक्त अपने ग्रन्थ में अन्यत्र भी की है ।[2] जिस प्रकार तुलसी ने "रामचरितमानस" नाम की महिमा की चर्चा करते हुए उसे कानों से सुनते ही विश्राम देने वाला बतलाया है उसी प्रकार रघुनाथदास ने विश्रामसागर नाम श्रवण करने से लोगों के आराम पाने का उल्लेख किया है ।[3] मानस के सम्बन्ध में तुलसी ने लिखा है—

'जे एहि कथहि सनेह समेता । कहिहहिं सुनिहहिं समुझि सचेता ॥
होइहहिं रामचरन अनुरागी । कलिमल रहित सुमंगल भागी ॥'[4]

अपने ग्रन्थ के सम्बन्ध में रघुनाथदास भी कहते हैं—

जे सुनहिं समुझहिं प्रीति कर, हरिचरन में चित लाइहैं ।
रघुनाथ ते गोपद सरिस संसार यह तरि जाइहैं ॥[5]

तुलसी की तरह ही इन्होंने भी राममक्ति से पराङ्मुख रहने वाले लोगों की तीव्र भर्त्सना की है ।[6]

बाबा रघुनाथदास के विश्राम सागर का रामायण खण्ड भी रामचरितमानस की तरह सात काण्डों में ही विभक्त है और इनके नामकरण भी मानस के सात काण्डों के नामकरण से सर्वथा अभिन्न हैं । रामायण खण्ड के बालकाण्ड से ही पुनः मानस की भक्ति का प्रभाव परिलक्षित होने लगता है । उदाहरणार्थ राम के सम्बन्ध में तुलसी कहते हैं—

(क) संभु बिरंचि बिष्नु भगवाना । उपजहिं जासु अंस ते नाना ।[7]

(ख) बिधि हरिहर बंदित पद रेनू ॥[8]

---

१ मा १ १६.१—२ २८ १— 'बन्दउ राम नाम रघुबर को ।...... '
बि० सा० पृ० ६—"बन्दौं रामनाम अविनाशी ।—...... "

२ (क) जो सुमिरत तब नाम ते छूटत अभिमान ते ।
—बि० सा० पृ० ६११

(ख) पावन को पावन करन शिव को धनु मुनि धर्म ।
श्रुति संतन के प्राण हैं, राम नाम दोउ वर्ण ।।
—वही पृ० ६२१

३ रामचरित मानस एहि नामा । सुनत श्रवन पाइअ बिश्रामा ।।
—मा० १ ३५ ७

विश्राम सागर नाम । सुनि लहैं नर आराम ।।
—बि० सा०, पृ० ८

४ मा० १ १५ १० ११

५ बि० सा० पृ० ११

६ मा० १ ११३ १-७

बि० सा० पृ० १३— 'धोउ भार भ्रुति सर्प बिलखइ मसमग समलेव ।
... ...
.. ..
बाल्मीपिता सरिस सो बाबत मावत बीच ।

७ मा० १ १४४ ६

८ मा० १ १४१ १ (उ०)

तो रघुनाथदास कहते हैं—

(क) विधि हरिहर सीता जानकीश नमामि ॥[1]

(ख) विधि हरिहर ध्यावत जिन्हें [2]

आगे चलकर रघुनाथदास कहते हैं—

कथा अलौकिक कुशल मुनि करैं न मन सन्देह ।

राम अनन्त अनन्त गुण कतहुँ होयगो येह ॥[3]

यथार्थत यह पद मानस के—

कथा अलौकिक सुनहिं जे ग्यानी । नहिं आचरजु करहिं अस जानी ॥

— — — —

— — — —

राम अनंत अनंत गुन अमित कथा बिस्तार ।

सुनि आचरजु न मानिहहिं जिन्ह कें बिमल बिचार ॥[4]

की छायामात्र है। छाया ही नहीं बल्कि शब्द और पंक्तियों का स्पष्ट ग्रहण है। इसी तरह शिव-पार्वती-संवाद[5] अवतार के कारण[6] रावण के घोर अत्याचार से त्रस्त पृथ्वी एवं देवतादि की करुण पुकार,[7] भगवान् का वरदान[8] उनका प्राकट्य[9] और बाल-लीला[10] विश्वामित्र का राजा दशरथ से राम-लक्ष्मण की याचना[11] अहल्या-उद्धार[12] राम-लक्ष्मण

---

१ वि० सा० पृ० १७८
२ वही पृ० १७८
३ वही पृ० १७८
४ मा० १ ३३ ४–१ ३३
५ मा० १ १०५ ८–१ १०८
वि० सा० पृ १७९
६ मा १ १२१ २–८
वि० सा० पृ० १७९– नहिं विधि हेतु ह्वारन जानो । ... ...
७ मा० १ १८३ ४—१ १८६
वि० सा० पृ० ३९३–९४
८ मा० १ १८७ १–७
वि० सा० पृ ३९४— जब भव निर्भय होउ सुर— — भरिहौं धनु तुम्हार ॥
९ मा १ १९१ १–१ १९६ २— 'नौमी तिथि मधुमास पुनीता । — —
देखि महोत्सव सुर मुनि नागा चले भवन बरनत निज भागा ॥
वि सा पृ० ४००–४ — — — — राम जन्म कर अवसर आवा ।
देखि महोत्सव सुर मुनि सारे । प्रमुदित निज निज भवन सिधारे ॥
१० मा १ १९८ ५–१ २०४ २
वि० सा, पृ ४०८ ४१२
११ मा १ २ ६२—१ २ ९
वि० सा० पृ० ४२७—४३२
१२ मा १ २१० ११—१ २११ ८
वि० सा० पृ० ४३३ ४३४

को देखकर जनक की प्रेम-मुग्धता,[1] जनकपुर तथा पुष्पवाटिका-निरीक्षण[2] सीता की पार्वती-पूजा[3] स्वयंवर प्रसंग[4] परशुराम-संवाद[5] *आदि के जो वर्णन विश्राम-सागरकार* ने किये हैं उन पर मानस की पंक्ति-पंक्ति का पूर्णतः प्रभाव परिलक्षित होता है। विवाह होने के बाद अपने जामाता राम को विदा करते समय मानसकार के जनक का कथन है—

राम करौं केहि भाँति प्रसंसा। मुनि महेस मन मानस हंसा ॥[6]

— — — —

सबहि भाँति मोहि दीन्हि बड़ाई। निज जन जानि लीन्ह अपनाई ॥[7]

— — — —

बार बार मागउँ कर जोरें। मनु परिहरै चरन जनि भोरें ॥

सुनि बर बचन प्रेम जनु पोषे। पूरनकाम रामु परितोषे ॥

करि बर बिनय ससुर सनमाने। पितु कौसिक बसिष्ठ सम जाने ॥[8]

इसी तथ्य को विश्रामसागरकार ने यों व्यक्त किया है—

राम कहौं किमि सुमुख बड़ाई। चिदानन्द तुम सब सुखदाई ॥

सेवक समुझि दरस्यहिं दीन्हीं। सब बिधि ते आपन करि लीन्हीं ॥

तदपि एक बर दीजै अबहूँ। मन तव पद परिहरै न कबहूँ ॥

सुनि रघुपति श्वशुरे सनमान्यो। पितु वशिष्ठ कौशिक सम जान्यो। [9]

'मानस' के बालकाण्ड को समाप्त करते हुए तुलसी ने लिखा है—

सिय रघुबीर बिबाहु जे सप्रेम गावहिं सुनहिं।

तिन्ह कहुँ सदा उछाहु मंगलायतन राम जसु ॥[10]

---

१ मा० १ ३११ १–७ (पू०)
वि० सा० पृ० ४१५

२ मा० १ २१८ १—१ २३४
वि० सा० पृ० ४१६—४१९

३ मा० १ २३५ ४–१ २३६
वि० सा० पृ० ४३९–४०

४ मा० १ २४० १–२६७
वि० सा० पृ० ४४२—४४६

५ मा० १ २६८ ८—१ २८५ ७
वि० सा० पृ० ४४८—४५४

६ मा० १ ३४२ ४

७ मा० १ ३४२ १

८ मा० १ ३४२.५—५७

९ वि० सा० पृ० ४७०

१० मा० १ ३६१

इसी तरह विश्राम सागर के रामायण खण्ड के बालकाण्ड के अन्त में बाबा रघुनाथ दास भी कहते हैं—

'सिय राम जन्म बिवाह मंगल मुदित सुनहिं जे गावहू ।
रघुनाथ ते पर कृपा करि हरि जगहु में सुख पावहीं ।।[1]

ऐसे ही अयोध्या काण्ड में राम-बन-गमन के समय राम-लक्ष्मण-संवाद[2] लक्ष्मण सुमित्रा-संवाद,[3] निषाद-लक्ष्मण-संवाद[4] केवट प्रेम,[5] राम भरद्वाज संवाद[6] मार्ग वासियों का प्रेम[7] राम-वाल्मीकि-संवाद[8] भरत-कौशल्या-संवाद[9] वसिष्ठ तथा भरत का

---

१ वि० सा०, पृ० ४७१

२ (क) मा० २।७१।६— 'जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी । सो नृपु अवसि नरक अधिकारी ।
वि० सा० पृ० ४८१— 'ज्यहि नृप राज्य प्रजा दुख पावै । अवधि अधिप सो नरक सिधावै ।।

(ख) मा० २।७२।४-८
वि० सा० पृ० ४८१— नाथ बात जो कही तुम ताहि करब मन सोइ ।
कीरति सुमति विभूति सिय समुझ जाहि प्रिय होइ ।।
मोहि एक प्रभु तुमहि माता । अपर न जानहुँ गुरु पितु माता ।।
त्यहिते तजौं न किंकर जानी । ~ ~ ~

३ मा० २।७४।२-७५।८
वि० सा०, पृ०४८— 'तात राम सिय तव पितु माता । रहिहैं जहाँ अवध सुखदाता ।।
करेहु तात सोइ बात बिचारी । ज्यहि न राम सिय होइ दुखारी ।।

४ मा० २।९०।५-२।९१।१
वि० सा० पृ० ४८८-८८— सोवत प्रभुहि निषाद निहारा ।
दुखित लषण ते बचन उचारा ।।
तात परम परमारथ सोई । रघुबीर चरण रति होई ।।

५ मा० २।१००।१ २।१०२
वि० सा० पृ० ४८८ ८६— 'माँगी नाव न केवट लावा । कहु तुम्हार मरम मैं पावा ।।
सुनि प्रभु ताहि भक्ति बर दीन्हा ।

६ मा० २।१०६।७-२।१०७
वि० सा० पृ० ४८६— —

जासु सुफल मम जपतप नाना । तीरथ बरत योग मख दाना ।।
अस कहि मधुर मूल फल दीन्हें । सबन सहित प्रभु भोजन कीन्ह ।।

७ मा० २।११४।१ २।१२२
वि० सा०, पृ० ४८९-९१— ग्राम निकट ज्यहि निकसहिं जाई ।
चकित होहिं सखि लोग लुगाई ।।
उदय भये जनु भाग्य हमारे । भरि नयनन या इन्हैं निहारे ।।

८ मा० २।१२४।५-२।१३२।३
वि० सा० पृ० ४९१-९२

९ मा० २।१६१।८ (उ०)—२।१६९।५
वि० सा० पृ० ४९७-९८

(ग) गुरु बिनु भव निधि तरइ न कोई। जौं बिरंचि संकर सम होई॥
—मा० ७।९३।५

ब्रह्मा विष्णु महेस ते या भाँति हैं नाम।
गुरु बिन भव निधि ना तरे, कहत निगम अरु आम॥
—वि० सा० पृ० १७

(घ) बरषहिं सुमन सुअंजलि साजी। गहगहि गगन दुंदुभी बाजी॥
—मा० १।१९१।७

देव दुंदुभी देइ सुमन बरसावहीं।
—वि० सा० पृ० ४०१

(ङ) यह सुभ चरित जान पै सोई। कृपा राम कै जापर होई॥
—मा० १।१९६।६

यह सब चरित जान सब जाना। जब उर बस आय भगवाना॥
—वि० सा० पृ० ४०५

(च) जगत पिता मैं सुत करि जाना।
—मा० १।२०२।७ (उ०)

जगत पिता तुम अज भगवाना। मैं बिन जान पुत्र करि माना॥
—वि० सा० पृ० ४०६

(छ) समय जानि गुर आयसु पाई। लेन प्रसून चले दोउ भाई॥
—मा० १।२२७।२

समय पाय आयसु चले सुमन लेन दोउ भ्रात॥
—वि० सा० पृ० ४१८

(ज) स्याम गौर किमि कहौं बखानी। गिरा अनयन नयन बिनु बानी॥
—मा० १।२२९।२

रूप अनूप सखी किमि भाखी। नैन अबैन बैन बिन आँखी॥
—वि० सा० पृ० ४१८

(झ) जिन्ह कें रही भावना जैसी। प्रभु मूरति तिन्ह देखी तैसी॥
—मा० १।२४१।४

एहि बिधि रहा जाहि जस भाऊ। तेहिं तस देखेउ कोसलराऊ॥
—मा० १।२४२।८

जिन जेहि भाँति भावना मानी। तिन तस देखे धारंस पानी॥
—वि० सा० पृ० ४४२

(ञ) सिय हमारि पुनि परम पुनीता। जगदम्बा जानहु जियँ सीता॥
जगत पिता रघुपतिहि बिचारी। भरि लोचन छबि लेहु निहारी॥
—मा० १।२४६।२-३

जगत पिता रघुपति कहँ जानी। जगजननी जानकिहि पिछानी॥
रघुहि ते दुर्भावना नेवारी। भरि लोचन छवि लेहु निहारी॥
—वि० सा०, पृ० ४४३

(ट) सखी कहहिं प्रभु पद गहु सीता । करति न चरन परस अति भीता ॥
गौतम तिय गति सुरति करि नहिं परसति पग पानि ।
मन बिहँसे रघुबंस मनि प्रीति अलौकिक जानि ॥

—मा० १ २६५ ८–१ २६५

सखिन कह्यो पति पद गहु बाला । छुवत न मुनि मुनि तिय करि ख्याला ॥
... ...

प्रीति अलौकिक समुझि कै मन बिहँसे रघुनाथ ॥

—वि० सा० पृ० ४४६

(ठ) हृदयं न हरषु बिषादु कछु बोले श्री रघुबीर ॥

—मा० २ २७० (ठ)

हृदय न हर्ष विषाद कछु बोले श्रीरघुनाथ तब ॥

—वि सा०, पृ० ४४८

(ड) बहुरि कीन्ह कोसलपति पूजा ॥ जानि ईस सम भाउ न दूजा ॥

—मा० १ ३२१ ?

सहित बरात दसरथे पूजा । मानि ईश सम भाव न दूजा ॥

—वि० सा प ४६१

(ढ) जे पद सरोज मनोज अरि उर सर सदैव बिराजहीं ।
... ...

— .. — —

ते पद पखारत भाग्य भाजनु जनकु जय जय सब कहैं ॥

—मा० १ ३२४ ११ १६

जे पद बसत महेस उर ध्यावत मुनि जन ढेर ।
ते पद पय पखारहीं, धन्य भाग्य नृप केर ॥

—वि० सा पृ० ४६२

(ण) सुन्दरी सुन्दर बरन्ह सह सब एक मंडप राजहीं ।
जनु जीव उर चारिउ अवस्था बिभुन सहित बिराजहीं ॥

—मा० १ ३२५ २५ २६

सबर सुन्दरी राजहिं कैसे । जिय युत बिभुन अवस्था जैसे ।

—वि० सा पृ० ४६२

(त) एक भरत कर संमत कहहीं । एक उदास भायं सुनि रहहीं ॥
कान मूदि कर रद गहि जीहा । एक कहहिं यह बात अलीहा ॥
सुकृत जाहि अस कहत तुम्हारे । रामु भरत कहुँ प्रान पिआरे ॥

—मा २ ४८ १ ८

कोउ कह भरतहु कर मत होई । सुनि कर कान राखि कह कोई ।
लागत अघ अस किए बखाना । राम भरत कहँ प्रान समाना ॥

—वि सा पृ० ४८५

(घ) तेहि अवसर एक तापस आवा । तेज पुंज लघुवयस सुहावा ॥

—मा० २।११०।७

तेहि अवसर तापस इक आवा । करि बिनती हरिधाम सिधावा ॥

—वि० सा०, पृ० ४६०

(ड) जिन्ह जिन्ह देखे पथिक प्रिय सिय समेत दोउ भाइ ॥
भव मगु अगमु अनन्दु तेइ बिनु श्रम रहे सिराइ ॥
अजहुँ जासु उर सपनेहुँ काऊ । बसहुँ लखनु सिय रामु बटाऊ ॥
राम धाम पथ पाइहि सोई । जो पथ पाव कबहुँ मुनि कोई ॥

—मा २।१२३–२।१२४।२

जिन सिय राम बटोही हरे । भव दुख दूरि भये तिन केरे ॥
अजहुँ जासु उर यह छबि आवै । निश्चय सो पर धाम सिधावै ॥

—वि० सा पृ० ४६१

(च) हानि लाभु जीवनु मरनु, जसु अपजसु बिधि हाथ ॥

—मा २।१७१ (दो०)

हानि लाभ जीवन मरन, दुख सुख सबके साथ ॥

—वि० सा० पृ० ४६४

(त) गिरिवर दीख जनकपति जबहीं । करि प्रनामु रथत्यागेउ तबहीं ॥
राम दरस लालसा उछाहू । पथ श्रम लेसु कलेसु न काहू ॥
मन तहँ जहँ रघुबर बैदेही । बिनु मन तन दुख सुख सुधि केही ॥

—मा० २।२७५।२४

गिरिवर देखि जनक रथ त्यागा । कीन्ह प्रनाम सहित अनुरागा ॥
मग श्रम स्वल्प न काहू पावा । मनु प्रभु पास प्रथमहीं आवा ॥

—वि० सा० पृ० ५०६

(प) सुनि ब्रत नेम साधु सकुचाहीं । देखि दसा मुनिराज लजाहीं ॥

—मा० २।३२६।४

नेम प्रेम लखि भरत कर, मुनिजन मन सकुचात ॥

—वि० सा०, पृ० ५१४

(फ) सिंघासन प्रभु पादुका बैठारे निरुपाधि ॥

—मा० २।३२३ (दो०)

सिंहासन प्रभु पादुका, बठारी अनुरागि ॥

—वि० सा०, पृ० ५१४

(ब) अवध राजु सुरराजु सिहाई । दसरथ धनु सुनि धनदु लजाई ।
तेहि पुर बसत भरत बिनु रागा । चंचरीक जिमि चंपक बागा ॥

—मा० २।३२४।६-७

सुनि अवध सुर पुर राज साजन धनद धन सचि रावरी ।
त्यहि त्यागि कीन्ह्या भरत निमि जिमि मधुप चंपक बागहीं ॥

—वि० सा० पृ० ५१६

(म) सरिता बन गिरि अवघट घाटा । पति पहिचानि देहिं बर बाटा ।।
जहँ जहँ जाहि देव रघुराया । करहिं मेघ तहँ तहँ नभ छाया ।।
—मा० ३ ७ ४ ५

प्रभुहि चलत लखि गिरि मग देहीं । बन सुखाहिं महि मृदु तृन सेही ।।
—वि० सा०, पृ० ३११

(य) दरस लागि प्रभु राखेउ प्राना । चलन चहत अब कृपा निधाना ।।
—मा० ३ ३१ ४

रहु प्रान तब दरसन होता । चलन चहत अब कृपा निकेता ।।
—वि० सा० पृ० ३११

(व) मालि परमहित जासु प्रसादा । मिलेहु राम तुम्ह समन बिषादा ।
—मा० ४ ७ १६

बालि हमार परमहितकारी । मिले मोहि त्यहि जापु ऊभारी ।।
—वि० सा० पृ० ३११

(र) प्रभु अजहूँ मैं पापी अन्तकाल गति तोरि ।
—मा० ४ ६ (ख०)

प्रभु अजहूँ अब बने हमारे । अन्त काल मैं दरस तुम्हारे ।।
—वि० सा०, पृ० ३११

(ल) समाचार पुरबासिन्ह पाए । नर अरु नारि हरषि सब धाए ।।
— — —

एक एकन्ह कहँ बूझहिं भाई । तुम्ह देखे दयाल रघुराई ।।
—मा ७ ३ ४ ८

जहँ तहँ सुनि पुर नारि नर, धाये दरसन हेत ।
एक एकते कहहिं तुम, देखे कृपानिकेत ।।
—वि सा पृ० ३१२

उपर्युक्त अध्ययन से यह स्पष्ट है कि विश्राम-सागर पर मानस की भक्ति का ही नहीं प्रत्युत पंक्ति-पंक्ति का प्रभाव है ।

६ ''उभय प्रबोधक रामायण''

'उभय प्रबोधक रामायण' के रचयिता महात्मा बनादास जी हैं । यों तो इन्होंने बहुत से ग्रन्थों की रचनाएं की थी[1] परन्तु उनमें 'उभय प्रबोधक रामायण' ही सर्वाधिक प्रसिद्ध है । डा० भगवतीप्रसाद सिंह के शब्दों मे महात्मा बनादास का जन्म गोंडा जिले के असोकपुर नामक गांव में पौष शुक्ल ४ सं० १८७८ (१८२१ ई०) मे हुआ था ।[2] परन्तु डा० रामकुमार वर्मा ने इनका आविर्भाव काल सम्वत् १८६ [3] माना है । 'उभय प्रबोधक

१ रामभक्ति मे रसिक सम्प्रदाय डा० भगवतीप्रसाद सिंह, पृ० ४८४ ४८५
२ वहीं, पृ० ४८१
३ हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास पृ० ५५०

प्रबोधककार ने मानस के ही विशेषणों एवं शब्दावलियों का प्रयोग किया है ।[1] तुलसी की तरह वे भी भगवान् के सगुण निर्गुण दोनों रूपों की चर्चा करते हैं।[2] अपने आश्रम में भगवान् राम के पदार्पण पर मानस में भरद्वाज मुनि का कथन है—

> 'आजु सुफल तपु तीरथ त्यागू । आजु सुफल जप जोग बिरागू ॥
> सफल सकल सुभ साधन साजू । राम तुम्हहि अवलोकत आजू ॥[3]

यहाँ भी वे यही बात कहते हैं—

> ''जोग तप यज्ञ व्रत भजन बराग तप सकल साधन भये सिद्धि आजू ।[4]

इसी तरह वन-मार्ग में राम के पीछे चलती हुई सीता एवं लक्ष्मण का बनादास ने भी तुलसी की तरह वर्णन किया है ।[5] भरत की अनुपम भक्ति[6] एवं सुतीक्ष्ण की प्रेम विह्वलता[7] के वर्णन में भी उनपर मानस का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है । वस्तुतः बनादास की दृष्टि में तपोमय जीवन यापन करने वाले आदर्श भक्तों में भरत का ही अग्रण्य स्थान है । वे ही उनकी तपस्या के आदर्श थे । उनका अखंड विश्वास था कि भगवान् के वियोग में भरत की तरह कठोर तपस्वी का जीवन यापन करते हुए शरीर तपाने से, आज भी भगवान् प्राप्त किये जा सकते हैं । मानसकार के स्वर में स्वर मिलाकर उनका भी यही कथन है—

---

१ (क) मा० १ ११६ १ ११
उ० प्र० रा० पृ०२ प० १५-२५, पृ० ३ प० सं० ४ पं० १७ पृ० ६,
प० १५ १८ पृ० १६ की अंतिम दो पंक्तियाँ पृ० १७ प० १ १३
(ख) मा० १ ३२० ४-८
उ० प्र० रा० पृ० ११४ प० सं० ४२
२ उ० प्र० रा पृ० १७ पं० १५ १७
३ मा० २ १ ७ ५ ६
४ उ० प्र० रा पृ० ६ पूर्ण ७
५ प्रभु पद रेख बीच बिच सीता । धरति चरन मग चलति सभीता ॥
सीय राम पद अंक बराए । लखन चलहिं मगु दाहिन लाए ॥
—मा० २ १२३.५ ६

राम कज पद रेख जानकी चलत बचाये ॥
लषण दस मन देत सिया रघुवर पद रेखा ।
—उ० प्र० रा० पृ० ६ पं० २०-२१

६ मा० २ १७४२ २ १०५ ४ २ १०६ १ ६ २ १८३ १ २
उ० प्र० रा० पृ० ७ पं० ३ ५
(ख) मा० २ २०२ १
उ० प्र० रा० पृ० ७ प० १४ १५
(ग) मा० २ २४० २ २ २४०-८
उ० प्र० रा० पृ० ७ पं० ११ १८
(घ) मा० ७ १ (ख) ७ १ ८
उ० प्र० रा० पृ० १२ पं० ३ ६
७ मा० ३ १० ३२ १
उ० प्र० रा० पृ० ८ पं०

सर्वस्व है ।[1] इनकी प्रभूत प्रशंसा करते हुए "ऐसे सद्ग्रन्थ' में 'प्रीति' प्रतीति' नहीं रखने वालों की उन्होंने तीव्र भर्त्सना की है ।[2] गोस्वामी जी की महिमा का दिग्दर्शन कराते हुए बनादास ने यहाँ तक कह दिया है कि 'जो अवतार न होत गुसाईं को को जग जानतो राम बेचारे ।'[3]

अपने ग्रन्थ के 'द्वितीय नाम खण्ड'' में मानसकार की तरह इन्होंने भी भगवान राम के नाम की अपार महिमा घोषित की है ।[4] वस्तुतः बनादास का यह नाम-महिमा-वर्णन मानस के बालकाण्ड में वर्णित नाम-वन्दना-प्रकरण[5] से अक्षरशः प्रभावित है । तुलसी का कथन है—

(क) अगुन सगुन बिच नाम सुसाखी । उभय प्रबोधक चतुर दुभाषी ।।[6]

(ख) 'अगुन सगुन दुइ ब्रह्म सरूपा । अकथ अगाध अनादि अनूपा ।।
मोरें मत बड़ नामु दुहू तें । किए जेहिं जुग निज बस निज बूतें ।।'[7]

बनादास भी कहते हैं—

(क) 'अगुण सगुण दोउ रूप को दोउ करै एक राम नाम नहिं दूसरे को कामजू ।
अगम अपारादि दोऊ अकथ अनूप कवि मति न समाति कहि महासुख धाम जू ।।'[8]

(ख) 'निरगुन सरगुन ब्रह्म स्वरूप अगाध अनूप करै को बखाना ।।
— — — —
नाम अधीन उभय तिहुँ काल में पूरण प्रेम हृदय ठहराना ।।'[9]

महान से महान होकर भी राम नाम में रुचि नहीं लगाने वालों की बनादास ने बड़ी भर्त्सना की है[10] और बार-बार अपने इस कथन की आवृत्ति की है कि—

दास बना न कछू बनि आय जो राम को नाम नहीं सकसाई ।।[11]

---

१ 'रावन नाम वेदव्यास सबै जग बुद्धि भै मंद परे जो पुराना ।
— — — —
— — —
दास बना हमरे मत से तुलसीकृत साधु को जीवन प्राना ।
—वही, पृ० ३३ प० सं० ७५

२ वही पृ० २२ प० सं० ११ की अन्तिम दो पंक्तियाँ

३ उ० प्र० रा० पृ० ३० प० सं० ५७ प० २

४ उ० प्र० रा० नाम खण्ड प० सं० १ ५ ८ ९ ११ १५ १८ २७ २९ ३४-३८ ५० ५६ ६१ ७० ८९ ९१ ९४ ।

५ मा० १ १९ १–१ २८ १

६ मा० १ २१ ८

७ मा० १ २३ १ २

८ उ० प्र० रा० पृ० ५१ प० संख्या ७० प० १ २

९ वही पृ० ६० प० सं० ६७ प० १ ३

१० वही पृ० ५५ ५६ प० सं० ९५-१ ३

११ वही ।

तुलसी की तरह इन्होंने भी बार-बार अपनी यह आस्था व्यक्त की है कि इस घोर कलिकाल में संसार सागर को पार करने के लिए भगवान राम के नाम के अतिरिक्त अन्य कोई आधार नहीं है।[1] नाम शब्द के अतिरिक्त अपने ग्रन्थ के अन्यान्य शब्दों में भी स्थल-स्थल पर कवि ने सशक्त शब्दों में नाम की महिमा का गायन किया है[2] और समस्त साधनों एवं आशाओं को गरल के समान परित्याग कर सियाराम नाम स्मरण करने वाले बड़भागी जनों की प्रभूत प्रशंसा की है।[3]

अपने ग्रन्थ के 'अयोध्या खण्ड तृतीय' के प्रारम्भ में महात्मा बनादास जी ने तुलसीदास जी की तरह ही विभिन्न देवी-देवताओं सन्तों शास्त्रों राम से सम्बन्धित पुरुषों एवं स्थलों की बार-बार अभिवन्दना करते हुए उनसे रामभक्ति प्रदान करने की करबद्ध प्रार्थना की है।[4] तुलसी के स्वर में स्वर मिलाकर वे आगे कहते हैं—

'रामायण सत कोटि मुनिन बहु बिधिहु बखाना ।
महिमा कोटि समुद्र पार कोउ लहत न जाना ॥
निज निज मति अनुहारि भाव भक्ती के गाये ।
अधम बुद्धि मम बुद्ध हित रचना अभिलाये ॥
जिमि पिपीलिका सिन्धु को करत मनोरथ पार हित ।
त्यहू बनादास तिमि मोरि गति लागो माँहि अनेक चित ॥ [5]

इस पद में वर्णित 'शत कोटि रामायण' को तुलसी भी स्वीकार करते हैं[6] और बनादास भी। तुलसी ने भी रामचरित की महिमा को अपार समुद्र कहा है[7] और बनादास भी यही कहते हैं। मुनि गण ने अपनी-अपनी रुचि के अनुसार भक्तिभाव से पूर्ण रामायण रची,

---

१ उ० प्र० रा० पृ० ४० प० सं० की प्रारम्भिक दो पंक्तियाँ
पृ० ४१ प० सं० १५ की अन्तिम दो पंक्तियाँ
पृ० १८२ प० सं० ६२ की अन्तिम दो पंक्तियाँ
पृ० ५१४ प० सं० २६
पृ० ५२२ प० सं० ७१ की पहली और दूसरी पंक्ति—
"सकलौ साधन शून्य है काहू में नहिं सार ।
ताते कलियुग में रहेउ एक नाम आधार ॥
२ वही पृ० १५, प० सं० ५० पं० १ पृ० ११ प० २ पृ० २४ पं० सं० २६ की अन्तिम पंक्ति पृ० २५ प० सं० ३२ प० १ पृ० ४८२ प० सं० ३० पं० १ प० सं० ३२ ३४, पृ० ४८६ प० सं० ५० पृ० ५०६, प० सं० ६३ ६६ पृ० ५२७ प० सं० १०९ के प्रारम्भ और अन्त की पंक्ति ।
३ वही पृ० १८ पं० ४६
४ मा० १ १५ १–१ १८ ६
उ० प्र० रा० पृ० ५७–५६ प० सं० १ १०
५ उ० प्र० रा० पृ० ६३ ६४ प० सं० ४०
६ मा० १ ३३ ६ (उ) ७ ५२ २ (पू०)
७ मा० १ ३६ १ १०

यह बात दोनों कवियों को मान्य है।[१] "सकल बुद्धि मन सुद्ध हेत" एवं "निज गिरा पावनि करन कारन"[२] में कोई विशेष अन्तर नहीं है। "जिमि पिपीलिका सिन्धु को करत मनोरथ पार हित" और "जिमि पिपीलिका सागर थाहा। महामंद मति पावन चाहा।"[३] में प्रकरण भिन्न होने पर भी अर्थ की दृष्टि से कोई अन्तर नहीं है। ठीक इसी तरह विश्वामित्र का राजा दशरथ से राम-लक्ष्मण की याचना,[४] राम-लक्ष्मण सहित उनका मिथिला गमन,[५] राम-लक्ष्मण को देखकर जनक की प्रेम मुग्धता[६] राम-लक्ष्मण के द्वारा विश्वामित्र की सेवा[७] पुष्पवाटिका प्रसंग[८] वनगमन प्रकरण में केवट का प्रेम[९], भरत को वन आते देख लक्ष्मण की उग्रता[१०] चित्रकूट की सभा और उसमें राम-भरत संवाद[११] आदि प्रसंगों के जो महात्मा बनादास जी ने वर्णन किये हैं, उन पर रामचरितमानस का स्पष्टतः प्रभाव परिलक्षित होता है। इन स्थलों में कहीं कहीं तो मानस की शब्दावली का भी प्रचुर परिमाण में प्रयोग किया गया है और यत्र-तत्र थोड़ा परिवर्तन करके वहाँ की शब्दावली ग्रहण की गयी है।

तुलसी की तरह ही बनादास ने भी राम और शिव की एकता प्रतिपादित की है। तथा रामभक्त का लक्षण शिव के चरणों में निश्छल प्रेम बतलाया है।[१२] वस्तुतः शिव के इष्ट देव राम ही हैं और शिव से बढ़कर राम को प्रिय कोई नहीं है, मानस में निरूपित इस तथ्य की आवृत्ति बनादास जी ने भी की है।[१३] तुलसी की शब्दावली में "गणिका

---

१ मा० १ १३ १०
२ मा० १ १९१ ९
३ मा० १ १ ६
४ मा० १ २०७ ९ १ २०८ २ ५
उ० प्र० रा० पृ० १०७ प० सं० १००, पं० १ ४ तथा सवैया २
५ मा० १-२१२ १ ४
उ० प्र० रा० पृ० ११० ११ प० सं० २३
६ मा० १ २१६ १ ५
उ० प्र० रा० पृ० १११ प० सं० २६-२८
७ मा० १ २२६ १-८
उ० प्र० रा० पृ० ११५ प० सं० ५१ ५२
८ मा० १ २३१ २ ३ १ २३२ १ १ २३३ ७
उ० प्र० रा० पृ० ११४, प० सं० ४३ ४४
९ मा० २ १०० ३-२ १००
उ० प्र० रा० पृ० २११ प० सं० ७८-७९
१० मा० २ २२७ ६-२ २३१
उ० प्र० रा० पृ० २४२ ४३, प० सं० ७३-८३
११ मा० २ २९० २-२ ३०६
उ० प्र० रा० पृ० २५१ ५४, प० सं० ३१ ५३
१२ मा० १ १०४ ६
उ० प्र० रा० पृ० ८२ प० सं० ५९ पं० १, २
१३ मा० १ ३१ ८ (पू०) १ ३ ६ (पू०)
उ० प्र० रा० पृ० ८२, पं० सं० ६० पृ० ४४८ प० सं० ७७ पं० १४
'शिव सैमा स्वामि करहिं संकर की पूजा।
बार-बार प्रभु कहे नहीं भिन शिव सम दूजा॥

नाम जपे उलटे कवि आदि सो ब्रह्म समान प्रमाण धरी है।

—उ० प्र० रा०, प० ५५, प० सं० १४

(ज) एक अनीह अरूप अनामा। अज सच्चिदानन्द पर धामा॥
ब्यापक बिस्वरूप भगवाना। तेहिं धरि देह चरित कृत नाना॥
सो केवल भगतन हित लागी।

—मा० १ १३ १ ५ (पू०)

ब्रह्म सच्चिदानन्द निगम जेहि नेति निरूपा।

....

....

यह मनावास नर देह धरि भक्त हित किये बहु चरित॥

उ० प्र० रा० प० ९२, प० सं० २८

(झ) मुनि श्राप जो दीन्हा अति भल कीन्हा परम अनुग्रह मैं माना।

—मा० १ २११ ६

श्राप दीन हितकीन अनुग्रह मैं अति माना।

—उ० प्र० रा० प० ११० प० सं० २२

(ञ) धाए धाम काम सब त्यागी। मनहुँ रंक निधि लूटन लागी।

—मा० १ २२० २

त्यागि सबै गृह काज चले जनु जन्म के दारिद लूटन लोगा।

—उ० प्र० रा०, प० ११३, प० सं० १८

(ट) तात जनक तनया यह सोई। धनुष जग्य जेहि कारन होई।

—मा० १ २३१ १

तात जनक तनया सोई होत स्वयम्बर जासु हित।

— उ० प्र० रा० प० ११८ प० सं० ११

(ठ) कहुँ मनि सहित रहित मनु मारें। नाथ साथ जनु हाथ हमारें।

—मा० २ २२६.८

नाथ साथ जनु हाथ कहाँ तक कोउ रिस मारे।

—उ० प्र० रा० पृ० २४२ प० सं० ७१

(ड) भरतु हंस रबिबंस तड़ागा। जनमि कीन्ह गुन दोष बिभागा।

—मा० २ २३२ १

भरत हंस जय जनमि कीन्ह गुन दोष बिभागा।

—उ० प्र० रा० प० २५५, प० सं० ५१

(ढ) सीता मातु सनेह बस बचन कहइ बिलखाय॥

—मा० १ २५५ (उ०)

सीता मातु सनेह बस बचन कहे बिलखाइ तब।

—उ० प्र० रा० पृ० ४४, प० सं० १८

(ण) हानि कि जग एहि सम किछु भाई।
भजिअ न रामहि नर तनु पाई॥

—मा० ७ ११२ ५

करे न हरि को भजन हानि याते नहिं भाई।

—उ० प्र० रा०, प० ४६२, प० सं० २

(ग) एक भरोसो एक बल एक आस बिस्वास।

— दोहावली दो० २७७ (पू०)

एक भरोसा एक बल एक आस बिस्वास।

—उ० प्र० रा०, पृ० ४२३, प० सं० ७२ (प्रारम्भ एवं अन्त में)

(घ) सुनि सनेहु साने बचन बानी बहुरि नरेस ॥

—मा० १२१० (उ०)

सुनि सनेहु साने बचन हृदय हर्ष भव भेद मन।

—उ० प्र० रा०, पृ० ३११ प० सं० १

इस तरह उपयुक्त अध्ययन से तुलसी परवर्ती रामभक्ति शाखा की एक उत्कृष्ट कृति बनादास कृत उभय प्रबोधक रामायण पर रामचरितमानस की भक्ति का प्रभाव असंदिग्ध है।

१० "राम स्वयंवर

राम स्वयंवर के रचयिता रीवां नरेश महाराज विश्वनाथ सिंह के सुपुत्र श्री रघुराज सिंह जी हैं। इनका जन्म संवत् १८८० म और मृत्यु संवत् १९३१ म हुई।"[1] तुलसी परवर्ती शिवहरत राममक्त कवियों म महाराज रघुराज सिंह जी का अग्रगण्य स्थान है। वस्तुतः इन्हें अपने परम रामभक्त पिता से उत्तराधिकार के रूप म हो रामभक्ति प्राप्त हुई थी। गोस्वामी तुलसीदास जी की तरह ये भी दास्य निष्ठा के भक्त थे[2] और उन्हीं की तरह इन्होंने भी राम और कृष्ण दोनों अवतारों में अभेद प्रतिपादन करते हुए दोनों की साथ-साथ वन्दना की है।[3] रघुराज सिंह ने 'राम स्वयंवर' की रचना संवत् १९३४ म की थी।[4] यों तो इनकी भक्ति विषयक बहुत-सी कृतियाँ हैं[5] पर उनमें 'राम स्वयंवर निर्विवाद

१ हिंदी-साहित्य का इतिहास आचार्य शुक्ल, पृ० ४७८

२ 'दास की उपासना है आसना है और कछु जानो मोहिं दास मधुभाव अलबेला को।

—भक्ति विलास प० १ की अंतिम पंक्ति

३ (क) जय जय जय यदुवंश मणि यदु नन्दन जगदीश।
जयति जनार्दन जग जनक जानकीस मम ईस॥

—वही प० १

(ख) अवधेश कुमार बड़ो सुकुमार भलो बसुदेव कुमार तथा।
दोउ नाथ दयानिधि जानि परमो शरणागत में रघुराज सदा॥

—रघुराज-विलास भजन ११, प० ७

४ संवत सतइसौ चौतीसा।
पूरण भयो ग्रन्थ सुभ आगर। राम स्वयंवर नाम उजागर॥

—रा० स्व, प० ६७०

५ (क) 'ताते भाषा भागवत रच्यो स्वमति अनुसार।
रच्यो 'राम रंजन बहुरि, सब रस भवन प्रकाश॥

—रा० स्व०, प० ४

(ख) "भक्त अंबुधि ग्रन्थ सुपावन। मो मुख रच्यो पतित के पावन॥
मो रसना ते नाम ही निरमे ग्रन्थ रसाल॥

—रा० स्व०, प० ६७१-६७२

(ग) हिन्दी रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय प० ४७२

रूप से रामचरित-विषयक सर्वाधिक प्रसिद्ध कृति है। यह एक पद्यात्मक प्रबंधकाव्य है। इसके २१ प्रबंधों में से २२ में केवल बालकाण्ड की राम-कथा का ही वर्णन है। अंतिम प्रबंध में मानस के अयोध्या काण्ड से लेकर उत्तर काण्ड तक की राम कथा बड़ी तत्परता के साथ अत्यंत संक्षेप में कह डाली गयी है। ग्रन्थकार ने भगवान् राम एवं उनके भाइयों के विवाहोत्सव का बड़ा ही अतिरंजित एवं हृदयस्पर्शी वर्णन किया है और इसी के अनुरूप ग्रन्थ का नामकरण भी 'राम स्वयंवर' रखा है। महाराज रघुराज सिंह को अन्य प्रसंग में राम वन-गमन, सीता अपहरण, राम-रावण विग्रह आदि दुःखमूलक प्रसंगों की चर्चा अभीष्ट नहीं है। बालकाण्ड के पश्चात् की रामकथा में दुःखों के वर्णन का बाहुल्य है किन्तु नहीं वर्णन करने का आदेश उन्हें अपने गुरु से प्राप्त हुआ था। यही कारण है कि उन्होंने भगवान् राम के बाल चरित से संबद्ध रामकथा का ही सांगोपांग गायन किया है।[1] इस ग्रन्थ की रचना का कारण बताते हुए ग्रन्थकार ने काशीनरेश महाराज ईश्वरी प्रसाद नारायण सिंह जी के यहाँ होने वाली रामलीला[2] तथा उक्त महाराज की आज्ञा से प्रेरणा प्राप्त करने की यों चर्चा की है—

काशिराज तब मोहि बुलाई। भाख्यो सकल हेतु समुझाई॥
तुलसीकृत महँ अति संक्षेपा। कहु समि करी अधिक परिलेपा॥
ताते रचहु ग्रन्थ यक ऐसी। तुलसीकृत रामायण जैसी॥
युक्ति युक्ति गोस्वामी केरी। बाल्मीकि की रीति निबेरी॥
मैं तब कह्यो परम सुख मानी। ग्रन्थ रचौं तव कृपा महानी॥[3]

उपर्युक्त उदाहरण से स्पष्ट है कि महाराज काशीनरेश ने उन्हें बाल्मीकि और तुलसी दोनों से सहायता लेकर राम स्वयम्बर का निर्माण करने का आदेश दिया था। यहाँ तक कि बाल्मीकीय रामायण से सहायता लेते हुए उक्ति युक्ति तुलसी के मानस की ही आज्ञा थी। इसी आज्ञा का महाराज रघुराजसिंह ने सुख पूर्वक शिरोधार्य किया था और

---

१ (क) मैं असमर्थ नाथ दुख गाथा गावन में सब भाँती।
बिरह बिपति व्यथा बर्णत में रसना रहि रहि जाती।
बहुरि स्वामिनी हरन महादुख बरनि जाइ कहु कैसे।
पुनि बियोग जग जननि नाथ को गावत कथन अनैसे॥
ताते मम हरि गुरु निषेध किय बालकाण्ड भरि पाठा।
करहु तजहु दुख कथा यथा ते भुव सुख स्वागत माठा॥
ताते राम स्वयम्बर गाथा रचन चाव उर आई॥
रघुपति बालचरित बिवाह उछाह देहुँ मैं गाई॥

—रा० स्व० पृ० ५

(ख) गुरु निदेश मोहि पाठ करन को बाल काण्ड पर्यन्ता।
ताते बालकाण्ड बिस्तृत मैं बिरचौं कथा सुसन्ता॥

—रा० स्व० पृ० ४६

२ रा० स्व० पृ० २१६, पृ० २१५

रा० स्व०, पृ० ६१६

अपने दरबार के अनेक कवियों से सहायता लेकर इस ग्रन्थ की रचना की थी।[1] राम स्वयम्वर एक वृहद् ग्रन्थ है। वह एक महाराज रघुराजसिंह की ही नहीं बरन् उनके दरबार के उद्भट विद्वानों की भी कृति है। इससे स्पष्ट है कि तत्कालीन छोटे-बड़े सभी साहित्यिक तुलसी के मानस से पूर्णतया प्रभावित थे। यथार्थ में 'मानस' के बाद रामचरित सम्बन्धी 'मानस के जितने भी अनुकरण हुए हैं उनमें राम स्वयम्वर का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। इस ग्रन्थ पर केवल तुलसी का ही नहीं किन्तु वाल्मीकि व्यास एवं सूर के काव्यों का भी प्रभाव है। जैसा कि कवि ने स्वयं स्वीकार किया है—

उक्ति युक्ति तुलसीकृत केरी और कहाँ मैं पाऊ।
बाल्मीकि अरु व्यास गोसाईं सूरहि को शिर नाऊ॥[2]

पर इतना निर्विवाद रूप से सत्य है कि यह ग्रन्थ वाल्मीकि एवं तुलसी के काव्यों से ही सर्वाधिक प्रभावित है।[3] अपने ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही कवि ने तुलसी की जयध्वनि करते हुए उनकी रामायण के अमोघ प्रभाव को स्वीकार किया है[4] और उनका हवाला देते हुए सर्वत्र ही वाक्यावली में उनके विचारों को उद्धृत किया है।[5] मानसकार की तरह

---

१ विद्या गुरु रामानुज दासा। जासु अवधपुर सदा निवासा॥

— — — — —

.. — ... — —

सब जुरि मिलि यह ग्रन्थ बनायो। राम कृपा मम नाम लिखायो।
—रा० स्व० पृ० १७० पं० ११—पृ० १७१ पं० ६

२ रा० स्व० पृ० ९

३ (क) ताते तुलसीकृत कथा रचित महर्षि प्रबन्ध।
विरचौं उभय मिलाइके राम स्वयंवर बन्ध॥
—रा० स्व० पृ० ६७

(ख) वाल्मीकि तुलसी की गाई। रच्यो रीति सोइ करत बिड़ाई।
—रा० स्व० पृ० ११८

(ग) तुलसीदास भाषा रामायण रच्यो सन्त सुखदाई।
महा मनोहर जासु प्रसादक संमत वेद सदाई॥
जहँ तहँ तासु प्रबन्ध भी ताहू के अनुसार।
राम स्वयम्वर रचहुँ मैं करम ब्याह विस्तार॥
—रा० स्व० पृ० ४९

(घ) रा० स्व०, पृ० ४९ पंक्ति १-२

४ 'जय जय तुलसीदास रामायन जिन निर्मयो॥
जासु प्रभाव प्रकाश रसिक होत बांचत श्रवन॥
—रा० स्व० पृ० १

५ 'तुलसीदास को समत सोऊ कीन्हो ग्रन्थ बखाना।
तीन जन्म लगि भयै असुर दोउ सो द्विज वचन प्रमाना॥
—रा० स्व० पृ० १८

सुकृत न भये हते भगवाना। तीनि जनम द्विज बचन प्रवाना॥
—मा० १ १२१ १

राम स्वयम्वर ने भी गणेश, सरस्वती एवं मह की वन्दना की है[1] और सत्संग[2] तथा भगवान के नाम रूप, लीला धाम[3] पर बल दिया है। तुलसी की तरह उन्होंने भी सप्तक धाम्नों म बार-बार सरयू एवं अयोध्या की महिमा का प्रतिपादन किया है[4] और अपनी यह आस्था व्यक्त की है कि इस महाघोर कलिकाल म ससार-सागर का पार करने के लिए भगवन्नाम के अतिरिक्त अन्य कोई आधार नहीं है।[5] उन्ही की तरह अपनी विनम्रता प्रदर्शित करते हुये उन्होंने भी कहा है—

> नहि जानों कछु छन्द गति, नहि साहित्य संयोग।
> नहि शास्त्रन सम्बन्ध कछु, तापर प्रश भव रोग ॥[6]

रामचरितमानस नाम की महिमा के सम्बन्ध म तुलसी ने लिखा है—

> रामचरितमानस एहि नामा। सुनत श्रवन पाइअ बिश्रामा ॥[7]

अपने राम स्वयंवर के सम्बन्ध में रघुराजसिंह भी कहते है—

> याको नाम स्वयंबर नामा। अद्भुत सुनत पूरत मनकामा ।[8]

अपनी रचना के सम्बन्ध म मानसकार ने कहा है कि—

> छमिहहिं सज्जन मोरि ढिठाई। सुनिहहि बाल बचन मन लाई ॥[9]

राम स्वयंबरकार भी कहते हैं—

> छमी रसिकजन मोरि ढिठाई। करी प्रनाम चरन सिर नाई ॥[1]

---

१ रा० स्व० पृ० १ पं० २ ११ प २ पं० १ १

२ जो कछु होय भलो कबहुँ सो प्रभाव सत्संग ॥

—रा स्व० पृ० ६७१

३ नारायण को रूप नाम अरु लीला धाम सुहावन।
तिनको गाइ ध्याइ जग के जन रहत परम पद पावन ॥

— — — — —

—रा स्व पृ २

४ रा० स्व पृ ६ प० १६ २ पृ० ८ प ३ पृ० ६, प० १७
प १३ दो —अवधपुरी मधवसतो निरखत मयन सानि।
मृ बैकुंठ पिरामतो को कहि सके बखानि ॥
पृ १३ प २१ २६ प १४ पं० १-२

५ महाघोर कलिकाल मह भो सम अघी अनेक।

— — — —

जो ऐसे कलि क समय केवल नाम अपार।
बोलहु निज मुख ते सकत पीसत पाप पहार ॥

—रा० स्व० प० १०१ १ ४

६ रा स्व० प० १०८
द्रष्टव्य—मा १ ६ ८ ११

७ मा १ ३५ ३

८ रा स्व प० ६६८

६ मा० १ ८ ८
रा० स्व० प० ६६८

जिस प्रकार तुलसी ने मानस के उत्तर काण्ड में संक्षेप में सम्पूर्ण रामकथा का वर्णन किया है,[1] उसी प्रकार राम स्वयंवर के धनुष प्रबन्ध में रघुराज सिंह ने भी।[2] इसी प्रकार इस ग्रन्थ में राम जन्म[3] नामकरण उत्साह[4] बाल-लीला[5] विश्वामित्र के द्वारा राम-लक्ष्मण की याचना पर राजा दशरथ की अधीरता[6] अहल्या-उद्धार[7] राम-लक्ष्मण को देखकर जनक

---

१ मा० ७ ९४ ७-७ ९८ ७
२ रा० स्व०, पृ० ५६ पृ० १८ पृ० ६० प० ११
३ मा० १ १९१ १ १ १९२
रा० स्व पृ० ७१ ७२ कवित्त १ ३ पृ ७३ कवित्त २
पृ ७३ प० २०-पृ० ७४ प० २४—
'जबकल सुनैना मंजुल बैना इन्द्र मय भना शुभचारी —

बालक हर्ष रोवन लगे सुरपालक निस्वाक।
४ मा १ १९७ २ १ १९७
रा० स्व पृ० ९१ प० १७-पृ० ९२ प० १५—
'पुनि वशिष्ठ पद परसि भूतमनि बिनकरी कर जारी।

चौथ सुत नृप रावरो, लहै शत्रुहन नाम ॥
५ मा० १ १९८ १ १९९ १ २०१ ५ १
रा० स्व० पृ १११ कवित्त—
याकी आदि अनत समाधि को लगाइ ध्यावैं पाव नहि साधन अनेकन करत है।

सोई रघुराज आज अवध अधीश पू क अजिर मे धूरि धूमरित बिहरत है॥
६ मा १ २०८ २ ५—
चौथेपन पायउ सुत चारी। बिप्र बचन नहि कहेहु बिचारी॥

सब सुत प्रिय मोहि प्रान कि नाईं। राम देत नहि बनइ गोसाईं॥
रा० स्व पृ० १७५ कवित्त—
चौथेपन पायौं पुत्र चारि रावरे की कृपा, मांगा मुनिराज नहिं
बचन बिचारि के॥

मानै रघुराज नेह सब पे समान मेरो तदपि जियौंगा कैसे राम
को निकारि के।
७ मा० १ २१० १ २११ १ १ २११
रा० स्व० पृ २११ प० ११ १४ प० २१ २४ पृ ११४ प० १ १८-
पृ० २१५ प० १८ ११

(क) जेहि प्रकार सुरसरि महि आई ॥

—मा० १ २१२ २ (उ०)

.... जिमि सुरसरि महि आई ।

—रा० स्व० पृ० २७ प० ४

(ख) सूपनखा जिमि कीन्हि कुरूपा ॥

—मा० ७.११ १ (उ०)

सूप नखा कुरूप जिमि कीन्ह्यो ....

—रा० स्व० पृ० २८ प० ४

(ग) सखें सप्रेम बिनीत अति सकुच सहित दोउ भाय ।
गुरु पद पंकज नाइ सिर, बैठे आयसु पाय ॥[1]

—रा० स्व० पृ० १९९

(घ) राजत राज समाज मधि, कौसल राज किसोर ।
सुन्दर स्यामल गौर तनु, बिस्व बिलोचन चोर ॥[2]

—रा० स्व० पृ० १८८

(ङ) भरे बिलोचन प्रेम जल पुलकावली सरीर ।[3]

—रा० स्व०, पृ० ४१७ प० ११

राम स्वयंवर पर 'मानस' की भक्ति का इतना प्रचुर प्रभाव है कि उसका और अधिक विवेचन करना निबंध के कलेवर में अवांछनीय विस्तार लाना होगा। अतः अब नीचे 'मानस' एवं 'राम स्वयंवर' की कतिपय समानान्तर पंक्तियाँ उद्धृत करके ही अवशिष्ट प्रभाव की ओर इंगित करा देना पर्याप्त होगा—

(क) तेहि अवसर भंजन महि भारा । हरि रघुबंस लीन्ह अवतारा ॥

—मा० १ ४८ ७

प्रभु अवतरेउ हरन महिभारा ॥

—मा० १ २०१ १ (उ०)

अवनि उतारन भार को हरि लीन्हो अवतार ।

—रा० स्व० पृ० ५

(ख) निज लोकहि बिरंचि गे देवन्ह इहइ सिखाइ ।
बानर तनु धरि धरि महि हरिपद सेवहु जाइ ॥

—मा० १,१८७

तब सब देव बोलाइ कै कह्यो बचन सुखारि ।
... ...
... ...

---

१ मा० १ २९९
२ मा० १ २४२
३ मा० १ २६७ (उ)

तुम सब तासु मराल हंस हित धरहु कवित अवतारा ॥

—रा० स्व०, पृ० ४२

(ग) जब जब होइ धरम कै हानी । बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी ॥

— —

तब तब प्रभु धरि बिबिध सरीरा । हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा ॥

—मा० १ १२१ ६-८

जब जब होती धर्म गलानी तब हरि धरि अवतारा ।
प्रगटत पावन चरित चारु जग हरत भूमि कर भारा ॥

—रा० स्व०, पृ० ६८ ६६

(घ) उपरोहित्य कर्म अति मन्दा । बेद पुरान सुमृति कर निन्दा ॥
जब न लेउँ मैं तब बिधि मोही । कहा लाभ आगे सुत तोही ॥

—मा० ७ ४८ ६ ७

उपरोहिती कर्म अति निंदित यद्यपि होत जगमाहीं ।
तदपि आज मोहिं भयो सफल पद मो सम दूसर नाहीं ॥

—रा० स्व०, पृ० ११

(ङ) गुरु गृहँ गए पढ़न रघुराई । अलप काल बिद्या सब आई ॥

—मा० १ २०४ ४

थोरे कालहिं में रघुनन्दन भ्रातन सहित समेतू ।
वेद शास्त्र पढ़ लियो कियो पुनि गुरु वसिष्ठ कुलकेतू ॥

—रा० स्व० पृ० १५१

(च) परसत पद पावन सोक नसावन प्रगट भई तप पुंज सही ।
देखत रघुनायक जन सुखदायक सनमुख होइ कर जोरि रही ।
अति प्रेम अधीरा पुलक सरीरा मुख नहिं आवइ बचन कही ।

— — —

— —

— —

बिनती प्रभु मोरी मैं मति भोरी नाथ न मागउँ बर आना ।
पद कमल परागा अति अनुरागा मम मन मधुप करै पाना ॥

—मा० १ २११ १ १२

परसत पद पावन पाप नशावन पावन पतित होत छन में ॥
देखत रघुनायक जग सुखदायक नायक होत देवगण में ॥
अति प्रेम अधीरा पुलक शरीरा धरि उर धीरा बचन कही ॥

— —

— —

— — — — — — —

बिनती प्रभु मोरी मैं मति भोरी भोरी मम बिसराई ॥
निज पद रति दीजै दासी कीजै छीजै तनु सेवकाई ॥

—रा० स्व०, पृ० २१४

(ङ) स्याम गौर मृदु बयस किसोरा । लोचन सुखद बिस्वचित चोरा ॥
उठे सकल जब रघुपति आए । बिस्वामित्र निकट बैठाए ॥

—मा० १ २१५ ३ ६

लोचन सुखद बिस्वचित चोरन बय किशोर अति सुन्दरताई ।
उठी समाज राज सुत देखत मुनि निज निकट लियो बैठाई ॥

—रा० स्व० प० १११

(च) बिप्र काजु करि बंधु दोउ मग मुनि बधू उधारि ।

—मा० १ २२१ (पू०)

बिप्र काज करि बन्धु दोउ, आये नगर बिदेह ॥

—रा० स्व० प० १२२

(छ) निसि प्रबेस मुनि आयसु दीन्हा । सबहीं संध्याबंदनु कीन्हा ॥

—मा० १ २२६ १

संध्या समय बिचारि मुनि, आयसु दीन उदार ।
नित्यनेम संध्या करहु श्री अवधेस कुमार ॥
मुनि आसन सुनि कुंवर दोउ, अयुत मुनिन समाज ।
संध्या बन्दन सविधि तहँ किये युगल रघुराज ॥

—रा० स्व० प० १२६

(ज) स्याम गौर किमि कहौं बखानी । गिरा अनयन नयन बिनु बानी ॥

—मा० १ २२६ २

साँवरो सुन्दर एक मनोहर दूसरो गौर किशोर सुखारी ।
.. .... — ..

....

नैन बिना रसना रसना बिन नैन कहौ किमि जाय उचारी ॥

—रा० स्व० प० १५३ ५४

(ट) लता भवन तें प्रगट भे तेहि अवसर दोउ भाइ ।

—मा० १ २३२ (पू०)

दोउ दसरथ लाल लता भवन ते प्रगट भे ॥

—रा० स्व० प० १६१

(ठ) मनु जाहिं राचेउ मिलिहि सो बरु सहज सुन्दर साँवरो ।
करुना निधान सुजान सीलु सनेहु जानत रावरो ॥

—मा० १ २३६ ६ १०

गौरि कह्यो पुनि कुंवर साँवरो । सील नेह सब जानि रावरो ॥
सो करुना निधान जग जाना । तिहि समान को आन सुजाना ॥

—रा० स्व० प० १७३

(ड) जिन्ह कें रही भावना जैसी । प्रभु मूरति तिन्ह देखी तैसी ॥

—मा० १ २४१ ४

> जाकी जैसी भावना रही मनों लिखि सार।
> ताको तैसे लखि परे, दास [illegible] न भार॥
>
> —रा० र० पृ० ३८६

(६) [illegible] ॥

—मा० १ २५८.१

> [illegible]।
> [illegible] राम [illegible] ॥
>
> —रा० र०, पृ० ४१६

११ "राम रसायन"

"राम रसायन" तुलसी परवर्ती रामभक्ति शाखा का एक अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण प्रबन्ध काव्य है। इसके प्रणेता जानकीप्रसाद जी हैं।[1] ये अयोध्या के कनक भवन के महन्त थे। इन्होंने अपनी कविता में अपना नाम "रसिक बिहारी" या 'रसिकेश' लिखा है।[2] इनका जन्म सम्वत् १९०१ में हुआ था।[3] यों तो रामचरित पर इनके रचित बहुत से ग्रन्थ हैं[4] पर उनमें सर्वाधिक प्रसिद्ध "राम रसायन" ही है। यही इनकी अन्तिम कृति है और इसकी रचना इन्होंने संवत् १९३९ में की।[5] इसमें कवि ने सम्पूर्ण राम कथा का वर्णन किया है पर शृंगारमूलक प्रसंगों के वर्णन में ही उसकी वृत्ति विशेष रमी है। यही कारण है कि ऐसे प्रसंगों का सविस्तार एवं अन्यान्य प्रसंगों का संक्षिप्त वर्णन किया गया है। यह प्रबन्ध आठ विधानों में विभाजित है। ग्रन्थकार के ही शब्दों में—

> "राम रसायन के विरच हुरी आठ विधान॥
> प्रति विधान सुविभाग बहु यथा योग अनुमान॥
> निर्णय१ जन्म२ बिवाह३ वन४ अरु बिभीषण५ पुनि युद्ध॥६
> वर अभिषेक७ बिहार८ ये आठ विधान विशुद्ध॥[6]

यथार्थत इस काव्य में रामभक्ति की शृंगारी प्रवृत्तियों का प्राचुर्य है। "रसिक बिहारी" जी रसिक सम्प्रदाय के महात्मा हैं। उन्हें एकमात्र अपनी सिया स्वामिनी के चरण कमलों का ही अवलम्ब है।[7] उनकी दृष्टि में उपासना की जो पाँच विधियाँ हैं उनमें शृंगार का ही प्रथम एवं मुख्य स्थान है।[8] यही कारण है कि उन्होंने अपने इस ग्रन्थ के

---

१ राम रसायन पृ० ५ चौ० १२ (उ०)
२ वही चौ० १४
३ 'चन्द्र१ अकास० नन्द९ महि १ जानी।
सो विक्रम को संवत मानी॥
—रा० र० पृ० ४ चौ० २० (पू०)
४ रा० र०, पृ० २ दो० १४ १५ तथा पृ० ३
५ रा० र० पृ० २ पृ० सं० ११ तथा पृ० ३
६ रा० र० पृ० ६ दो० ११ १२
७ रा० रा० पृ० ४५५ पृ० सं० ११ पृ० ४२६, पृ० सं० १८ १९
८ सो उपासना पंच विधि मुख्य प्रथम शृंगार॥
सख्य दास्य वात्सल्य पुनि है ऐश्वर्य विचार॥
—रा० र० पृ० ४६२ दो० ६

ग्राम वधू विलाप वर्णन,[1] 'ग्रामवधु स्नेह कथन वर्णन,[2] सीता हरण पर राम द्वारा प्रेम की व्याख्या,[3] सुग्रीव द्वारा सीता के आभूषण दिखाये जाने पर राम के उद्गार,[4] सीता के विरह में व्याकुल होकर राम का विलाप[5] अष्टयाम झोला[6] हिंडोल विहार[7] एवं षड् ऋतुओं के अनुसार विरह-वर्णन[8] आदि प्रसंगों में रसिक सम्प्रदाय की साधना के सिद्धान्तों को मुखरित करने का सक्षम प्रयास किया है। अपने काव्य में इस तरह की शृंगारी भाव भावों की योजना करते हुए भी कवि में हम जो एक संयम का प्रवाह पाते हैं, वह निश्चय ही रामचरितमानस की भक्ति का प्रभाव है। इस ग्रन्थ में कहीं भी राम-सीता की शृंगारिक भावनाओं में ऐन्द्रिकता का समावेश नहीं हुआ है और सर्वत्र भक्ति की मर्यादा अक्षुण्ण रही है। उदाहरणार्थ राम के राजसिंहासन पर आरूढ़ होने के पश्चात् राम-सीता के विलास वर्णन सम्बन्धी निम्नांकित पंक्तियाँ उद्धृत की जा सकती हैं—

> "ग्रीष्म ऋतु कबहुँ बस विहरें लखन सहित रघुबीरा ॥
> कबहुँ रहसि सरयू मधि सिवसुतरम सखिन की भीरा ॥
> कबहुँ सुमन कुंज महँ राम कहुँ गभीर गुहमाहीं ॥
> दशरथ सुत अरु जनक नन्दिनी इमि सानन्द बिलसाहीं ॥"[9]

इतना ही नहीं कवि ने जो राम-वन-गमन प्रकरण में 'ग्रामवधु स्नेह कथन वर्णन' प्रसंग की अवतारणा की है, उसकी पुष्टि उन्होंने 'रामचरितमानस' की पंक्तियों से ही की है।[10] जहाँ मानसकार ने उस प्रसंग की ओर व्यंग्यात्मक ढंग से संकेतमात्र किया है, वहाँ राम रसायनकार ने उसका अभिधात्मक रूप में विस्तृत वर्णन प्रस्तुत कर दिया है।

इस काव्य के प्रणयन में कवि ने संस्कृत एवं भाषा के अनेक पूर्ववर्ती ग्रन्थों से भाव ग्रहण किया है।[11] अपने ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही उन्होंने सभी प्रमुख आधार ग्रन्थों का नामोल्लेख किया है।[12] इसी क्रम में ग्रन्थकार ने यह भी स्वीकार किया है कि उन्होंने तुलसीकृत सभी

---

१ रा० र० प० १८७ १६१ छं० १-८१
२ वही, प० १६१ १६८ छं० १ ४०
३ वही प० २४४ प० सं० ७१-८०
४ वही प० २६६ प० सं० ३०-३२
५ वही प० ३८६ प० सं ३४ ४१
६ रा० र०, प० ५०२ ५०६, प० सं० १-८६
७ वही प० ५१४ ५२० प० सं० ५३-१०४
८ वही प० ५३०-५३७ प० सं० १७-७४
९ रा० रा० प० ५३० छंद ६
१० ।।तुलसीकृत रामायणे अयोध्याकांडे ।
   चौ सीता लखन सहित रघुराई । ग्राम निकट जब निसरहिं जाई ॥
      सुनि सब बालवृद्ध नर नारी । चलहिं तुरत गृह काज बिसारी ॥
      नारी सनेह बिकल सब होहीं । चकईं साँझ समै जनु सोहीं ॥"
                  इत्यादि ॥   रा० र० प० १६८ छन्द ४० के बाद
११ रा० र० प० ६ सो० १० प० ११ चौ० ३१ (पू०)
१२ वही प० ७, चौ० २१ ३०

ग्रन्थों का अवलोकन किया है।[1] उन्होंने स्थल-स्थल पर अपने कथानक को पुष्ट करने के लिए अनेक सहायक ग्रन्थों के उद्धरण भी दिए हैं[2] किन्तु यह निर्विवाद रूप से सत्य है कि उनकी शैली, शब्दावली और भाव पर तुलसी के मानस का ही विशेष प्रभाव पड़ा है। "मानस का यह प्रभाव इस ग्रन्थ के प्रारम्भ से ही परिलक्षित होने लगता है। उदाहरणार्थ अपनी विनम्रता प्रदर्शित करते हुए तुलसी कहते हैं—

कवि न होउँ नहिं बचन प्रबीनू। सकल कला सब बिद्या हीनू ॥[3]

— ... ..

!

.. —

कवि न होउँ नहिं चतुर कहावउँ। मति अनुरूप राम गुन गावउँ ॥[4]

तो रसिक बिहारी जी भी कहते हैं—

नहिं कबिहौं कोबिद नहीं नहीं कछु गुनमन्त।
हरिदासन को दास हौं कृपा करत सब सन्त ॥[5]

आगे चलकर रसिक बिहारी कहते हैं—

पै निज बुधि भरोस नहिं आवै। स्वमंदता हिय सकुचावै ॥
याते सब सज्जन समुदाई। दीन जानि क करो सहाई ॥[6]

.. ..

याते बिनय करौं कर जोरी। क्षमियो सकल ढिठाई मोरी ॥[7]

वस्तुतः उपर्युक्त पंक्तियाँ मानस की इन पंक्तियों—

'निज बुधि बल भरोस मोहि नाहीं। तातें बिनय करउँ सब पाहीं।
करन चहउँ रघुपति गुन गाहा। लघुमति मोरि चरित अवगाहा ॥[8]

— — ... .

.. .... — ..

छमिहहिं सज्जन मोरि ढिठाई। सुनिहहिं बालबचन मन लाई ॥[9]

से सर्वथा प्रभावित हैं। रामचरित की अपारता को दोनों कवियों ने एक स्वर से स्वीकार

---

१ वही प० ७ चौ० २८ (उ०)—— 'तुलसीकृत २२ सब ग्रन्थ निबेरी ॥
२ वही प० १४ चौ० २
३ मा० १ ६ ८
४ मा० १ १२.६
५ रा० र० पृ० ३ दोहा १६
६ वही पृ० ११ चौ० १६
७ वही चौ० ५७ (पू०)
८ मा० १ ८ ४ ५
९ मा० १ ८ ८

किया है[1] तथा अपने-अपने ग्रन्थ के अध्ययन श्रवण एवं हृदयंगम से होने वाले लाभ का भी प्राय एक ही समान वर्णन किया है।[2] मानसकार का यह अनन्य विश्वास है कि—

मारद दारु नारि सम स्वामी। रामु सूत्रधर अंतर जामी॥
जेहि पर कृपा करहिं जनु जानी। कबि उर अजिर नचावहिं बानी॥[3]

राम रसायनकार ने उसी विश्वास को यों मुखरित किया है—

रघुबर प्रेरित शारदा, आय बसी हिय धाम॥
सोई वर्णन करत है सिय सियपति गुण ग्राम॥[4]

इसी प्रकार तुलसी की तरह ही इस ग्रन्थ के प्रणेता ने भी भगवान के नाम रूप लीला, धाम पर काफी बल दिया है[5] और अयोध्या[6] सरयू[7] एवं अयोध्या तथा चित्रकूट वासियों[8] की महिमा का जोरदार शब्दों के गायन किया है। गोस्वामी जी के ही समान 'रसिक बिहारी' जी ने भी सन्त गुरु ब्राह्मण एवं सत्संग के प्रति अपनी अद्भुत आस्था व्यक्त की है[9] और इस ग्रन्थ के अनेकानेक स्थलों पर भगवान राम के नाम की अपार महिमा घोषित की है।[10] उनका स्पष्ट कथन है—

अति समर्थ सियराम सों होहिं भक्ति आधीन।
भक्ति नाम आधीन है, नाम सुगुरु आधीन॥
गुरु सतसंग अधीन है, संग सुभाग्य अधीन॥
भाग्य होत बहु जन्म के के पति कर्म मलीन॥
सो सुभाग्य सो जो बड़ो, सो सुभाग्य सुखधाम॥
तो अनन्य दृढ़ नेमसे सुमिरे सीताराम॥[11]

---

१ मा १।११६ ११०।१ ७।५२२
रा० र० पृ० ५ सो १ पृ० ४३ दो० १२४ (पू) पृ० १०९ दो० १७
पृ १७ दो ७२ पृ० १०८ प० सं० ८२-८४
२ मा ११११०।११
रा र० प० ११ चौ० ४९ ५२ प० १०८ चौ० ८७
३ मा० ११०५.५६
४ रा र० पृ० ११ दो० ६१
५ वही पृ० १४ दो० ७९, पृ० १०९ दो० ९५
६ वही पृ० १२ दो ११ १७ पृ० १६ चौ० १४ (पू०), पृ १७ दो० ४०
पृ० ४१७ प० सं० २८ पृ० ४६१ दो० २१ पृ० ६ ३ दो० ५२ ५४
७ वही पृ० १२ १३ प० सं० १८-७२ पृ ४३७ प० सं २८ पृ० ४६१
दो० २१ पृ ६०५, दो० ५२
८ वही पृ० १३ दो ७३-७४ पृ० २ ० दो० १७
९ वही पृ १४ चौ० ३ (पू०) पृ० १६ चौ० ४ (उ०) पृ ४६६ दो ५५ (पू)
पृ ६१६ दो० ७७
१० वही पृ ४५ दो० १२४ पृ १४१ प सं० २० प ४६१ प० सं ११ १२
प० ४६६ ४६६ प सं० ३०-७१ प० ४७२ प सं० १०५
११ वही० प ४६१ दो २५-२७

इतना ही नहीं राम रसायन में रामावतार के हेतु,[1] भगवान का प्राकट्य[2] विश्वामित्र का अयोध्या आकर राजा दशरथ से राम-लक्ष्मण की याचना[3] राम-लक्ष्मण को देखकर जनक की प्रेम-मुग्धता[4] पुष्पवाटिका निरीक्षण,[5] पार्वती-पूजन,[6] धनुष यज्ञ वर्णन[7] परशुराम प्रसंग,[8] राम राज्याभिषेक[9], राम-कैकयी तथा राम-दशरथ संवाद,[10] राम-वन गमन के समय लक्ष्मण राम-संवाद,[11] सुमित्रा-लक्ष्मण-संवाद,[12] नगरवासियों की विकलता[13] मार्गवासियों का प्रेम[13] राम-वाल्मीकि-संवाद,[14] भरत-कौशल्या-संवाद,[15]

---

१ मा० १ १२१ २ ८
रा० र० पृ० २१, चौ० २
२ मा० १ १९१ १–१ १९६
रा० र०, पृ० १२ १४ प० सं० २० १४ (पू०)
३ मा० १ २०६ २–१ २०८ (क)
रा० र० पृ० ८४-८५ चौ० १ (उ०)—२६
४ मा० १ २१६ १ ५
रा० र०, पृ० ९० प० सं० ४
५ मा० १ २२७ १–१ २३५ ३ १ २३७ १ ४
रा० र , पृ० १०४ ११५ प० सं० १ १२७
६ मा० १ २३५ ४–१ २३६
रा० र० पृ० ११५ १६, प सं० १२८ १३३
७ मा १ २४ ५–१ २४१ ४ १ २४४ १ २५५ ६–१ २५७ ८
रा० र०, पृ० ११७ दो० ४-९, पृ० ११८, प सं० १७-२२
८ मा० १ २६८ २–१ २८५ ७
रा० र० पृ १२३ १२९ प० सं० १ ५०
९ मा० २ २–२ १० ३
रा० र० पृ० १५७-५८ प सं० ३ १०
१ मा० २ ४१ ७-८ २ ४२ १ २ ४४ १-५ २ ४६ ३ ४
रा र० पृ० १५९ प० सं० २६ ११
११ मा २ ७२ ४ ८
रा० र०, पृ० १६५ प० स० ८५
१२ मा० २-७४ २ ४
रा० र० पृ० १६८ चौ० १ ७—

अस कहि समाय कही समि ताता । राम सीय सुख सुई पितु माता ।।
जासु संग सेवौ सतभाये । सुनि सिर नाय लषण उठि धाये ।।

१३ मा० २ ८३ ३ ३—

'चलत रामु भयि अवध अनाथा । विकल लोग सब लागे साथा ।।

रा र० पृ० १७० दो० ११४ ११५ पृ १७१ चौ० १७७—
चले राम सब पुर नर नारी । कारत रुदन घोर चहुँ भारी ।।

१४ मा० २ ११४ १–२ १२२
रा र० पृ० १७६ दो० १-८ पृ १८० प ० ३४४
मा० २ १२६ १–२ १३२ ३
रा० र० पृ १९९, प सं० ७-१०
१५ मा० २ १६७.५–२ १६८
रा० र०, पृ० २०४, प० सं० ४७-४८

चित्रकूट प्रसंग,[1] भरत द्वारा नन्दि ग्राम में कठोर तपस्या और राजसिंहासन पर चरण पादुका की स्थापना[2], शरभंग-प्रसंग,[3] मारीच रावण-संवाद[4] शबरी की प्रेम-विह्वलता,[5] जाम्बवंत-हनुमान्-संवाद[6] सीता-हनुमान-संवाद,[7] रावण-हनुमान-संवाद,[8] विभीषण का राम की शरण के लिए प्रस्थान और शरण प्राप्ति[9] राम द्वारा रामेश्वर की स्थापना[10] कुम्भकर्ण

---

१ (क) मा० २ २०१ १७ २ २११ ४-७
रा० र० प० २०५ चौ० १४ १६
(ख) मा० २ २८० १–२ २९०
रा० र०, प० २०७ चौ० ११
(ग) मा २ २५८ २ ५ २ २६४ २ २९६ १-८
रा० र० पृ० २०८ दो० ५१ ५३
(घ) मा० २ ३१६ ४—
प्रभु करि कृपा पाँवरी दीन्ही । सादर भरत सीस धरि लीन्हीं ॥
रा० र० पृ० २०८, दो० ५८—
तब प्रमुदित ह्वै राम सिय, चरण पादुका दीन ॥
करि प्रणाम सो प्रीति युत भरत शीश धरि लीन ॥
२ मा २ ३२३–२ ३२४ ३ २ ३२५
रा० र०, पृ २०९, दो० ६७-६८ पृ० २१० दो० ७४
३ मा० ३ ७ ८–३ ९ १—
अस कहि जोग अगिनि तनु जारा । राम कृपा बैकुण्ठ सिधारा ॥
रा० र०, पृ० २१७ प० सं० ११ १७—
जोगानल तनु दाह करि, गये विष्णु के लोक ॥
४ मा० ३ २५ १–३ २६ ७—
उभय भाँति देखा निज मरना । तब ताकिसि रघुनायक सरना ॥
रा० र०, पृ० २२५ प० सं० १२ १५—
तब मारीच चलो गुनि छाया । मरण भला रघुवर के हाथा ।
५ मा० ३ ३४ ६ ३ ३५ ४ ३ ३६ १४ १५
रा० र० पृ० २५२ २५३ प० सं० १६ (ठ) — ४३ पृ० २५६ चौ० ७५ ७६
६ मा० ४ ३० १ ११
रा० र पृ २७३, प० सं० ७३ ७८
७ मा ५ १६ १ ६ ५ २७ १ २
रा० र० पृ २८७ प० सं० १२७ १३३ (पू०)
८ मा० ५ २२ ७ ५ २४ ६ (पू०)
रा० र० पृ० २९४ ९५, प० सं० ५५ ६०
९ मा० ५ ४१ ५ ४८
रा० र पृ ३१५ ३२१ प० सं० १ २४
१० मा० ६ २ ३ ६ ३ ४
जे रामेस्वर दरसनु करिहहिं । ते तनु तजि मम लोक सिधरिहहिं ॥
जो गंगाजलु आनि चढ़ाइहि । सो साजुज्य मुक्ति नर पाइहि ॥
रा० र० पृ० ३२६, प० सं० ५१—
"तब कहा धीर रघुवीर धीर । जो हरषि चढ़ाइहि गंग नीर ॥
अथवा रामेस्वर दरस जाय । करिहैं सुमुक्त ते हैं सदाय ॥

का रावण को उपदेश[1] विभीषण-कुम्भकर्ण-संवाद[2] राम के अयोध्या लौटने पर सब का मिलनानंद[3] रामराज्य वर्णन[4] इत्यादि भक्तिपरक स्थल मानस की भक्ति से पूर्णत प्रभावित हैं। कहीं-कहीं तो राम रसायनकार ने मानस की अर्धालियों को भी प्राय उसी रूप में या थोड़ा परिवर्तन करके ग्रहण कर लिया है। उदाहरणार्थ यहाँ कुछ ऐसी अर्धालियाँ उद्धृत की जा रही हैं—

(क) विस्वामित्र महामुनि ग्यानी ।[5]

—रा० र० पृ० ८४ चौ० १ (उ०)

(ख) जनक पत्रिका बाचि सुनाई ।[6]

—रा० र० पृ० ११० चौ० ७ (पू०)

(ग) बाजहिं बाजने विविध विधाना ।

—रा० र० पृ० ११६, चौ० ६७ (पू०)

(घ) सकल देहिं कैकेयिहिं गारी ।[8]

—रा० र० पृ० १६१ चौ० ५१ (उ०)

(ङ) — —जो ते कंद मूलफल खाहीं ।।[9]

—रा० र० पृ० १८० प० सं० ३८ (पू०)

(च) प्राण कंठगत भय नृपाला ।।[10]

—रा० र० पृ० २०९ चौ० २६ (उ०)

रास रसायन पर मानस की भक्ति के प्रभाव को और भी अधिक स्पष्ट करने के लिए दोनों ग्रंथों की कतिपय समानान्तर पंक्तियाँ नीचे उद्धृत की जाती हैं—

(क) पद तरत नृप तव सुत चारी ।।

— मा० १ १९८ १ (उ०)

बेदमूल तव पुत्र सुचारा ।

—रा० र० पृ० १६ चौ० ५ (उ०)

---

१ मा० ६ ९२ ६ ६१ ५
रा० र० पृ० ३१४ प० सं० १८ १९
२ मा० ६ ६४ ९ ९
रा० र० पृ० ३१५ प० सं० २२ (उ०) २६ (पू०)
३ मा० ७ ३ ३ ५
रा० र० पृ० ४३७-३८ प० सं० ३६ ३७
४ मा० ७ २० ७-७ २३
रा० र० पृ० ४५-५१ प० सं० ११ ४९
५ मा० १ २०६ २ (पू०)
६ मा० १ २९५ १ (उ०)
८ मा० ११ १ (पू०)
९ मा० २ ८७ १ (उ०)
१० मा० २ १२० १ (पू०)
११ मा० २ १५४ १ (पू०)

(ख) राम अनंत अनंत गुन अमित कथा बिस्तार।

—मा० १ ३३ (पू०)

राम अनन्त अनन्त गुण, सुयश चरित्र अनन्त।

—रा० र० पृ० ४५ दो० १२४ (पू०)

(ग) ए दोऊ दसरथ के ढोटा। बाल मरालन्हि के कल जोटा॥

—मा० १ २२१ ३

ढोटा हैं ये अवधेश के नानो सु बाल मराल के जोटा हैं आछे॥

—रा० र० पृ० ८६ प० स० १३० (पू०)

(घ) समय जानि गुर आयसु पाई। लेन प्रसून चले दोउ भाई।

—मा० १ २२७ २

गुरु पूजन को समय निहारी। चले प्रसून लेन फुलवारी॥

—रा० र० पृ० १०४ चौ० २ (पू०)

(ङ) चारित सील रूप गुन धामा। तदपि अधिक सुखसागर रामा॥

—मा १ १९८ १

यद्यपि हैं दुहूँ भैया सुखमा धाम। तदपि अधिक सुखसागर नागर राम॥

—रा० र० पृ० ११० छंद ९९ (उ०)

(च) लता भवन तें प्रगट भे तेहि अवसर दोउ भाई।

—मा० १ २३२ (पू०)

प्रगटे लतन की ओट ते ताही समै रघुकुल मनी॥

—रा० र पृ० ११४ छंद १२० (पू)

(छ) अधिक सनेह देह भै भोरी। सरद ससिहि जनु चितव चकोरी॥

—मा १ २३२ ६

आनंद हिय उमँग्यो रह्यो जाकि चित्र सी सब जहँ तहीं।

मानौं सरद निशिचन्द्र को यकटक चकोरा ताकि रहीं॥

—रा र० पृ० ११४ छंद १२ (उ०)

(ज) भरउ सो संपति सदन सुखु सुहृद मातु पितु भाइ।

सनमुख होत जो रामपद करै न सहस सहाइ॥

—मा० २ १८५

सोह न राम प्रेम बिनु ग्यानू। करनधार बिनु जिमि जल जानू॥

—मा २ २७७ ५

सो सुखु करमु धरमु जरि जाऊ। जहँ न राम पद पंकज भाऊ॥

जोगु कुजोगु ग्यानु अग्यानू। जहँ नहिं राम पेम परधानू॥

—मा २ २९१ १-२

जरि जाय सो जप योग ज्ञान सनेह सो जरि जाय री॥

जरि जाय जननी जनक सुत हित जिनहिं येन सुहावरी॥

करि जाय सो पूत बधु तन मन प्राण धन करि जाय री ॥
जो भगत रघुकुल पंथ का नहिं करत अधिक सहाय री ॥

—रा० च० पृ० ११४, छंद १२२

(ञ) अति सनेह बस सखीं सयानी । नारि धरम सिखवहिं मृदु बानी ॥

—मा० १ ११४ १

जननी मुख चूमि कपोल गहे । तिय धर्म सिखाय सुबैन कहे ॥

—रा० च० पृ० १४१ छंद १२ (उ०)

(ट) राजकुमारि बिनय हम करहीं । तिय सुभायँ कछु पूछत डरहीं ॥
स्वामिनि अबिनय छमबि हमारी । बिलगु न मानब जानि गवाँरी ॥

मा०—२ ११६ १-७

एकै कहँ सुनो सिय स्वामिनि बचन कहत हम डरहीं ॥

.... ..

....

जानि गँवारि न बिनय मानिय चूक छमा सब कीजै ॥

—रा० च०, पृ० १८० प० सं० ४०

(ठ) जनक सुतहि समुझाइ करि बहु बिधि धीरजु दीन्ह ।

मा० ५ २७ (पू०)

जनक सुतहि हनुमत पुनि बहु बिधि धीरज दीन ॥

—रा० च० पृ० २८७ दो १११ (उ)

(ड) सरनागत कहुँ जे तजहिं निज अनहित अनुमानि ।
ते नर पावँर पापमय तिन्हहि बिलोकत हानि ॥

मा० ५ ४१

त्याग करै शरणागत का तिहिं की सम पातक और नहीं है ॥

रा० च० प० ११८ प० स० २७ (पू०)

(ढ) साम दान अरु दण्ड बिभेदा । नृप उर बसहिं नाथ कह बेदा ॥

मा० ६ ३८ ८

साम दान अरु दण्ड भेद ए चार चहिए नृप माहीं ॥

रा० च० प० ३५४ प० सं० १६ (पू०)

(ण) आगम निगम पुरान अनेका । पढ़े सुने कर फल प्रभु एका ॥
तव पद पंकज प्रीति निरन्तर । सब साधन कर यह फल सुन्दर ॥

मा० ७ ४६ ३ ४

विद्या बुद्धि विवेक का फल है यही पवित्र ॥
करे सुने विरचे सुभग सीता राम चरित्र ॥

रा० च० पृ० ३६८, दो० ८५

(त) जे एहि कथहि सनेह समेता । कहिहहिं सुनिहहिं समुझि सचेता ॥
होइहहिं राम चरन अनुरागी । कलिमल रहित सुमंगल भागी ॥

मा० ७ १२६ १० ११

सुर दुर्लभ सुख करि जग माहीं । अन्त काल रघुपति पुर जाहीं ॥
मा० ७ १२ ८

सीता रामचरित मह कोई । बांचै सुनै सुनावै जोई ।
सो इह लोक स्वरुचि फल पावै । अन्त समय श्रीराम मिलावै ॥
रा० र० प० ६०७ चौ० ८७

उपर्युक्त अध्ययन से यह स्पष्ट है कि 'राम रसायन' पर मानस की भक्ति का प्रचुर प्रभाव पड़ा है ।

१२ साकेत

खड़ी बोली के रामभक्ति सम्बन्धी आधुनिक काव्यों में मैथिलीशरण गुप्त के साकेत का प्रमुख स्थान है । इसकी सरल सरस एवं भावमय पंक्तियाँ रामचरित मानस की पंक्तियों की तरह सर्वसाधारण को मुग्ध करने में सर्वथा समर्थ हैं । गोस्वामी तुलसीदास जी की भक्ति-भावना एवं भावाभिव्यंजन-पद्धति से गुप्त जी बहुत कुछ प्रभावित हैं । यह सत्य है कि उन्होंने राम के समग्र चरित्र का मानस की भाव-गरिमा के साथ अंकन नहीं किया है तथापि सगुण ब्रह्म राम तथा उनकी आह्लादिनी शक्ति सीता के प्रति उनकी भक्ति ठीक वैसी ही है जैसी तुलसी की । यथार्थतः तुलसी गृहस्थाश्रम से विरक्त रहने वाले और गुप्त उसका पालन करने वाले भक्त थे । अतः युग प्रभाव एवं क्रम-भेद की दृष्टि से दोनों में थोड़ा अन्तर होना स्वाभाविक है अन्यथा यदि नई भाषा-शैली एवं आधुनिक आन्दोलनों के प्रभाव को साकेत से निकाल दिया जाय तो गुप्तजी और तुलसी के भावों में कोई विशेष अन्तर नहीं रह जायगा ।

वस्तुतः गुप्तजी को अपने पिता से उत्तराधिकार के रूप में रामभक्ति प्राप्त हुई थी । उनके पिता ने स्वयं कहा है—

हम चाकर रघुवीर के पटौ लिखौ दरबार
अब तुलसी क्या होहिंगे नर के मनसबदार ?
....
....
....
....
बालक सुतहिं सिखावहीं बाल बस बिन नेहु
मेरे कुल की बानि है स्वाति बूंद सों नेहु ।"[1]

अर्थात् वे राम के दास थे और रामभक्ति करना ही उनके कुल का धर्म था । आगे चलकर उन्होंने यह भी कहा है कि—

"वहीं कल्पना भी सफल जहाँ हमारे राम ।[2]

गुप्तजी अपने पिता के प्रति अत्यन्त श्रद्धा रखते थे । अतः वे भी अपने पिता की तरह रामभक्त हुए तो यह सर्वथा उचित ही था । इसमें किसी को कदापि सन्देह नहीं हो

---

१ साकेत समर्पण
२ साकेत समर्पण पृष्ठ व मा० १ ११ ४ ६

सकता कि गुप्तजी की कामना थी कि 'साकेत' को ग भक्तिपूर्ण काव्य का रूप दें और यह समपण लिखते समय उन्हें इस बात म पूर्ण विश्वास था कि यह एक भक्तिपरक ग्रन्थ क अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इसीलिए उन्होंने अपने परम रामभक्त पिता का निसक भाव से उनके श्राद्ध के दिन इस साकेत को पिण्ड के समान समर्पित किया।[1] यही नहीं गुप्त जी ने इस समपण के बाद जो सस्कृत के श्लोक सग्रहीत किए हैं वे सभी भक्तिपरक ही हैं। यद्यपि गीता स उन्होंने जो श्लोक उद्धृत किया है वह कृष्ण भगवान क सम्बन्ध में है तथापि इससे गुप्तजी का रामभक्त होना अस्वीकृत नहीं किया जा सकता। कारण यह है कि स्वयं तुलसी ने भी विनयपत्रिका म कृष्ण को राम के समान ही परब्रह्म का अवतार बतलाया है।[2] इतना ही नहीं तुलसी ने उक्त ग्रन्थ म ही एक पद लिखा है जिसे हरिशंकरी कहते हैं और उसम राम और शिव मे भी कोई अन्तर नहीं माना गया है। तुलसी जिस प्रकार सम्प्रदाय मुक्त राम भक्त वैष्णव थे उसी प्रकार गुप्त जी भी हैं और इस बात का पता उनके यशोधरा काव्य स भी चल जाता है। जहाँ उन्होंने बुद्ध भगवान को भी राम के एक अवतार मानकर उनका यश कीर्तन किया है।

सस्कृत श्लोकों के पश्चात् उन्होंने जो पद्य उद्धृत किए हैं वे सब रामचरितमानस के ही हैं और उनमे से अन्तिम पद्य[4] तो यह स्पष्ट सिद्ध कर देता है कि तुलसी के समान गुप्त जी ने भी निर्गुण एव सगुण राम रूप को स्वीकार करते हुए भी सगुण ब्रह्म को ही महत्व दिया है। रामचरितमानसकार का कथन है—

अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुन सो होई।[4]

साकेतकार भी कहते हैं।

हो गया निर्गुण सगुण साकार है
ले लिया अखिलेश ने अवतार है।[5]

---

१ साकेत समपण की अन्तिम पंक्तियाँ—

तुम दयालु थे दे गये कविता का वरदान।
उसके फल का पिण्ड यह लो निज प्रभु गुणगान।
आज श्राद्ध के दिन तुम्हें श्रद्धा-भक्ति समेत
अर्पण करता हूँ यही निज कवि धन साकेत।

२ विनयपत्रिका पद ६० पक्ति ३ ६—

जिन बाँधे सुर-असुर नाग-नर प्रबल करम की डोरी।
सोइ अविछिन्न ब्रह्म जसुमति हठि बाँध्यौ सकत न छोरी।।
जाकी मायाबस बिरंचि सिव नाचत पार न पायो।
करतल ताल बजाय ग्वाल जुवतिन्ह सोइ नाच नचायो।।

द्रष्टव्य—वही पद पंक्ति ५२ १३ १४ पद ११८ प० ७-८

३ विनय पत्रिका पद ४६

४ मा ७ १११ ११—

भरि लोचन बिलोकि अवधेसा। तब सुनिहौं निर्गुन उपदेसा।।"

५ मा० १ ११६ २

६ साकेत पृ १२

समर्पण और भूमिका की चर्चा करने के पश्चात् हम गुप्त जी के मंगलाचरण के पूर्व के दो पद्यों के सम्बन्ध में निवेदन करना चाहते हैं। पहले में मुनि-सत्य-सौरभ की कली और कवि-कल्पना से युक्त साहित्य-वाटिका की चर्चा कर गुप्त जी ने तुलसी का प्रभाव स्वीकार-सा ही कर लिया है। क्योंकि तुलसी ने भी तो अपने मानस के प्रारम्भ में ही 'मुनिन्ह प्रथम हरि कीरति गाई। तेहि मग चलत सुगम मोहि भाई ॥'[1] का स्पष्ट उद्घोष किया है। साथ ही तुलसी के समान गुप्तजी ने भी अपने को रंक कहकर विनम्रता प्रदर्शित की है।[2]

दूसरे पद्य में भी तुलसी का प्रभाव अनायास ही लक्षित हो जाता है। इसमें गुप्तजी ने अपने राम के सम्बन्ध में कहा है कि वे यदि ईश्वर नहीं हैं तो भी उनकी भक्ति से वे पराङ्मुख नहीं हो सकते।[3] तुलसी ने भी इससे मिलता जुलता भाव व्यक्त किया है कि उनका राम में ही प्रेम है चाहे वे 'जगदीश' हों या 'महीश'।[4] एक बात और बड़े मार्के की है कि तुलसी ने अपने ग्रन्थ के प्रारम्भ में एक ही श्लोक में 'वाणी एवं विनायक'[5] की वन्दना की है और गुप्त जी ने भी अपने ग्रन्थ के प्रारम्भ में अलग अलग पद्यों में विनायक एवं वाणी की ही वन्दना की है।[6]

यहाँ यह निवेदन कर देना भी अत्यावश्यक प्रतीत होता है कि तुलसी के समान गुप्त जी भी राम एवं सीता को क्रमशः दशरथ एवं जनक के सुकृत की मूर्ति मानते हैं।[7] वे दोनों ही राम को अपना 'प्रभु' बतलाते हैं। आगे चलकर गुप्तजी भी दशरथ राज्य

---

१ मा० १।१३।१०

२ (क) मा० १।८९ (उ०)—मन मति रंक मनोरथ राऊ।

(ख) साकेत (मंगलाचरण के पूर्व के पद्य में)—

[illegible] और रंक वराटिका ॥

३ राम, तुम मानव हो? ईश्वर नहीं हो क्या?
विश्व में रमे हुए नहीं सभी कहीं हो क्या?
तब मैं निरीश्वर हूँ, ईश्वर क्षमा करे;
तुम न रमो तो मन तुम में रमा करे।
—साकेत (मंगलाचरण के पूर्व का पद्य)

४ जौं जगदीस तौ अति भलौ जौं महीस तौ भाग।
तुलसी चाहत जनम भरि राम चरन अनुराग ॥ —दोहावली दो० ६१

५ मा० १ श्लो० १

६ (क) जयति कुमार-अभियोग-गिरा गौरी-प्रति।
... ...
... ...
ऊपर ही मेल कर, पेल कर लाते हैं। —साकेत मंगलाचरण

(ख) अयि दयामयि देवि सुखदे सारदे
... ...
माँ मुझे कृतकृत्य करदे आज तू। —साकेत सर्ग १, पृ० ११

७ (क) जनक सुकृत मूरति बैदेही। दसरथ सुकृत रामु धरें देही ॥
—मा० २।११०।१

(ख) धन्य दशरथ जनक पुण्योत्कर्ष है। —साकेत पृ० १२

वर्णन में तुलसी के राम-राज्य-वर्णन का अनुसरण करते हुए प्रतीत होते हैं। इस तथ्य के समर्थन के लिए बड़ी आसानी से उक्त दोनों महाकवियों के वर्णनों से बहुत सी मिलती जुलती पंक्तियाँ उद्धृत की जा सकती हैं।[1]

---

१ (क) तीर तीर देवन्ह के मंदिर। चहुँ दिसि तिन्ह के उपवन सुन्दर॥
—मा० ७ २६ ४

तीर पर हैं देव-मन्दिर सोहते

— —

— —

हस रही हैं खिल खिलाकर क्यारियाँ।—साकेत—पृ० १५

(ख) चारु चित्र साला गृह गृह प्रति लिखे बनाइ।
रामचरित जे निरख मुनि ते मन लेहिं चोराइ॥
—मा० ७ २७

बाजार रुचिर न बनइ बरनत बस्तु बिनु गथ पाइए।

— —

— — —

सब सुखी सब सच्चरित सुंदर नारि नर सिसु जरठ जे॥
—मा ७ २८ १२

रमानाथ जहँ राजा सो पुर बरनि कि जाइ।
अनिमादिक सुख संपदा रहीं अवध सब छाइ॥
—मा० ७ २९

धान्य धन परिपूर्ण सबके धाम हैं
रंगशाला से सजे अभिराम हैं।
नागरों की पात्रता नव नव कला
क्यों न दे आनन्द लोकोत्तर भला?
ठाठ है सर्वत्र घर या घाट है
लोक-लक्ष्मी की विलक्षण हाट है। —साकेत पृ० १६

(ग) ससि संपन्न सदा रह धरनी। —मा० ७ २३ ६१
मग्न रहती है सदा ही ईतियाँ
भटकती हैं शून्य में ही भीतियाँ। —साकेत पृ० १६

(घ) बिधु महिपूर मयूखन्हि रबि तप जेतनेहि काज।
मागें बारिद देहिं जल रामचंद्र के राज॥
—मा० ७ २३

नीतियों के साथ रहती रीतियाँ
—साकेत पृ० १६

(ङ) जहँ तहँ नर रघुपति गुन गावहिं। —मा० ७ १० १(पू०)
पूर्ण हैं राजा प्रजा की प्रीतियाँ। —साकेत पृ० १६

(च) दंड जतिन्ह कर भेद जहँ नर्तक नृत्य समाज।
—मा० ७ २२(पू०)

एक तरु के विविध सुमनों से खिले
पौरजन रहते परस्पर हैं मिले। —साकेत पृ० १५

तुलसी के समान गुप्तजी ने भी सीता को माता कहा है और उनके मुख पर झलकने वाले मातृत्व का वर्णन किया है।[1] गुप्तजी ने भी तुलसी की तरह भारतीय संस्कृति की मर्यादा की रक्षा करने का प्रयत्न किया है। उन्होंने सीता से राम को 'नाथ' शब्द से ही सम्बोधित कराया है।[2] हाँ समय के प्रवाह में पड़कर गुप्तजी सीता के वचन और सम्बोधन में कुछ अधिक आधुनिक बन गए हैं। जहाँ रामचन्द्र ने रामचरितमानस में सीता को 'राजकुमारी' या 'प्रिया'[3] कहकर ही सम्बोधित किया है वहाँ गुप्त जी ने लक्ष्मण से उर्मिला को 'प्रेयसी'[4] कहलाया है। इसी तरह कौशल्या कैकेयी को जहाँ 'मानस' के राम 'माता' कहकर सम्बोधित करते हैं, वहाँ 'साकेत' के राम उन्हें 'देवी' शब्द से अभिहित करते हैं। तुलसी ने सीता के सौन्दर्य-वर्णन में सर्वत्र मातृत्व का ध्यान रखा है पर गुप्त जी उनका विस्तृत वर्णन करने में जरा भी नहीं हिचकते।[5] गुप्त जी ने इस वर्णन की निम्नांकित दो पंक्तियाँ तो रीतिकालीन शृंगारी कवियों की कल्पना की सीमा का स्पर्श कर लेती हैं—

> उनके मुड़ने में ललित लचक लच जाती,
> पर अपनी छवि में छिपी आप बच जाती ॥[6]

इस प्रकार तुलसी से प्रभावित होते हुए भी गुप्तजी कभी-कभी सामयिकता का अवलम्बन कर भक्तों की मर्यादा का अतिक्रमण कर गये हैं।

आर्य संस्कृति है कि पत्नी पति का और पति पत्नी का नाम न लें। तुलसी ने इस लोक मर्यादा का मानस में सफल निर्वाह किया है।[7] गुप्त जी ने भी यथाशक्ति यही नीति ग्रहण की है। पर तुलसी ने मानस में इंगितों से सीता के द्वारा राम को अपना पति सूचित कराकर जिस मर्यादा की पराकाष्ठा कर दी है वहाँ गुप्तजी ने सीता के मुख से राम को

---

१ (क) जगत जननि अतुलित छवि भारी ॥

—मा० १ २४८ २ (उ०)

(ख) सीता माता थीं आज नई मन बार।

जन-मातृ-गर्वमय कुशल बन्न भव भावन।

—साकेत पृ० १५६

२ कहा वैदेही ने 'हे नाथ'

—साकेत सर्ग २ पृ०४१

३ (क) राजकुमारि सिखावनु सुनहू।

—मा० २ ६१ २ (पू०)

(ख) सुनहु प्रिया व्रत रुचिर सुसीला।

—मा० १ २४ १ (पू०)

४ प्रेयसी जिसके सहज संसर्ग से

—साकेत पृ० २३

५ अंचल-पट कटि में खोंसे कछोटा मारे,

सीरों से भूषित कल्प-लता-सी फूली —साकेत पृ० १५६ ५७

६ साकेत पृ० १५७

७ हाँ, एक स्थल पर विपत्ति में सीता ने राम का नाम अवश्य लिया है।

—द्रष्टव्य मा० ४ ५.५

अपने देवर लक्ष्मण का ज्येष्ठ बतलाकर उन लोगों में थोड़ा व्यापार पहुँचा दिया है।[1] और तुलसी की मर्यादा का 'साकेत' के राम में भी पर्याप्त पुट विद्यमान है। तभी तो उनका स्पष्ट शब्दों में कथन है—

जितने प्रवाह हैं बहें—अवश्य बहें वे
निज मर्यादा में किन्तु सदैव रहें वे।[2]

माता कैकेयी के मुख से अपने वनवास का समाचार सुनकर 'मानस' के राम का कथन है कि—

भरतु प्रानप्रिय पावहिं राजू। बिधि सब बिधि मोहि सनमुख आजू॥
जौं न जाउँ बन ऐसेहु काजा। प्रथम गनिअ मोहि मूढ़ समाजा॥[3]

'साकेत' के राम भी प्रायः यही बात कहते हैं—

अरे यह बात है तो खेद क्या है?
भरत में और मुझ में भेद क्या है?
करें वे प्रिय यहाँ निज कर्म-पालन।
करूँगा मैं विपिन में धर्म-पालन।[4]

कैकेयी के कलंक-मार्जन में तत्पर होकर तुलसी और गुप्त दोनों ने ही अपनी अपनी रुचि और शक्ति का परिचय दिया है। तुलसी ने कैकेयी को देवमाया से मोहित बतलाकर उसके चरित्र की उज्ज्वलता अक्षुण्ण रखी। उन्होंने चित्रकूट में कैकेयी की आत्मग्लानि की चर्चा कर उसके चरित्र की उज्ज्वलता को उज्ज्वलतर बना दिया। राम के वन से अयोध्या लौटने पर तुलसी ने कैकेयी को अति लज्जित बतलाकर[5] उसके चरित्र के सारे कलंक मार्जित कर उसे उज्ज्वलतम रूप प्रदान किया है। गुप्तजी ने भी चित्रकूट की सभा में कैकेयी की ग्लानि को मुखरित कर मानस से साकेत का प्रभावित होना सिद्ध कर दिया है।[6]

---

१ (क) बहुरि बदनु बिधु अंचल ढाँकी। पिय तन चितइ भौंह करि बाँकी॥
खंजन मंजु तिरीछे नयननि। निज पति कहेउ तिन्हहि सियँ सयननि॥
—मा० २ ११७ ६-७

(ख) गोरे देवर श्याम उन्हीं के ज्येष्ठ हैं —साकेत सर्ग ४ पृ० १०६ पं० ५

२ साकेत पृ० ११४

३ मा० २ ४२ १ २

४ साकेत पृ० ५७

५ प्रभु जानी कैकेयी लजानी।
—मा० ७ १० १ (पू०)

६ युगयुग तक चलती रहे कठोर कहानी—

धिक्कार! उसे था महा स्वार्थ ने घेरा। —साकेत पृ० १८०

(ख) पर महादीन हो गया आज मन मेरा

करती है तुमसे विनय आज यह माता।
—साकेत पृ० १८१

तुलसीदास और गुप्त के वर्णनों में अन्तर केवल इतना ही है कि जहाँ पहले का वर्णन व्यंग्यात्मक और संक्षिप्त है वहाँ दूसरे का कथन अभिधात्मक और विस्तृत।

तुलसी के समान गुप्त ने भी वेदों के प्रति अद्भुत श्रद्धा व्यक्त की है।[१] उन्होंने भी तुलसी की तरह रामनाम की महिमा स्वीकार की है[२] और सगुण राम के समक्ष अलक्ष्य ब्रह्म की उपेक्षा की है।[३] जिस प्रकार तुलसी ने भरत के त्याग को राम-लक्ष्मण के त्याग से अधिक महत्वपूर्ण बतलाया है उसी प्रकार गुप्त ने भी।[४] गीता[५] एवं मानस[६] के समान गुप्तजी ने भी भगवान का सगुण अवतार सज्जनों की रक्षा दुर्जनों का संहार और भूभार भंजन के निमित्त ही होना माना है।[७] तुलसी की तरह गुप्त जी ने भी सगुण ब्रह्म के अवतार

---

१ बरनाश्रम निजनिज धरम निरत बेद पथ लोग।
बलहिं सदा पावहिं सुखहिं नहिं भय सोक न रोग॥

—मा० ७ २०

उच्चरित होती चले वेद की वाणी
गूँजे गिरि-कानन-सिन्धु-पार कल्याणी।

—साकेत सर्ग ८ प० १६८

२ नाम सप्रेम जपत अनयासा। (?) — नाम सत्य सर्वसिद्ध सुखासीं।

—मा० १ २५ ४ (पू०)

जो नाम मात्र ही स्मरण मदीय करेंगे।
वे भी भवसागर बिना प्रयास तरेंगे।

—साकेत सर्ग ८ पृ० १६७

३ जे ब्रह्म अज अद्वैत अनु भवगम्य मन पर ध्यावहीं।
ते कहहुँ जानहुँ नाथ हम तव सगुन जस नित गावहीं॥

—मा० ७ १३ २१ २२

अलक्ष्य की बात अलक्ष्य जानें
समक्ष को ही हम क्यों न मानें?

—साकेत पृ० ३३५

४ (क) लखन राम सिय कानन बसहीं। भरतु भवन बसि तप तनु कसहीं॥
दोउ दिसि समुझि कहत सब लोगू। सब बिधि भरत सराहन जोगू॥

—मा० २ ३२६ २ ३

(ख) भवन को अपनाकर त्याग से
वन तपोवन सा प्रभु ने किया।
भरत ने उनके अनुराग से
भवन में वन का व्रत ले लिया॥

—साकेत पृ० १६४

५ गीता अ ४ श्लोक ७-८
६ मा० १ १२१ ६-१ १२१
७ हो गया निगुर्ण सगुण-साकार है,
ले लिया अखिलेश ने अवतार है।
— — — — —
— — — — —
पापियों का जान लो अब अन्त है
भूमि पर प्रकटा अनादि अनन्त है।

—साकेत, पृ० १२

के चरित्र को परमात्मा का नाट्य मात्र माना है।[1] राम की निर्विकारता का वर्णन करते हुए मानसकार कहते हैं—

प्रसन्नतां या न गताभिषेकतस्तथा न मम्ले वनवासदुःखतः।
मुखाम्बुजश्री रघुनन्दनस्य मे सदास्तु सा मञ्जुलमंगलप्रदा॥[2]

इसी तथ्य को साकेतकार ने यों व्यक्त किया है—

राज भाव अभिषेक समय जैसा रहा
वन जाते भी सहज सौम्य वैसा रहा॥[3]

इस प्रकार गुप्त जी 'रामचरितमानस' की भक्ति से अत्यधिक प्रभावित हैं। 'साकेत' के षष्ठ सर्ग के प्रारम्भ में तुलसी के प्रति अपनी अगाध श्रद्धा व्यक्त करते हुए उन्होंने कहा है कि मैं अपने को तभी कृतकृत्य मानूँगा जब मरने के समय मेरे मुख में सोना न भी हो पर तुलसी का एक पत्र अवश्य रहे।[4]

इस श्लेषात्मक उक्ति से स्पष्ट है कि मरते मरते भी गुप्तजी तुलसी के 'मानस' के एक पन्ने (पत्र) का उच्चारण करते रहना चाहते थे।

१—हिन्दी रामभक्ति काव्य पर "मानस" की भक्ति के प्रभाव का सिंहावलोकन

वस्तुत तुलसी परवर्ती हिन्दी रामभक्ति काव्य परम समृद्ध एवं विपुल है। अतएव उनमें से कतिपय प्रमुख रामभक्ति काव्यों पर ही संक्षेप में मानस की भक्ति के प्रभाव का दिग्दर्शन कराया जा सका है। ऊपर के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि तुलसी के समकालीन रामभक्ति-काव्य भी मानस की भक्ति के प्रभाव से अछूते नहीं हैं। जहाँ तक रसिक सम्प्रदाय के राम भक्ति-काव्यों का प्रश्न है वे निश्चय ही कृष्ण भक्ति-काव्यों से काफी प्रभावित हैं। उनमें राम और सीता साधारण नायक-नायिका की तरह सुन्दरियों के साथ अयोध्या की गलियों एवं सरयू नदी के किनारे विहार होली रास आदि प्रेमपूर्ण शृंगारिक चेष्टायें करते दृष्टिगोचर होते हैं। पर फिर भी रसिक सम्प्रदाय के रामभक्त कवियों ने प्रायः *तुलसी के 'मानस' की कथा को ही संक्षेप अथवा विस्तार में अपना वर्ण्यविषय बनाया है।* मानसकार की तरह वे भी अपनी कृतियों में स्थल-स्थल पर भक्ति ज्ञान वैराग्य गुरु-महिमा सत्य क्षमा दया दान आदि के संबन्ध में अपने उद्गार प्रकट करते चले हैं और राम से सम्बन्धित अयोध्या सरयू चित्रकूट जनकपुर आदि पुण्य स्थानों का गुणगान कर अपनी भक्ति का परिचय प्रदान किया है। उनमें भी तुलसी की तरह ही भगवान् के नाम, रूप,

---

१ (क) रामाख्यमीशं हरिम्... सुरगुरुं मायामनुष्यं हरिं।
—मा० ५ श्लो० १, ७७२ (ख)

(ख) मैं मनुष्यत्व का नाट्य खेलने आया।
—साकेत सर्ग ८ पृ० २१७

२ मा० २ श्लोक २

३ साकेत पृ० ८८

४ साकेत पृ०, ११५—
तुलसी यह दास कृतार्थ तभी-मुँह में हो चाहे स्वर्ण न भी
पर एक तुम्हारा पत्र रहे जो निज मानस कवि कथा कहे।

सीता भाग के लिए आग्रह और धीमता का स्वर है। यदि उनके पूर्व तुलसी जैसा समर्थ कवि राम की मर्यादा भक्ति का इतने शक्तिशाली एवं प्रभावपूर्ण ढंग से प्रतिपादन न किये होता तो बहुत सम्भव था कि इस सम्प्रदाय म राममक्ति का स्वरूप कृष्ण भक्ति की तरह और भी अधिक रसिक रहता।

आधुनिक राम काव्यों में रामचरित उपाध्याय का रामचरित चिन्तामणि (सन् १६२० ई) मैथिलीशरण गुप्त का साकेत (सन् १६३१ ई) अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' का वैदेही वनवास (सन् १६३६ ई०) डा० बलदेव प्रसाद मिश्र का साकेत-संत (१६४६ ई०) केदारनाथ मिश्र 'प्रभात' का कैकेयी" (१६५० ई०) बालकृष्ण शर्मा नवीन का उर्मिला (१६५७ ई०) आदि महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। इनके अतिरिक्त राम की शक्ति पूजा ('निराला') 'प्रदक्षिणा एवं पंचवटी (मैथिली शरण गुप्त) जैसी राम काव्य सम्बन्धी छोटी रचनाएं भी काफी सुन्दर बन पड़ी हैं। ये सभी रचनाएं खड़ी बोली की हैं और इनमे आधुनिक सामाजिक एवं राजनीतिक विचार धाराओं का प्रभाव अत्यन्त स्पष्ट है। इनमे प्राय बुद्धिवादी दृष्टिकोण का प्राबल्य है और कदाचित उसी के कारण अवतारवाद को कम महत्व दिया गया है तथा राम आदि को पूर्णतया मानव के रूप में चित्रित किया गया है। साथ ही इन रचनाओं में पूर्ववर्ती राम काव्य क उपेक्षित पात्रों को नायक-नायिका बनाने की प्रवृत्ति भी विद्यमान है। डा० राम कुमार वर्मा के शब्दों में तुलसी की भक्ति भावना का सूत्रपात इस बीसवीं शताब्दी में रामचरित उपाध्याय के रामचरित चिन्तामणि बलदेवप्रसाद मिश्र के कौशल किशोर' और साकेत संत 'ज्योतिसी के 'श्री राम चन्द्रोदय और मैथिलीशरण गुप्त के साकेत' में हुआ।[1] इन आधुनिक राम काव्यों में भी साकेत' का विशिष्ट स्थान है अतः प्रस्तुत परिच्छेद में विस्तार भय से खड़ी बोली के आधुनिक राम काव्यों में केवल "साकेत' पर ही 'मानस' की भक्ति के प्रभाव का दिग्दर्शन कराया जा सका है। इतना तो निर्विवाद है कि सभी नक्षत्रों पर सूर्य के प्रभाव की तरह इन राममक्ति की रचनाओं पर भी राम चरित मानस की भक्ति का चिरस्थायी प्रभाव है और इसे देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि राम-साहित्य के आकाश में उपर्युक्त समस्त रचनाएं तारागण मात्र हैं जो मानस के प्रखर प्रकाश में कान्तिहीन एवं निष्प्रभ हो गयी हैं।

(२) भारतीय जन-जीवन पर 'मानस" का भक्ति का प्रभाव

मानस की भक्ति-पद्धति के द्वारा जन जीवन को प्रभावित करने की ग्रन्थकार की आकांक्षाए

तुलसी के रामचरितमानस एवं उसमे प्रतिपादित भक्ति का उनके समकालीन एवं परवर्ती भारतीय जीवन पर क्या प्रभाव पड़ा इसकी चर्चा करने के पूर्व हम यह देख लेना चाहते हैं कि स्वयं ग्रंथकार ने अपनी भक्ति-पद्धति के द्वारा जन-जीवन पर किस प्रकार का प्रभाव डालने की आशा आकांक्षा एवं संभावना व्यक्त की है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने अपना यह विश्वास प्रकट किया है कि उनकी इस कृति से सज्जन आह्लादित होंगे और

---

१ हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास पृ० ४८४

पर विभ्य गुणों का वर्णन किया है।[१] "रामचरितमानस के अध्येताओं पर विघ्नों का कुछ प्रभाव नहीं पड़ेगा क्योंकि उन्हें राम की कृपा प्राप्त होगी।[२] वे मानस रूपी मानसरोवर में अवगाहन कर महाघोर तापत्रय से मुक्त होंगे।[३] उनका मन रूपी हाथी विषय रूपी जलते हुए आतप में यदि पड़ भी गया हो तो इस ग्रन्थ में वर्णित भक्ति भावना रूपी मानसरोवर का आश्रय ग्रहण कर वह आह्लादित एवं सुखी ही होगा।[४] आगे चलकर तुलसी ने रामायण रामयश के प्रभाव से जन जीवन में सदा उत्साह बने रहने की संभावना व्यक्त की है।[५]

तुलसी के समय में शैवों और वैष्णवों में भयंकर संघर्ष चल रहा था। उन्होंने अपने काव्य में वर्णित भक्ति भावना को उदार बनाकर उस भयंकर संघर्ष का मूलोच्छेदन करने का सफल प्रयत्न किया। इसीलिए उन्होंने राम और शिव में अभेद प्रतिपादित कर उन दोनों को एक दूसरे का स्वामी तथा भक्त स्थापित कर दिया।[६] यह एक महान प्रयत्न था जो आगे चलकर तुलसी की मनोकामना ही नहीं आस्तिक हिन्दू-जगत का दृढ़ विश्वास बन गया। तुलसी ने रामचरितमानस में राम की सगुण-लीला का वर्णन किया है और इससे लोक-जीवन को अत्यधिक प्रभावित करने की आकांक्षा व्यक्त की है।[७] उन्होंने सगुण ब्रह्म के यश कीर्तन से भक्तों के भवपार होने की बात कही है और अपना यह अटल विश्वास प्रकट किया है कि कृपालु राम 'जनहित' अर्थात् लोक संग्रह के लिए शरीर धारण करते हैं।[८] भावार्थ यह है कि राम का अवतार 'जनहित' के लिए होता है। अतएव उस अवतार का यश कीर्तन जनता-जनार्दन को प्रभावित कर उसे सन्मार्ग पर तो लायेगा ही साथ ही लोक संग्रह की प्रवृत्ति भी उत्पन्न करेगा।

तुलसी ने भरत के जिस भव्य चरित्र का चित्रण किया है उसका प्रभाव भी जन जीवन पर डालना उन्हें सर्वथा अभीष्ट है। तुलसी के भरत चरित्र-चित्रण के द्वारा मानव चरित्र में वह परिवर्तन लाना चाहा है जिससे मानव-जीवन का परम पुरुषार्थ प्राप्त हो। वह परम पुरुषार्थ है— सीताराम के चरणों में प्रेम' तथा सांसारिक विषय-रस से वैराग्य।[९] अपने चरम काव्य से मानवता को प्रभावित कर इतना ऊँचा उठाने का लक्ष्य विश्व के किसी भी कवि का नहीं था और यह भी कहना कठिन है कि ऐसा कभी हो भी सकेगा। जीवात्मा

---

१ मा० १।११।८।१।३२ (ख)
भिव मुदित मोह भ्रम हरनी। करउ कथा भव सरिता तरनी॥
... ...
रामचरित राकेस कर सरिस सुखद सब काहु।
सज्जन कुमुद चकोर चित हित बिसेषि बड़ लाहु॥
२ मा० १।३९।५
३ मा० १।३९।६
४ मा० १।३९।८
५ मा० १।३९।१
६ मा० १।१५।३।४।१।१०४।५-८।४।३० (क)।६।२।१।६।२
७ मा० १।१२१।१।१।१२१
८ मा० १।१२१।१
९ मा० २।१२६

का नैतिक और आध्यात्मिक विकास भक्ति रामचरितमानस पर आधारित इस प्रकार का लेखक युग ही की कविता मानव में पावन भक्ति का विकास करता है।

प्रायः प्रत्येक काण्ड के अन्त में भगवान के गुण की महिमा का वर्णनात्मक एवं कल्याणकारी स्वरूप तुलसी ने प्रस्तुत कर भक्ति का भाव उत्पन्न करने का प्रयत्न किया है।[1] नाम महत्त्व के प्रचार की भावना से राम-नाम को ही कलियुग में एकमात्र अवलम्ब कहा गया है[2] और भगवान् की भक्ति प्राप्त करने की बात कही गयी है जिस अवस्था में कामी नारी के प्रेम में तथा लोभी धन के लिए व्याकुल रहता है।[3] इसका तात्पर्य यह है कि विश्व का सारा मानव परमात्मा प्रेम की प्राप्ति एवं अनुभूति के लिए सदैव सचेष्ट रहे और उसके अतिरिक्त किसी अन्य विषय में आसक्त होने के लिए उसे अवकाश न मिले। मानस के उत्तर काण्ड में अन्तिम गरुड़ उत्तर भगवान् के स्मरण से विज्ञान एवं भक्ति की प्राप्ति द्वारा संसार-सागर के पार किये जाने के परिणाम की चर्चा कर कवि ने मानवता को परमात्मा प्राप्ति की परिपूर्ण प्रक्रिया प्रदान की है। कवि ने मानव समाज के पारस्परिक जीवन को सुखी बनाने के लिए मानस में दिव्य चरित्रों की अवतारणा की है और समग्र विश्व पर प्रभाव डालकर उसे भव्य विकसित एवं सुखी करने का प्रशंसनीय प्रयास किया है। उन्होंने राम कथा को विमुक्त विरक्त और विषयी तीनों प्रकार के जीवों के लिए परमोपयोगी घोषित किया है और उनके द्वारा उन्हें क्रमशः भक्ति, सद्गति एवं सम्पत्ति की प्राप्ति को सुगम बतलाया है।[4] इस प्रकार तुलसी ने जनता के समक्ष अपनी सदाचारपूर्ण भक्ति का प्रचार कर उससे प्रभाव ग्रहण करने की आकांक्षा एवं विश्वास प्रकट किया है। मध्यकाल में भारतीय आध्यात्मिक साधना के प्रवाह में पूर्णतः निमज्जित हो चुके थे और जन जन के जीवन को आध्यात्मिक साधना में निष्णात कर देने की ही उनकी अन्तिम कामना थी। हम अब यह देखना है कि कवि की यह कामना भारतीय जन-जीवन को प्रभावित करने के सम्बन्ध में कहाँ तक सफल हुई है।

३— 'मानस' की भक्ति का सर्वसाधारण साधना पर प्रभाव —

किसी भी भक्त महाकवि का काव्य लोक-जीवन को दो प्रकारों से प्रभावित करता है। प्रथम प्रकार यह है कि उस काव्य के प्रभाव से उसका पाठक आध्यात्मिक शक्तियों को विकसित कर अपने चरम लक्ष्य की ओर अग्रसर होता है और उसे प्राप्त करता है। उसकी साधना एकाकी और एकान्त स्थल में होती है। उसे आत्म-कल्याण की जितनी चिन्ता होती है उतनी लोक-कल्याण की नहीं। ऐसा साधक अपने गुरु वाक्यों के स्थान पर उन कवियों के उपदेशों को ही स्वीकार कर लेता है और किसी शून्य स्थान में राम-नाम की सहायता से नियम-पूर्वक चिन्तन मनन एवं ध्यान करता रहता है। ऐसी साधना मुक्ति और मुक्ति दोनों ही के लिए की जाती है। दूसरा प्रकार यह है कि लोक-कल्याण के लिए समग्र राष्ट्र

---

१ मा० १ ३६१ १ ४६ (क)—४६ (ख) ४ १० (क)—१ (ख) ५ ९०, ६ १२१ (क)—१२१(ख)
२ मा० ६ १२१ (ख)
३ मा० ७ १३० (ख)
४ मा० ७ १५.५

व्यापी भजन पूजन यजन या चिन्तन किया जाय। व्यक्तिगत उपासना का साधक जहाँ आत्म-कल्याण के चिन्तन एवं सिद्धि की लालसा रखता है वहाँ लोक-संग्रही एवं सार्वभौम कल्याण का चिन्तन करने वाला उपासक सर्वजनहिताय तपस्या एवं साधना करता है। तुलसी का 'मानस' इन दोनों प्रकार की साधनाओं को लेकर प्रणीत हुआ है। तुलसी जहाँ एक ओर 'मानस' के प्रणयन का कारण 'स्वान्तः सुखाय'[1] घोषित करते हैं वहाँ दूसरी ओर अपनी कृति से संसार पतन की ओर जिनमे से जगत् के परित्राण की कामना भी रखते हैं।[2] उनकी दृष्टि में यदि किसी की कीर्ति कविता अथवा सम्पत्ति गंगा के समान संसार के सभी प्राणियों के लिए हित-कारिणी नहीं हुई तो उसका होना न होने के समान है।[3] यही नहीं भगवान राम का यश वे इसलिए नहीं करते हैं कि अपने देश के ही नहीं बल्कि समग्र संसार के स्त्री-पुरुषों की कामनाओं को भगवान शंकर पूर्ण करें।[4] इतना ही नहीं वे तो प्रत्येक नर-नारी के लिए परम पुरुषार्थ का एक सरल मार्ग-निर्माण कर रहे हैं जिस पर चलने से सब रस से 'विरति' और सीताराम के चरणों में प्रेम हो।[5] अतः तुलसी की साधना जितनी ही व्यक्तिगत-कल्याण के लिए है, उतनी ही लोक एवं विश्व के कल्याण के लिए भी। हम यहाँ पहले प्रकार की साधना के ऊपर पड़ने वाले 'मानस' की भक्ति के प्रभाव का विवेचन करके दूसरे प्रकार की साधना पर पड़ने वाले प्रभाव का उल्लेख करेंगे।

भारतवर्ष में ऐसे असंख्य साधक हैं जो 'मानस' के उपदेशों को गुरुवाक्य मानकर उनके अनुसार संयम और नियमपूर्वक जीवनयापन करते हैं। उनमें से कोई स्त्री पुत्र पति धन सम्पत्ति जीविकोपार्जन रोगनाश या किसी न किसी प्रकार की सिद्धि के लिए प्रयत्न करते हैं। वे मानस पाठ को अपना साधन बनाकर अपनी रुचि के अनुकूल अनेक भोग्य वस्तुओं की प्राप्ति करने के लिए संयम और नियम के साथ साधन करते हैं। कोई-कोई भक्ति की भावना त्यागकर भगवान के साक्षात् दर्शन अथवा उनकी भक्ति-प्राप्ति करने के लिए इसका अवलम्बन ग्रहण किया करते हैं। कोई कोई अणिमा गरिमा आदि सिद्धियों की उपलब्धि के लिए भी मानस-पाठ एवं रामनाम जप को अपना साधन बनाते हैं।[6] इस प्रकार सभी तरह की पारमार्थिक एवं लौकिक अभिलाषाओं को पूर्ण करने के लिए लोग "मानस' की भिन्न-भिन्न चौपाइयों एवं दोहों के अनुष्ठान का प्रयोग किया करते हैं।[7] कुछ लोग साल के दो नवरात्रों—अर्थात् आश्विन एवं चैत्र शुक्ल प्रतिपदा से लेकर नवमी तक में समग्र 'मानस' का पाठ कर जाते हैं। उत्तर भारत के ग्रामों तक में इस तरह के पाठ करने वाले अनेक पुरुष और नारियाँ मिलती हैं। सती-साध्वी विधवाओं एवं शान्त सज्जन विधुरों तथा ब्रह्मचारियों का तो यह एक परमावश्यक एवं पुनीत कर्तव्य माना जाता है। विषयासक्त जीवन को भी विषय प्रवाह से दूरकर आत्मा-संयम बनाने में मानस की

---

१ मा० १ श्लो० ७ १।३१ ४ ७ अन्तिम श्लोक १ तृतीय चरण
२ मा० ७ अन्तिम श्लोक २ चतुर्थ चरण
३ मा० १।१४।९
४ मा० ४।३० (क)
५ मा० २।१२९
६ मा० १।२२।४
७ गीता-प्रेस कल्याण मानसांक प्रथम खण्ड पृ० १७-१९

भक्ति में अनुपम कृतकार्यता प्राप्त की है। तुलसी के पहले इस प्रकार के साधक अपनी व्यक्तिगत साधना के लिए ऋग्वेद, वाल्मीकीय रामायण, गीता एवं गायत्री को ग्राह्य मानते थे किन्तु तुलसी के 'रामचरितमानस' के प्रणयन के पश्चात् व्यक्तिगत साधना के लिए जितना इस ग्रन्थ का प्रचार हुआ है उतना हिन्दी भाषी प्रान्तों में तो किसी अन्य ग्रन्थ का नहीं हो सका है। आज वेदों या पुराणों या संस्कृत के स्तोत्रों के स्थान पर तुलसी के मानस की स्तुतियाँ— जय जय सुरनायक जन सुखदायक —[1] या भए प्रगट कृपाला दीन दयाला —[2] या नमामि भक्त वत्सलं। —[3] या अन्य का ही अत्यधिक प्रचलन है। इस प्रकार की साधना भूमि भारतवर्ष में यों तो उस प्रकार प्रत्येक ग्राम है किन्तु प्रधानतया ये क्षेत्र अयोध्या, काशी, प्रयाग, हरिद्वार, जनकपुर, चित्रकूट आदि तीर्थस्थान हैं। इन तीर्थ स्थानों के अतिरिक्त मानस की साधना के लिए अनेक स्थानों-स्थलों का प्रतिवर्ष नव-निर्माण भी हो रहा है। जैसे—अयोध्या एवं काशी का मानस मन्दिर। इन मन्दिरों की संगमरमर की दीवारों पर प्रचुर धन व्यय करके आदि से अन्त तक समस्त 'रामचरितमानस' की पंक्तियाँ टंकित हैं। मानस-मन्दिर काशी में तो तुलसी की एक भव्य मूर्ति भी स्थापित है। इसके अतिरिक्त सतना में एक राम वन है जहाँ मानसरोवर का निर्माण कर क्रमशः उसके चारों घाटों पर तुलसी और सन्त मारुति एवं मानसतत्त्व शिव तथा पार्वती और गरुण एवं काकभुशुण्डि के मन्दिर हैं। इसके अतिरिक्त भक्त प्रवर हनुमान का भी वहाँ एक विशाल मन्दिर है जो यहाँ के व्यक्तिगत साधकों का आश्रय है। इस प्रकार भारत के प्रत्येक ग्राम, नगर एवं वन में भगवान राम के भक्त हैं जो तुलसी द्वारा प्रदर्शित भक्ति-मार्ग को ग्रहण कर राम-नाम के जप एवं मानस के पाठ से अपने व्यक्तिगत उद्देश्य को सिद्ध करते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि तुलसी ने इस बात की सम्भावना को ध्यान में रखकर ही कहा था कि भगवन्नाम का जप साधक लोग किया करते हैं और अणिमादि की प्राप्ति कर सिद्ध हो जाते हैं।[4] न केवल सिद्धि के साधक वरन् संकटों से आक्रान्त आर्तजन भी राम-नाम का जप या 'रामचरितमानस' का पाठ अपने को संकट से मुक्त करने के लिए किया करते हैं।[5] मानस-पाठ और राम-नाम-जप निष्काम एवं सकाम[6] दोनों भावों से हो किए जाते हैं। आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी ये चारों प्रकार के भक्त मानस का पाठ अपने-अपने

---

१ मा० १।१८६।१।१६
२ मा० १।१६२।१-१।१६२
३ मा० ३।४।१-२४
४ मा० १।२२।४
५ मा० १।२२।५
६ मा० ७।१५।३—जे सकाम नर सुनहिं जे गावहिं। सुख सम्पति नाना विधि पावहिं॥
   मा० ७।१२६।२—मन कामना सिद्ध नर पावा। जे यह कथा कपट तजि गावा।
   मा० १।१६।३।५।१२६।२

उद्देश्यों की सिद्धि के लिए करते हैं। उनकी भक्ति भावना की गहराई के अनुसार उन्हें फल भी प्राप्त होते हैं। इस तथ्य की पुष्टि बहुतों के व्यक्तिगत अनुभव से हो जाती है।[1]

मानस के पाठ कई प्रकार से और कई विधियों से किए जाते हैं। पाठों के आह्निक, नवाह्न, मासिक एवं वार्षिक आदि भेद हैं। कहीं-कहीं भिन्न-भिन्न सम्पुटों के साथ वर्षों इसके अखण्ड पाठ भी होते रहते हैं। लोग अपनी व्यक्तिगत सफलता पर भी रामचरित मानस की पूजा एवं पाठ किया करते हैं। इस मानस-पाठ से पाठकर्त्ताओं का अपने उद्देश्यों की सिद्धि का तो विश्वास होता ही है, इसके अतिरिक्त उनकी व्यक्तिगत और सांस्कृतिक जीवन पर भी इसका गहरा प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार का मानस-पाठ न केवल राम भक्तों या वैष्णवों के द्वारा ही किया जाता है बल्कि शैवों एवं शाक्तों के द्वारा भी। आज प्रायः अधिकांश सब लोग शिव की स्तुति करते समय मानस के शिव संबंधी श्लोकों[2] का प्रयोग करते हैं और 'नमामीशमीशान निर्वाण रूपं। [3] का ही पाठ करते हैं। शिव की नगरी काशी में जहाँ गोस्वामी जी का एक समय जबरदस्त विरोध हुआ था वहीं के विश्वविख्यात विश्वनाथ मन्दिर में आज यह स्तुति अंकित भी है। रामोपासक वैष्णवों के लिए तो 'मानस के समान कुछ भी प्रिय नहीं है।[4] इसके पाठ में कम का भी कोई बन्धन नहीं है। ब्राह्मण से शूद्र तक जो भी रामचरितमानस पढ़ने में समर्थ हैं वो अपनी-अपनी सुविधा के अनुसार दिन या रात में समय निकालकर अपने अपने सुविधाजनक स्थान पर उसका पाठ करते हैं और उसके रस से कभी भी तृप्त नहीं होते। सच है— रामचरित के सुनत अघाहीं। रस विसेष जाना तिन्ह नाहीं।[4] ऐसे भक्त जहाँ कहीं और जिस समय भी रामचरितमानस की पंक्तियों को अपने भक्तिपूरित कंठों से सस्वर पाठ प्रारम्भ कर देते हैं, वहाँ का सम्पूर्ण वातावरण भक्तिमय बन जाता है।

तुलसी के मानस और उसमें वर्णित भक्ति से प्रभावित होकर ही काशीनरेश महाराज ईश्वरी प्रसाद नारायणसिंह ने रीवाँ नरेश महाराज रघुराज सिंह से 'राम स्वयंवर' ग्रन्थ की रचना करायी थी।[5] इस प्रकार के प्रभाव से अन्याय ग्रन्थों की भी रचनाएं हुई हैं, जिनकी चर्चा इसी परिच्छेद में पहले ही हो चुकी है।

---

४ ...... मैं अपना अनुभव कहता हूँ कि मुझको केवल मानस-रामायण से ही सब कुछ प्राप्त हुआ है। — — मैं बार-बार यह कहते नहीं अघाता कि आज तक मुझको जो कुछ प्राप्त है वह मानस की ही कृपा प्राप्त हुआ है।

—कल्याण (गीता प्रेस) वर्ष ११ संख्या १ पृ० ५१ में पं० श्री रामवल्लभा शरण जी महाराज के निबन्ध 'मानस जीवन का प्रकाश है' से उद्धृत।

—द्रष्टव्य—कल्याण वर्ष ११ संख्या १ पृ० ८५१ 'रामायण से शान्ति' एवं पृ० ८६४ 'मानस भक्तिभाव का समुद्र ही है'। इत्यादि लेख।

१ मा० १ श्लो २ २ श्लो० १ ३ श्लो० १ ६ श्लो० २ ३ ७ श्लो० ३

२ मा० ७ १०८ १ १८

३ मा० ७ १३० २

४ मा० ७ ५३ १

५ राम स्वयंवर पृ० ६६८ पं ११—पृ० ६७० पं० १०—

'जेहि हेतु ग्रन्थहि निर्मान्यो। तेहि हेतु अब सुनहु सुजाना।।——

पूरन भयो ग्रन्थ सुख आगर। राम स्वयंवर नाम उजागर।।

मानस की व्याख्या एवं प्रचार करने वाले सज्जन अपनी-अपनी योग्यता से अनुरूप ख्याति प्राप्त कर प्रतिष्ठा एवं अर्थ प्राप्त करते हैं। बहुत से कथावाचक या व्यास तो मानस की कथा के पाठ से ही अपने परिवार का भरण-पोषण और अपनी जीविका का निर्वाह कर रहे हैं। आज भी समाज में बहुत से ऐसे व्यक्ति हैं जो मानस का नित्य विधिवत पारायण किए बिना अन्न जल नहीं ग्रहण करते। माधुर्योपासक साधकों के जीवन पर भी रामचरितमानस की भक्ति का अपरिमित प्रभाव पड़ा है। वे 'मानस' को साक्षात् भगवान राम का वाङ्मय अवतार मानते हैं और उस ग्रंथ वस्त्रों में आवेष्टित करके श्रद्धापूर्वक रखते हैं। महात्मा रामाजी ऐसे ही माधुर्योपासकों में अग्रगण्य थे। वे अपने आराध्य भगवान राम को सावावेश में भी से बहुधा कहा करते थे और उनके विवाह का ही झाँकी प्रस्तुत किया करते थे। आज भी इनके वयोवृद्ध शिष्य महात्मा रमाशंकरशरण जी अयोध्या में विद्यमान हैं और इनके द्वारा संस्थापित 'मिथुली भवन' में अभी भी प्राय: प्रत्येक महीने के कृष्ण एवं शुक्ल पक्ष की पंचमी तिथि को सीताराम विवाह की मधुर झाँकी प्रस्तुत की जाती है। प्रत्येक वर्ष अगहन शुक्ल पंचमी को तो इस विवाहोत्सव का आयोजन विराट रूप में होता है और उस समय सन्तों का एक बहुत बड़ा प्रीति भोज (भण्डारा) भी किया जाता है। 'मिथुली भवन' के मंडप में मानस के विवाह प्रकरण के बहुत से पद टंकित हैं और विवाह के अवसर पर भी मानस के विवाह प्रकरण का सस्वर पाठ किया जाता है।[1] उस समय साधकों एवं भक्तों द्वारा निर्मित राम-विवाह के बहुत से अन्यान्य पद भी गाये जाते हैं जो प्राय: मानस के बालकाण्ड बालकाण्ड में वर्णित सीताराम-विवाह प्रकरण के आधार पर ही रचित हैं।[2]

---

१ मा० १.२८७.१-१.३२७.१०

२ (क) रचे रुचिर बर बंदनिवारे। मनहुँ मनोभव फंद सवारे॥

—मा० १.२८९.१

पँड़ पँड़ पर पँड़ पद पँदनि पँड़ि आय
लसत तहाँ रचि रुचिर पँदनि पद पाँवनि पाय
चितवनि तकनि निहारनि निरखनि मगन मन मान॥
जोइ मांग्या सोइ भया मना मनु फन्द सवार सान॥

इत्यादि।

मांगलोत्सव पृ० ११ ६१

(ख) कुअँर कुअँरि कल भावँरि देहीं। नयन लाभु सब सादर लेहीं॥

... ...

प्रमुदित मुनिन्ह भावँरी फेरी। नेग सहित सब रीति निबेरीं॥

—मा० १.३२५.१-७

बारा दुलहा देहिं भामरिया ए। मन मोहनी दुलही भामरिया ए।
श्याम गौर गौर श्यामा बारा जा‍न जोड़िया
हरे हरे हाथ चढ़ें जोरिया ए बारा०॥
चित्रनि पै चढ़ें मणिन मौर मौरिया॥

शेष अगले पृष्ठ पर——

हिन्दू-धर्म के विभिन्न सम्प्रदायों के साधकों के द्वारा देश के भिन्न-भिन्न भागों में मानस की पढ़ाई एवं परीक्षा का भी प्रचार किया गया है। इस सम्बन्ध में गीताप्रेस गोरखपुर की 'रामायण परीक्षा समिति' का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। देश के अन्य भागों में भी इसके केन्द्र हैं। इसी तरह एक 'मानस-राम व्यवहार विद्यालय' 'मानस संघ', रामवन सतना में है। यतिराज स्वामी रणछोड़दासजी महाराज ने 'सद्गुरु-सदन' राजकोट (गुजरात) में 'मानस-विद्यालय' की स्थापना की है। इनके अतिरिक्त देश के भिन्न-भिन्न भागों में भी इसी तरह "मानस" की पढ़ाई एवं परीक्षा होती है और उत्तीर्ण परीक्षार्थियों को 'मानस रत्न', 'मानस-शास्त्री', 'मानस-आचार्य', 'मानस महारथी' आदि की उपाधियाँ भी प्रदान की जाती हैं। अयोध्या में अनेक ऐसे स्थान हैं, जहाँ 'मानस' पर प्रवचन ही नहीं होता परन्तु नियमित रूप में उसकी कथा एवं पढ़ाई भी होती है।

हिन्दू-धर्म के विभिन्न सम्प्रदायों के साधकों पर ही नहीं अनेक हिन्दी विद्वानों

शेष पाद टिप्पणी—

दामिनी की छबि छीनै सारिया मैं वारी० ॥
रतनारी कजरारी खंजन अँखरिया।
लखिहहिं करे बेकदरिया ए वारी० ॥
कंचन चँदरिया में परी है गठरिया।
बाँधे है कि छूरी बस करिया ए वारी० ॥
मनरम मनिन की सुघरी सोहरिया।
लावा खिरियावें भरि भरिया ए वारी० ॥
उमगि उमगि गावैं आलियन भरिया।
मुरज मृदंग बेसुमरिया ए वारी० ॥
जयति जयति जय जय होत सोरिया।
गुर करि सुमन की झरिया ए वारी० ॥
परे मणि कम्मनि में दम्पति छहरिया।
जामें जोति जगर मगरिया ए वारी० ॥
माता रति पति जानि पितु महतरिया।
प्रगटि सुरत बेरि बेरिया ए वारी० ॥
फूलि न समाति धनि मोदिया किंकरिया।
सखी लाल लखनि लकोरिया ए वारी० ॥

—श्री मैथिली विवाह पदावली मोदगी, पद ४५ पृ० १७-१८

(च) मा० १।३२७।१२।१४

सहकौरि करत पिय प्यारी।
जनक नगर की सखी चतुर सब गावत रस की गारी।
... ...
— — — — — —

प्रेम हार निज निज पाती करि पकरयो अवध बिहारी।
सब सिय सखनि भौंह करि बाँको मन हरिणहिं सुकुमारी ॥

—वही मोहकरि, पद ५४ पृ० ३१ ३२

एवं साधकों के व्यक्तिगत जीवन पर भी मानस की सदाचारपूर्ण विशुद्ध भक्ति भावना ने मद्भुत प्रभाव डाला है। यहाँ तक कि हिन्दू-धर्म क कट्टर विरोधी कुल में अवतीर्ण अनेक अहिन्दू भी मानस की भक्ति के प्रभाव से परम साधु एवं रामभक्त बन चुके हैं। इस संबंध म अयोध्या के रामभक्त मुसलमान फकीर मोहन साईं का नाम उल्लेख्य है। रामचरित मानस की जन्मभूमि तुलसी-चौरा पर लिखित इनकी कविता भी अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है।[1] मानस तत्त्वान्वेषी पं० रामकुमारदास जी न अपने मानस महत्त्व और प्रचार नामक निबन्ध में प्रसिद्ध मुसलमान कवि रहीम की एक हिन्दी एवं दो फारसी कविताएं उद्धृत की हैं, जिनसे मुसलमानों पर मानस की भक्ति के पर्याप्त प्रभाव का पता चलता है।[2] 'मानस' की भक्ति-भावना ने हिन्दी भाषी प्रान्तों के साधु-सन्तों तथा गृहस्थों के वैयक्तिक जीवन को जितना अधिक प्रभावित किया है उतना अधिक न तो कोई ग्रन्थ न कोई साधना मार्ग और न कोई महात्मा ही कर सका है। प्रत्येक हिन्दू के हृदय पर कुछ-न-कुछ मानस की भक्ति का प्रभाव किसी-न-किसी रूप म अवश्य है।

''रामचरितमानस' की भक्ति का राष्ट्रीय जीवन पर प्रभाव

मानस की भक्ति के राष्ट्रीय जीवन पर पड़ने वाले विभिन्न प्रभावों की मीमांसा करने के लिए कुछ उपशीर्षक बना लेना हमारे लिये सुविधाजनक प्रतीत होता है। राष्ट्र के अंगों म धर्मोपदेशक शासक शिक्षित वर्ग कृषक एवं श्रमजीवी लोकनेता साहित्यिक इत्यादि का महत्त्वपूर्ण स्थान सुरक्षित है। साथ ही राष्ट्रीय जीवन में संस्कार लोकोत्सव व्रत पूजा-पाठ तीर्थ एवं देव-मन्दिर धर्मचित्र तथा आकाशवाणी इत्यादि का भी अपना स्थान है। अत इन्हीं के सहारे विभिन्न शीर्षक बनाकर यहाँ पर इस अतिगहन विषय के विवेचन का प्रयास किया जा रहा है।

(क) धर्मोपदेशकों पर

जिस समय तुलसी का आविर्भाव हुआ उस समय भारतीय सामाजिक एवं धार्मिक जीवन की स्थिति सर्वथा चिन्तनीय थी। चतुर्दिक चिन्ता एवं अशान्ति का साम्राज्य छाया हुआ था। तत्कालीन समाज के समक्ष कोई उच्च आदर्श नहीं था। स्वेच्छाचारिता बढ़ गयी थी। वर्णाश्रम धर्म की मर्यादा समाप्त प्राय थी। प्रजा पतित एवं पाखण्डरत हो रही थी। शान्ति और सत्य के स्थान पर अशान्ति और कपट का एकाधिपत्य छा चुका था। साधु

---

१ अवध की भूमि पवित्र सब है
पवित्रतम उसम तुलसी चौरा।
तवाफ करते हैं रोज जिसका
विरंचि नारद महेश गौरा॥
इत्यादि।
—मानसमणि मणि १, आभाऽ १, पृ० १० १४

२ मानस मणि मणि २ आभाऽ २ पृ० १६६

कष्टमय जीवन यापन कर रहे थे और असाधु गुलछर्रे उड़ा रहे थे।[1] कष्ट दरिद्रता एवं भुखमरी के भीषण प्रवाह में सामान्य जन-जीवन ऊब डूब कर रहा था। किसान को खेती करने के साधन उपलब्ध नहीं थे। भिखारी को भीख नहीं मिल रही थी। न वणिक का व्यापार ही चलता था और न नौकर को नौकरी ही मिलती थी। लोग जीविकाविहीन एवं चिन्ताग्रस्त दशा में क्षीण होकर एक दूसरे से कह रहे थे कि कहाँ जायें और क्या करें?[2] क्षुधा की ज्वाला में प्रपीड़ित होकर पेट को भरने के लिए व्यक्तिगत सामाजिक एवं धार्मिक सदाचारों को तिलांजलि देकर लोगों के सामने वेद-शास्त्र एवं बेटा बेटी तक को भी बेचने की नौबत आ चुकी थी। रामचरितमानस के उत्तर काण्ड में काकभुशुंडि के पूर्ववर्ती जीवन में अनुभूत कलियुग वर्णन तत्कालीन जन-मन की मलिनता का स्पष्ट परिचायक है। वस्तुतः यह तुलसी के समकालीन अनुभव पर ही आधारित है।

इसी तरह उस समय वेदों पुराणों एवं शास्त्रों का अध्ययन ठप पड़ा रहा था और निरक्षर भट्टाचार्य मत नामधारी साधु भक्ति के नाम पर वेदों पुराणों एवं शास्त्रों की निन्दा कर अपने मत का प्रचार कर रहे थे।[3] शूद्र ब्राह्मणों से बराबरी के लिए वाद-विवाद कर रहे थे और वे ब्रह्मज्ञानी बनने का मिथ्या दम्भ भरते थे।[4] अनाधिकार चर्चा भक्ति एवं साधुता का दम्भ इतना बढ़ रहा था कि स्त्री-पुरुष ब्रह्मज्ञान के सिवा दूसरी बात नहीं करते।[5] इस समय योग मार्गी गोरख पंथी साधु अपने चमत्कार, करामात एवं सिद्धि से लोगों को भ्रमित एवं आतंकित कर भोले-भाले प्रेमपूर्ण भक्ति मार्ग को पंकिल बना रहे थे जिससे विशुद्ध भाव एवं प्रेमपूरित भक्ति-भावना जन जीवन से दूर भागती जा रही थी।[6] नाना सम्प्रदायों के प्रादुर्भाव से भक्ति का यथार्थ स्वरूप बाधित हो रहा था।

---

१ आश्रम बरन धरम बिरहित जग लोक बेद मरजाद गई है।
प्रजा पतित पाखंड पापरत अपने अपने रंग रई है।
सांति सत्य सुभ रीति गई घटि बढ़ी कुरीति कपट कलई है।
सीदत साधु साधुता सोचति खल बिलसत हुलसति खलई है॥
विनयपत्रिका, पद १३९, पंक्ति ७-१०

२ खेती न किसान को भिखारी को न भीख बलि
बनिक को बनिज न चाकर को न चाकरी।
जीविका बिहीन लोग सीद्यमान सोच बस
कहैं एक एकन सों कहाँ जाई, का करी।
कवितावली उत्तरकांड पद ९७

३ साखी सबदी दोहरा कहि किहनी उपखान।
भगति निरूपहिं भगत कलि निंदहिं बेद पुरान॥ —दोहावली दो० ५५४

४ बादहिं सूद्र द्विजन सन हम तुम्ह ते कछु घाटि।
जानइ ब्रह्म सो बिप्रबर आँखि देखावहिं डाटि॥
—दोहावली दो० ५५३
—मा० ७ ९९ (ख)

५ ब्रह्मग्यान बिनु नारि-नर कहहिं न दूसरि बात। —मा० ७ ९९(क)

६ गोरख जगायो जोगु, भगति भगायो लोगु,
निगम-नियोग तें सो केलि ही छरो-सो है।
—कवितावली उत्तरकाण्ड ८४ तृतीय चरण

लोगों ने भक्ति की दुर्गति कर रखी थी और उसका लोक विरोधी विकृत रूप और पकड़ता जा रहा था।[1] दोनों संप्रदायों एवं मतों की साम्प्रदायिक संकीर्णता परिधि का अतिक्रमण कर रही थी और उनका पारस्परिक विरोध पराकाष्ठा पर था। कर्म, धर्म, भक्ति, योग, ज्ञान आदि एक दूसरे से बहुत दूर पड़ गये थे और सबों में एकांगदर्शिता का आधिक्य था। तुलसी के आविर्भाव के पूर्व भारत की विषम परिस्थिति की चर्चा करते हुए आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने भी लिखा है— हम्मीर के समय में चारणों की वीरगाथा काल समाप्त होते ही हिंदी कविता का प्रवाह राजकीय क्षेत्र से हटकर भक्ति पथ और प्रेमपथ की ओर चल पड़ा। देश में मुसलमान साम्राज्य के पूर्णतया प्रतिष्ठित हो जाने पर वीरोत्साह के सम्यक् संचार के लिए वह स्वतंत्र क्षेत्र न रह गया। देश का ध्यान अपने पुरुषार्थ और बल-पराक्रम की ओर से हटकर भगवान् की शक्ति और दया दाक्षिण्य की ओर गया। देश का वह नैराश्य काल था जिसमें भगवान् के सिवा और कोई सहारा नहीं दिखाई देता था। रामानन्द और वल्लभाचार्य ने जिस भक्ति रस का प्रभूत संचय किया कबीर और सूर आदि की वाग्धारा ने उसका संचार जनता के बीच किया। साथ ही कुतबन, जायसी आदि मुसलमान कवियों ने अपने प्रबंध रचना द्वारा प्रेमपथ की मनोहरता दिखाकर लोगों को लुभाया। इस भक्ति और प्रेम के रंग में देश ने अपना दुःख भुलाया, उसका मन बहला।

भक्तों के भी दो वर्ग थे। एक तो भक्ति के प्राचीन भारतीय स्वरूप को लेकर चला था अर्थात् प्राचीन भागवत-संप्रदाय के नवीन विकास का ही अनुयायी था और दूसरा विदेशी परंपरा का अनुयायी लोक धर्म से उदासीन तथा समाज व्यवस्था और ज्ञान विज्ञान का विरोधी था। यह द्वितीय वर्ग जिस घोर नैराश्य की निराश स्थिति में उत्पन्न हुआ उसी के सामंजस्य-साधन में संतुष्ट रहा। उस भक्ति का उतना ही अंश ग्रहण करने का साहस हुआ जितने को मुसलमानों के यहाँ भी जगह थी। मुसलमानों के पास रहकर इस वर्ग के महात्माओं को भगवान् के उस रूप पर जनता की भक्ति को जगाने का उत्साह न हुआ जो अत्याचारियों का दमन करने वाला और दुष्टों का विनाश कर धर्म को स्थापित करने वाला है। इसमें उन्हें भारतीय भक्तिमार्ग के विरुद्ध ईश्वर के सगुण रूप के स्थान पर निर्गुण रूप ग्रहण करना पड़ा जिसे भक्ति का विषय बनाने में उन्हें बड़ी कठिनता हुई।[2]

उपर्युक्त उद्धरण से यह स्पष्ट है कि किन कारणों से तुलसी के पूर्ववर्ती एवं समसामयिक धर्मोपदेशकों ने श्रुति-स्मृति प्रतिपादित भागवत धर्म की अवहेलना की। उन्होंने परमात्मा के अस्तित्व को स्वीकार तो कर लिया पर उन्हें निर्गुण एवं निराकार ही बताय

---

१ श्रुति सम्मत हरि भक्ति पथ संजुत बिरति बिबेक।
तेहि परिहरहिं बिमोह बस कल्पहिं पंथ अनेक॥
—मा० ७।१०० (ग)
—दोहावली, दो० ५५५
कलिमल ग्रसे धर्म सब लुप्त भए सदग्रंथ।
दंभिन्ह निज मति कल्पि करि प्रगट किए बहु पंथ॥
—मा० ७।९७ (क)

२ पं० रामचंद्र शुक्ल: गोस्वामी तुलसीदास, पृ० १२

रहा। यह सत्य है कि गौतम-बुद्ध, महावीर गोरखनाथ कबीर, जायसी इत्यादि महापुरुष और महात्मा थे किन्तु उन्होंने य विप्रतिपादित धर्म का विरोध किया। उनमे से किन्हीं ने तो ईश्वर का अस्तित्व ही नहीं स्वीकार किया और किन्हीं ने उसका सगुण एवं साकार होना असत्य एवं अर्थमय बतलाया। कुछ लोगों ने तीर्थ व्रत एवं सगुणोपासना का भी भंर उप हास किया और हिन्दू धर्म की मान्यताओं पर आक्रमण करने की यथाशक्ति चेष्टा की। बालक तुलसी द्वार-द्वार भिक्षाटन करते हुए अपने धर्म एवं संस्कृति को इस प्रकार क्षत-विक्षत होते हुए देख रहे थे। उनके परम मानी गुरु ने उन्हें शैशवावस्था में जिस रामचरित का उपदेश दिया था उसका बार-बार स्मरण कर और अपनी तपस्या तथा चिन्तन शक्ति से उसे आत्म सात् कर वे चमत्कृत हो उठे और उन्होंने अपने धर्म पर होने वाले उस आक्रमण को समझा। इससे वे तिलमिला उठे और उसके विरोध की वाणी को मुखरित कर लोक धर्म के यथार्थ स्वरूप को प्रतिष्ठित करने के लिए उन्होंने रामचरितमानस का प्रणयन किया। आचार्य शुक्ल ने ठीक ही लिखा है— 'संसार जैसा है वैसा मानकर उसके बीच से एक एक कोने को स्पर्श करता हुआ, जो धर्म निकलेगा वही लोक धर्म होगा। जीवन के किसी एक अंग मात्र को स्पर्श करने वाला धर्म लोक धर्म नहीं।'[१]

तुलसी ने नाना सम्प्रदायों की लोकविरोधी भावना पर बड़ी निर्ममता के साथ कठोर प्रहार कर परम्परागत सनातन धर्म के अनुकूल प्रेमपूर्ण भक्ति के यथार्थ स्वरूप को समाज के समक्ष उपस्थित किया। उनकी दृष्टि में भक्ति का मार्ग तो सीधा-सादा भाव एवं प्रेम का मार्ग है। इसमें करामात चमत्कार, अलौकिक ज्ञान एवं सिद्धि आदि के लिए कोई अवकाश नहीं है। अतः उन्होंने सभी प्रकार के आडम्बरों की भर्त्सना करते हुए भक्ति की प्राप्ति के लिए मन वचन एवं कर्म की निर्मलता तथा सरलता पर बल दिया है।[२] भक्ति तो संसार के समस्त प्राणियों के लिए अन्न और जल की भाँति सुलभ है।[३] यही कारण है कि हिन्दू जनता में मुसलमान पीर फकीरों द्वारा प्रसारित अन्ध विश्वासों की उन्होंने तीव्र भर्त्सना की है।[४] केवल निर्गुणवाद का स्थान-स्थान पर उन्होंने बड़े जोश के साथ खण्डन किया है।[५] इसी प्रकार उन्होंने वर्णाश्रम धर्म के विरोधियों का उपहास किया है।[६] काशी[७]

---

१ गोस्वामी तुलसीदास पृ० २४

२ सूधे मन सूधे बचन सूधी सब करतूति।
तुलसी सूधी सकल बिधि रघुबर प्रेम प्रसूति ।।
— दोहावली दो १५२
निर्मल मन जन सो मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा ।।
—मा० ५ ४४ ५

३ मधु असन अवलोकियत सुलभ सबै जग माहि ।।
—दोहावली, दो० ८० (उ०)

४ दोहावली दो ४६६

५ मा १ ११४ ५-११६ दोहावली दो ११ २५१

६ मा० ७ ९९(ख) ७ १०० १

७ मा० ४ सो० १ विनयपत्रिका पद २२

अयोध्या,[1] प्रयाग[2] चित्रकूट[3] रामेश्वरम्[4] आदि तीर्थ स्थानों की महिमा का कथन कर उन्होंने उनका माहात्म्य प्रकाश किया है। वे ब्राह्मण[5] और गौओं[6] की पूजा के अत्यंत पक्षपाती हैं। उन्होंने राम को मनुष्य मानने वालों की भर्त्सना पर गहरा क्षोभ प्रकट किया है[7] और अपने लिए राम प्रेम ही परम कर्तव्य बतलाया है चाहे वे मनुष्य हों या परमात्मा।[8] यदि राम मानव हैं और मानव होकर भी उन अगणित गुणों के आगार हैं जो वाल्मीकि आदि महर्षियों में वर्तमान हैं तो भी तुलसी राम के प्रेम से विमुख नहीं होना चाहते, क्योंकि उतने अधिक दिव्य गुणों से युक्त होने पर मनुष्य ईश्वरीय तेज के अंश के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता, जैसा कि गीता में कहा गया है।[9] इसीलिए राम के अधीन होने पर भी वे अपना सौभाग्य समझते हैं।

तुलसी ने भगवान राम के सौन्दर्य शक्ति एवं शील का अत्यन्त मनोहर एवं प्रभावोत्पादक रूप भारतीय जन मानस के समक्ष रखकर एक अद्भुत एवं अलौकिक कार्य किया है। आचार्य शुक्ल के शब्दों में— भगवान का जो प्रतीक तुलसीदास जी ने लोक के सम्मुख रखा है भक्ति का जो प्रकृत आलम्बन उन्होंने खड़ा किया है उसमें सौन्दर्य शक्ति और शील तीनों विभूतियों की पराकाष्ठा है। सगुणोपासना के ये तीन सोपान हैं जिन पर हृदय क्रमशः टिकता हुआ उच्चता की ओर बढ़ता है।[10]

तुलसीदास के इस रामचरितमानस के प्रचार प्रसार के साथ ही साथ धर्मोपदेशकों की वृत्ति बदल गयी। कोरा निर्गुणवाद शिथिल पड़ गया। वर्णाश्रम धर्म की भर्त्सना करने वाले संकुचित होने लगे। तीर्थों और व्रतों पर से लोकश्रद्धा हटाने की किसी की हिम्मत नहीं हुई। राम को मानव कहने वालों की बात का कोई मूल्य नहीं रहा। हाट-बाट गाँव नगर और जंगल-पहाड़ सब राम नाम से गुंजित हो गए। सब प्रकार की धार्मिक संकीर्ण धारणाओं एवं भेद भावों की जड़ें उखड़ गयीं। भारतीय जनता में एक नवजीवन का संचार हुआ और उसमें नये साहस नये बल नयी आशा नयी उमंग और नयी स्फूर्ति का प्रवाह फूट पड़ा। अब किसी भी धर्मोपदेशक को साहस नहीं हुआ कि वह वैदिक धर्म के प्रतिकूल आवाज बुलन्द करे। यदि कोई कुछ कहने का दुस्साहस भी करता था तो जनता उसे अनसुनी कर देती थी। हिन्दू-धर्म के प्रचारकों और व्याख्याताओं की धूम मच गयी और

---

१ मा० १।१२०।१ ७।४२।७ ७।२१।८ (पू०)
२ मा० २।१०५।२ २।१०९।१ १।१२०।८
३ मा० २।१३२।१ २।१३१।४
विनयपत्रिका पद २३ २४
४ मा० ६।३।१२
५ मा० ७।१८ (क)
६ दोहावली दो० ५४७-५४९
७ मा० १।११४।८ १।११५ १।२६।११ ६।११८।११ (क)
८ दोहावली दो० ६१
९ यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥
—श्रीमद्भगवद्गीता अ० १० श्लो० ४१
१० गोस्वामी तुलसीदास पृ० ५३ ५४

उनके हाथ में रामचरितमानस की एक प्रति अवश्य दिखाई पड़ती थी। इस ग्रन्थ ने अनेक साधु महात्मा, योगी साधक और धर्मोपदेशक उत्पन्न किये। बहुत-सी रामायण मण्डलियाँ स्थापित हुयीं। राम जन्मोत्सव का महत्त्व अत्यन्त बढ़ गया और प्रायः सर्वत्र रामलीलाएं होने लगीं। ऐसे अवसरों पर धर्मोपदेशक मानस धर्म की व्याख्या कर जनता को आह्लादित एवं प्रभावित करने के लिये प्रयत्न करने लगे। इस प्रकार तुलसी के मानस की भक्ति ने धर्मोपदेशकों के हृदय, मस्तिष्क एवं नैतिकता पर अमिट छाप डाली है।

(ख) राजवर्ग या शासकों पर

यों तो भारतीय शासकों के दरबार में कवि प्राचीनकाल से ही रहते आये थे किन्तु मुगल सम्राट अकबर की उदार नीति के कारण उसके उच्च पदस्थ दरबारी भी कवियों की संगति रखते थे और स्वयं भी कविता करते थे। उदाहरणार्थ ब्रह्म या बीरबल, तानसेन गंग, रहीम आदि के नाम लिये जा सकते हैं। लोगों ने यह समझना प्रारम्भ कर दिया था कि हिन्दी भी एक महत्त्वपूर्ण भाषा है और उसका साहित्य अत्यन्त गम्भीर एवं महान है। उस समय हिन्दी कविता अकबरी दरबार में पहुँच चुकी थी और उसने अकबर के दरबारियों को बहुत कुछ प्रभावित कर लिया था।[1] तुलसी का प्रभाव रहीम तक पहुँच चुका था[2] और भक्ति-मार्ग विशेषतः सगुण भक्ति-मार्ग से केवल दरबारी ही नहीं उनके शासक भी कुछ-न-कुछ परिचित हो चुके थे। अकबर ने यह समझ लिया था कि हिन्दी-भाषा हिन्दी साहित्य हिन्दू-जाति और हिन्दू-धर्म के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित करने पर ही उसका साम्राज्य भारत में सुदृढ़ हो सकता है। तुलसी ने जिस भक्ति और चरित्र पर बल दिया था उसका प्रभाव रहीम आदि दरबारियों और शासकों पर विशेष रूप से पड़ा था। तुलसी द्वारा वर्णित रामराज्य की महिमा से स्वयं अकबर और उसके दरबार के देशी राजे-महाराजे भी बहुत कुछ प्रभावित हुये होंगे। जिस रामराज्य की महिमा का वर्णन तुलसी ने बड़े ठाट से किया है उसका स्वरूप बहुत से दरबारियों और शासकों के समक्ष आया होगा और उन्होंने यथाशक्ति उसे अपनाने का प्रयत्न भी किया होगा। गोस्वामी जी ने तत्कालीन मुगल-शासकों और उनके दरबारी राजाओं-महाराजाओं के उत्पात का भी दिग्दर्शन कराया है।[3] उन्हीं की ओर इंगित करते हुए उन्होंने कहा था—

"गोड़ गवाँर नृपाल महि जमन महा महिपाल।
साम न दाम न भेद कलि केवल दण्ड कराल॥[4]

---

१ डा॰ सरयूप्रसाद अग्रवाल अकबरी दरबार के हिन्दी-कवि पृ॰ २५-१२ (अकबरी दरबार में हिन्दी का सम्मान)।

२ उनके 'रामचरितमानस' के सम्बन्ध में उन्होंने कहा है—
रामचरितमानस विमल सन्तन जीवन प्रान।
हिन्दुआन को वेद सम जमनहिं प्रगट कुरान॥
मानस-मणि मणि ९ आलोक ५ पृ॰ १६६ पं॰ रामकुमारदास जी लिखित मानस महत्त्व और प्रचार निबन्ध से उद्धृत।
कल्याण के रामायणांक पृ॰ २२६ में श्री बालक रामजी विनायक ने भी यह दोहा लिखा है।

३ मा॰ ११८३ -८

४ दोहावली, ५५६

वस्तुतः तुलसी ने रामराज्य के आदर्श को सामने रखकर ही यह बात कही थी अन्यथा अकबर काल का शासन सर्वथा भ्रष्ट नहीं था। न केवल हिन्दी वरन् संस्कृत के सन्तों का भी वहाँ आदर होता था और उस दरबार में सम्मानपूर्वक स्थान दिया जाता था। आदर्श राजा राम की शासन पद्धति से प्रभावित होकर अकबर ने सब धर्मों के साथ समान व्यवहार करने की नीति अपनायी थी। कहा जाता है कि किसी नरहरि बन्दी जन की कविता को सुनकर उसने गोवध बन्द करा दिया था।[1] जिस राजा की प्रजा के हृदय में राम का निवास हो उसे अधम करम की प्रेरणा भी नहीं हो सकती। इसलिए अकबर का दरबार शासन-कार्य को सुचारु रूप से संचालित करता रहा और तुलसी जैसे महात्माओं के उपदेशों से लाभान्वित होकर अपनी प्यारी प्रजा को शासित रखने में प्रयत्नशील रहा।

आज के भी शासक यदि राम और भरत के आदर्श को अपने सामने रख कर त्याग एवं सेवा भाव से शासन का संचालन करें तो निश्चय ही स्नेह की एक ऐसी पारिवारिक व्यवस्था स्थापित हो सकती है जिसमें शासक शासक न होकर परिवार के ही पिता भाई आदि सदस्य के रूप में सम्मानित हो सकता है।

(ख) शिक्षित-वर्ग पर—

'रामचरितमानस' की भक्ति का सर्वाधिक प्रभाव शिक्षित हिन्दू जनता के जीवन पर पड़ा है। प्रत्येक वर्णमाला जानने वाला मनुष्य 'रामचरितमानस' के पठन-पाठन में दत्त चित्त हुआ। उसकी तरह-तरह की टीकाएं लिखी जाने लगी और भागवत के समान इसकी कथा का घर घर प्रचार हो गया। आगे चलकर मुद्रण यंत्रों का आविष्कार हो जाने से इसकी असंख्य प्रतियाँ बिकने लगी। मुस्लिमकाल तक तो मानस का प्रचार पाठशालाओं में नहीं हुआ था किन्तु अंग्रेजों के आते ही मानस पाठ्य-पुस्तक के रूप में अनेक परीक्षाओं में भी स्वीकृत हुआ। ज्यों-ज्यों विद्यालयों महाविद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों की संख्या बढ़ती जा रही है त्यों-त्यों इसके अध्ययन अध्यापन का प्रचार प्रसार होता जा रहा है। हिन्दू-धर्म और संस्कृति का ज्ञान प्राप्त करने के लिए कम पढ़े लिखे लोगों के लिए या विदेशियों के लिए इससे बढ़कर उत्तम ग्रन्थ कोई अन्य नहीं है। इसलिए हिन्दू भक्तों एवं साहित्यिकों के अतिरिक्त उदारहृदय मुसलमान एवं ईसाइयों ने भी इसे अपनाया है। उन्होंने इसे पढ़कर जो उद्गार व्यक्त किये हैं उनसे यह प्रतीत होता है कि 'रामचरितमानस' ने उन्हें अप्रभावित नहीं छोड़ा है।[2] इसकी भक्ति भावना साहित्यिकता एवं सामाजिक जीवन पर इसके सुखद प्रभाव से वे सर्वथा विस्मय विमुग्ध हैं। संसार की प्रायः प्रत्येक भाषा में मानस का अनुवाद हो चुका है। और यह बाइबिल की तरह ख्याति प्राप्त कर चुका है। चाहे धर्म की

---

१ आचार्य शुक्ल हिंदी-साहित्य का इतिहास पृ १६६ तथा
रामनरेश त्रिपाठी कविता-कौमुदी (भाग १) पृ० ८१

२ द्रष्टव्य 'तुलसी-दर्शन' -डा० बलदेव प्रसाद मिश्र पृ० १७ २१
साहित्य-सन्देश भाग १८ अंक ६ दिसम्बर १९५६ में
प्रो० रामप्रकाश अग्रवाल का निबंध 'गोस्वामी तुलसीदास और डा० ग्रियर्सन' पृ २११ २१५

दृष्टि से, चाहे दर्शन की दृष्टि से चाहे साहित्यिक या सांस्कृतिक दृष्टि से कोई, मानस का अध्ययन क्यों न करे, उसको यह अद्भुत आनंद एवं ज्ञान प्रदान करने वाली वस्तु है। सच पूछिये तो संसार के सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थों में इसकी गणना है और सारे संसार का शिक्षित-वर्ग एक स्वर से इसके इस महत्व को स्वीकार करता है। तुलसी के रामचरितमानस में कई विशेषताएं हैं। यह केवल भक्तिपरक ग्रन्थ ही नहीं है प्रत्युत एक उत्तम महाकाव्य भी है। इसमें आदर्श मानव के जीवन का अनुकरण किया गया है। अतः इसे सभी प्रेमपूर्वक अपनाते हैं। आज की भारतीय बहू-बेटियाँ भी केवल 'रामचरितमानस' का पाठ करने के लिए नागरी वर्णमाला सीखती हैं।

(घ) कृषकों तथा श्रमजीवियों पर—

धर्मोपदेशक, शासक एवं शिक्षित वर्ग के लोग या तो प्रायः नगरों में निवास करते हैं या उनसे नियमित संबंध संस्थापित किये रहते हैं। इनके अतिरिक्त जो भारतीय जनता है वह विशुद्ध ग्रामवासिनी है। ग्रामवासिनी जनता के प्रधानतः दो भेद किये जा सकते हैं कृषक तथा श्रमजीवी। कृषकों का जीवन बहुत कुछ राममय होता है। यदि वर्षा नहीं होती है, तो वे राम को पुकारते हैं। यदि अधिक होती है तो उससे रक्षा करने के लिए वे राम ही की शरण में जाते हैं। यदि कृषक शिक्षित है, अथवा शिक्षित न होने पर भी गाँव की राम कथा में सम्मिलित होता है तो मानस की चौपाइयों का गान करते हुए अपना कृषि काम किया करता है। यदि उसके परिवार में कोई अप्रिय घटना घट जाती है तो वह यह कहते हुए संतोष धारण करता है कि—

> सो न टरइ जो रचइ बिधाता ॥[1]
>
> या
>
> सो सबु सहिय जो दैउ सहावा ॥[2]

इस तरह वह बहुत से मानस के मार्मिक दोहे-चौपाइयों को कंठस्थ किये रहता है और जीवन के विभिन्न अवसरों पर उनका उच्चारण मनन एवं चिन्तन कर संतोष की सांस लेता है।[3] रामचरितमानस की कथा तो आबाल-वृद्ध-वनिता सब की जिह्वा पर रहती है और जन्म-मरण विवाह-शादी यज्ञोपवीत आदि जीवन के सारे संस्कारों में उसके गीत मुखरित होते रहते हैं। मेलों में तमिहारों में घरों और बागों में मठों और मन्दिरों में मानस की चर्चा अहर्निश चलती रहती है। इस प्रकार मानस की कथा उसकी चौपाइयों तथा उनके आधार पर रचित गीत प्रत्येक कृषक परिवार के सदस्यों के मन-मन्दिर में पूर्ण-प्रेम-प्रतिष्ठा के साथ विराजमान रहते हैं। 'मानस' के संसर्ग से ही हमारे देश के देहाती किसान, किसी भी अन्य देश के किसानों से अधिक सच्चरित्र एवं सुसंस्कृत हैं।

श्रमिक वर्ग में अभी शिक्षा का पूरा-पूरा प्रचार नहीं है फिर भी मानस की रामकथा

---

१ मा० १ ६७ १ (उ)
२ मा २ २४१ १ (उ०)
३ मा० १ १५६ (ल) १ २६१ २ १ २ ९४ २ १०१ ४ १७ १ ५८
[illegible]

से अपरिचित नर-नारी इस वर्ग में भी उत्तर भारत में कोई कदाचित ही मिलेगा। उनके जीवन में भी राम और मानस की कथा सर्वथा ओत प्रोत रहती है। अन्तर केवल इतना ही है कि कृषकों के जीवन मे जहाँ चौपाइयाँ अधिक उच्चरित होती रहती हैं वहाँ श्रमिकों के जीवन में बहुत ही कम।

कृषक तथा श्रमिक वर्ग के ग्रामीण छात्र भी अपने वातावरण से प्रभावित होकर मानस की भक्ति से बहुत कुछ शिक्षा ग्रहण करते रहते हैं। संध्या होते ही प्रत्येक बैठक पर दीप जलने के साथ ही कुछ-न कुछ समय तक रामचरितमानस का सस्वर पाठ होता रहा है। भोजन के पश्चात कुछ युवक इकट्ठे होकर श्रद्धा प्रेम एव भक्तिपूर्वक 'रामचरितमानस' का गायन ढोल-मजीर के साथ करते हैं। इस गायन के श्रवण से भक्त ग्राम वृद्धों की आत्माएं आह्लादित एवं पुलकित हो जाती हैं। गायकों एव श्रोताओं का सारा दिन का श्रम भी गायन एव श्रवण से सहज ही मिट जाता है। आज भी लाखों ऐसे देहाती हैं जो निरक्षर होने के बावजूद सुन-सुनकर और खेत मे गा-गा-कर रामचरितमानस की बहुत-सी पंक्तियों को कण्ठाग्र किये हुए हैं। कभी-कभी वे इन पंक्तियो को अपने जातीय गीतो में मिलाकर भी जमात बाँधकर गाते और नाचते हैं। कदाचित् मानस गायन के उद्भव से ही निर्मित हुआ है।

इसका 'गावत [1] और गावहिं [2] पद भी इसी तथ्य की ओर इंगित करता है। वस्तुत तुलसीदास के बेजमाम 'रामचरितमानस' के अभाव म किसानों का जीवन बड़ा बन्द और शुष्क बन जाता। [3] आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में आज तो हम फिर झोपड़ों में बैठे किसानों को भरत के भायप भाव पर लक्ष्मण के त्याग पर राम की पितृभक्ति पर पुलकित होते हुए पाते हैं, वह गोस्वामी जी के ही प्रसाद स। ...
... ...

गोस्वामी जी ने 'रामचरित-चिन्तामणि को छोटे-बड़े सब के बीच बाँट दिया जिसके प्रभाव से हिन्दू समाज यदि चाहे—सच्चे जी स चाहे—तो सब कुछ प्राप्त कर सकता है। [4]

(ङ) लोक नेताओं पर

लोकनेता का कर्तव्य है—लोक कल्याण पर दृष्टि रखकर स्वयं कार्य करना एव अपने राष्ट्र या समाज के लोगों से काम कराना। भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन को प्रारंभ करते हुए महात्मा गांधी गीता के साथ साथ "मानस की भी सर्वेव दुहाई देते रहते थे। उनकी दृष्टि में भारत मे यदि कोई ग्रन्थ झोंपड़ियों से महलों तक में स्थान पा सका है वह तुलसीदास कृत रामायण है। [5] वे इसे भक्ति-मार्ग का सर्वोत्तम ग्रन्थ [6] मानते थे।

---

१ मा० १ १२ १
२ मा० १ १८ १
३ गांधीजी की सूक्तियां पृ० ८५
४ गोस्वामी तुलसीदास पृ० १४ १५
५ गांधीजी की सूक्तियां पृ० ८५
६ वही पृ० ८४-८५ तथा 'कल्याण' मानसांक प्रथम पृ ५२—
रामचरितमानस मे श्रद्धा की प्राप्ति निबंध म उद्धृत।

उन्होंने अपनी प्रतिदिन की प्रार्थना में 'मानस' के दोहे-चौपाइयों को प्रमुख स्थान दिया था।[1] यथार्थतः 'रामचरितमानस' प्रधानतया भक्तिपरक ग्रन्थ होने पर भी जीवनोपयोगी अनेक विषयों का स्पर्श करता है। वह एक गम्भीर राजनीतिक ग्रन्थ भी है। चित्रकूट की सभा में स्वयं महाराज जनक, महामुनि वशिष्ठ, भरत एवं राम के साथ जनकपुर एवं अयोध्या के सभी मन्त्री, नीतिज्ञ एवं सारी प्रजा भी थी किन्तु इस घोर राजनीतिक संकट से परित्राण का मार्ग कौन निकाल सका? निस्संदेह राम और भरत के अलौकिक त्याग ने ही इस समस्या का सुखद एवं सुन्दर समाधान प्रस्तुत किया। तुलसी ने इस प्रसंग में राम[2] और भरत[3] के मुख से जो कुछ कहलवाया है वह सर्वथा महत्त्वपूर्ण एवं विश्व कल्याणकारी है। राम और भरत के इस संवाद में राजनीति, समाजनीति एवं धर्म सबका सार तत्त्व समाविष्ट हो गया है। वस्तुतः तुलसी के राजनीतिक कौशल का मर्म है—जनता के समक्ष राम-राज्य का आह्लादपूर्ण चित्रण और कलियुगी शासन के विकृत स्वरूप का चित्रण। आखिर महात्मा गांधी से लेकर छोटे-बड़े सभी नेताओं ने इस नीति से भिन्न आचरण कहाँ किया है? उन्होंने ब्रिटिश-शासन को शैतानी शासन कहा और जी भरकर उसकी बुराइयों का पर्दाफाश किया। साथ ही उन्होंने भावी कांग्रेसी शासन को रामराज्य की संज्ञा देकर ब्रिटिश सत्ता के प्रतिकूल एक अदम्य क्रान्ति की उत्पत्ति की। तुलसी ने 'मानस' के लंका काण्ड में जिस धर्म-रथ[4] का उल्लेख किया है उसका मिलान महात्मा गांधी के जीवन से सहज ही किया जा सकता है। वस्तुतः उन्होंने भी उसी रथ पर बैठकर विजय प्राप्त की थी। इस तरह 'रामचरितमानस' एक ऐसा महान् क्रान्तिकारी ग्रन्थ है जो पददलित राष्ट्र को अपने प्रेम, साहस और सदाचार के बल पर अत्याचारियों का विध्वंस कर जाग्रत होने की प्रबल प्रेरणा प्रदान करता है। यही कारण है कि महात्मा गांधी[5] महामना

---

१ मा० २ १२७—२ १११

२ मा० २ २६४ ६—२ २६४—

> 'राखेउ रायँ सत्य मोहि त्यागी। तनु परिहरेउ पेम पन लागी॥
> तासु बचन मेटत मन सोचू। तेहि तें अधिक तुम्हार सँकोचू॥
> ता पर गुर मोहि आयसु दीन्हा। अवसि जो कहहु चहउँ सोइ कीन्हा॥
>
> मनु प्रसन्न करि सकुच तजि कहहु करौं सोइ आजु।
> सत्यसंध रघुबर बचन सुनि भा सुखी समाजु॥

३ मा० २ २६९ १—२ २६९—

> निज सिर भारु भरत जियँ जाना। करत कोटि बिधि उर अनुमाना॥
> करि बिचारु मन दीन्ही ठीका। राम रजायस आपन नीका॥
> ... ...
> ... ...
> प्रभु प्रसन्न मन सकुच तजि जो जेहि आयसु देब।
> सो सिर धरि धरि करिहि सबु मिटिहि अनट अवरेब॥

४ मा० ६ ८० ५ ११

५ गांधीजी की सूक्तियाँ पृ० ८४ ८५
कल्याण मानसांक प्रथम पृ० ५२ 'रामचरितमानस से श्रद्धा की प्राप्ति' नामक निबन्ध।

मालवीय[1] देशरत्न राजेन्द्रप्रसाद[2] सरीखे भारतीय राजनेता गण "रामचरितमानस से प्रभावित होते रहे हैं। भारतीय सांस्कृतिक परम्परा के आलोक में मेरा दृढ़ विश्वास है कि लोक मंगल की दिशा में प्रयत्नशील इस कोटि के व्यक्तियों के लिए यह ग्रन्थ सदैव सत्य प्रेरणा का स्रोत बना रहेगा।

(च) साहित्यिकों पर

साहित्यिक एवं भक्त दोनों में एक बात में साम्य है। वे दोनों ही अलौकिक आह्लाद के अन्वेषण में तल्लीन रहते हैं। इसीलिए साहित्य से उत्पन्न होने वाले आह्लाद को 'ब्रह्मानन्द सहोदर' कहा जाता है। साहित्य में जो आह्लाद उत्पन्न होता है, उसके साधन तीन हैं—वस्तु पात्र एवं रस। रामचरितमानस की कथावस्तु में, उसके पात्रों में और उसमें सन्निविष्ट रसों में इतना अधिक आह्लाद है जो प्रत्येक सहृदय प्राणी को अनायास ही अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है। साहित्यिक आह्लाद के अतिरिक्त रामचरित मानस में आध्यात्मिक आह्लाद की अनुभूति इसीलिए होती है कि उसके नायक एवं नायिका इस चराचर सृष्टि के सर्वस्व हैं और उनमें सौन्दर्य शक्ति एवं शील की पराकाष्ठा है। सच पूछिये तो 'मानस' में साहित्यिक आह्लाद एवं भक्तिजन्य आह्लाद दूध-चीनी की तरह एक दूसरे से सर्वथा घुलमिल गये हैं। इसीलिये साहित्यिक आह्लाद मात्र के लिए इसके अध्ययन करने वाले भी अन्ततः कुछ-न कुछ भक्तिरस में पगे बिना नहीं रह पाते।

यद्यपि तुलसी की सम्पूर्ण कृतियों में 'रामचरितमानस' का ही सर्वाधिक प्रचार है। देश विदेश के अधिकांश साहित्य रसिकों को इसने अपने सौन्दर्य पर मुग्ध किया है और सबों ने अपने-अपने ढंग से इस पर सारगर्भित आलोचनाएं प्रस्तुत की हैं।[3] बहुत से तुलसी साहित्य के अधिकारी विद्वानों ने इसका पाठ संशोधन किया है और बहुत से सन्त-विद्वानों ने इस पर विभिन्न प्रकार की टीकाएं भाष्य एवं लेख लिखकर इसके आन्तरिक भावों को अनेक प्रकार से अभिव्यक्त करने का स्तुत्य प्रयास किया है और आज भी कर रहे हैं। काव्य रसिकों विद्वानों सन्तों एवं मानस-तत्वान्वेषी पण्डितों के बीच में कभी-कभी तो 'मानस' की एक-एक चौपाई या एक-एक दोहे पर घंटों, दिनों एवं महीनों शास्त्रार्थ तथा सत्संग चलते रह जाते हैं। इसी परिच्छेद में पहले ही यह विश्लेषण कराया जा चुका है कि तुलसी के परवर्ती कवियों ने किस प्रकार 'रामचरितमानस' से भाव ग्रहण किए और वे आज तक करते जा रहे हैं।

हिन्दी में "रामचरितमानस' को लेकर ही अनेक सभा-समितियों के मुख्य-पत्रों के रूप में पत्रिकाएं प्रकाशित हुआ करती हैं। इस सम्बन्ध में मानस संघ रामवन सतना से 'मानस मणि' भोपाल से "तुलसीदल" श्री सत्यनारायण तुलसी मानस मन्दिर वाराणसी से मानस-मयूख एवं रामनगर (चम्पारन) बिहार से प्रकाशित 'मानस सन्देश' के नाम

---

१ द्रष्टव्य कल्याण मानसांक प्रथम पृ० ५२ महामना मदन मोहन मालवीय लिखित 'मानस' के द्वारा "अनुपम सुख और शान्ति" नामक निबंध।

२ वही पृ० ५४ बाबू राजेन्द्रप्रसाद की लिखित 'रामायण से धर्म और अध्यात्मविद्या का विस्तार' नामक निबन्ध।

३ साहित्य-सन्देश भाग १८, अंक ६, दिसम्बर १९५६, पृ० २११ २१५

विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। जो पत्र सीधे 'मानस' से सम्बन्धित न भी हैं, उनमें भी समय-समय पर "मानस" की भक्ति के विभिन्न रूपों पर विवेचन छपा करते हैं। गीता प्रेस गोरखपुर के "कल्याण" ने तो अपने पत्र का विशेषांक ही 'मानसांक' के नाम से सन् १९३८ ई० में प्रकाशित किया था। जुलाई सन् १९३ ई० में प्रकाशित उसके 'रामायणांक' में भी अनेकानेक निबन्ध 'मानस' से सम्बन्धित थे। यहाँ से प्रायः जितने भी विशेषांक निकलते हैं उनमें 'मानस' की भक्ति से सम्बन्धित कुछ न कुछ निबन्ध रहते ही हैं।

तुलसी की जन्म-तिथि या मृत्यु-तिथि को प्रायः समग्र हिन्दी भाषी भारत के स्कूलों, कालेजों एवं साहित्यिक संस्थाओं में 'तुलसी-जयन्ती' बड़े धूम-धाम से मनायी जाती है। ऐसी जयन्ती न केवल श्रावण शुक्ल तीज या सप्तमी को ही वरन् उससे एक पक्ष आगे-पीछे तक चलती रहती है और उनके विवरण हिन्दी के प्रायः सभी तथा अन्य भाषाओं के भी कतिपय पत्रों में प्रकाशित होते रहते हैं। तुलसी-साहित्य को लेकर विश्वविद्यालयों में भिन्न-भिन्न प्रकार के महान् शोध-ग्रन्थ प्रस्तुत किये गए हैं और काम भी किये जा रहे हैं। तुलसी-साहित्य का अधिकारी विद्वान हिन्दू-धर्म एवं संस्कृति का पूर्ण ज्ञाता माना जाता है और लोग उससे आशा करते हैं कि वह समग्र तुलसी पूर्ववर्ती साहित्य के विवेचन-विश्लेषण की क्षमता रखता है। ऐसा प्रायः देखा जाता है कि तुलसी-साहित्य का ज्ञान और उसमें श्रद्धा रखने वाले साहित्यिक उच्चकोटि के भक्त ही हुआ करते हैं।

(ख) संस्कारों पर

प्रत्येक राष्ट्र या जाति के लोगों के प्राचीन काल से ही अपने अपने संस्कार होते आये हैं। यों तो भारतीय राष्ट्र में हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, बौद्ध, जैन एवं आदिवासी सभी सम्मिलित रूप से रहते हैं और कुछ न कुछ प्रत्येक के संस्कारों का पारस्परिक आदान प्रदान होता रहता है तथापि प्रत्येक धर्मानुयायी के निजी संस्कार भिन्न भिन्न रूप के हुआ करते हैं। इस भारतीय राष्ट्र में हिन्दुओं की संख्या बहुत अधिक है और वर्णानुक्रम उनके संस्कार भी भिन्न भिन्न प्रकार के होते हैं। हिन्दू-संस्कारों का सम्बन्ध प्रायः ब्राह्मणों, क्षत्रियों एवं वैश्यों से ही होता है। यों तो संस्कारों के अनेक भेद हैं, पर आज के द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य) उन सभी संस्कारों द्वारा संस्कृत नहीं होते। कुछ संस्कार जैसे विवाह[1] एवं श्राद्ध[2] आदि की चर्चा तो साक्षात् वेद में भी मिलती है। संस्कारों का सूत्रात्मक एवं क्रम बद्ध वर्णन पारस्कर, कात्यायन एवं आश्वलायन आदि के गृह-सूत्रों में प्राप्त होता है। आगे चलकर इनका विशेष विस्तृत श्लोकबद्ध वर्णन मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य-स्मृति एवं अन्यान्य स्मृतियों में मिलता है। महाकाव्यकार अपने नायकों के संस्कारों का वर्णन करते हुए

---

१ ऋग्वेद मण्डल १० सूक्त ८५ मन्त्र ३०-४७

गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः ।
भगो अर्यमा सविता पुरन्धिर्मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः ॥

—ऋग्वेद मण्डल १० सूक्त ८५, मन्त्र ३६

२ शुक्ल-यजुर्वेद संहिता अ० ३, मंत्र २९, १४ व १९ मंत्र ४५, ४६
अथर्ववेद के अठारहवें काण्ड में तो सम्पूर्ण २८३ मंत्र श्राद्ध के ही हैं।

इनमें से कतिपय महत्त्वपूर्ण का उल्लेख कर देते हैं। रामचरितमानस एक महाकाव्य है और उसमें उसकी कथा बड़ी सीमितता के साथ कही गयी है। इसलिए उसमें कुछ संस्कारों का उल्लेखमात्र ही हुआ है। जैसे—नान्दीमुखश्राद्ध[1] जातकर्म[2] नामकरण[3], चूड़ाकरण[4] एवं यज्ञोपवीत[5] इत्यादि। मानस के बालकाण्ड में विवाह-संस्कार का मार्मिक एवं सविस्तार वर्णन किया गया है।[6] यहीं पर नव विवाहित राम के अद्भुत सौन्दर्य का भी बड़ी मनोहर शैली में एकान्त रमणीय विभावन हुआ है।[7] संयोग से दशरथमरण के अवसर पर तुलसी ने भरत द्वारा किये गये दशरथ के अन्त्येष्टि[8] एवं श्राद्ध-संस्कार[9] का भी संक्षिप्त वर्णन कर दिया है। वस्तुतः राम का विवाह वर्णन शुभ प्रिय एवं उल्लासपूर्ण होने के कारण भक्त तुलसी के हृदय को सर्वाधिक आकृष्ट कर सका है। कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि उनको विवाह-संस्कार का वर्णन स्वभाव से ही प्रिय था। उन्होंने अपने दो छोटे खण्ड काव्यों जानकीमंगल एवं पार्वती-मंगल में राम-सीता तथा शिव-पार्वती के विवाह का क्रमशः नितान्त रमणीय वर्णन किया है। पार्वती-मंगल में तो तुलसी ने भारतीय ललनाओं से आग्रह किया है कि वे इन छन्दों को अपने गले का हार बनावें।[10] यह सत्य है कि भारतीय कुल-ललनायें तुलसी के उन पदों के रूप में तो नहीं परन्तु अपनी अपनी प्रान्तीय बोलियों के गीतों के रूप में अनेक संस्कारों के अवसर पर राम-सीता के संस्कारों का उल्लेख करती हैं और उनमें तुलसी का नाम भी सम्बद्ध कर दिया करती हैं। तुलसी ने राम को मर्यादामात्र का राम न रहने देकर सम्पूर्ण देश का राम बना दिया है। राम का प्रभाव इतना बड़ा है कि प्रत्येक शिशु तथा वर में राम, वधू में सीता, पिता में दशरथ और माता में कौशल्या, कैकेयी एवं सुमित्रा की मूर्ति झाँकी जाने लगी है। उपर्युक्त संस्कारों के अतिरिक्त उन्होंने रामललानहछू में नहछू नामक संस्कार का भी विशेष उल्लास के साथ चित्रण किया है।

जनता के हृदय पर मानस ने इतना गहरा प्रभाव डाला है कि आज के बड़े शिव नारायण राधा-कृष्ण आदि नामों की अपेक्षा राम-नाम का ही व्यापक प्रचार प्रसार है। बहुत जगह तो लोग अभिवादन के अवसर पर भी जय रामजी की या जय सीताराम ही कहा करते हैं। अधिक क्या कहा जाय तुलसी के आराध्य राम जनमानस के इतने समीप

---

१ मा० १ १९१

२ वही

३ मा १ १९७ २–१ १९८ १ (पू)

४ मा १ २०१ १

५ मा १ २०४ २

६ मा० १ ३१८—१ ३२६

७ मा० १ ३२७ १ १०

८ मा २ १७० १–५

९ मा० २ १७० ६–२ १७१ १

१० मृग नयनि बिधु बदनी रचेउ मनि मंजु मंगलहार सो।
उर धरहुँ जुबती जन बिलोकि तिलोक सोभा सार सो।।
—पार्वती-मंगल, अन्तिम पद प० १ २

आ चुके हैं कि शव-संस्कार के लिए शव को ले जाते हुए भी लोग 'राम नाम सत्य है' का उद्घोष किया करते हैं और संस्कार स्थान में मानस के दशरथ-मरण प्रकरण का ढोल मजीरे के साथ सस्वर पाठ किया करते हैं। हाँ उक्त उद्घोष एवं सस्वर पाठ प्रायः वयोवृद्ध व्यक्ति के निधन पर ही किये जाते हैं। पुनः मृतक-संस्कार के समय में संस्कार-स्थान को लिप-पोत कर पहले पाँच बार राम-नाम लिखा जाता है और तब उसपर चिता बनाई जाती है। अंत्येष्टि-संस्कार सम्पन्न होने के पश्चात भी उस स्थान को स्वच्छ करके वहाँ पुनः पाँच बार राम-नाम लिखा जाता है। इस प्रकार हिन्दू जीवन के आदि से अंत तक राम का नाम अवलम्बन बना रहता है। राम-नाम की इस महिमा का प्रचार तो वाल्मीकि से लेकर तुलसी तक सभी करते रहे परन्तु यदि सच पूछा जाय तो हिन्दू हृदय एवं हिन्दू-संस्कारों में राम-नाम को इस प्रकार सन्निविष्ट करने वाले भक्त कवियों में यदि किसी को सर्वाधिक श्रेय प्राप्त है तो वह महाभाग्य महात्मा महाकवि गोस्वामी तुलसीदास को। वस्तुतः तुलसी ने भारतीय हिन्दू का समग्र जीवन राममय बना दिया है।

(ग) लोकोत्सव व्रत एवं पूजा पाठ पर—

प्रत्येक राष्ट्र के मनुष्य वर्ष के कई दिन कोई-न-कोई उत्सव अवश्य मनाते हैं। भारत वर्ष एक विभिन्न धर्मों की समवेत संस्कृति का देश है। अतः इसके उत्सव व्रत एवं पूजा पाठ भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं। जैसे हिन्दुओं के रामनवमी कृष्णजन्माष्टमी दुर्गापूजा आदि तथा मुसलमानों के ईद ईसाइयों के ईसागमोह का जन्मदिवस इत्यादि। यद्यपि ये उत्सव भिन्न भिन्न जातियों के हैं तथापि भिन्न भिन्न पड़ोसी जाति के लोग भी उससे प्रभावित होते हैं और थोड़ा बहुत भाग भी लेते हैं। यों तो हिन्दुओं के प्रधान पर्व रक्षाबंधन, दीपावली या लक्ष्मीपूजा वसन्तोत्सव या सरस्वती पूजा आदि भी हैं परन्तु जो सम्मान श्रीकृष्ण जन्माष्टमी रामनवमी एवं विजयादशमी को प्राप्त है वह अन्य लोकोत्सवों का नहीं इन तीनों में से अन्तिम दो तो भगवान् राम के चरित्र से संबंधित हैं और पहला भी विष्णु के अवतार अतएव श्रीराम से अभिन्न कृष्ण का जन्मोत्सव है। इस प्रकार हिन्दू जनता की दृष्टि में इन तीनों का समान महत्व है और इसलिए ये बहुत धूम-धाम से मनाये जाते हैं। इनमें न केवल हिन्दू-जनता वरन् अन्य लोग भी काफी अनुराग से भाग लेते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं है कि इन उत्सवों पर तुलसी के मानस का प्रभाव विशेष है। ज्यों-ज्यों 'मानस' व्यापक होता गया त्यों-त्यों इन उत्सवों की व्यापकता भी बढ़ती गयी। रामचन्द्र का जन्म दिवस चैत्रशुक्लनवमी एवं उनके प्रवर्षण से लंका के लिए प्रस्थान से संबंधित आश्विन शुक्ल विजयादशमी प्रायः समग्र उत्तर भारत में बड़े समारोह के साथ मनायी जाती है। विजया दशमी के आस-पास रामलीला भी होती है जिसमें रावण कुम्भकरण मेघनाद आदि के पुतले राम द्वारा निहत दिखाकर जलाये जाते हैं। यह रामलीला भारत में कब से प्रचलित हुई है और इसमें कब-कब क्या-क्या परिवर्तन हुए इस संबंध में इतिहास मौन है। किन्तु अनुमान ऐसा है कि तुलसी के "रामचरितमानस" की रचना के पश्चात् ही उनके अद्भुत काव्य के रसास्वाद से मुग्ध होकर किसी भक्त ने इन लीलाओं का आयोजन किया होगा। आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के शब्दों में पौराणिक प्रवाह के अनुसार वाराणसी के दो विभाग हैं—[illegible]

और उत्तरी का कार्यालय है। इस प्रकार नगर की रामलीला के प्रवर्तक स्वयम् तुलसीदास कहे जाते हैं और काशीराज की रामलीला में प्रतीक माना गया। भगवान जी उनके मित्र थे और वाराणसी में समकक्ष स्थान में रखा करते थे जनश्रुति है कि भगवान जी पहले वाल्मीकीय रामायण के अनुसार लीला करते थे। तुलसीदास के अनुरोध पर मानसानुसारी लीला प्रचलित की।[1] मानस की रामलीला की जो पद्धति सुरक्षित है उसमें मानस का पाठ पहले होता है और पाठानुसार लीला एवम् संवाद सम्पादन। 'रामचरितमानस' के आधार पर इस प्रकार की रामलीला प्रायः प्रतिवर्ष होती है। काशी रामनगर में की जाती है और सीता-स्वयंवर, परशुराम-लक्ष्मण संवाद, राम वन-गमन, भरत मिलाप, सीताहरण, लंकादहन तथा रामराज्याभिषेक आदि प्रसंग प्रमुख अभिनय का दृश्य देखकर भक्त भावानुसार आह्लादित एवं पुलकित होते हैं। सीता के ... में रामायण की आरती होती है जिसमें सभी लोग भी मिले हैं। अयोध्या, काशी एवं मिथिला रामलीला के प्रधान केन्द्र हैं। काशी के निकटस्थ रामनगर में जो रामलीला होती है वह तो विश्वविख्यात ही है।[2]

इसी प्रकार वर्षों से रामजन्माष्टमी एवं कृष्णजन्माष्टमी सर्वाधिक पुण्यप्रदा मानी जाती है। राम की आराधना एवं भावना में जब से भक्ति हुई तब से इन उत्सवों की महिमा में अत्यधिक वृद्धि हुई है और इससे हिन्दुओं और उत्सवों की पवित्रता एवं उत्तमता सिद्ध होता है।

मानस के प्रणयन के पूर्व लोग अन्य ग्रन्थों के आधार पर पूजा-पाठ एवं यज्ञ कराया करते थे किन्तु जब से इसकी रचना हुई तब से पूजा-पाठ एवं यज्ञ के लिए भी 'रामचरितमानस' ही आधार ग्रन्थ बन गया। अब तो चैत्रशुक्ल के नवरात्रों में ही नहीं बल्कि आश्विन शुक्ल के नवरात्रों में भी यत्र-तत्र 'रामचरितमानस' का विधिवत नवाह्न पारायण किया जाता है। अनिष्ट ग्रहों की शान्ति एवं राष्ट्रीय संकटों को दूर करने के लिये भी मानस-पाठ, मानस-महायज्ञ इत्यादि किए जाने लगे हैं। इस तरह लोकोत्सव, व्रत एवं पूजा पाठ पर भी 'मानस' की भक्ति का विशेष प्रभाव स्पष्टतः परिलक्षित होता है।

(ख) मानव मनोविनोदों पर—

मानव हृदय में जिस प्रकार आत्म-भरण-पोषण की प्रबल कामना रहती है उसी प्रकार जीवन के अवकाश क्षणों में मनोविनोदों की वासना भी। बिना मनोविनोदों के वे ही जीवित रह सकते हैं जो या तो सर्वथा जड़ हैं या पूर्ण विरक्त एवं ज्ञानी। सामान्य मानव अपने जीवन में विविधता चाहता है। इसीलिए संगीत, साहित्य एवं नृत्य आदि भिन्न-भिन्न प्रकार की मनोविनोद सम्बन्धी कलाओं का आविष्कार होता गया है। भर्तृहरि ने तो

---

१ रामचरितमानस काशिराज संस्करण आत्मनिवेदन पृ॰ १७-१८

२ राम स्वयंवर पृ॰ ६६६, पं॰ २१—

राम नगर गंगा तट माहीं। निवसत गौतम भूप तहाँहीं।

... ...

कतहुँ न भरत खंड महँ ऐसी। करहिं रामलीला नृप जैसी।

मानव-जीवन के लिए इन कलाओं की नितान्त आवश्यकता घोषित की है।[1] साहित्य तो भक्ति का आगार है ही और वह किस प्रकार 'मानस' से प्रभावित है यह हम पहले ही निवेदन कर चुके हैं। यहाँ यह विचारणीय प्रश्न है कि संगीत नृत्य नाट्य चलचित्र एवं आकाशवाणी आदि पर 'मानस' का किस प्रकार प्रभाव पड़ा है और किस प्रकार प्रत्यक्ष एवं अज्ञात रूप से ही उनमें भक्ति ओत प्रोत हो रही है।

संगीत दो प्रकार के होते हैं—शास्त्रीय एवं लौकिक। संगीतशास्त्र एक गहन और श्रमसाध्य कला का विषय है। असंख्य नर नारियों का समुदाय इससे अपना जीविकोपार्जन करता है। इस संगीत के साथ भक्ति का भी बहुत कुछ नैसर्गिक साहचर्य है। तुलसी ने रामचरित सम्बन्धी बहुत से गीतात्मक पदों की रचना की है जो विनयपत्रिका गीतावली आदि में उपलब्ध होते हैं। 'रामचरितमानस' एक महाकाव्य एवं पाठ्य ग्रन्थ होने के कारण तुलसी के गीतात्मक काव्यों के समान शास्त्रीय संगीतज्ञों के बीच तो अधिक प्रचार नहीं पा सका किन्तु मानस की भक्ति-भावना लेकर तुलसी ने जो अन्य काव्य लिखे हैं या जो स्वयं शास्त्रीय संगीतज्ञों ने भी लिखा है उनका उनके बीच में पर्याप्त प्रचार है। यों मानस की चौपाइयाँ चाहे एक स्वर भी उनके बीच प्रचलित हैं और वे बड़ी तल्लीनता के साथ उन्हें गाते हैं। कोई भी कीर्तन-मण्डली 'मंगल भवन अमंगल हारी। द्रवउ सो दसरथ अजिर बिहारी॥'[2] को गाये बिना अपना कार्य प्रारम्भ ही नहीं करती। इससे स्पष्ट है कि शास्त्रीय संगीतज्ञों के मध्य भी मांगलिक अनुष्ठान के लिये तुलसी के मानस की पंक्तियाँ एक परमावश्यक उपकरण बन गयी हैं। जो संगीत शास्त्रीय नहीं लौकिक है उनमें मानस गान की कई प्रणालियाँ हैं। 'मानस'[3] गान की ये प्रणालियाँ भारतीय ग्राम्य जीवन को सरस एवं आह्लादपूर्ण बनाये रहती हैं। देहातों में बिरहा-गायक लोग प्रायः समग्र मानस को बिरहा का रूप दे देते हैं और प्रेम-विह्वल कंठ से रामभक्ति की प्रेरणा प्रदान करते हुये उसका गायन करते हैं। ग्रामों के अतिरिक्त नगरों में भी मानस-गान की धूम रहती है जिससे वहाँ के मठ-मन्दिर गुंजायमान रहते हैं।

मानव-जीवन में नृत्य का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। बड़े लोग प्रायः यज्ञोपवीत, विवाह आदि अवसरों पर किसी न किसी प्रकार के नृत्य का प्रबन्ध अवश्य करते हैं। ये नृत्य दो प्रकार के होते हैं। कुछ में तो नृत्य कला में प्रशिक्षित वेश्याएं नृत्य करती हैं और कुछ में कुछ पुरुष मण्डली बाँध कर तरह तरह के रूप बनाकर नृत्य गीत एवं नाट्य का कार्य करते हैं। इनके अतिरिक्त ये कभी-कभी हास परिहास की भी योजना करते हैं और लोग उन्हें भाँड कहते हैं। विविध प्रकार के गीत गाती हुई वेश्याएं अपने भक्त श्रोताओं को संतुष्ट करने के लिए कलात्मक प्रदर्शन करती हुई 'मानस' की भक्ति भावपूर्ण पंक्तियाँ गाया करती हैं। इसी प्रकार भाँड लोग भी कभी-कभी मानस के आधार पर राम वन-गमन सीता-हरण भरत

---

१ साहित्य-संगीत-कला-विहीनः साक्षात्पशुः पुच्छ-विषाण-हीनः।
तृणं न खादन्नपि जीवमानस्तद्भागधेयं परमं पशूनाम्॥
—भर्तृहरि, नीतिशतक, श्लो० १२

मिलाप आदि ऐसे ऐसे दृश्यों का अभिनय करते हैं जिनमें संगीत, नृत्य एवं नाट्य की योजना रहती है।

नाट्य में रामलीला की चर्चा तो की ही जा चुकी है। राम के जीवन को लेकर संस्कृत में अनेक नाटक लिखे गये हैं और हिन्दी में उनके अनुवाद भी हुए हैं। साथ ही हिन्दी में कुछ मौलिक नाटक भी इस सम्बन्ध में लिखे गये हैं जो मानस से बहुत अंश में प्रभावित हैं। ऐसे नाटकों में महाराज विश्वनाथ सिंह कृत "आनन्द रघुनन्दन", पं० राधेश्याम कथा वाचक कृत 'सीता-वनवास' और श्रवण-कुमार, ठाकुर रघुनाथक सिंह लिखित लक्ष्मण परशुराम और "अंगद पैज", पं० रामगोपाल पाण्डेय शारद रचित "बजरंगबली या अंजनी-कुमार", श्री कामताप्रसाद गिरि विरचित 'मेघनाद वध', लाला भगवानदास जैन अग्रवाल लिखित अनुप यज्ञ मंजरी आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। समय समय पर ये नाटक हिन्दी रंगमंच पर भी खेले जाते हैं।

चलचित्रों में भी लोकमानस को आकृष्ट करने के लिए अवसर अवसर पर "रामचरितमानस" से सम्बन्धित चित्र प्रदर्शित किये जाते हैं। जैसे—सम्पूर्ण रामायण, रामलीला, भरत मिलाप, पवनपुत्र हनुमान, गोस्वामी तुलसीदास इत्यादि।

आकाशवाणी से तो रामचरितमानस का अटूट सम्बन्ध है। तुलसी जयन्ती एवं राम नवमी के दिन भारत के प्रायः प्रत्येक हिन्दी भाषी प्रान्तों के रेडियो स्टेशन से तुलसी के जीवन एवं साहित्य सम्बन्धी महान साहित्यिकों एवं महापुरुषों के प्रवचन होते हैं। इसके अतिरिक्त समय-समय पर तुलसी के सम्बन्ध में महान साहित्यिकों के विचार-विमर्श भी हुआ करते हैं। साथ ही यदा-कदा "भजनामृत" के कार्यक्रमों में "रामचरितमानस" की भक्ति-पूर्ण चौपाइयाँ स्त्रियों या पुरुषों द्वारा अति मधुर ध्वनि में गाकर प्रसारित की जाती हैं। चैत्र शुक्ल रामनवमी के दिन तो विशेष रूप से मानस के रामजन्म प्रकरण से सम्बन्धित चौपाइयाँ दोहे एवं छन्द प्रसारित किये जाते हैं और मानस के आधार पर राम के जीवन की चर्चाएं की जाती हैं। इस प्रकार मानव-मनोविनोद एवं 'रामचरितमानस' का पारस्परिक सम्बन्ध अनेक क्षेत्रों में विद्यमान है।

(ञ) तीर्थों एवं देव-मन्दिरों पर—

गोस्वामी तुलसीदासजी ने तीर्थों का विशेषतः राम से सम्बन्धित तीर्थों, जैसे—अयोध्या[1] काशी,[2] प्रयाग[3] चित्रकूट[4] एवं रामेश्वर[5] आदि का बड़े जोरदार एवं प्रभावशाली शब्दों में माहात्म्य-वर्णन किया है। इनके प्रति उनकी अपार श्रद्धा थी।[6] वस्तुतः तुलसी की रचनाओं के कारण ही आज भी भारतीय लोक-जीवन का इन पुण्यभूमियों के प्रति

---

१ मा० १।१२०।१, ७।४२।७, ७।९९।८ (पू०)
२ मा० ४ सो० १, विनयपत्रिका—२२
३ मा० २।१०५।२–२।१०६।१, ६।१२०।८
४ मा० २।११२।१–२।२३३।४ विनयपत्रिका २३–२४
५ मा० ६।१।१–२
६ मा० २।१२९।५

अगाध आकर्षण है। उन्हें पढ़कर एवं सुनकर रामभक्त उन तीर्थों में आकर अपने जीवन को सफल एवं कृतार्थ करता है।

भगवान के वन-गमन प्रसंग में एक दोहा आया है कि—

"जिन्ह जिन्ह देखे पथिक प्रिय सिय समेत दोउ भाइ।
भव मगु अगमु अनन्दु तेइ बिनु श्रम रहे सिराइ॥"[1]

इस प्रसंग को पढ़कर भक्तों के हृदय में अत्यन्त खेद होता है कि काश ! यदि हम भी उस समय हुये होते तो भगवान् का दर्शन कर संसार-सागर से पार हो जाते। तुलसी ऐसे भक्तों की ग्लानि एवं क्षोभ को दूर करते हुये स्पष्ट शब्दों में आगे कहते हैं कि अब भी कुछ बिगड़ा नहीं है क्योंकि—

"अजहुँ जासु उर सपनेहुँ काऊ। बसहुँ लखनु सिय रामु बटाऊ॥
राम धाम पथ पाइहि सोई। जो पथ पाव कबहुँ मुनि कोई॥"[2]

ठीक इसी तरह यदि किसी भक्त की शारीरिक एवं आर्थिक अवस्था ठीक नहीं है वह अंधा, पंगु, रोगग्रस्त तथा अकिंचन है और इस कारण रामतीर्थों का दर्शनाभिलाषी होता हुआ भी वहाँ जाने में अक्षम है तो उसकी इस मनोदशा का निरीक्षण कर उसका पश्चात्ताप मिटाते हुए तुलसी ने ऐसे-ऐसे उपाय बतलाये हैं जिनसे घर बैठे-बैठे ही वह भली-भाँति राम-तीर्थों में पर्यटन कर सकता है।[3]

तुलसी के बाद भगवान् राम एवं हनुमान् के मन्दिरों का निर्माण बहुत जोरों से हुआ है। अयोध्या एवं काशी में 'मानस मन्दिर' के निर्माण काशी के संकटमोचन की विशेष प्रसिद्धि तथा ऐसे अन्यान्य देव-मन्दिरों आश्रमों एवं तीर्थ-स्थानों का निर्माण 'राम चरितमानस' की भक्ति के प्रभाव के ही प्रतीक हैं।

निष्कर्ष—

प्रस्तुत अध्याय के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि हिन्दी-राम भक्ति काव्य एवं भारतीय जीवन पर 'मानस' की भक्ति का सक्रिय एवं सजीव प्रभाव पड़ा है। वस्तुतः किसी भी महती साहित्यिक कृति के शाश्वत महत्त्व एवं चिरन्तन स्थायित्व के मूल्यांकन का वास्तविक मानदण्ड भी यही है कि वह अपने परवर्ती काव्य एवं जीवन को कहाँ तक अनुप्राणित एवं प्रभावित करती है। तुलसी का मानस भारतीय जनजीवन की भावनाओं

---

१ मा० २।१२१

२ मा० २।१२४।१२

३ (क) मा० १।३१— रामकथा मंदाकिनी चित्रकूट चित चारु।
तुलसी सुभग सनेह बन सिय रघुबीर बिहारु॥

(ख) गीतावली बालकाण्ड पद १ पं० ११—१२
'भरत राम, रिपुदवन लखन के चरित सरित अन्हवैया।
तुलसी तबके-से अजहुँ जानिबे रघुबर-नगर-बसैया॥

(ग) दोहावली ११— 'जे जन रूखे बिषय रस चिकने राम सनेहँ।
तुलसी ते प्रिय राम को कानन बसहिं कि गेहँ॥

एवं आकांक्षाओं में आत्मसात् हो चुका है। इसने लोक-जीवन में दृष्टिकोण की ऐसी समता एवं एकात्मकता स्थापित की है, जिसके समक्ष समस्त वभिन्य एवं विरोधाभास तिरोहित हो गए हैं। इसकी महत्ता का अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि भारत में हिन्दी का कोई भी ग्रन्थ इतनी संख्या में न तो प्रकाशित होता है और न तो बिकता ही है। कदाचित् ही कोई हिन्दू-परिवार ऐसा होगा जहाँ 'मानस' की एक प्रति न हो। ''मानस' भारत के प्रत्येक व्यक्ति के मानस में बसने वाली वस्तु है और इसके स्थान पर किसी अन्य ग्रन्थ को ला बैठाना सर्वथा असंभव है। लोकप्रियता की दृष्टि से तो यह ग्रन्थ अपना सानी ही नहीं रखता। इसके सदुपदेश की उपादेयता युवा-वृद्ध, स्त्री-पुरुष गृहस्थ संन्यासी आसक्त विरक्त सभी प्राणियों के लिए समान भाव से विद्यमान है। यथार्थतः तुलसी ने इसमें भारतीय संस्कृति के सभी अंगों को स्पर्श किया है और उसके वाङ्मय की समस्त सुन्दरतम उपलब्धियों एवं बौद्धिक प्रक्रियाओं को सम्पुटित कर दिया है। वे सब हमारे संस्कार एवं कल्पना में उतर गये हैं। यही कारण है कि इसका उद्देश किसी एक काल एक जाति एक सम्प्रदाय तथा एकमत विशेष के लिए नहीं है प्रत्युत सभी काल सभी जाति सभी सम्प्रदाय तथा सभी मत के मनुष्यों के लिए समान भाव से उपयोगी एवं लाभकारी है। आत्म-कल्याण के साधक इससे आत्मोन्नति के मार्ग में अग्रसर हो रहे हैं। धर्म के तत्व के जिज्ञासुओं को इसमें सनातन वैदिक धर्म का साक्षात्कार हो रहा है। समाज के कर्णधारों एवं व्यवस्थापकों को इसमें व्यष्टि एवं समष्टि सब की दृष्टि से अनुकरणीय आदर्श उपलब्ध हो रहे हैं। काव्य रसिकों को इसमें ब्रह्मानन्द-सहोदर की प्राप्ति हो रही है। भग्न-हृदय जन-समाज को इससे ऐसा आत्म-बल मिल रहा है, जिससे वह लोक एवं परलोक दोनों को निष्कंटक एवं मंगलमय बनाने में समर्थ हो रहा है। इस तरह इसमें लोक के सभी वर्गों की आवश्यकता की पूर्ति एवं अभिरुचि की तृप्ति करने वाली सामग्री पर्याप्त परिमाण में विद्यमान है। वस्तुतः रामचरितमानस हिन्दू-जाति एवं हिन्दू धर्म की रक्षा एवं अभिवृद्धि के लिए एक अभूतपूर्व अवदान है। इसके निर्माण में तुलसी का मूल उद्देश्य केवल यही है कि भारतीय जनता में स्वधर्म एवं संस्कृति की ज्योति जगमगाती रहे और वह पापकर्मों से दूर रहकर भक्ति के बल पर संसार में रहते हुए संसार-सागर से पार हो सके। महासमुद्र में आने-जाने वाले जहाजों के पथ प्रदर्शन के निमित्त निर्मित विशाल दीप-स्तंभ की भाँति तुलसी का मानस" भी आज शिक्षित-अशिक्षित सभी तरह के लोगों के लिए महान् पथ-प्रदर्शक है।

सातवाँ अध्याय

उपसंहार

सातवां अध्याय

उपसंहार

सारांश

'रामचरितमानस' में प्रतिपादित भक्ति के विषय में अब तक जो निवेदन किया गया है उससे यह स्पष्ट है कि इसके प्रणेता महामान्य महात्मा गोस्वामी तुलसीदास जी भगवान् राम के अनन्य भक्त थे और अपनी भक्ति-साधना के क्रम में ही उन्होंने अपने इस अमर एवं अद्वितीय कृति का प्रणयन किया था।[1] यही कारण है कि इसमें भक्तितत्व का ही प्राधान्य है। मानसकार की भक्ति की सबसे बड़ी विशिष्टता यह है कि वह अपने आराध्य के प्रति पूर्णनिष्ठा रखते हुए भी अन्य साम्प्रदायिक उपासकों की तरह संकुचित नहीं है। यथार्थतः वह साम्प्रदायिक संकीर्णताओं से सर्वथा मुक्त एक सार्वभौम एवं सार्वकालिक वस्तु है। उसको किसी से लेशमात्र भी द्वेष नहीं है। वह परम उदार है। जीवन के किसी पक्ष से सर्वथा संबंध विच्छेदकर वह नहीं चलती है। सब पक्षों के साथ उसका संतुलित सामंजस्य है। न उसका कर्म से विरोध है, न ज्ञान से न निगु ण से। चित्त की एकाग्रता के लिए अपेक्षित योग का भी उसमें समन्वय है। वह व्यक्तिगत साधना के द्वारा आत्मोद्धार का उपायमात्र नहीं प्रत्युत प्रतिकूल परिस्थितियों में जीवन की सफल यात्रा के लिए आवश्यक पाथेय भी है। वह जितनी व्यक्तिगत-साधना एवं व्यक्तिमात्र के कल्याण के लिए है, उतनी ही लोक साधना एवं लोक कल्याण के लिए भी। उसमें सर्वत्र लोकसंग्रह एवं लोकमर्यादा का अत्यंत व्यापक भाव विद्यमान है। तुलसी कर्तव्य रहित भक्ति के समर्थक नहीं हैं। उनकी भक्ति भक्त को अकर्मण्य पराबलम्बी एवं निस्तेज बना देनेवाली नहीं है। वह तो उसे सतत कर्मयोगी एवं तन-मन धन से लोक मंगल-साधना के लिए निरन्तर प्रयत्नशील बने रहने की प्रबल प्रेरणा प्रदान करने वाली है। यही कारण है कि वह व्यष्टिनिष्ठ न होकर समष्टिनिष्ठ हो उठी है और उसके अन्तस्तल से लोकमंगल की कामना कभी भी तिरोहित नहीं हो सकी है।

वस्तुतः मानसकार को वेदों पर अखंड आस्था थी। सत्य एवं अहिंसा के वे अन्यतम पुजारी थे। भक्तिपूर्ण पौराणिक ग्रन्थों से वे सर्वाधिक प्रभावित थे और समस्त संसार में आदर्श राज्य आदर्श समाज आदर्श चरित्र एवं आदर्श साहित्य का प्रचार-प्रसार करना

---

१ मा० १ १७ ११—११० (ख) १११४—७ ११११२
१११९—११ ७१२११ ७१२८ ७१२११ ७ अन्तिम श्लोक १—२
द्रष्टव्य, रामचरितमानस सिद्धांत भाष्य श्री श्रीकान्तशरण पृ० ७७-७८ २८-८१।

इसके अनुशीलन से सन्देह, भ्रम एवं मोह इन तीनों प्रकार के अज्ञान का निःसन्देह निराकरण हो जायगा,[1] पर एतदर्थ श्रोताओं एवं पाठकों में पर्याप्त धैर्य अपेक्षित है।[2] गोस्वामी जी के 'मानस' के मर्म को ऐसे लोग कदापि नहीं समझ सकते जो श्रद्धा के सबल से रहित हैं, सत्संग से वंचित हैं और जिन्हें रघुनाथ प्रिय नहीं हैं।[3] इसको हृदयंगम करने के लिए ज्ञान की अन्तर्दृष्टि चाहिए।[4]

हिन्दी-साहित्य एवं भारतीय साहित्य में ही नहीं वरन् विश्व साहित्य में मानसकार का विशिष्ट स्थान सुरक्षित है। आज तक समस्त संसार के विद्वानों एवं साहित्यकारों ने ऋषियों एवं मुनियों ने साधु एवं संतों ने कवियों एवं आचार्यों ने जीवन और अध्यात्म से सम्बन्धित जितनी रचनाएं प्रस्तुत की हैं उनमें रामचरितमानस का एक अपना विशिष्ट महत्त्व है। वस्तुतः इसमें भारतीय साहित्य की समस्त आध्यात्मिक चेतनाओं का अद्भुत सम्मिश्रण एवं सुसम्बन्ध प्रस्फुटन हुआ है। तुलसी ने इसमें भारतीय आर्य-जीवन की समस्त आध्यात्मिक चेतनाओं के सार-तत्त्वों को सन्निविष्ट कर दिया है। 'नाना पुराण निगमागम' में जो जीवन-सौन्दर्य और चिन्तन का माम्मीय विकीर्ण था उसे उन्होंने रामचरितमानस में समाहित एवं केन्द्रित कर दिया है। यही कारण है कि यह समस्त भारतीय जीवन को प्रभावित एवं आन्दोलित करने में सर्वथा सफल सिद्ध हुआ है और इसकी लोकप्रियता सारे भारत में ही नहीं वरन् समग्र संसार में अमर हो उठी है। मानस की अद्भुत लोक-प्रियता का रहस्य इसकी समन्वय वृत्ति में ही सन्निहित है। इसमें सबों को अपने ही जीवन का प्रतिबिम्ब दृष्टिगोचर होता है और अपने-अपने काम एवं रुचि की पर्याप्त सामग्री उपलब्ध हो जाती है। भारतीय संस्कृति और साहित्य के उपाकाल से आज तक साधु-संतों एवं कवियों आचार्यों ने अपनी-अपनी कल्पना तथा संस्कार के अनुरूप भगवान् की जितनी भी सृष्टियाँ की हैं, उनमें तुलसी की सृष्टि सर्वाधिक सफल सिद्ध हुई है। उनके 'मानस' के राम जितनी आसानी से भगवान् बनकर जन जन के जीवन में सन्निविष्ट हो गए हैं, उतनी आसानी से किसी अन्य का भगवान् सन्निविष्ट नहीं हो सका है। उन्होंने अपनी भक्ति-भावना के अन्तर्गत अपनी पूर्व परम्पराओं के राम के जीवन-स्रोत को ऐसे पवित्र एवं स्वाभाविक सौन्दर्य से विभूषित कर दिया है कि उसका आकर्षण कभी भी कम नहीं हो सकता है। किसी भी तरह की काव्य प्रतिभा ने कभी भी जिन महान् एवं उदात्त गुणों की अवधारणा एवं कल्पना की होगी उन सबका सुन्दरतम रूप हमें मानसकार के राम में समाहित दृष्टिगोचर होता है। तुलसी ने अपने 'मानस' के आधार-ग्रन्थों में एक व्यापक सुधार किया है और उन्हें अपनी भक्तिधारा के सर्वथा अनुकूल बनाकर ही

१ मा० १।११४
२ मा० ७।११४
३ मा० १।३८
४ मा० १।१९.१ (पू०)

गोस्वामी तुलसीदासजी ने अपने "रामचरितमानस' में संस्कृत में भी कई श्लोकों की रचनाएं की है। इससे यह स्पष्ट है कि यदि वे चाहते तो सरसतापूर्वक संस्कृत मे ही इस ग्रन्थ की रचना कर सकते थे। लेकिन उनके समय में संस्कृत की दीर्घकाल-व्यापिनी परम्परा लोक-जीवन से विच्छिन्न हो गयी थी। उसे समझने वाले कम लोग रह गये थे। अतः राममक्ति के व्यापक प्रचार प्रसार के लिये वह उपयुक्त माध्यम नहीं रह गयी थी। इसीलिये विशाल जन-जीवन के कल्याण की भावना से अनुप्राणित होकर उन्होंने जनभाषा के सौन्दर्य को शीघ्र ही पहचाना और जनवाणी में ही रामकथा का प्रणयन का संकल्प किया।[1] इस संकल्प को कार्यरूप में परिणत कर उन्होंने राममक्ति की सूखी हुई सरिता को द्वार-द्वार पर प्रवाहित कर दिया और जन-जन के जीवन को राममय बना दिया। तुलसी ने भक्तिरस को काव्यरस में घोलकर इतना सरस मधुर स्निग्ध एवं पेय बना दिया है कि 'रामचरितमानस' में भक्ति और काव्य दोनों एक अमृतमय प्रभाव से जगमगा रहे हैं। उन्होंने रामकथा की साहित्यिक एवं धार्मिक दोनों परम्पराओं का समन्वय कर एक ऐसा अभूतपूर्व और अद्वितीय काव्य निर्मित किया जिसमें भक्ति एवं काव्य की युगलधारा समान वेग से प्रवाहित हुई है। गंगा एवं यमुना के संगम की तरह भक्ति एवं काव्य के इस संगम पर भी जनता का अगाध आकर्षण सब था स्वाभाविक एवं अपेक्षित ही है। भक्तों एवं साहित्यिकों में समान भाव से समादृत होने वाला ऐसा ग्रन्थ हिन्दी साहित्य में ही नहीं कदाचित् भारतीय साहित्य मे भी दुर्लभ है। 'मानस' में भक्तिपक्ष एवं काव्यपक्ष का सन्तुलित सामंजस्य एवं मणिकांचन संयोग ने इसके प्रणेता को जन-हृदय के राजसिंहासन पर अनन्त काल के लिये आसीन कर दिया है। तुलसी की दृष्टि में भी उनके 'मानस' के प्रति उन्हीं लोगों का आकर्षण होगा जो या तो काव्य-मर्मज्ञ हैं या राम के चरणों में प्रेम रखते हैं।[2] वस्तुतः उनके व्यक्तित्व में भक्त और कवि एक दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी के रूप में न आकर सहयोगी एवं पूरक के रूप में आये हैं। यही कारण है कि जन साधारण की आध्यात्मिक तृप्ति एवं साहित्यिक अभिरुचि के लिए जितनी सामग्री 'मानस" में विद्यमान है, उतनी और कहीं भी नहीं है। पर यह भी निर्विवाद रूप से सत्य है कि मानसकार सर्वप्रथम भक्त हैं, तत्पश्चात् कवि। कविता उनका चरम उद्देश्य नहीं है वरन् लोकोपकार के लिये साधनमात्र है[3] और वह उन्हें भगवान की भक्ति के प्रसाद के रूप मे मिली है।[4] इस प्रसाद का सदुपयोग वे आजीवन भगवान की भक्ति की साधना में ही करते रहे। उन्होंने कभी भी प्राकृत जन के गुणगान में अपनी सरस्वती का दुरुपयोग नहीं किया। हाँ अपने

---

१ (क) स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथगाथा—
भाषानिबन्धमतिमंजुलमातनोति ॥
—मा० १ श्लो० ७ (उ०)

(ख) भाषाबद्ध करबि मैं सोई। मोरें मन प्रबोध जेहिं होई ॥
—मा० १ ३१ २

२ मा० १ ९ १

३ मा० १ १४ ९

४ मा० १ १०५ १

घनिष्ठ मित्र टोडर के निधन पर उनकी प्रशंसा में उन्होंने चार दोहे कहे हैं।[1] अन्यथा सर्वत्र अपने आराध्यदेव राम की महिमा का ही गायन किया है।

इस क्षेत्र में पूर्ववर्ती विद्वानों द्वारा सम्पन्न कार्य —

"रामचरितमानस पर बहुत से विद्वानों ने बहुत कुछ लिखा है, अब भी इस पर लिखा जा रहा है और भविष्य में भी लिखा जायगा। आज हिन्दी-साहित्य में यही हमारा इतिहास काव्य, महाकाव्य, पुराण, धर्मग्रन्थ, नीतिशास्त्र, स्मृति, दर्शन इत्यादि सब कुछ बना हुआ है और इसी के बल पर उसका मस्तक भी बहुत ऊँचा उठा हुआ है। यों तो इस देश में समय-समय पर एक से एक सुन्दर एवं प्रभावशाली ग्रन्थों का प्रणयन होता रहा है पर उनमें से किसी एक ग्रन्थ ने सारी जनता को कदाचित् ही इतना अधिक प्रभावित एवं आन्दोलित किया हो। सन्तों, टीकाकारों एवं अनुसन्धाताओं के लिए तुलसी का यह "मानस" अक्षय प्रेरणा का स्रोत बना हुआ है। यह एक ऐसा रत्नाकर है जिसमें से, जितने रत्न लिए जायँ पर यह कभी भी रिक्त नहीं हो सकता। निकले हुए रत्नों की जगह पर शीघ्र ही दूसरे रत्न नई चमक-दमक के साथ प्रकट होकर पाठकों को विस्मय-विमुग्ध कर देते हैं। जो इसमें जितना डूबा जितना मग्न हुआ वह इससे उतना ही श्रेष्ठ रत्न निकालकर सुखी एवं सम्पन्न हुआ है। इस पर एक से एक टीकाएं, भाष्य एवं शोध-ग्रन्थ प्रस्तुत किए गये हैं पर फिर भी नवीन टीकाओं, भाष्यों एवं शोध-ग्रन्थों की आवश्यकता बनी हुई है। हिन्दी का कदाचित् ही ऐसा कोई प्रमुख विद्वान बचा हो जिसने तुलसी के सम्बन्ध में कुछ न कुछ लिखकर अपनी लेखनी को कृतार्थ करने का प्रयत्न न किया हो। उनके जीवन और काव्य पर हर दृष्टि से विचार विमर्श किया गया और उन पर एक से एक विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थों का प्रणयन होता रहा। इन सब की सविस्तार चर्चा तुलसी साहित्य के यशस्वी शोधकर्त्ता एवं अधिकारी विद्वान डा० माताप्रसाद गुप्त[2] और डा० राजपति दीक्षित[3] ने अपने-अपने शोध प्रबन्ध में की है। यहाँ उन महत्त्वपूर्ण लेखकों की कृतियों का संक्षिप्त विवरण अपेक्षित है जिनमें प्रस्तुत विषय से सम्बद्ध विवेचना की गई है।

वस्तुतः हिन्दी-साहित्य के आधुनिक युग के पूर्व भी तुलसी की कृतियों की महत्ता एवं विशेषता का प्रकाशन करने का प्रयत्न किया गया था। शिवसिंह सरोज से लेकर आचार्य शुक्ल के इतिहास तक कुछ-न-कुछ यह कार्य होता ही रहा। स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप

---

१ 'चार गाँव के ठाकुरो मन को महा महीप।
तुलसी या कलिकाल में अथए टोडर दीप॥
…… …… …… ……
…… …… …… ……
राम धाम टोडर गये, तुलसी भये असोच।
जियबो मीत पुनीत बिनु, यही जानि संकोच॥
गोस्वामी तुलसीदास बाबू शिवनन्दन सहाय, पृ० ८२ तथा "तुलसी-साहित्य रत्नाकर अथवा महाकवि तुलसीदास' पं० रामचन्द्र द्विवेदी पृ० १६ से उद्धृत।

तुलसीदास भूमिका पृ० १ ११

तुलसीदास और उनका युग, निवेदन पृ० १ १६

में इसका स्वरूप प्रयत्न 'श्री गोस्वामी तुलसीदासजी' नामक ग्रन्थ में श्री शिवनंदन सहाय जी ने किया था। यह ग्रन्थ दो खण्डों में है। प्रथम खण्ड में तुलसी की जीवन वृत्त सम्बन्धी सामग्री पर विस्तारपूर्वक विचार किया गया है। द्वितीय खंड में तुलसी के ग्रन्थों पर किंचित आलोचनात्मक दृष्टि से अलग-अलग विचार हुआ है एकमात्र मानस में वर्णित भक्ति का विशद विवेचन इस ग्रन्थ का ध्येय नहीं था। अतः प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध का विषय उसमें अल्पस्प रूप में ही समाविष्ट हुआ है। सम्वत् १९८० में नागरी प्रचारिणी सभा काशी ने पं० रामचन्द्र शुक्ल, लाला भगवान 'दीन" एवं ब्रजरत्नदास द्वारा सम्पादित 'तुलसी ग्रन्थावली' का प्रकाशन किया। इस ग्रन्थ में रचनाओं के पाठशोधन, जीवनवृत्तविवेचन तथा तुलसी की कला एवं विचारों की मीमांसा प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। इसमें भी मानस की भक्ति-भावना का समग्रकोण अध्ययन करना सम्पादकों का लक्ष्य नहीं था। संवत् १९९० में आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने 'गोस्वामी तुलसीदास' नामक आलोचनात्मक ग्रन्थ लिखा इसका उद्देश्य उन्हीं के शब्दों में 'गोस्वामीजी के महत्व के साक्षात्कार और उनकी विशेषताओं के प्रदर्शन का लघु प्रयत्न मात्र'[1] था। इस ग्रन्थ में तुलसी की भक्ति से सम्बन्धित तीन निबन्ध हैं —

१ तुलसी की भक्ति पद्धति।
२ शील-साधना और भक्ति।
३ ज्ञान और भक्ति।

प्रथम निबन्ध में लेखक ने केवल मानस से ही नहीं समग्र तुलसी-साहित्य से उद्धरण देकर तुलसी की भक्ति पद्धति की विशेषताएं प्रदर्शित की हैं। दूसरे में उन्होंने यह प्रदर्शित करने का प्रयत्न किया है कि किस प्रकार शील और सदाचार भी तुलसी की भक्ति के आवश्यक अंग थे। तीसरे निबन्ध में आचार्यजी ने ज्ञान एवं भक्ति का तुलसी-साहित्य में किस प्रकार समन्वय हुआ है इस विषय पर विचार किया है। यह ठीक है कि शुक्लजी ने तुलसी की भक्ति-पद्धति को अपने पूर्ववर्ती लेखकों से अधिक स्पष्ट और बोधगम्य बनाने का प्रयत्न किया है, किन्तु हमारे शोध-प्रबन्ध के समान केवल 'मानस' में वर्णित भक्ति का विस्तृत विवेचन उनका भी लक्ष्य नहीं था।

डा० बलदेवप्रसाद मिश्र द्वारा विरचित 'तुलसी दर्शन' में लेखक का प्रधान लक्ष्य तो तुलसी के दर्शन का विवेचन था किन्तु उनके ग्रन्थ के तीन अध्यायों में[2] तुलसी की भक्ति का विवेचन मिलता है। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के लेखक को मिश्रजी के ग्रन्थ के इन अध्यायों से विशेष सहायता मिली है। एक तो मिश्रजी ने भक्ति के विवेचन में मानस को ही अपने अध्ययन का विशेष आधार बनाया है और दूसरे उसके प्रधान पात्र भगवान राम के स्वरूप का सम्यक विवेचन किया है, किन्तु इतना होने पर भी केवल 'मानस' के आधार पर तुलसी की भक्ति का जितना सर्वांगपूर्ण विवेचन अभीष्ट था वह उसमें नहीं हो पाया है।

---

१ आचार्य शुक्ल 'गोस्वामी तुलसीदास' संवत् १९९० के संशोधित संस्करण के वक्तव्य से।
२ (क) तुलसी के राम
(ख) हरिभक्ति पथ और
(ग) भक्ति के साधन।

डा० माताप्रसाद गुप्त के शोध-प्रबन्ध "तुलसीदास" में तुलसी के जीवन उनकी कृतियों, उनकी कला एवं दर्शन इत्यादि अनेक विषयों का विवेचन हुआ है। भक्ति का विवेचन भी उन्होंने दर्शन सम्बन्धी अध्याय में ही किया है। अतः वर्तमान शोध प्रबन्ध को प्रस्तुत करने में उनसे भी बहुत कुछ सहायता प्राप्त हुई है, किन्तु उक्त शोध-प्रबन्ध का मुख्य लक्ष्य केवल 'मानस" के आधार पर ही भक्ति का सम्यक विवेचन करना नहीं था। अतएव उसमें भक्ति का विवेचन प्रासंगिक एवं गौण रूप में हुआ है, प्रधान रूप में नहीं। यही कारण है कि उक्त ग्रन्थ के रहते हुए भी प्रस्तुत शोध प्रबन्ध अनपेक्षित नहीं कहा जा सकता।

डा० राजपति दीक्षित का शोध-प्रबन्ध तुलसीदास और उनका युग दस परिच्छेदों में विभक्त है, जिनमें चार परिच्छेद[1] किसी न किसी रूप में तुलसी की भक्ति भावना से सम्बद्ध है। इस ग्रन्थ से भी प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के प्रणयन में लेखक को सहायता प्राप्त हुई है। उनके ग्रन्थ का पंचम परिच्छेद तुलसी की परम्परागत भक्ति इस शोध-प्रबन्ध में विशेष सहायक सिद्ध हुआ है। परन्तु तुलसी ने 'रामचरितमानस में भक्ति के जिस दिव्य स्वरूप का सुन्दर विवेचन किया है, उसकी सर्वांगीण मीमांसा की आवश्यकता अभी भी बनी ही रह गयी थी।

डा० मुंशीराम शर्मा का बृहद् ग्रन्थ भक्ति का विकास सन् १९५८ ई० में प्रकाशित हुआ। यह भक्ति सम्बन्धी एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है जिसमें हिन्दी के कतिपय भक्त कवियों की भक्ति का भी विवेचन हुआ है। इस ग्रंथ के दशम अध्याय का प्रतिपाद्य विषय है— तुलसीदास और रामभक्ति। इस अध्याय तथा अन्य अध्यायों से भी प्रस्तुत प्रबन्धकार को पर्याप्त सहायता मिली है, पर इसमें भी केवल मानस के आधार पर भक्ति का विवेचन न होकर तुलसी के समग्र ग्रन्थों पर आधारित भक्ति दर्शन एवं ज्ञान समन्वित विषयों का विस्तार से प्रतिपादन हुआ है।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध की नवीनता

उपर्युक्त महत्वपूर्ण ग्रन्थों तथा इनके अतिरिक्त तुलसी की भक्ति से सम्बन्धित अनेक छोटे-मोटे अन्यान्य ग्रन्थों में मानस में वर्णित भक्ति की सांगोपांग मीमांसा का अभाव है। अतः यह परमावश्यक था कि केवल "मानस में वर्णित भक्ति का यथासम्भव सर्वांगीण विवेचन हिन्दी-प्रेमियों के समक्ष उपस्थित किया जाय। इसी अभाव की पूर्ति के निमित्त प्रस्तुत शोध-प्रबंध प्रणीत हुआ है। इसमें सात अध्याय हैं जिनमें से अन्तिम अध्याय तो यह उपसंहार मात्र है, पर शेष छः अध्यायों में भक्ति का सैद्धान्तिक विवेचन तुलसी पूर्ववर्ती साहित्य में भक्ति भावना का विकास 'मानस' में प्रतिपादित भक्ति, 'मानस में भक्ति के उद्गार मानस" में वर्णित भक्त और मानस में प्रतिपादित भक्ति, 'मानस की भक्ति का परवर्ती प्रतिनिधि राम भक्ति काव्यों एवं भारतीय जन-जीवन पर पड़े हुए प्रभावों

१ (क) तुलसी की धर्म भावना
(ख) तुलसी की साम्प्रदायिकता
(ग) तुलसी की परम्परागत भक्ति
(घ) तुलसी की उपासना पद्धति।

के विवेचन का क्रमशः प्रयास किया गया है। अपने इस प्रयास को सब या मौलिक एवं अभिनव होने का मिथ्या दम्भ मैं कदापि नहीं करता पर सर्वांश में नहीं तो बहुत कुछ अंश में इसमें मौलिकता एवं नवीनता अवश्य दृष्टिगोचर होगी। प्रस्तुत प्रबंध का चौथा और छठा अध्याय मेरा अपना है तथा ये दोनों अध्याय हिन्दी-साहित्य में 'मानस' की भक्ति से सम्बन्धित अन्य शोध-ग्रन्थों से सर्वथा नवीन एवं मौलिक हैं। प्रबंध के अन्य अध्यायों में भी अपने विषय की सामग्री के संकलन उपयोग एवं परख में मैंने निश्चय ही यथासाध्य नवीनता एवं मौलिकता का प्रदर्शन किया है। 'मानस' की भक्ति से सम्बंधित अन्य अनुसंधानों से यह शोध-प्रबंध इस बात में भी भिन्न है कि इसमें भक्ति से सम्बंधित प्रायः सभी बातों पर पूरा-पूरा प्रकाश डालने का प्रयत्न किया गया है। पहले अध्याय में भक्ति का सैद्धान्तिक विवेचन और दूसरे में उसके उद्भव और विकास का स्पष्टीकरण किया गया है। वस्तुतः ये दोनों अध्याय इस ग्रन्थ के मुख्य अंश अर्थात् मानस में वर्णित भक्ति के विवेचन की प्रस्तावना मात्र ही हैं। इनमें विषय की दृष्टि से नवीनता नहीं है। ये केवल आगे आने वाली नवीनता एवं विशेषता की ओर अग्रसर करने के लिये ही लिखे गये हैं। तीसरे अध्याय में 'रामचरित मानस' में प्रतिपादित भक्ति का स्वरूप स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। भक्ति के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिये भगवान् के स्वरूप का, भक्ति के अधिकारियों का, भक्ति के अन्तरायों का, भक्ति के साधनों का, भक्ति के भेदों का और उसके फल का विवेचन आवश्यक होता है। इस अध्याय में तुलसी के मानस के आधार पर इन विषयों का सविस्तार विवेचन किया गया है। इस प्रसंग में यह निवेदन करना अनावश्यक नहीं होगा कि राम और विष्णु के पारस्परिक संबंधों में जो तरह-तरह की जनमानस में भ्रांतियाँ उठा करती हैं, उनका भी यहाँ निराकरण करने का प्रयत्न किया गया है तथा इस संबंध में कुछ विद्वान के सन्देहों के यथोचित समाधानकारक उत्तर भी दिये गये हैं। चौथे अध्याय में भावावेश में स्वतः स्फुरित होने वाले 'मानस' के उन भक्त्यात्मक उद्गारों का विस्तृत विवेचन हुआ है, जिनमें भगवान् राम के प्रति तुलसी की भक्ति भावना उनके हृदय से बार-बार सरस स्रोतस्विनी के समान फूट पड़ी है। कवि के हृदय में भगवान् राम के प्रति जो प्रगाढ़ प्रेम है, वह उसकी वाणी में उद्गार रूप में प्रकट होकर उसके काव्य को कितना सजीव एवं भक्तिमय बनाता है, इस अध्याय में इस तथ्य को सूचित करने का प्रयत्न किया गया है। इन भक्ति पूर्ण उद्गारों के मनोयोगपूर्वक अध्ययन से हम अनायास ही मानसकार के मुख्य लक्ष्य-राम भक्ति-से अवगत हो जाते हैं। यथार्थतः इस अध्याय के अभाव में 'मानस' की भक्ति का समुचित विवेचन अपूर्ण ही रह जाता। तुलसी के मानसस्थ इन उद्गारों को देखते हुये हमें "मानस" को भक्तिप्रधानग्रन्थ ही मानना पड़ा है। मानसस्थित भक्तिपूर्ण उद्गारों के अध्ययन के आधार पर 'मानस' की भक्ति का विवेचन भी प्रस्तुत शोध-प्रबंध की एक प्रमुख विशेषता तथा नवीनता है। पाँचवें अध्याय में 'मानस' के प्रायः सभी प्रमुख भक्तपात्रों के चरित्रों का रामभक्ति की दृष्टि से आलोचन एवं मूल्यांकन किया गया है। इस प्रबंध का तीसरा अध्याय जहाँ 'मानस' की भक्ति के सिद्धान्त पक्ष से ओतप्रोत है, वहाँ यह पाँचवाँ अध्याय उसके व्यवहार पक्ष का उद्घाटन करता है। यहाँ पर भी कुछ भक्त पात्रों के संबंध में कुछ विद्वानों के द्वारा विभिन्न भ्रांत धारणाओं का निराकरण किया गया है। इसी प्रकार

में इस प्रश्न का समाधान किया गया है कि निषादराज गुह और केवट एक ही व्यक्ति हैं या दो भिन्न भिन्न व्यक्ति। तीसरे से पाँचवें परिच्छेद तक में जितनी चर्चायें हुई हैं, वे अपने विषय के अनुकूल 'मानस' की छाँटी हुई पंक्तियों पर ही आधारित हैं। अपने जानते अभ्य विषय पर प्रकाश डालने वाली 'मानस' की एक भी पंक्ति मैंने नहीं छोड़ी है पर प्रबन्ध के कलेवर में अनावश्यक विस्तार के भय से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण पंक्तियों के आधार पर ही विषयवस्तु का अत्यंत संक्षेप में विवेचन विश्लेषण किया गया है। अपने विषय के अनुरूप पूरे 'मानस' से पंक्तियों को छाँटने में भी हमें कठोर परिश्रम करना पड़ा है। इस प्रकार तीसरे से पाँचवें तक के अध्याय में 'मानस' वर्णित भक्ति का विवेचन कर उसकी महत्ता एवं प्रभु विष्णुता का मूल्यांकन करने के लिए छठवें अध्याय में तुलसी परवर्ती-प्रमुख हिन्दी रामभक्ति काव्यों पर 'मानस' की भक्ति के प्रभाव का दिग्दर्शन कराया गया है। कुछ ग्रन्थों की छपाई बहुत पुरानी थी और कुछ ग्रन्थ 'मिलो' में थे। अतः इनके अध्ययन एवं इनसे अपने विषयानुकूल सामग्री संचयन में काफी कठिनाइयाँ हुई हैं। यों तो पहले बहुत से रामभक्ति काव्यों पर 'मानस' के भक्ति विषयक प्रभाव का दिग्दर्शन कराया गया था पर विस्तार भय से प्रस्तुत परिच्छेद की सीमित परिधि में सबों को समाहित करना असंभव समझ कर, कुछ प्रमुख काव्यों को ही स्थान दिया जा सका। उनमें से कुछ को तो 'मानस' की शब्दावलियों पंक्तियों एवं भावों का अनुकरण करने वाली अथवा उनसे साम्य रखनेवाली समानान्तर पंक्तियाँ भी उद्धृत कर दी गयी हैं। 'मानस' की भक्ति के प्रभाव विषयक अध्ययन का इनसे और भी अधिक स्पष्टीकरण हो गया है। इस शोध प्रबन्ध में यह कार्य भी सर्वथा मौलिक नवीन एवं वैशिष्ट्य पूर्ण हुआ है। तुलसी के बाद बहुत से रामभक्ति-काव्य अनुपलब्ध हैं। अतः उनपर 'मानस' की भक्ति के प्रभाव का विवेचन हिन्दी-साहित्य के इतिहास या शोधग्रन्थों में उद्धृत पंक्तियों के आधार पर किया गया है और उन्हें परिशिष्ट (क) में स्थान दिया गया है। अन्ततः इसी छठे परिच्छेद में 'मानस' की भक्ति के भारतीय जन जीवन पर पड़े हुए प्रभावों का भी विशद विवेचन किया गया है। इस प्रसंग में सर्वप्रथम तो 'मानस' की भक्ति पद्धति के द्वारा भारतीय जीवन को प्रभावित करने की प्रबकार की आशा, आकांक्षा एवं संभावना पर प्रकाश डाला गया है, तत्पश्चात् 'मानस' की भक्ति का वैयक्तिक साधना और राष्ट्रीय जीवन पर प्रभाव प्रदर्शित किया गया है। यह कार्य भी सर्वथा मौलिक एवं नवीन है। कुछ विद्वान इस अध्याय का हमारे प्रस्तुत शोध-प्रबंध के विषय से असम्बद्ध भी समझ सकते हैं किन्तु हम ऐसा नहीं मानते। कारण यह है कि किसी व्यक्ति या वस्तु का विवेचन करते समय यदि हम समाज के ऊपर पड़ने वाले उसके प्रभाव की चर्चा न करें तो यह हमारे प्रबंध को एक अपूर्णता हो जाता। अन्ततः उपसंहार में पूरे प्रबन्ध का सारांश, उसकी आवश्यकता विशेषता एवं उपयोगिता का उद्घाटन करना भी उचित था, जिसके लिये ये कतिपय पंक्तियाँ लिखी गयी हैं।

मैं अपने इस प्रयत्न में कहाँ तक सफल हो सका हूँ इसके सम्बन्ध में अब कुछ और अधिक निवेदन करने का उत्तरदायी अधिकारी अपने आप को नहीं समझता। यथार्थतः इसका निर्णय तो सुधी परीक्षकों एवं समालोचकों पर निर्भर है, परन्तु आज मुझे अपने इस शुभ कार्य को सम्पन्न करने हुए एक अनिर्वचनीय सुख एवं सन्तोष का अनुभव हो रहा है। इससे लौकिक लाभ भले ही न हो पर एक भावुक भक्त अपने सरस हृदय-पट पर अपने प्रभु का

स्वरूप अंकित कर, उनकी गुणगाथाओं का गायन एवं ध्यान कर अपनी वाणी का अवश्य ही पवित्र एवं सफल बना लेगा। इस कार्य के सम्पादन में मैं करीब पाँच वर्षों से संलग्न रहा हूँ और आज इसे पूर्ण करते हुए मेरी वाणी एवं लेखनी मुझे पुनीत एवं सफल प्रतीत होती है। मानसकार की इस मर्मस्पर्शिनी उक्ति—

> "बुध बरनहिं हरिजस अस जानी। करहिं पुनीत सुफल निज बानी॥"[1]

का स्मरण और अनुभव कर हृदय बार-बार पुलकित एवं आह्लादित हो रहा है। ऐसे तो जब महात्मा तुलसीदास जैसे प्रतिभासम्पन्न साधक एवं महाकवि ने भी रामभक्ति-साहित्य में एक अभूतपूर्व कृति लिखते समय कातरता का अनुभव किया था[2] और सुधी समालोचकों से प्रार्थना की थी—

> 'होहु प्रसन्न देहु बरदानू। साधु समाज भनिति सनमानू॥
> जो प्रबन्ध बुध नहिं आदरहीं। सो श्रम बादि बाल कवि करहीं॥[3]

तो भला इस लघु ग्रन्थ के अबोध एवं अल्पज्ञ लेखक की तो बात ही क्या है।

---

१ मा० १।१४।८

२ सुमुखि अमित राम प्रभुताई। करत कथा मन अति कदराई॥
—मा० १।१२।२

३ मा० १।१४।७-८

परिशिष्ट (क)

हिन्दी-रामभक्ति-काव्य पर "मानस" की भक्ति का प्रभाव

१ रामायण महानाटक

रामायण महानाटक ' के प्रणेता प्राणचन्द चौहान हैं। इस महानाटक का प्रणयन चौहान जी ने संवत् १६६७ में अर्थात् 'रामचरितमानस' की रचना के करीब चौंतीस वर्ष बाद किया था। मानस' की भक्ति का प्रभाव इस ग्रन्थ पर स्पष्टतया परिलक्षित होता है। ग्रन्थारम्भ में ही कवि ने जो भगवान राम के निर्गुण-सगुण रूप का ध्यान किया है, वह मानस से सर्वथा प्रभावित है। मानसकार भी भगवान् राम के सगुण एवं निर्गुण दोनों रूपों का ध्यान करते हैं, पर मानस के सभी भक्तों का भगवान् राम के सगुण रूप की ओर ही अधिक झुकाव है। रामायण महानाटक की—

> चार वेद गुन कोरि बखाना ॥
> दोनों गुन जाने संसारा । निरगुन पाले भंजनहारा ॥
> भजन बिना सो भव बहु पुना । मन मैं होई सुपहले सुना ॥
> वैदै सब पै माहि न आँपी । —
> — — — — । जिहि कर मर्म वेद नहिं जाना ।
> — — — — । संकर पँवरि बीच होइ हारा ॥[1]

आदि पंक्तियों पर तो निर्विवाद रूप से "मानस" की भक्ति का प्रभाव है। गोस्वामी तुलसीदास की निम्नांकित पंक्तियों के अवलोकन से इस तथ्य का स्पष्टीकरण हो जायगा—

(क) जेहि सृष्टि उपाइ त्रिविध बनाई । —

—मा० १ १८६ १

(ख) बिधि हरि सम्भु नचावनिहारे ।

—मा० २ १२७ १ (उ०)

(ग) बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना । कर बिनु करम करइ बिधि नाना ।
— — — — — —
तन बिनु परस नयन बिनु देखा । —

—मा० १ ११८ ५ ७ (पू०)

डा० रामनिरंजन पाँडेय भी गोस्वामी तुलसीदास की धारणा से प्राणचन्द चौहान को प्रभावित मानते हैं।[2]

---

१ आचार्य शुक्ल हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ० १४१ से उद्धृत
२ रामभक्तिशाखा पृ० ४१४-४१५

२. हनुमन्नाटक

हनुमन्नाटक के रचयिता हृदयराम हैं। इन्होंने रामचरितमानस की रचना के करीब ४७ वर्ष पश्चात् संवत् १६८० में इस ग्रन्थ का निर्माण किया। यों तो मूलत संस्कृत के प्रसिद्ध हनुमन्नाटक के आधार पर ही इन्होंने भाषा में इस ग्रन्थ की रचना की है परन्तु "मानस" की परवर्ती रचना होने के कारण इस सर्वाधिक प्रसिद्ध नाटक पर भी "मानस" की भक्ति का प्रभाव यत्र-तत्र दृष्टिगोचर होता है। इस नाटक में नाटककार ने भगवान् राम की अपरिमित शक्ति का जो अंकन किया है, वह मानसकार के राम की ही अपरिमित शक्ति है। जब सुग्रीव के संकेत से भगवान् राम ने सप्त तालों को एक ही साथ काट डाला तो उसके काटने की ध्वनि से त्रिलोकव्यापी आतंक का एकान्त रमणीय वर्णन हृदयराम ने किया है।[1] इसी तरह इस ग्रन्थ में राम के हनुमान् से इस प्रश्न पर कि सीता हमारे वियोग में क्यों नहीं मर गयी हनुमान् का जो उत्तर है वह प्रकारान्तर से मानस में भी है।[2] वस्तुत तुलसी की तरह ही भगवान् राम के चरणों के प्रति पावन प्रेम से हृदयराम का भी हृदय सम्पन्न हो चुका था।

३ रामरसायन

रामरसायन के प्रणेता रीतिकाल के परमोत्कृष्ट कवि पं० पद्माकर भट्ट जी हैं। इनका जन्म संवत् १८१ और मृत्यु संवत् १८९० है।[3] यों तो पद्माकर जी ने 'रामरसायन' की रचना वाल्मीकि-रामायण के आधार पर की है पर इसमें उन्होंने रामचरितमानस के दोहे चौपाई वाली शैली का ही अनुकरण किया है। यह एक चरित काव्य है और मानस की तरह ही काण्डों में विभक्त है। इस ग्रन्थ की काव्यात्मकता साधारण कोटि की है। कदाचित् इसीलिए आचार्य शुक्ल का यह अनुमान है कि 'सम्भव है वह इनका न हो।'[4]

४ रामाश्वमेध

रामाश्वमेध के रचयिता मधुसूदन दासजी हैं। इसमें राम के जीवन के एक लघु अंश अश्वमेध यज्ञ को केन्द्रबिन्दु बनाकर कथावस्तु का विन्यास किया गया है। यह एक विशाल एव मनोहर प्रबन्ध काव्य है। वस्तुत रीतिकालीन रामभक्तिपरक प्रबंध काव्यों की अपेक्षा यह सर्वाधिक प्राञ्जल, परिमार्जित एवं प्रसिद्ध है। इस ग्रन्थ का प्रणयन संवद् १८३९ में

---

१ "सातों सिंधु, सातों लोक सातों रिषि हैं ससोक।
... ...
... ...
जेते साल ताल बाण परी साल ताल में।
—आचार्य शुक्ल हिंदी साहित्य का इतिहास पृ० १५० से उद्धृत।

२ जीवित है ? कहिबेई को नाथ सुयों न मरी हमतें बिछुराहीं।
प्रान बसै पदपंकज में जम आवत है पर पावत नाहीं॥" —वहीं।
द्रष्टव्य—मा० ५ म (पू०) ९३०८५३०

३ पं० शुक्ल, हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ० ३०८

४ वही, पृ० ३०९

हुआ था।[1] 'रामचरितमानस' की रचना से भी इसका बहुत साम्य है। इस ग्रन्थ की रचना भी "रामचरितमानस" की दोहा चौपाई वाली शैली में ही की गयी है। इस पर रामचरितमानस का इतना अधिक प्रभाव है कि आचार्य प० रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में यह सब प्रकार से गोस्वामी जी के रामचरितमानस का परिशिष्ट ग्रन्थ होने के योग्य है" —

....

गोस्वामी जी की प्रणाली के अनुसरण में मधुसूदनदास जी को पूरी सफलता प्राप्त हुई है। इनकी प्रबन्ध कुशलता कवित्व शक्ति और भाषा की शिष्टता तीनों उच्च कोटि की इनकी चौपाइयाँ बराबर गोस्वामी जी की चौपाइयों में बेखटके मिलाई जा सकती हैं।[2]

५ स्वामी श्री युगलानन्यशरण जी की रचनाएं

स्वामी श्री युगलानन्यशरणजी महाराज का जन्म-संवत् १८७५ और मृत्यु संवत् १९३१ में हुई थी।[3] ये अयोध्या के लक्ष्मण किला पर रहते थे और अपने समय के परम रामभक्त एवं सिद्ध सन्त के रूप में प्रख्यात थे। इनकी उपासना 'सखी भाव' की थी।[4] इनकी सम्मिति मे सारे सम्बन्ध अनुपम होते हुये भी पति-पत्नी भाव सब का मुख्य रूप है और इसी भाव में अतिशय प्रीति के प्रकाश के कारण प्रियतम का रस निरावरण होकर अनुभूत होता है।[5] महात्मा युगलानन्य शरणजी की लिखी गयी ८४ पुस्तकें कही जाती हैं जिनमें से अधिकांश आज भी अयोध्या के लक्ष्मण किला में सुरक्षित है।

रसिकोपासक होने के बावजूद, महात्मा युगलानन्यशरण की भक्ति-साधना एवं रचना पर 'रामचरितमानस' की भक्ति का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। तुलसी की तरह इन्होंने भी भगवान राम के नाम की अनन्त शक्तिमत्ता को स्वीकार करते हुये अपने 'श्री सीताराम नाम प्रताप प्रकाश' ग्रन्थ में रामनाम का मद्य पान करने वाले की मदहोशी का मार्मिक चित्रांकन किया है। वस्तुतः राम का नाम लेने से मन एवं बुद्धि की चंचलता दूर हो जाती है और प्रिय की परम प्रसन्नता प्राप्त होती है। रामनाम का मधुर रस पान करने वालों को राम पतिरूप में प्राप्त हो जाते हैं और उनका जीवन सरस एवं स्निग्ध हो जाता है।[6]

नाम-साधना में युगलानन्यशरण ने भी प्रेम को ही विशेष महत्व प्रदान किया है। इन्होंने आराध्य के ध्यान के रस में लीन हो प्रेमपूर्वक नाम-स्मरण को सर्वश्रेष्ठ घोषित किया

---

१ वही पृ १७४
२ वही पृ० १७४-७५
३ रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय डा० भगवती प्रसाद सिंह, पृ० ४६२ और ४६७
४ युगलानन्य शरण मन मत्ता। बरसों अवध माहिं बिलसंता॥
....
राम प्रेम वारिधि महँ मगना। सिय सहचरी भाव चित लगना॥
—राम रसिकावली रघुराज सिंह, पृ० ९९०
५ यदपि सब सम्बन्ध अनूपा। तदपि पति पत्नी मुख्य रूपा॥
माहिं माहिं अति प्रीति प्रकासे। निरावरन प्रीतम रस भासे॥
—रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना पृ० २९९ से उद्धृत
६ द्रष्टव्य—रामभक्ति-साहित्य में मधुर उपासना पृ० २७३

"एक बार मोहिं सपने माही । बरनाम दिये कहे मोहि पाही ।
भक्ति मिलन को सहज उपाई । वरियो कवन चरित रघु राई ॥[1]

तुलसी की तरह जानकी प्रसाद के ग्रन्थ में भी राम को परात्पर ब्रह्म ही घोषित किया है । शेष एवं वेद उनकी कीर्ति के गायन में संलग्न रहते हैं पर वे आदि अन्त नहीं पाते । वही भगवान् राम भक्तों के प्रेम एवं भाव के वशीभूत हो अपने यथार्थ स्वरूप को प्रदर्शित कर देते हैं ।[2] मानसकार के स्वर में स्वर मिलाकर राम निवास रामायणकार का भी कथन है—

पद सुने के लोव रामचन्द्र यश संत निधि ।
ते न लहें भवसोग यश प्रताप प्रभु की कृपा ॥[3]

इस तरह इस ग्रन्थ पर मानस की भक्ति का प्रभाव स्पष्ट है ।

७ "सीतायन

सीतायन के रचयिता स्वामी रामप्रियाशरण प्रेमकली" जी हैं । इस ग्रन्थ की हस्तलिखित प्रति आज भी रहस्य प्रमोदवन श्री जानकीघाट अयोध्या एवं वामन मन्दिर टेढ़ी बाजार, सर्य द्वार अयोध्या में उपलब्ध है । यह ग्रन्थ भी रामचरितमानस की भक्ति से प्रभावित है, लेकिन "रामचरितमानस में जहाँ रामचरित को प्रधानता है वहाँ 'सीतायन में सीता चरित को । तुलसी के 'मानस" की तरह 'प्रेमकली" जी का "सीतायन भी सात काण्डों में विभक्त है । वे सातकाण्ड निम्नांकित हैं—बालकाण्ड मधुर काण्ड, जयमाल काण्ड रसमास काण्ड, सुखमान काण्ड, रसाल काण्ड और चन्द्रिका काण्ड ।

तुलसी की सीता की तरह प्रेमकली जी की सीता भी परम सुन्दरी है । उनका पार वेद भी नहीं पाते हैं । वे नेति-नेति कह कर रह जाते हैं ।[4] सीतायनकार की सम्मति में जिनके हृदय एवं नेत्रों में राजा जनक को *सीता-उर्मिला-श्रुतिकीर्ति एवं माण्डवी ये चार*

---

१. राम निवास रामायण बाल विलास छंद ५ (रामकाव्य की परम्परा में रामचन्द्रिका का विशिष्ट अध्ययन पृ० ४०९ से उद्धृत)

२. विदेह पानि जोरि कै । विनी करी निहोरि कै ।
परेश ब्रह्म ही सही । निकाय काम हू नहीं ॥
अनन्त वेद पावते । न आदि अन्त पावते ।
सो प्रेम वश्य भावते । स्वरूप हू लखावते ॥
—रामनिवास रामायण पृ० ११८ (रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय पृ ३९२ से उद्धृत ।)

३. रामनिवास रामायण पृ० ४०७ छंद ४ (रामकाव्य की परम्परा में रामचन्द्रिका का विशिष्ट अध्ययन पृ० ४०९ से उद्धृत) द्रष्टव्य—मा० १ १२ १ —१२ १ १२ ५

४. वेद न पावत पार नेति कहि कहि रह गये ।
—रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना पृ० ३३९ से उद्धृत ।

है।[1] यथार्थतः इसका माधुर्यभाव भी तुलसी के प्रेम से भावित हुआ है। रामनाम की महिमा पर श्रुति स्मृति, पुराणादि सद्ग्रन्थों के प्रमाणों द्वारा संगृहीत इनका भी "सीताराम नाम प्रताप प्रकाश" ग्रन्थ भी बड़ा ही प्रामाणिक है।

इनके 'उज्ज्वल उत्कंठा विलास' ग्रन्थ में सीताराम के नाम, रूप, गुण, धाम और लीला की क्रमशः मार्मिक उत्कण्ठा व्यक्त हुई है। वस्तुतः इस कृति में युगल सरकार के नाम, रूप गुण, धाम और लीला के सौन्दर्य में तुलसी की तरह महात्मा युगलानन्य शरणजी का अन्तःकरण भी उत्कण्ठित होकर तल्लीन हो गया है।

"श्रीमधुरमंजुमाला" भी इनका एक अन्य महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें बारह क्रान्ति हैं—विनय, सत्संग, वैराग्य, ज्ञान भक्ति धाम, गुरुन रूप रस रहस्य, इश्क और नाम। इनमें प्रारम्भिक पाँच क्रांति और रूप तथा इश्क क्रांति सम्पन्न किया के वर्तमान महत श्री सीतारामशरण जी के द्वारा प्रकाशित भी कराये गये हैं। इश्क कान्ति में तो महात्मा युगलानन्य शरणजी ने स्पष्ट शब्दों में तुलसी के समान रामायणी कथा का महत्व स्वीकार किया है—

> 'श्री महारामायण सम अरु गुन गाथा विशद न बूझो।
> जेहि वर वरन भवन सुहृद हूँ करि नियम बासना पू जो।।
> नाम रूप लीलाम विभव पर मधुर मनोहर कू जो।।
> युगलानन्य शरण निरखत जेहि सकल कामना पूजो।।"

४ "रामविलास रामायण'

'रामविलास रामायण' के रचयिता जानकी प्रसाद जी हैं। यह एक अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण प्रबंध काव्य है। यों तो इसके अतिरिक्त सीताराम विलास बारहमासा राधा कृष्ण मोद विलास बारहमासा 'क्षीर' पहेली ये तीन अन्य भी इनकी रचनाएं हैं पर 'रामविलास रामायण' के समक्ष उनका स्थान सर्वथा गौण है। इनके 'रामविलास रामायण" की रचना चैत कृष्ण नवमी संवत् १९११ में हुई थी।[3] तुलसी के रामचरितमानस की भाँति यह ग्रन्थ भी सात काण्डों में ही विभक्त है पर इसमें "काण्ड' शब्द का प्रयोग नहीं करके कवि ने 'विलास' शब्द का प्रयोग किया है। जैसे बालविलास अवध विलास, आरण्य विलास किष्किंधा विलास सुन्दर विलास लंका विलास और उत्तर अवध विलास। इस ग्रन्थ पर भी 'मानस' की भक्ति का प्रचुर प्रभाव पड़ा है। ग्रन्थकार को रामचरित कथन की प्रेरणा स्वप्न में रामचरितमानस के प्रणेता गोस्वामी तुलसीदास जी से ही मिली थी—

---

१ रामभक्ति-साहित्य में मधुर उपासना पृ० १८१
२ इश्क कान्ति पृ० २१३० प० सं० ११८
३ कातिक शुक्ल पूर्णिमा सुखप्रद भयो ग्रन्थ आरम्भा।
उये ज्ञान रवि भये विपयतम काम क्रोध मद दंभा।।
पूरण भयो पूर्णिमा सखि सो मधुसित नौमी पाई।
राम सर्वगुण अंक ब्रह्म में संवत सुखद सोहाई।।
—राममक्ति में रसिक सम्प्रदाय पृ० ४२२ से उद्धृत

कन्यायें बस गयी हैं, उनके लिए 'ब्रह्मात्मक सुख' व्यर्थ हो गया है।[1] तुलसी भी अयोध्या नरेश दशरथ के राम-लक्ष्मण भरत एवं शत्रुघ्न इन चार बालकों को अपने मन-मंदिर में विचरण के अनन्य आकांक्षी हैं।[2] तुलसीदास जी प्रधानतया रामोपासक हैं। वे राम लक्ष्मण और सीता का ध्यान करते हुये भी मुख्यतया धनुर्धर राम की मूर्ति को ही अपने हृदय में स्थान देने की कामना व्यक्त करते हैं। वे अवधेश के चार बालकों को मन में स्थान देने की आकांक्षा इसलिये करते हैं कि वे परमात्मा के पुरुष रूप के ध्यान को विशेष महत्व देते हैं किन्तु प्रेमकली जी माधुर्य भाव के उपासक होने के कारण सीता एवं उनकी अन्य तीन बहनों का हृदय में ध्यान धरकर कृतकृत्य होना चाहते हैं। उपासना भेद से यह अन्तर रहने पर भी तुलसी और प्रेमकली की भक्त्यात्मक तल्लीनता में कोई अन्तर नहीं है। इसलिए प्रेमकली पर तुलसी का प्रभाव स्पष्ट है।

मानसकार की तरह सीतायनकार की भी यही मान्यता है कि सीता के अंश से अमित रमा रति उमा शारदा और शची उत्पन्न होती रहती हैं।[3] ऐसी सीता जनक सुनयना की भृकुटि को देखकर सदा उनके टहल में लगी रहती हैं।[4] राम के सम्बन्ध में भी गोस्वामीजी ने ठीक ऐसे ही विचार व्यक्त किये हैं।[5]

तुलसी के राम की तरह प्रेमकली के राम भी परमपुरुष हैं। सीता और उनमें सर्वथा अभेद सम्बन्ध है। महारानी सीता के श्रीमुख की वाणी से ही इस कथन की पुष्टि हो जाती है।[6]

गोस्वामी जी की तरह प्रेमकली जी भी राम सीता अवध मिथिला जनक दशरथ सबको अनादि मानते हैं और इनकी अनादि लीला के ध्यान में निरन्तर निमग्न रहते हैं।

---

१ प्रिया शरन श्री जनक के अजिर सहित सिय आदि।
  व्याहि हिय मैनन में बसी ब्रह्मात्मक सुख बादि॥
  —वही पृ० ११७ से उद्धृत।

२ अवधेश के बालक चारि सदा तुलसी मन मंदिर में बिहरैं॥
  —कवितावली पृ० सं० १४

३ मा० १ १४८ १-४—
  "जेहि सीता के अंश ते अमित रमादिक होत।
  अमित उमा शारद शची तेहि तन की उद्योत॥
  —रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना, पृ० ११७ से उद्धृत।

४ रहति सदा पुनि टहल में लग्न जनक भृकुटि निहारि।
  जेहि समय जस चहि नयति तेहि छन कौन प्रचार॥
  —वही से उद्धृत।

५ मा० १ २२१ १-७

६ सबसे परे पुरुष श्री रामा। श्याम स्वरूप महासुख धामा॥
  हम ते उनते नहिं कछु भेदा। रूप भेद पुनि तत्त्व अभेदा॥
  —रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना, पृ० ११८ से उद्धृत।

वस्तुतः 'सोइ जानइ जेहि देहु जनाई' की तरह इस रहस्य से वही अवगत हो पाता है जिसपर भगवान् की 'कृपा कटाक्ष' पड़ जाय।[१]

८ "सियाराम चरण चन्द्रिका

'सियारामचरण चन्द्रिका' के रचयिता कविराज सतिराम या सखिमन हैं। इस ग्रन्थ में महारानी सीता एवं भगवान् राम के चरणों का माहात्म्य वर्णित है। ग्रन्थकार ने युगल-सरकार के चरण-कमलों की महिमा का वर्णन करते हुए उनका बड़ा ही भाव पूर्ण सम्यक् ध्यान भी किया है। कविराज सखिमन का राम एवं सीता के चरणकमलों में जो प्रभा दृष्टिगोचर होती है वह दान, कीर्ति विद्युत्, सिन्धु, अपार रत्न तथा पारस के पहाड़ में भी दृष्टिगोचर नहीं होती।

रामचरितमानस में भगवान राम के चरणों के इतस्ततः जो वर्णन हुए हैं, उनसे सखिमन कवि का यह ग्रन्थ प्रभावित प्रतीत होता है। गोस्वामी तुलसीदास जी की तरह कविराज सखिमन ने भी राम के चरणों के मतों में गंगा का आवास स्वीकार किया है।[३] जिस तरह तुलसी की दृष्टि में राम के चरण शिव और ब्रह्मा से पूज्य हैं तथा उसीकी शुभ धूलि के स्पर्श से मुनिपत्नी अहल्या का उद्धार हुआ है[४] उसी तरह सखिमन कवि की दृष्टि में भी सखी और शारदा उन चरण-कमलों के पराग को शिरोधार्य करती हैं।[५] वस्तुतः भक्तों के प्राण तथा त्रिभुवनधाम के वे चरणाम्बुज तुलसी की तरह कविराज सखिमन को भी अपनी भक्ति में तल्लीन कर चुके हैं।[७]

९ "श्रीराम विलास"

'श्री राम विलास' ठाकुर मथुरा प्रसाद सिंह जी की रचना है। इस ग्रन्थ का

---

१ मा० २।१२७।१ (पू०)

२
राम अनादि सीता अनादि अवध अनादी।
तुम्हरी पुरी अनादि सकल कहु वेद के बादी॥
दोउ राम अनादि अवध मिथिला को गादी।
चतुर्वेद षट शास्त्र पुराणादिक प्रतिपादी॥
तुम राजा सब जानतहु तुम्हरे गृह को बात सब।
अपरनि को तब सखि परे तुम्हरी कृपा कटाक्ष जब॥
—रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना पृ० ३१६ से उद्धृत।

३ सखिमन लखन बहासी मंजु मोती सर
तरल तरंगे गंग अमृत अगार में॥
—रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना पृ० १६२ से उद्धृत
द्रष्टव्य—मा० ७।११।१४

४ राव रामचन्द्र मैथिली के चरणाम्बुज पै मैं र ही प्रभाको दान कीरति प्रचार में।
बिज्जुजन मार में न सिन्धु वार पार में न रतन अपार में न पारस पहार में॥
—रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना, पृ० १६२ से उद्धृत

५ मा० ७।१३।११

६ ज्यों सखिराम सची शुभ शारदा माल बिसाल पराग लगाव।
—रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना, पृ० १६२ से उद्धृत

७ वहीं।

प्रणयन संवत् १९९४ चैत्र शुक्ल रामनवमी को प्रारम्भ हुआ था । रामचरितमानसकार की तरह ही रामविलासकार ने भी इस ग्रन्थ में 'हुलास' के साथ भगवान् राम के गुणों का वर्णन किया है ।[१] इस छोटे से ग्रन्थ पर 'रामचरितमानस' की भक्ति का पर्याप्त प्रभाव परिलक्षित होता है । यह ग्रन्थ भी मानस की तरह दोहे-चौपाइयों में ही लिखा गया है और इसमें उसकी घटनाओं की ही एक संक्षिप्त चर्चा है । पचास में चालीस पृष्ठों वाले इस लघु ग्रन्थ को 'रामचरितमानस' का एक संक्षिप्त संस्करण कहा जा सकता है । इसमें राम के चरित्र का बड़ा ही भव्य अंकन है । जनकपुर में राम विवाह के शुभअवसर पर ग्रन्थकार ने सीता की सखियों के साथ राम के हास-परिहास का जो वर्णन किया है वह बड़ा ही प्रभावोत्पादक एवं हृदयस्पर्शी है लेकिन तुलसी जहाँ अत्यन्त मर्यादा पूर्ण ढंग से हास-परिहास का वर्णन करते हैं वहाँ इसमें मर्यादा का ध्यान नहीं रखा गया है । इस प्रकरण में कृपासिन्धु भगवान् राम के मधुर स्वभाव एवं भक्तों पर उनकी असीम अनुकम्पा का जो चित्रांकन किया गया है वह 'रामचरितमानस' से पूर्णतः प्रभावित है । गोस्वामी तुलसीदास जी के स्वर—

जेहि के जेहि पर सत्य सनेहू । सो तेहि मिलइ न कछु संदेहू ॥[२]

में स्वर मिलाकर ठाकुर मधुरा प्रसाद सिंह जी भी यही कहते हैं कि—

जेहि परि करहिं प्रभु अनुरागा । तासहिं मिलत बिलम्ब न लागा ॥[३]

जनकपुर की नारियों का राम से कथन है कि यद्यपि हम 'अविवेकी' "जातिहीन और सब तरह गँवारी' है तथापि आप जैसे प्रियतम से बिछुड़ने पर हम लोगों के लिये संसार में जितने सुख हैं वे सब दुख के समान लगने लगेंगे ।[४] इसके उत्तर में भी रामविलासकार के राम ने जो निवेदन किया है वह "रामचरितमानस" में भिन्न-भिन्न प्रकरणों में आई हुई चौपाइयों का अनुवाद मात्र प्रतीत होता है । राम का कथन है कि जो व्यक्ति किसी तरह मेरे साथ प्रेम कर लेता है उसे मैं आँखों की पुतलियों की तरह जोगाकर रखता हूँ । मैं उसके एक अवगुण को भी नहीं देखता । केवल गुणों को ही देखता हूँ । मुझ पर आत्मसमर्पण कर देने वाले प्रेमियों के प्रति इस तरह का व्यवहार करने की मेरी 'बानि' पड़

---

१ श्री संवत उनइस से चौसठिचद्दनत सुमास ।
रामजन्म तिथि रामगुण बरनौं सहित हुलास ॥

—रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना पृ० ४१० से उद्धृत

द्रष्टव्य मा० १ ११ १

२ मा० १ २५९ ९

३ रामभक्ति-साहित्य में मधुर उपासना पृ० ४१३ से उद्धृत ।

४ निज प्रीतम बिछुरत सुख जैते । मोंमहं दुख सम लागत तेते ॥
यद्यपि हम अविवेकी नारी । जातिहीन सब भाँति गँवारी ॥

—रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना पृ० ४१४ से उद्धृत

गयी है। यथार्थ में प्रेम से ही मुझे कोई प्राप्त कर सकता है अन्यथा मुझे प्राप्त करने का कोई दूसरा परिहार नहीं है।[1]

कमल, चकोर, सर्प आदि प्रेमियों की एक लम्बी सूची प्रस्तुत करते हुये राम का कथन है कि क्रमशः सूर्य, चन्द्र, मणि आदि इनके प्रिय इनके प्रेम का प्रतिदान नहीं देते। उपर्युक्त प्रेमी अपने प्रिय के लिये आत्मोत्सर्ग तक कर देते हैं पर उनका प्रिय उनकी ओर दृष्टिपात तक नहीं करता। भगवान् राम का प्रेम ऐसा नहीं है। वे तो अपने प्रेमी के प्रेम को क्षणभर के लिये भी नहीं भुलाते। उसे वे इतना विशाल एवं महत्वपूर्ण बना देते हैं कि उसके समक्ष शिव और ब्रह्मा की कतार भी नतमस्तक हो जाती है। वे सभी लोकों के प्राणियों से उसकी अर्चना करवाते हैं और स्वयं भी उसे सिर नवाते हैं। यथार्थतः उन्हें राज्य तीनों लोकों की सारी सम्पत्ति, 'मनुजतनय सिय एवं अपना शरीर भी उतना प्रिय नहीं है जितना प्रिय उन्हें अपना प्रेमी होता है।[2] ठीक उसी तरह का कथन "रामचरितमानस" में भी भगवान् राम के श्रीमुख से हुआ है।[3] तुलसी ने मेघ एवं चातक के बहाने आराध्य-आराधक के आदर्श प्रेम का जो वर्णन किया है, उसमें भी उपर्युक्त प्रसंग बहुत-कुछ प्रभावित प्रतीत होता है।[4]

श्री रामविलासकार के राम का रूप-वर्णन भी रामचरितमानस से प्रभावित है।[5]

---

१ मो सम प्रीति करै जो प्रानी। जानि अजान केहुँ बिधि जानी॥
बच पूतरि सम मामिनी जोगवहुँ मैं तेहि काहि।
अवगुन एक न देखहूँ, देखो गुन तेहि पाहि॥
मम इमि बानि है साक्षी जाने नेहीं हार।
न तु मोहि मरहि न मनुज करि, बहु बिधि के उपचार॥
—रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना पृ० ४१४ से उद्धृत।

द्रष्टव्य—मा० १ २१ १-७। २ १४२ १ २ ७ १२ १

२ बहु दुख सहि विलकर ते कंथा।....
....
....
राज काज तिहुँ भुवन के सम्पति सकल जु आहिं।
मनुज तनय सिय देहँ निज, मो कहँ तस प्रिय नाहिं॥
—रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना, पृ० ४१४ ४१५ से उद्धृत।

३ मा० ७ १६ ६-८

४ मा० २ २०२ ३-४ दोहावली दोहा २७७-११२

५ "हृदै पदिक कल मृदु पद रेखा। उर श्रीवत्स सुरुचिर अरेखा॥
....
....
वृषभ कंध सम कंध-कल, मंजु कम्बु सम ग्रीव।
सरद इन्दु की मदहरन आनन सुखमा सीव।
—रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना, पृ० ४११ ४१२ से उद्धृत।

परिशिष्ट "ख"

सहायक ग्रन्थों की सूची

हिन्दी—

अकबरी दरबार के हिन्दी कवि—	डा॰ सरयू प्रसाद अग्रवाल। प्र॰ लखनऊ विश्वविद्यालय, सं॰ २००७ वि॰।
इश्क कान्ति—	स्वामी युगलानन्य शरणजी महाराज। प्र॰—प॰ श्री सीताराम शरणजी महाराज, लक्ष्मण किला अयोध्याजी।
उभय प्रबोधक रामायण—	श्री बनादासजी, प्र॰—वाजपेयी पं॰ रामरत्न, लखनऊ, मुंशी नवल किशोर (सी॰आई॰ई॰) के छापेखाने में छपा दिसम्बर सन् १८९२ ई॰।
कबीर—	डा॰ हजारीप्रसाद द्विवेदी, प्र॰—हिन्दी-ग्रन्थ रत्नाकर लिमिटेड पाँचवा संस्करण नवम्बर १९५५।
कबीर ग्रन्थावली—	सं॰—श्यामसुन्दर दास, काशी नागरी प्रचारिणी सभा की ओर से, इंडियन प्रेस लिमिटेड-प्रयाग। १९२८।
कबीर-पदावली—	सं॰—डा॰ रामकुमार वर्मा प्र॰-हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग सप्तम संस्करण २०२१।
कबीर-वचनावली—	संग्रहकर्ता—अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'। लीडर प्रेस प्रयाग में मुद्रित। १९१६।
कवित्त रत्नाकर—	सेनापति सं॰—उमाशंकर शुक्ल प्र॰—हिन्दी परिषद प्रयाग विश्वविद्यालय प्रयाग। १९४८।
कवितावली—	तुलसीदास प्र॰—गीता प्रेस गोरखपुर।
केशव-कौमुदी अर्थात् रामचन्द्रिका—	टीकाकार-लाला भगवान दीन "दीन" प्र॰—रामनारायणलाल इलाहाबाद सप्तमावृत्ति—२० १ वि॰

गाँधीजी की सूक्तियाँ— सं०—ठाकुर रामबहादुर सिंह।
हिन्दी पाकेट बुक्स प्रा० लि०। जी० टी० रोड
शाहदरा दिल्ली—३२

गीतावली— तुलसीदास
प्र०—गीताप्रेस गोरखपुर
सप्तम संस्करण—सं० २०१०।

गोस्वामी तुलसीदास— बाबू शिवनन्दन सहाय
सं०—श्री नलिन विलोचन शर्मा
प्र०—बिहार राष्ट्र भाषा-परिषद्-पटना।

गोस्वामी तुलसीदास श्यामसुन्दर दास तथा बड़थ्वाल
प्र०—हिन्दुस्तानी एकेडेमी इलाहाबाद।

(गोस्वामी तुलसीदास)
व्यक्तित्व-दर्शन-साहित्य— रामदत्त भारद्वाज
प्र०—भारतीय साहित्य मंदिर फव्वारा
दिल्ली—१९६२।

गोस्वामी तुलसीदास— आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
प्र०—काशी नागरी प्रचारिणी सभा
सप्तम संस्करण २००८ वि०।

चिंतामणि (भाग १)— आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
प्र०—इंडियन प्रेस (पब्लिकेशंस) लिमिटेड
प्रयाग—१९५१

जायसी-ग्रन्थावली— आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
प्र०—नागरी प्रचारिणी-सभा काशी।
पंचम संस्करण—संवत् २००८ वि० सन् १९५१।

तत्त्व-चिन्तामणि (१ ४ भाग)— जयदयाल गोयन्दका
गीता प्रेस, गोरखपुर।

तुलसीकृत रामचरितमानसान्तर्गत
श्री जनकनगर का 'मण्डपोत्सव'— पं० मन्मथप्रसाद जी 'विद्यार्थी' रामायणी।
प्र०—मालादातार रामजी खंडेवाल-हटिया, कानपुर
सम्वत् १९९९ वि०।

तुलसी के भक्त्यात्मक गीत— डॉ० वचनदेव कुमार।
प्र०—हिन्दी-साहित्य-संसार, दिल्ली।

तुलसी-ग्रन्थावली (द्वितीय भाग)— नागरी प्रचारिणी सभा काशी।

तुलसी-दर्शन— डॉ० बलदेव प्रसाद मिश्र
प्र०—हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग।
सं०—२००५, पंचम संस्करण।

तुलसीदास (एक समालोचनात्मक अध्ययन)— डॉ० माताप्रसाद गुप्त
तृतीय संस्करण—१९५३ सितम्बर
प्र०—हिन्दी-परिषद्-प्रयाग विश्वविद्यालय प्रयाग।

तुलसीदास चिंतन और कला— सं० डॉ० इन्द्रनाथ मदान।
राजपाल एण्ड सन्ज दिल्ली
प्रथम संस्करण सितम्बर १९५५।

तुलसीदास जीवनी और विचारधारा—डॉ० राजाराम रस्तोगी
अनुसंधान प्रकाशन कानपुर वि० सं० २०२०

तुलसीदास और उनका युग— डॉ० राजपति दीक्षित।
ज्ञान मंडल लिमिटेड बनारस
प्रथम संस्करण—सं० २००९।

तुलसी-सतसई— तुलसीदास
लखनऊ प्रेस में मुद्रित व प्रकाशित
सन् १९२२ ई०

तुलसी-साहित्य रत्नाकर—
अथवा
महाकवि तुलसीदास पं० रामचन्द्र द्विवेदी।
प्र०—सत् साहित्य-प्रकाशन-मण्डल
नया टोला पटना वि० सं० १९८९।

त्रिवेणी— आ० रामचन्द्र शुक्ल
नागरी प्रचारिणी-सभा-काशी
बारहवाँ संस्करण—सं० २०१० वि०।

ध्यान मंजरी— श्री स्वामी अग्रदास जी महाराज
टीकाकार—श्री रामवल्लभाशरण जी
प्र०—श्री रघुबीर प्रसाद रिटायर्ड तहसीलदार
श्री अयोध्यावासी—संवत् १९९०।

नृत्य राघव मिलन कवितावली— रामसखे जी
प्र० छोटेलाल, लक्ष्मीचन्द बुकसेलर
मौदा मूबे अवध—डा० कचोरी
अप्रैल १८९७।

पार्वती-मंगल— तुलसीदास
गीता प्रैस-गोरखपुर।

पृथ्वीराज रासो (भाग पहिला)— मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या
राधाकृष्ण दास और श्यामसुन्दर दास
द्वारा संपादित १९०४ ई०।

बीजक— कबीर,
टीकाकार विचारदास शास्त्री
प्र०—रामनारायण लाल, पब्लिशर
और बुकसेलर इलाहाबाद—१९२८

भक्तमाल— नाभादास जी,
टीकाकार—श्री रूपकला जी।

भक्ति का विकास— डा० मुंशीराम शर्मा
प्र०—चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी—१
१९५८, प्रथम संस्करण।

भक्ति-योग— श्रीयुत अश्विनीकुमार दत्त
अनु० चन्द्रराज भण्डारी 'विशारद'
प्र०—हिन्दी पुस्तक एजेन्सी
२०३ हरिसन रोड कलकत्ता—७
तृतीय आवृत्ति—रामनवमी सं० २०१०।

भक्ति-योग— स्वामी विवेकानन्द
प्र०—सन्मार्ग प्रकाशन
लाजपतराय मार्केट दिल्ली।

भक्ति-रहस्य— स्वामी विवेकानन्द
प्रकाशक—प्रभात प्रकाशन दिल्ली।
सं०—राजेन्द्र दीक्षित प्रथम संस्करण—१९६६ ई०

भक्ति-विलास— महाराज रघुराजसिंह
भारत भ्राता प्रेस—रीवा १८९१

महाकवि सूरदास— आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी
प्र०—आत्माराम एण्ड सन्स, काश्मीरी गेट
दिल्ली–६ १९५८ दूसरा संस्करण।

मानस-दर्शन— डॉ० श्रीकृष्ण लाल
आनन्द पुस्तक-भवन, बनारस कैंट।
प्रथमावृत्ति फाल्गुन २००६ वि०

मानस-पीयूष— सं०—श्री अंजनीनन्दनशरण जी
प्र०—हनुमान प्रसाद पोद्दार
गीताप्रेस गोरखपुर।

मानस-माधुरी— डॉ० बलदेवप्रसाद मिश्र।
प्र०—साहित्य रत्न भण्डार, आगरा
प्रथम—संस्करण—१९५९।

मानस-मुक्ता (चार भागों में)— सं०—मुरलीधर अग्रवाल।
प्र०—मानस-मुक्ता कार्यालय, सागर (म० प्र०)।

मानस रहस्य— जयरामदास 'दीन'
गीता प्रेस गोरखपुर ।

मानस-शब्द-सागर संकलनकार—बद्रीदास अग्रवाल कलकत्ता ६ ।

मीराबाई की पदावली— सं० परशुराम चतुर्वेदी
हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग २००४ ।

मैथिली विवाह-पदावली— संग्रहकर्त्ता—पं० श्री मैथिलीशरण शास्त्री अवध
सन्देश कार्यालय, श्री लक्ष्मण किला, अयोध्या ।

रहिमन विलास— संपादक तथा संग्रहकर्त्ता—व्रजरत्नदास, बी० ए०,
प्र०—रामनारायणलाल पब्लिशर और बुकसेलर ।
इलाहाबाद—१९८७ ।

राम-कथा (उत्पत्ति और विकास)— रेवरेंड फादर कामिल बुल्के ।
हिन्दी परिषद् प्रकाशन प्रयाग विश्वविद्यालय १९५२।

राम काव्य की परम्परा में
रामचन्द्रिका का विशिष्ट अध्ययन— गार्गी गुप्ता, १९६४
प्र०—हिन्दी अनुसन्धान परिषद्,
दिल्ली विश्वविद्यालय ।

रामचरितमानस— गीताप्रेस, गोरखपुर

रामचरितमानस (काशिराज संस्करण)—सं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र ।

रामचरितमानस— भाष्यकार तथा प्रकाशक—श्री श्रीकान्तशरण,
सद्गुरु कुटीर गोलाघाट अयोध्या ।

रामचरितमानस की कथावस्तु— प्रो० जगन्नाथराय शर्मा
सदानन्द प्रकाशन पो० बी० न० ११२० दिल्ली ६
पटना १ प्रथम संस्करण १९२१ ई० ।

रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय — डॉ भगवतीप्रसाद सिंह
अवध हिन्दी-साहित्य मन्दिर, बलरामपुर
प्रथम संस्करण सं० २०१४

रामभक्ति शाखा— डॉ० रामनिरंजन पाण्डेय ।
प्र०—नव हिन्द पब्लिकेशन्स हैदराबाद
बेगम बाजार ८११ जनवरी १९६०

रामभक्ति-साहित्य में मधुरोपासना — डॉ० भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव
प्र०—बिहार राष्ट्र भाषा-परिषद् पटना १९५७ ई०

रामरसायन— रसिक बिहारी
प्र०—खेमराज श्रीकृष्णदास बम्बई ।
पौष संवत् १९७८ शके १८४३ ।
प्रथम प्रकाशन ।

राम रसिकावली— श्री महाराज रघुराज सिंह
प्र० गंगाविष्णु श्रीकृष्णदास
लक्ष्मी वेंकटेश्वर प्रेस कल्याण मुंबई । सं० २ ११ ।

राम स्वयम्वर अर्थात् श्रीमद्रामायण— श्री रघुराजसिंह देवजू
प्र०—गंगाविष्णु श्रीकृष्णदास
अध्यक्ष लक्ष्मी वेंकटेश्वर प्रेस
कल्याण—मुंबई। सं० १९८० शके १८४१।

विद्यापति की पदावली— संकलयिता—रामवृक्ष बेनीपुरी
प्र०—पुस्तक भण्डार पटना और लहेरियासराय

विनयपत्रिका— तुलसीदास
गीताप्रेस, गोरखपुर
सं० २०१२। पन्द्रहवाँ संस्करण।

विश्राम सागर— श्री रघुनाथदास राममेही
प्र०—पण्डित रामाकर वाजपेयी लखनऊ
पन्द्रहवींबार—१९३१ ई०

वैराग्य प्रदीप— काष्ठजिह्वा स्वामी
कार्याध्यक्ष—श्री सीतारामीय बाबा हरिप्रसाद की
नवल किशोर प्रेस लखनऊ में मुद्रित और प्रकाशित—
सन् १९१९ ई०।

श्री चैतन्य चरितामृत आदि लीला - श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामी
सं० श्री श्यामदास।

श्रीमद्भगवद्गीता रहस्य अथवा
कर्मयोग शास्त्र— लोकमान्य बालगंगाधर तिलक।
अनुवादक—श्रीमान माधवराव जी सप्रे।
दशम मुद्रण शक १८७७। सन् १९५५
प्र०—वसन्त श्रीधर तिलक पूना-२।

श्री रामाष्टयाम— प्राचीन कवि श्री नाभादासजी रचित।
सम्पादक व टीकाकार—श्री १०८ श्री स्वामी
रामकिशोरीशरणजी (श्री स्वामी परमानन्दजी)
श्री जानकीघाट श्री अयोध्या।
प्र० प० मदनगोपाल शुक्ल 'मदन
छतरपुर। प्रथमावृत्ति सन् १९१५ ई०

संस्कृत साहित्य का इतिहास— बलदेव उपाध्याय तथा गौरीशंकर उपाध्याय १९४८
प्र०—शारदा मन्दिर, काशी।

संस्कृत साहित्य की रूपरेखा— पं० चन्द्रशेखर पाण्डेय
तथा श्री शान्तिकुमार नानूराम व्यास
प्र०—साहित्य निकेतन कानपुर, १९५१।

साकेत— श्री मैथिलीशरण गुप्त
प्र०—साहित्य-सदन, चिरगाँव (झाँसी)
वि० २००७।

साहित्यिक निबंधावली— सं० डॉ० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री
तथा प्रो० देवेन्द्रनाथ शर्मा।
प्र०—ग्रन्थमाला कार्यालय बाँकीपुर, पटना।
संवत् २००१ वि०।

सूरदास— आचार्य रामचन्द्र शुक्ल,
सं०—प० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र।
प्र०—सरस्वती मंदिर जतनबर बनारस, २००५
संस्करण—२

सूर-सागर (पहला और दूसरा खंड)—सं० नन्ददुलारे वाजपेयी
काशी नागरी प्रचारिणी सभा
संवत् २००५ वि०।

सूर सारावली— सं० प्रभुदयाल मीतल
प्र०—अग्रवाल प्रेस मथुरा, सं० २०१४ वि०।

सूर-साहित्य-दर्पण— प्रो० जगन्नाथराय शर्मा
प्र०—विश्वविद्यालय १३७२ बल्लीमारान दिल्ली
प्रथम संस्करण २०११

हमारा सांस्कृतिक साहित्य
(प्रथम भाग)— प्रो० जगन्नाथ राय शर्मा।
ग्रन्थमाला कार्यालय पटना-४,
सं० २०१०-१९५३ ई०।

हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास—डॉ० शम्भूनाथ सिंह,
हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय वाराणसी।

हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक
इतिहास— डा० रामकुमार वर्मा
तृतीय संस्करण १९५४।

हिन्दी साहित्य का इतिहास— आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
प्र०—काशी नागरी प्रचारिणी सभा (संशोधित एवं परिवर्धित) दसवां संस्करण सं० २०१२ वि०।

हिन्दी साहित्य-कोष— सं० डा० धीरेन्द्र वर्मा
(भाग १-२) प्र०—बनारस ज्ञान मंडल लिमिटेड।

संस्कृत

अथर्ववेद संहिता— सातवलेकर संस्करण
विक्रमीय संवत् १९९९।

अध्यात्म रामायण— गीता प्रेस गोरखपुर

अनर्घ राघव— मुरारि मिश्र
सुधाकर प्रेस कलकत्ता से १८७५ में प्रकाशित

अभिज्ञान शाकुन्तलम्— महाकवि श्री कालिदास
संस्कृत टीकाकार—श्री गुरु प्रसाद शास्त्रिण प्र० भार्गव पुस्तकालय, गायघाट बनारस।
सं० २००८ तृतीय संस्करणम्।

अष्टाध्यायी— पाणिनि
स०—प० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु,
प्र०—श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट, गुरु बाजार अमृतसर।

अष्टोत्तर शतोपनिषद्— सं० वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री, पणशीकर।
तृतीय संस्करण
प्र०—पाण्डुरंग जावाजी
निर्णय सागर प्रेस बम्बई, १९२५।

उत्तर रामचरितम्— महाकवि भवभूति
व्याख्याकार—श्री शेषराज शर्मा शास्त्री
प्र०—चौखम्बा संस्कृत-सिरिज
बनारस—१।
वि० सं० २००९ द्वितीय संस्करणम् १९५३ ई०।

उपनिषदें— ईशावास्य कठ, केन तैत्तिरीय प्रश्न, बृहदारण्यक, मुण्डक श्वेताश्वेतर, छान्दोग्य,
प्र०—गीताप्रेस गोरखपुर।

ऋग्वेद-संहिता— महाचार्येण श्रीपादशर्मणा दामोदर भट्ट सुनुना सातवलेकर कुलजेन संपादिता औन्धराजधान्यां स्वाध्याय मण्डल द्वारा प्रकाशिता विक्रमीय सं० १९९६।

ऐतरेय ब्राह्मण— आनन्दाश्रम संस्कृत सीरिज।

कृष्ण—यजुर्वेद(मैत्रायणी-संहिता) श्री ए० वेबर द्वारा संपादित।

गरुड़ पुराण-(भाषा-टीका सहित) टीकाकार प० गुरुचन्द्र शर्मा
प्र० रामकुमार भार्गव, नवल किशोर प्रेस लखनऊ।
संवत् १९९६ वि०।

गीत गोविन्द— जयदेव
प्र० गणपत कृष्ण जी प्रेस बम्बई।
संवत् १९३९ वि०

चैतन्य-शिक्षाष्टक— श्री चैतन्य महाप्रभु (गौर हरि) के मुख से।
गीता प्रेस गोरखपुर से प्रकाशित।

जानकीहरण— कुमारदास
सं० धर्माराम रघुनाथ, बम्बई सन् १९०७ ई०।

तत्त्वोपदेश— श्री शंकराचार्य
पं० रामकुमारदास जी, मणि पर्वत अयोध्या के राम ग्रन्थागार से प्राप्त।

धातु-पाठ— पाणिनि
सं०—प० युधिष्ठिर मीमांसक,
प्र०—वैदिक यंत्रालय, अजमेर।

नारद पंचरात्र (भारद्वाज संहिता)— प्र०—खेमराज श्रीकृष्ण दास
कार्तिक संवत् १९६२, शके १८२७
श्री वेंकटेश्वर (स्टीम्) यन्त्रागारे मुद्रयित्वा प्रकाशिता।

नारद पंचरात्रम् (श्रीकृष्ण संहिता) वैष्णव मतत्रम्— पंडित मुकुन्दरामसूनु ज्येष्ठाराम शर्मणा विचारशील हस्त
श्री मुंबई नगरे, सुवर्ण प्रिंटिंग प्रेसमिये मुद्रयित्वा
प्रकाश्यं नीतम्।
शके १८२७ संवत् १९६२ सन् १९०९

नारद पुराण— गीता प्रेस गोरखपुर

नीति-शतक— भर्तृहरि
अनुवादक, बाबू हरिदास वैद्य
प्रकाशक—हरिदास एण्ड कम्पनी लिमिटेड, मथुरा।
दिसम्बर, १९४१ ई०।

पद्म पुराण— मनसुख राय मोर संस्करण,
५ क्लाइव रोड कलकत्ता, सं०—२०१२

प्रेम-दर्शन (भक्ति-सूत्र)— देवर्षि नारद
टीकाकार—हनुमान प्रसाद पोद्दार
गीता प्रेस, गोरखपुर सं २०११ नवाँ संस्करण।

प्रबोध सुधाकर— शंकराचार्य
रामग्रन्थागार, अयोध्या से प्राप्त।

प्रसन्नराघव— जयदेव चौखंबा संस्कृत सीरिज वाराणसी।

बृहत् स्तोत्र रत्नाकर— प्रकाशक—भार्गव पुस्तकालय, गाय घाट बनारस
तृतीय संस्करण सन् १९४०।

ब्रह्म पुराण— मनसुखराय मोर संस्करण,
५ क्लाइव रोड कलकत्ता। सं० २०१०

ब्रह्म वैवर्त पुराण सं० २०११ वि०

ब्रह्म संहिता— प्रकाशक—कृष्णदास बाबा
कुसुम सरोवर निवासी (मथुरा) सं० २०१०

ब्रह्मसूत्र रामानुजीय एवं शांकर भाष्य सहित— निर्णय सागर प्रेस बोम्बे।

भट्टि काव्य— प्रकाशक—निर्णय सागर प्रेस, बम्बई सन् १९२८ ई०

मणिरत्न माला (प्रश्नोत्तरी)— श्रीमद् शंकराचार्यकृत,
प्र०—गीता प्रेस, गोरखपुर

मनुस्मृति— टीकाकार—प० जनार्दन झा
प्र०—हिन्दी पुस्तक एजेंसी, कलकत्ता।

महाभारत— प्र०—गीताप्रेस गोरखपुर।

महावीर चरितम्— भवभूति प्रणीत
चतुर्थ संस्करण, १९२६ ई०
प्र०—निर्णय सागर प्रेस बम्बे।

मेघदूतम्— महाकवि श्री कालिदास
प्र०– चौखम्बा संस्कृत सीरिज, बनारस-१ १९५३।

यजुर्वेद संहिता— सातवलेकर द्वारा संशोधित वि० सं० १९८४।

रघुवंश महाकाव्य— कालिदास
पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र कृत भाषाटीका समेत
श्री वेंकटेश्वर स्टीम् प्रेस बम्बई से मुद्रित,
सं० १९८०।

विष्णु पुराण— प्र० गीताप्रेस गोरखपुर सं० १९९१

वेदान्त कामधेनु— निम्बार्काचार्य कृत
हिंदी भाषा टीका सहित
पटना, खड्ग विलास प्रेस बाँकीपुर से प्रकाशित।
सं० १९७४।

वेदान्त दर्शन (वेदान्त-सिद्धान्त)— श्री निम्बार्ककृत
वेदान्त-पारिजात सौरभ नामक भाष्य सहित
श्री स्वामी सन्तदास श्री व्रज-विदेही-प्रणीत-वेदान्त
सुबोधिनीनाम्नी भाषा व्याख्या सहित ब्रह्मसूत्र।
प्र० श्री सुधीर गोपाल मुखोपाध्याय
प्रो० दौलतपुर कालेज द्वारा प्रकाशित, सं० १९९९।

शतक त्रयम्— भर्तृहरि,
श्रीकृष्णदासात्मज—खेमराजेन मुम्बय्यां निज "श्री
वेंकटेश्वर" मुद्रणालये मुद्रयित्वा प्रकाशितम्
सं० १९७८।

शतपथ ब्राह्मण— श्री ए० वेबर लंदन १८४९ ई०

शाण्डिल्य भक्ति सूत्र— प्र० गीता प्रेस गोरखपुर

सिद्धामृतम्— चैतन्यकृत
प्र०—महन्त बिहारीदासजी
श्री संस्थान चतु: संप्रदाय अखाड़ा पंचवटी—
नासिक शहर।

शिवमहापुराण— मुद्रक व प्रकाशक—लाला श्यामलाल हीरालाल श्यामकाशी प्रेस मथुरा। १९६६ १९६७।

शिशुपाल वधम्— महाकवि माघकृत प्र०—निर्णय सागर प्रेस बम्बई। सन् १९

शुक्ल यजुर्वेदसंहिता (सातवलेकर संस्करण)— विक्रमीय संवत् १९८४।

श्री पातंजल योग दर्शन— प्र०—गीताप्रेस गोरखपुर।

श्री भगवद्भक्ति रसायनम्— श्री मधुसूदन सरस्वती प्रकाशक—अच्युत ग्रन्थमाला कार्यालय काशी १९८४ वैक्रमाब्द। प्रथम संस्करणम्।

श्रीमद्भागवत— गीताप्रेस गोरखपुर।

श्रीमद्भगवद्गीता— गीता प्रेस गोरखपुर।

श्रीमद्वाल्मीकि रामायणम् (हिन्दी अनुवाद सहित)— अनुवादक—चतुर्वेदी द्वारिकाप्रसाद शर्मा, प्र०—रामनारायणलाल इलाहाबाद, तृतीय संस्करण—१९११।

श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण— पण्डित पुस्तकालय सं० २०११

श्रीहरिभक्ति रसामृत सिन्धु— श्री रूप गोस्वामी। प्र०—अच्युत ग्रन्थमाला कार्यालय, काशी प्रथम संस्करणम्—१९८८ वैक्रमाब्दे

सर्व वेदान्त-सिद्धान्त-सार-संग्रह श्री शंकराचार्य सं०—प्र० रामस्वरूप शर्मा मुरादाबाद विक्रमाब्द १९७८

सामवेद— सं० श्रीराम शर्मा आचार्य गायत्री तपोभूमि मथुरा।

सौन्दरनन्द काव्य— अश्वघोष सं० और अनुवादक—सूर्यनारायण चौधरी प्रथम संस्करण अगस्त १९४८ ई० प्रकाशक—संस्कृत-भवन कठौतिया।

पत्र-पत्रिकाएं

कल्याण— गीता प्रेस गोरखपुर— भक्ति अंक (१) वर्ष ३२ और माघ जनवरी १९५८।

मानसांक अंक—वर्ष ११, सं० १
मानसांक प्रथम खंड—वर्ष ११, अंक १ श्रावण १९९५
अगस्त १९३८
मानसांक दूसरा खंड—अंक २ सितम्बर १९३९
मानसांक तीसरा खंड अक्टूबर १९३८
हिन्दू-संस्कृति अंक—वर्ष २४—पौष माघ २००६
जनवरी १९५०

मानस मणि— सं० श्री अंजनीनन्दनशरण श्री अयोध्याजी।
प्र०—मानस संघ, रामवन, बाया सतना (म० प्र०)
फरवरी १९४९ से दिसम्बर १९४९ तक।

मानस-मयूख
(१ से ४ प्रकाश तक)— सं०—रामदास शास्त्री,
मुद्रक तथा प्रकाशक—सत्यनारायण भुनभुनवाला
वाराणसी—५।

साहित्य-संदेश (साहित्य रत्न भण्डार, आगरा से प्रकाशित)
भाग १८ अंक ६, दिसम्बर १९५६।

अंग्रेजी

Bhakti-yoga— Dr Asawani Kumar Datt

Indian Philosophy— S Radhakrishnan
Vols I & II
London George Allen & Unwin Ltd.

Pathway to God in
Hindi Literature— R D Ranade Adhyatm a Vidya Mandir
Sangli, Allahabad.

The Bhakti Dult in
Ancient India— Bhagwant Kumar, B. Banerjee & Co
25 Cornwallis Street, Calcutta

The Complete Works of
Swami Viveka Nanda— Mayavati Memorial Edition Vols. I & III,
Advaita Ashrama, Calcutta

The Concept of Maya Ruth Reyna, Asia Publishing House, Bombay,
From the Vedas to the ------ New York, 1962
20th Century—

The Philosophy of George Galloway,

Religion— Edinburgh T & T Clark, 38 George Street, 1951

The Philosophy of the Upnishads— Paul Deussen Translated by Rev A S Geded T & T Clark, 38 George Street, Edinburgh

Vedant Sutra with Sri Bhashya—Rangacharya and Vardavaja Aiyangar—The Brahmavadin Press Madras, 1899